विषय सूची

पाठ्यक्रम परिचय

एम.ए. हिन्दू अध्ययन कार्यक्रम के प्रथम वर्ष में पंचम पाठ्यक्रम के अध्ययन हेतु आपका स्वागत है। धर्म एवं कर्म विमर्श इस पाठ्यक्रम का नाम है। अध्ययन की सुविधा के लिए 07 खण्डों में इस पाठ्यक्रम का विभाजन किया गया है। प्रत्येक खण्ड में इकाइयों के रूप में विषय शीर्षकों का निर्धारण किया गया है। इसके पूर्व के पाठ्यक्रम में आपने भारत की तत्वमीमांसा का अध्ययन किया है। प्रस्तुत पाठ्यक्रम में आप आचार व्यवहार का बोध प्राप्त करेंगे।

हिन्दू जीवन में धर्म ही जीवन का प्राण होता है। कर्म की प्रधानता को ही श्रेष्ठ मार्ग स्वीकार किया गया है। धर्म और कर्म ही भारतीय संस्कृति की जीवन शक्ति हैं। इसी के दृष्टिगत बन्धन , पुनर्जन्म, आचार आदि को समाहित करते हुए इस पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार की गई है। प्रथम खण्ड में चार इकाइयों के वर्णनों में आप धर्म का अध्ययन करेंगें। जिसमें धर्म की अवधारणा के साथ-साथ धर्म और रिलिजन में अन्तर जानते हुए मींमासा दर्शन की भूमिका का सम्यक वर्णन आपको पढने के लिए प्राप्त होगा। इस खण्ड की अन्तिम इकाई में वैदिक धर्म की परम्परा और श्रमण परम्परा का समावेशीकरण बताया गया है। द्वितीय खण्ड भी धर्म के स्वरूप का ही है। इसमें चार इकाइयॉ हैं। धर्म में ऋत समाहित है। ऋत से सत्य तक की यात्रा है।

जो कर्म वेद में इंगित नहीं होते हैं उन्हें आगम और पुराण में पाया जाता है। इसी को धर्मानुशासन कहते हैं। कर्तव्य ही धर्म है। इसलिए धर्मशास्त्र में कर्तव्य का निरूपण किस प्रकार है। इसकी जानकारी आपको इसी खण्ड में मिलेगी। गुरूग्रन्थ साहिब में धर्म विषयक संयोजक सिद्धान्तों को इसी खण्ड की अन्तिम इकाई में बताया गया है। तीसरे खण्ड में कर्म-विमर्श की चार इकाइयॉ है जिनमें कर्म, अकर्म , विकर्म के साथ-साथ अधिकार भेद और फल में एकता की बात की गई है। कर्म सम्बन्धी दृष्टान्तों के माध्यम से कर्म की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। जडभरत चरित के माध्यम से कर्म और धर्म दोनों को निरूपित किया गया । चौथे खण्ड का नाम   बन्धन है। इसमें भी वर्णन के लिए चार शीर्षक हैं। कर्म के अनुसार ही जीव की उत्पत्ति होती है फिर वह उसी अनुसार बन्धन में पडता है। पुन: उसका जन्म होने लगता है। ऐसी स्थिति तब तक होती है जब तक मोक्ष नहीं हो जाता। अत: इसी आलोक में आप चतुर्थ खण्ड में बन्धन को जानेगें। पुनर्जन्म तथा मोक्ष पॉचवे खण्ड का नाम है, इसमें तीन इकाइयॉ हैं।प्रथम इकाई में सैद्धान्तिक वर्णन है। दूसरी इकाई में मोक्ष का अर्थ बताया गया है।

अन्त में मोक्ष के उपायों का वर्णन करते हुए इस खण्ड का वर्णन विराम को प्राप्त हुआ है। छठा खण्ड हिन्दू जीवन आचार है। इसमें भी तीन इकाइयॉ हैं। नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म एवं उपासना पद्धतियों को इस खण्ड में प्रारम्भ में ही बता दिया गया है, जिससे आपको आचार सम्बन्धी आधारभूत ज्ञान मिलेगा। इसके पश्चात् इस खण्ड में आप व्रत , पर्व , उत्सव एवं तीर्थ माहात्म्य को जानेगें। मूल्य के बिना भारतीय संस्कृति अधूरी है। इसीलिए इस खण्ड की अन्तिम इकाई में यक्ष युधिष्ठिर संवाद में निहित मूल्यों का वर्णन करके मूल्यविषयक तथ्यों को स्पष्ट किया गया है। सातवॉ खण्ड मठ एवं मन्दिर परम्परा के वर्णन का है। इसमें पॉच इकाइयॉ हैं।

प्रारम्भ में शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में भारत में मन्दिर की परम्परा, कुम्भ मेला आदि का चित्रण दूसरी और तीसरी इकाई में किया गया है। इस खण्ड की चतुर्थ इकाई में शक्तिपीठ, ज्योतिर्लिंग एवं धाम का वर्णन है। अन्त में पवित्र संकुल की

नवीन अवधारणा से आपको परिचित कराते हुए पाठ्यक्रम का विराम हुआ है। इस प्रकार उक्त अध्ययन से आप हिन्दू जीवन के आचार एवं व्यवहार का शास्त्रीय और व्यवहारिक उल्लेख करने में सक्षम हो जाऐंगे।

खण्ड 1
धर्म

प्रथम खण्ड का परिचय

एम.ए. हिन्दू अध्ययन में प्रथम वर्ष के पॉचवे पाठ्यक्रम के प्रथम खण्ड में आपका स्वागत है। इसके पूर्व आपने चार पाठ्यक्रमों का अध्ययन कर लिया है । धर्म एवं कर्म विमर्श इस पाठ्यक्रम का नाम है। प्रथम खण्ड धर्म नाम से है। भारत में धर्म के विविध अर्थ किये जाते हैं जो लक्षण और परिभाषा के आधार पर होते हैं। धर्म रिलिजन नहीं है। भारतीय संस्कृति में धर्म वेद , स्मृति , सदाचार , परोपकार ,पाप, पुण्य आदि से सम्बन्ध रखता है। भारत सनातन धर्म का पोषक है जिसमें प्राणीमात्र के सुखी होने की बात की जाती है। हिन्दू संकल्पना में ये सारे तत्व विद्यमान रहते हैं। इसी के दृष्टिगत इस खण्ड में धार्मिक सिद्धान्तों की स्थापना के लिए मीमांसा दर्शन की उपयोगीता के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। वैदिक धर्म में श्रमण परम्परा का भी समावेश है। प्रथम इकाई में धर्म का शाब्दिक अर्थ, उसकी अवधारणा , परिभाषा आदि का उल्लेख किया गया है। भारतीय संस्कृति को स्पष्ट करने के लिए ही इस खण्ड की दूसरी इकाई में धर्म और रिलीजन में अन्तर बताने का प्रयास किया गया है। धर्म को जानने में मीमांसा का बहुत महत्व है । इसीलिए तीसरी इकाई की विषयवस्तु में मीमांसा दर्शन का समावेश है । इस इकाई में यह बताया गया है कि किस प्रकार धार्मिक सिद्धान्तों की स्थापना में मीमांसा दर्शन का उपयोग हुआ है । इस खण्ड की अन्तिम इकाई में वैदिक धर्म की परम्परा और श्रमण परम्परा का समावेशीकरण बताया गया है। इस प्रकार प्रथम खण्ड की कुल चार इकाइयों में आप धर्म की परिभाषा की जानकारी प्राप्त करते हुए धर्म और रिलीजन में अन्तर जानकर धार्मिक सिद्धान्तों की स्थापना में मीमांसा दर्शन की महत्व को रेखांकित करेंगें। वैदिक धर्म में श्रमण परम्परा का समावेश भी बता पायेंगें।

इकाई 1 धर्म की व्युत्पत्ति, परिभाषा और अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई को पढ़ने के बाद आप

1. धर्म शब्द को उसके व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के साथ समझ सकेंगे।
2. हिन्दू वाङ्मय में वर्णित धर्म सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाओं से परिचित हो सकेंगे।
3. धर्म के मूल विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे
4. धर्म की अवधारणा तथा उसके विभिन्न आयामों से परिचित हो सकेंगे।
5. धर्म के पयार्य के रूप में माने जाने वाली अन्य सम्प्रत्ययों से धर्म की सापेक्षिक मौलिक व्यापकता को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिन्दू संस्कृति में धर्म शब्द बहुआयामी अर्थ में प्रयुक्त होता है। भारतीय संस्कृति को समझने के लिये जो कुछ मूल शब्द है, उनमें से धर्म शब्द एक है। धर्म को अवधारणात्मक रूप से बिना समझे हम भारतीय ज्ञानपरम्परा के सामाजिक विज्ञान, धर्म विज्ञान, नैतिक विज्ञान तथा राजनिति एवं अर्थविज्ञान से जुड़े प्रश्नों को नहीं समझ सकते। धर्म शब्द अंग्रेजी के 'रिलीजन' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने के कारण सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक रूप से अनेक भ्रान्तियाँ उपस्थित हुई हैं। कहा जाता है कि

ईसाई, इस्लाम, यहूदी आदि धर्मों में एक ही ईश्वर और एक ही धर्म लक्षण होने से संशय, मतभेद आदि नही हो पाते। किन्तु हिन्दुओं के अनेक धर्मग्रन्थ, अनेक देवता और अनेक धर्मलक्षण होने से मतभेद तथा तरह तरह के संशय खड़े होते है।

किन्तु वस्तु स्थिति इससे भिन्न है। उपर्युक्त समस्या धर्मसम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों तथा वाक्यों के पूर्वापर समन्वय एवं विरोध परिहारपूर्वक ग्रन्थों में लिखित वाक्यो का तात्पर्य न समझने के कारण उत्पन्न होता है। धर्म के मूल स्रोत के रूप में वेद अपौरूषेय अर्थात् किसी व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं है। अतः त्रुटिरहित है। हम जानते है कि भारत का विशाल वाङ्मय उसी श्रुतिमूलक ज्ञान का विस्तार है, जिसे हम वेद शब्द से अभिहित करते है। जिस प्रकार से मूलज्ञान सूत्रात्मक रूप में अभिव्यक्त होकर अपने व्याख्या में अनन्त विस्तार को प्राप्त करते हुए ज्ञानात्मक रूप से अपरिवर्तित रहता है, उसी प्रकार से धर्म के जिस स्वरूप को मूलग्रन्थों मे कहा गया है। अन्य ग्रन्थों में धर्म की परिभाषा तथा विवेचना उसी मूलस्वरूप का विस्तार है। प्रस्तुत ईकाई में हम आपको धर्म शब्द की व्युत्पत्ति को बताते हुए भारतीय वाङ्मय में वर्णित धर्म सम्बन्धी परिभाषाओं से परिचय कराने जा रहे हैं, जिससे आप धर्म की व्यापक अवधारणा को भलीभाँति समझ सकेंगे।

1.2 धर्म शब्द की व्युत्पत्ति

धर्म की अवधारणा को प्राप्त करने के लिये हमें धर्म शब्द की व्युत्पत्ति तथा विभिन्न शास्त्रों में वर्णित धर्म की परिभाषाओं को जानना आवश्यक है। व्युत्पत्ति का अर्थ होता है विशेष प्रकार की उत्पत्ति। विशेष रूप में उत्पत्ति जब हमें शब्दों के अर्थ जानने होते हैं तो हम शब्दों की व्युत्पत्ति को जानना चाहते हैं। शब्दों का निर्माण को धातु प्रत्यय, उपसर्ग की सहायता से बनता है। शब्दों का अर्थ इन घटकों के आधार पर जानना व्युत्पत्ति का अर्थ कहलाता है।

धर्म शब्द 'धृ' धातु से मन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। 'धृ' धातु, धारण– पोषण और महत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होती है। किसी भी वस्तु के महत्त्वशील होने से और धारक होने से उसे 'धर्म' कहा जाता है। शब्द कल्पद्रुम में **धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिः** अर्थात् जो लोक को धारण करता है अथवा पुण्यात्माओं द्वारा धारण किया जाता हैं के रुप में व्याख्यायित करने की चेष्टा की गयी है। अमरकोष के अनुसार– यह पुण्य, श्रेय, सुकृत वृष को पर्याय के रूप में वर्णित किया गया है।

वामन शिवराम आप्टे के शब्दकोश में धर्म शब्द के निम्न अर्थ दिये हैं–

1. कर्तव्य, जाति, सम्प्रदाय आदि की प्रचलित आचार का पालन
2. कानून, प्रचलन, दस्तूर, प्रथा, अध्यादेश, अनुविधि
3. धार्मिक या नैतिक गुण, भलाई, नेकी, अच्छे काम
4. कर्तव्यशास्त्र, विहित आचरण
5. अधिकार, न्याय औचित्य या न्यायसाम्य, निष्पक्षता
6. पवित्रता, शालिनता
7. नैतिकता, नीतिशास्त्र
8. प्रकृति, स्वभाव, चरित्र
9. मूलगुण, विशेषता, लाक्षणिक गुण विशेषता

10. रिती, समरूपता, समानता
11. यज्ञ
12. सत्संग, भद्रपुरूषों की संगति
13. भक्ति धार्मिक भावना
14. रिती प्रणाली
15. उपनिषद्
16. ज्येष्ठ पाण्डव, युधिष्ठिर
17. मृत्यु के देवता यम

1.3 धर्म की परिभाषाएँ

भारत के वृहत्तर प्राचीन वैदिक साहित्य में धर्म नीति, नियामकता, गुण, कर्म, कर्त्तव्य आदि अनेक अर्थो में प्रयुक्त हुआ है।

1.3.1 वेद में धर्म

i. **ऋग्वेद** भारतीय साहित्य में ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रंथ है। ऋचाओं में धर्म शब्द का प्रयोग 'धर्मन्' के रूप में हुआ है यह शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ हैं धारण करना, आलम्बनदेना, पालन करना। ऋग्वेद में 'धर्म' शब्द अधिकतर नपुंसक लिंग में प्रयुक्त हुआ है। अधिक स्थलों पर यह जिस रुप में प्रयुक्त हुआ है वहां इसका अर्थ धार्मिक विधियाँ एवं धार्मिक क्रिया संस्कार है।

   'डॉ. पी.वी. काणे' के मतानुसार 'ऋग्वेद में 'धर्मन्' शब्द का प्रयोग प्रायः नपुंसक लिंग में किया गया है। जिसका अर्थ पहले तो आदेश और धार्मिक कृत्यों से है किन्तु, पुल्लिंग में प्रयोग किये जाने पर इस शब्द को 'अवधारक' के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। ए.वी. कीथ के अनुसार ''नियम का बोधक शब्द धर्मन् है जिसका अर्थ धारक एवं धार्य दोनों है, ऋत की तरह यह भी सृष्टि के सभी पक्षों के लिए प्रयुक्त होता है।

   ऋग्वेद प्रथम मण्डल के बाइसवें सूक्त के अठ्ठारहवें मंत्र में आया है 'त्रिणि पदा विचक्रमो–विष्णुर्गोया आदाभ्य अतोधर्माणि धारयन्'' अर्थात् परमात्मा ने आकाश के बीच में त्रिपाद परिमित स्थान में त्रिलोक का निर्माण करके उनके अन्तर्गत धर्मों (जगत् निर्वाहक कर्म समूहों) को स्थापित किया, अतः धर्म को धारण करें। धर्म के सम्बन्ध में उपर्युक्त प्राथमिक वक्तव्य 'ध्रियते येन सः धर्मः' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

   ऋग्वेद के पुरुष–सूक्त में धर्म को यज्ञ का पर्याय बताया गया है। सन्दर्भ यह है कि देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया। ये प्रथम आदेश धर्म थे धर्मन् के अनुसार यज्ञाग्नि को प्रज्ज्वलित किया जाता है। धार्मिक नर–नारी अपत्यों के द्वारा अपनी वृद्धि करते हैं।

   ओम् यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

   तेहनाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा पुरुष सन्ति देवा।।

   पुरुष सूक्त 18वां मंत्र

   अर्थात् देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ स्वरूप परमपुरुष का यजन (आराधना)

किया। इस यज्ञ से सर्व प्रथम सब धर्म उत्पन्न हुए। उन धर्मों के आचरण से वे देवता महान् महिमा वाले होकर उस स्वर्ग लोक का सेवन करते हैं, जहां प्राचीन देवता निवास करते हैं।

देवताओं ने जो यजन किया वे ही सृष्टि के प्रथम धर्म हुए। यहां पर यज्ञ शब्द यज् धातु से निष्पन्न है। यज् के तीन अर्थ होते हैं– 1. देव पूजा, 2. संगतिकरण, 3. दान। अर्थात् देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ स्वरूप परमपुरुष का यजन (आराधन) किया। इस यज्ञ से सर्व प्रथम सब धर्म उत्पन्न हुए। उन धर्मों के आचरण से वे देवता महान् महिमा वाले होकर उस स्वर्ग लोक का सेवन करते हैं, जहां प्राचीन देवता निवास करते हैं।

ii. यजुर्वेद में भी धर्म, धर्मणे, धर्मणा और धर्माय रुप प्राप्त होते हैं।

धर्म	सविता धर्म सविषत्	यजुर्वेद 18/30
धर्मणे	पृथुधर्मणेस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा	यजुर्वेद 20/25
धर्मणा	थ्मनोतु मित्रवरूणौ ध्रुवेण धर्मणा	यजुर्वेद 5/27
धर्माय	धर्माय सभाचरं	यजुर्वेद 30/6

iii. अथर्ववेद में भी धर्म का प्रयोग 'विशाल विश्वस्य निधान बीजं वरेव्यम्' के रूप में अर्थात् धारण करने के रूप में ही हुआ है। अथर्ववेद में धर्म शब्द धर्म, धर्मणा, धर्माणि, धर्मम्, धर्मऽर्पृत, धर्मऽपि आदि रूपों में मिलता है फिर भी यहाँ परम्परा से प्राप्त आचार को भी धर्म बताया गया है।

iv. **शतपथ ब्राह्मण** (5, 3, 3, 9) में जगत् विषयक शाश्वत नियम् ऋत् के व्यवस्थापक वरूण देवता को 'धर्मपति' विशेषण द्वारा अभिहित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में धर्म के रूप में यज्ञ ही विशेषतया प्रतिष्ठित है। यज्ञ का वितान एवं विस्तार वद्यं परम श्रेयस्कर समझा गया है। शतपथ में यज्ञ व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन व्यवस्था का स्थापक आधारभूत कर्म है– शतपथ में कहा गया है– ''यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'' यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ देवता तथा आदि स्रष्टा प्रजापति है।

निरूक्त में लिखा है कि–

यज्ञः कस्मात्। प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः याच्यो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः यनूंष्येनं नयन्तीति वा।

अर्थात् यजनार्थक होने के कारण, फल विशेष की कामना के लिए किए जाने के कारण, यजुर्मन्त्रों द्वारा सफल होने के कारण यज्ञ कहा जाता है।

v. **ऐतरेयब्राह्मण** के अनुसार यज्ञ करना ही धर्म है। भाष्यकार आचार्य सायण का मत है कि 'ऐतयेरयब्राह्मण मे वर्णित ज्योतिष्होमादि यज्ञों का तात्पर्य धर्म से है। ऐतरेयब्राह्मण में राजा धर्मरक्षक और धर्माध्यक्ष के रूप में वर्णित है। शतपथब्राह्मण के अनुसार राजा धर्मज्ञाता, धारणकर्त्ता तथा धर्म का पालन कराने वाला है। इसमें वरुण देवता को राज–धर्म का नियामक बताया गया है। किन्तु, राजा धर्म से श्रेष्ठ नहीं है। इन ब्राह्मणों में निरूपित धर्म का तात्पर्य विधि से है।

vi. **तैत्तिरीयारण्यक** तैत्तिरीयआरण्यक में यह उल्लिखित है कि धर्म ही जगत् प्रतिष्ठा एवं स्थायित्व का कारण है। सभी–सब कुछ धर्म में स्थित निहित होगा रहता है। इसलिए धर्म को सर्वश्रेष्ठ से श्रेष्ठ बताया गया है। आरण्यक में सत्य, तपस्, यज्ञ और सम्पूर्ण न्यास के द्वारा अमरत्व प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धमिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमनुदति सर्व प्रतिष्ठितम् तस्माद्धर्म परमं वदन्ति। तै.आ.– 10/63/

सब लोगों का आधार धर्म ही है और संसार में सब प्रजा धर्मिष्ट ही के समीप जाते हैं। धर्म ही से पाप का नाश होता है धर्म पर ही सब निर्भर है, इसी से लोभ धर्म को मुख्य कहते हैं।

vii. उपनिषदों में धर्म

- ईशावाशोपनिषद् में धर्म को सत्य स्वरूप कहा गया है। जिसमें धर्म को सत्यस्वरूप में दर्शन कराने के लिए ज्योतिपुंज अंशुमान सूर्यदेव से प्रार्थना की गई है। धर्म ही पूर्ण सत्य है जो आवरणयुक्त है। धर्म और उसका सत्य स्वरूप सुनहरे पात्र से आवृत्त है, जो केवल जगत् के परिपोषक सूर्यदेव के द्वारा, जो स्वयं सत्य स्वरूप है, की उपासना कृपा के फलस्वरूप आवरण खोलने पर ही संभव है। सत्य सूर्य के समान ज्योतिर्मय है और धर्म का सत्य स्वरूप भी पूर्ण ज्योतिर्मय है।
- कठोपनिषद् (1/1/21) में नचिकेता आत्मा की प्राप्ति के अधिकारी हैं कि नहीं? इसकी परीक्षा करने के लिए यमराज कहते हैं, कि इस तत्त्व के विषय में सृष्टिकाल में देवगण को भी यह संदेह हुआ था, क्योंकि धर्म आत्म आँख्य है और सूक्ष्म होने के कारण सुविज्ञ नहीं है। धर्म साक्षात् आत्मा है और आत्म ज्ञान रूप भी है। कठोपनिषद् में ही अन्यत्र (1/2/13) वर्णित है कि मनुष्य इस आत्म तत्त्व को श्रवण करके, ''मैं ही आत्मा हूँ'', इस प्रकार इसको ग्रहण करके, तत्पश्चात् आत्मज्ञानरूपी श्रेष्ठ धर्म की सहायता से प्राप्त उस आत्मा को देहादि से पृथक् उपलब्ध करता है। यहाँ तत्त्वज्ञान को ही साक्षात् धर्म के नाम से समादृत किया गया है और साथ ही इस मंत्र में शास्त्रीय अनुष्ठान को धर्म कहा गया है।
- छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय अध्याय में एक मंत्र है ''स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशों ह्वदेन साधवो धर्मा आ च गच्छेपुरुष च नमेयुः 2/1/4 अर्थात् 'ऐसे जानने वाला जो पुरुष 'साम साधु है'' इस प्रकार उपासना करता है उसके पास जो साधु धर्म हैं वे शीघ्र ही आ जाते हैं और उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं।

  उपर्युक्त मंत्र को हम छान्दोग्योपनिषद् पर आचार्य शंकर के भाष्य के आधार पर समझ सकते हैं। 'साधु' शब्द शोमन का अर्थ बोधक है। लोक में वस्तु साधु–शोभन अर्थात् निर्दोष रूप से प्रसिद्ध है उसको निपुणजन 'साम' ऐसा कहकर पुकारते हैं तथा जो असाधु यानी विपरीत होती है। उसको असाम कहते है। अतः 'साधु धर्म का तात्पर्य श्रुति स्मृति से अविरुद्ध शुभ अभ्यास' से है।
- छान्दोग्य उपनिषद में धर्म की तीन शाखाएँ मानी गयी हैं–
  1. यज्ञ, अध्ययन एवं दान
  2. तापस् अर्थात् तापस धर्म
  3. ब्रह्मचारित्व अर्थात् आश्रम के कर्त्तव्य। (2.23)
- तैत्तिरीयोपनिषद् में (1.11)– में समावर्तन के समय गुरू द्वारा छात्र से अपेक्षा है– **धर्मंचर सत्यं वद**। छात्र–जीवन के उच्चतम् जीवनमूल्य की स्थापना तैत्तिरीय उपनिषद में की गयी है गुरू ने अपने शिष्य को अध्ययन के उपरान्त नवजीवन में प्रवेश हेतु समुचित निर्देश दिया है मन्त्रों में गुरू ने सामाजिक कर्त्तव्यों को पहले बताया साथ ही साथ य बताया इन कत्तव्यों के निर्वहन में कोई अवसावधानी न हो।

- वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद्– अध्याय 3 ब्राह्मण 4 श्रुति 14 में लिखा है।

  वह प्रजापति (ब्रह्मा) चारों वर्णों की सृष्टि करके भी सन्तुष्ट नहीं हुआ उनको यह शंका हुई कि क्षत्रिय वर्ण बड़ा उग्र हुआ इससे कदाचित् कोई हानि पहुचे तब उन्होंने मुख्य इष्ट का साधन धर्म की सृष्टि किया। क्योंकि धर्म उग्र से भी उग्र है क्षत्रिय वर्ण का भी नियन्ता है, दुर्बल भी धर्म की सहायता से बलवान् को जीतने की कामना करता है।लौकिक लोग जब धर्म का व्यवहार करते हैं तब वह धर्म कहलाता है। इसी से धर्म करने वाले को कहते हैं कि वह न्याय (धर्म) करता है और धर्म करने वाले को यह भी कहते है कि वह शास्त्र के अनुसार सत्य कहता है और सत्य के कर्ता को कहते हैं कि वह धर्म करता है तब ज्ञान और अनुष्ठान के भेद से एक ही पदार्थ को सत्य और धर्म दोनों कहते हैं अर्थात् जब तक ज्योतिष्टो मादि क्रिया वेद से ज्ञात मात्र या उपदिष्ट मात्र होती है तब तक वे सत्य शब्द से कही जाती है और जब की जाती हैं तब उनको धर्म कहते है। इस प्रकार शास्त्रज्ञ और सामान्य मनुष्य दोनों को धर्म ही नियम् से चलाता है।

धर्मशास्त्रों में 'धर्म' सम्बन्धित परिभाषाएँ

धर्मशास्त्र यास्क के पूर्व उपस्थित थे, कम से कम ई.पू. 600–300 के पूर्व तो वे थे ही और ईसा पूर्व की द्वितीय शताब्दि में वे मानव आचार के सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे। धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत धर्मसूत्र, स्मृतियाँ तथा महाभारत रामायण एवं पुराण आते हैधर्मशास्त्र–सम्बन्धी साहित्य लगभग तीन कालों में बाँटा जा सकता है। पहले काल में धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति जैसे बृहत् ग्रन्थ आते हैं। यह काल ईसा–पूर्व 600 से लेकर ईसा के बाद प्रथम शताब्दी के आरम्भ तक माना जाता है। दूसरे काल में अधिकांश पद्यमय स्मृतियाँ आती हैं, और यह काल प्रथम शताब्दी से लेकर 800 ई. तक चला आता है। तीसरे काल में भाष्यकार एवं निबन्धकार आते हैं। यह तीसरा काल लगभग एक सहस्र वर्ष तक चला आता है; लगभग सातवीं शताब्दी से 1800 ई. तक यह काल माना जाता है।

अतः क्रम से इनके आधार पर धर्म सम्बन्धित परिभाषाओं का सर्वेक्षण किया जाएगा।

कल्प–(आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा बौधायन) **आपस्तम्बधर्मसूत्र** कल्प का एक भाग है–

बौधायन गौतम के बाद की है 500 ई.पू.

हिरण्य केशी– वशिष्ठ धर्मसूत्र ऋग्वेद से सम्बन्धित मनु ने इसकी चर्चा की है।

कल्प का अर्थ है– यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन करने वाला शास्त्र ''कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र।'' कल्प के अन्तर्गत सूत्रों का विशाल भाण्डार समाहित है। कल्पसूत्रों के महत्त्व के विषय में प्रो. माक्स म्यूलेर ने ठीक ही कहा है– ''कल्पसूत्रों का वैदिक साहित्य के इतिहास में अनेक कारणों से महत्त्व है। वे न केवल साहित्य के एक नये युग के द्योतक हैं और भारत के साहित्यिक एवं धार्मिक जीवन के नये प्रयोजन के सूचक हैं, अपितु उन्होंने अनेक ब्राह्मणों के लोप में योग दिया, जिनका अब केवल नाम ही ज्ञात है। यज्ञ का सम्पादन केवल वेद द्वारा, केवल कल्पसूत्र द्वारा ही हो सकता था किन्तु बिना सूत्रों की सहायता के ब्राह्मण या वेद के याज्ञिक विधान का ज्ञान पान कठिन ही नहीं, असम्भव था।'' कल्पसूत्र के महत्त्व के विषय में कुमारिल का कथन है–

'वेदादृतेऽति कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
न तु कल्पैर्विना केचिन्मन्त्रब्राह्मणमात्रकात्।।'

ये कल्पसूत्र प्रत्येक शाखा के लिए भिन्न–भिन्न होते थे, जैसा कि हिरण्यकेशिसूत्र की टीका में महादेव ने लिखा है–

''तत्र कल्पसूत्रं प्रतिशाखं भिन्नमभिन्नमपि कचित् शाखाभेदेऽध्ययनभेदाद्वा सूत्रभेदाद्वा। आश्वलायनीयं कात्यायनीयं च सूत्रं हि भिन्नाध्ययनयोर्द्वयोर्द्वयोः शाखयोरकैकमेव। तैत्तिरीयके च समाम्नाये समानाध्ययने नाना सूत्राणि। अनेन च सूत्रभेदे शाखाभेदः शाखाभेदे च सूत्रभेद इति परम्पराश्रय इति वाच्यम्।''

कल्पसूत्रों का विभाजन चार भागों में किया गया है–

1. श्रौत्र सूत्र– जिनमें श्रौत अग्नि से किये जाने वाले यज्ञों का विवेचन है।
2. गृह्यसूत्र– गृह्य अग्नि में किये जाने वाले संस्कारों तथा घरेलु यज्ञ–क्रियाओं का विवेचन करने वाले सूत्र है।
3. धर्मसूत्र– आश्रमों तथा वर्णों के कर्त्तव्य, व्यक्ति के आचरण के नियम, प्रायश्चित, राजा के कर्त्तव्य, अपराध और दण्ड का विधान करने वाले सूत्र।
4. शुल्वसूत्र– यज्ञ की वेदी आदि के निर्माण की विधि का विवेचन करने वाले सूत्र।

वेदाङ्गों में कल्प को वेदपुरुष का हाथ माना गया है कल्प के चार प्रविभाग है– **स्रोत, गृह्य, धर्म एवं शुल्ब** श्रोतसूत्र यज्ञ से सम्बन्धित नियमों का प्रतिपादन करते हैं। गृहसूत्र में गृहस्थ जीवन से जुड़ी कर्मकाण्ड है। यज्ञ से जुड़ी हुई तकनीकी सामग्रीयों का वर्णन शुल्बसूत्रों में वर्णित है। जबकि धर्म सूत्र इन तीनों से पृथक प्रकार के ग्रंथ है। धर्मसूत्रों में सामाजिक नियमों का विधान किया गया है। इनकी उत्पत्ति वेदों से होने के कारण मंत्रों तथा श्लोकों में निबद्ध है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत धर्मसूत्र एवं स्मृतियाँ आती है।

धर्मसूत्र : धर्मसूत्र वैदिक चरणों से जुड़े हुए थे वैदिक साहित्य के अन्तिम युग का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रन्थों की शैली मुख्यतः सूत्रात्मक है। ये सूत्र रचनाएँ अनेक शताब्दियों के ज्ञान को नियमों के रूप में छोटे–छोटे वाक्यों में अभिव्यक्त करती हैं। सूत्रों की विशेषता है उनकी संक्षिप्तता। सूत्रों का शाब्दिक अनुवाद असम्भव होता है और अनेक सूत्ररचनाओं में एक प्रकार की विशिष्ट एवं तकनीकी परिभाषिक शब्दावली का भी व्यवहार हुआ है, जिससे इनमें स्वभावतः दुरूहता आ गयी है। सूत्र–शैली की रचनाओं में सबसे सरल धर्मसूत्र ही है।किन्तु धर्मसूत्रों की सूत्र–शैली इन जटिलताओं से मुक्त है। उनमें पारिभाषिक शब्दावली का अभाव है और वे सीधे–सादे स्वतन्त्र वाक्यों के समान हैं। इनमें विषय का विस्तार भी सम्बद्ध एवं व्यवस्थित रूप में हुआ है। प्रसंगवश दूसरे विषय भी अवश्य आ गये हैं।

धर्मसूत्रों की परम्परा

धर्मसूत्र कल्पवेदाङ्ग–साहित्य की परम्परा में आते हैं। जैसा कि विष्णुमित्र ने ऋग्वेद–प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति में कल्प की परिभाषा की है, कल्प वेद में विहित कर्मों की क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र है ''कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।''

धर्मसूत्र भी अन्य ग्रन्थों के समान भिन्न–भिन्न शाखा में पृथक्–पृथक् थे। किन्तु कतिपय धर्मसूत्र ही इस समय उपलब्ध हैं। धर्मसूत्रों का श्रौत एवं गृह्यसूत्रों से भी अटूट सम्बन्ध है। जिन शाखाओं के सभी कल्पसूत्र उपलब्ध हैं उनमें प्रमुख हैं बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि। ऐसा प्रतीत होता है कि कई शाखाओं में धर्मसूत्र अलग

नहीं होते थे और वे शाखायें किसी प्रमुख शाखा के धर्मसूत्र को अपना लेती थीं। विभिन्न शाखाओं में एक अद्भुत सहिष्णुता थी जिसके परिणामस्वरूप सभी शाखाओं का सूत्र ग्रन्थ सभी आर्यों के लिए प्रामाणिक और मान्य होता था। कुमारिल ने पूर्वमीमांसा–सूत्र 1.3.11 में इसी तथ्य का उल्लेख किया है–

''स्वशाखाविहितैश्चापि शाखान्तरगतान्विधीन्।
कल्पकारा निबध्नन्ति सर्व एव विकल्पितान्।।
सर्वशाखोपसंहारो जैमिनेश्चापि संमतः।।''

सूत्रकारों का दृष्टिकोण उदार था और वे केवल अपनी ही शाखा तक सीमित होकर सन्तोष का अनुभव नहीं करते थे–

'न च सूत्रकाराणामपि कश्चित् स्वशाखोपसंहारमात्रेणावस्थितः।'

श्रौतसूत्र जहाँ बड़े यज्ञों से तथा गृह्यसूत्र घरेलु संस्कारों एवं यज्ञ–क्रियाओं से सम्बद्ध हैं, वहाँ धर्मसूत्र मानव के सम्पूर्ण जीवन का निर्धारण करने वाला अधिक व्यावहारिक साहित्य है। मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के पथ का अनुलेखन ही धर्मसूत्रों का लक्ष्य है।

धर्मसूत्रों का मुख्य विषय व्यक्ति के जीवन के आचार एवं कर्त्तव्य हैं। धर्मसूत्र मुख्यतः वर्णों एवम् आश्रमों के नियमों का विवेचन करते हैं तथा उच्चवर्णों के दैनिक धर्मकृत्यों का विधान करते हैं। सुतरां, धर्मसूत्र कभी–कभी गृह्यसूत्रों का ध्येय गृह्ययज्ञ, प्रातः–सायं–पूजन, पाकयज्ञ, विवाह, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन एवं दूसरे संस्कार, ब्रह्मचारी एवं स्नातक के नियम, मधुपर्क और श्राद्धकर्म का वर्णन करना तथा इनसे संबद्ध नियमों को स्पष्ट करना है। इस प्रकार गृह्मसूत्रों के विषय नितान्त वैयक्तिक जीवन से संबद्ध हैं। उनमें व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों एवं कानून का विवेचन नहीं है। इसके विपरीत, धर्मसूत्र मनुष्य को समाज में लाकर खड़ा कर देता है, जहाँ उसे व्यावहारिक जगत् में दूसरों के साथ रहते हुए अपने आचार–व्यवहार को नियमित और संयमित करना है, उसे कुछ कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का पालन करना होता है, कुछ अधिकार प्राप्त करने होते हैं और अपने अपराधों के लिए दण्ड भोगने होते हैं, इस प्रकार धर्मसूत्रों का वातावरण अधिक सामाजिक और नैतिक है। जैसा हम कह आये हैं, धर्मसूत्रों में गह्यसूत्रों के कुछ विषयों पर भी विचार किया गया है, जैसे, विवाह, संस्कार, मधुपर्क, स्नातक का जीवन, श्राद्धकर्म आदि। संक्षेप में धर्मसूत्रों के वर्ण्य–विषय की सूची इस प्रकार दी जा सकती हैं– धर्म और उसके उपादान, चारों वर्णों के आचार कर्त्तव्य एवं जीवनवृत्तियों, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के आचार, उपजातियों एवं वर्णसङ्कर, सपिण्ड और सगोत्र, पाप, उनके प्रायश्चि एवं व्रत, आशौच और उससे शुद्धि, ऋण, व्याज, साक्षी और न्यायव्यवहार, अपराध और उनके दण्ड, राजा और राजा के कर्त्तव्य, स्त्री के कर्त्तव्य, पुत्र और दत्तक पुत्र, उत्तराधिकार, स्त्रीधन और सम्पत्ति का विभाजन।

स्मृतियाँ

श्रुति का जो अनुस्मरण करें वह स्मृति है धर्म अधर्म की व्यवस्था स्मृतियों के अन्तर्गत आता हैं इनमें आचरण के साथ–साथ वंश वंशानुचरित सर्ग और प्रतिसर्ग के विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। स्मृति शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक अर्थ में यह वेद वाङमय के इतर ग्रन्थों यथा पाणिनीय के व्याकरण, श्रोत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों महाभारत, मनुयाज्ञवल्क एवं अन्य ग्रन्थों से सम्बन्धित है। किन्तु संकीर्ण अर्थ में

स्मृति एवं धर्मशास्त्र एक ही है। जैसा कि मनु का कहना है (श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्र तु वै स्मृति मनु. 2.10)

स्मृतियों ने वेद का धर्म का मूल माना है– **वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।** (1.1. 2. गौतम धर्मसूत्र)वेद ही धर्म का मूल है, जो वेद को जानते हैं उनका मत ही धर्म–प्रमाण है।

> **वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।**
> **आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च। मनु. 2.6।।**

धर्म के पांच उपादान है– सम्पूर्ण वेद, वेदजों की परम्परा एवं व्यवहार, सज्जन पुरुषों का आचार एवं आत्म सन्तुष्टि। वेदार्थ को ठीक जानने वाले, निषिद्ध फल वाले राग और द्वेष से रहित, महात्मा लोग के अन्तःकरण से अभिमुख होकर जिन कर्मों को सदा करते चले आये हैं वे हीं धर्म है। यहाँ राग द्वेष शब्द अन्तःकरण के सभी दोषों का उपलक्षण है।

वीरमित्रोदय के परिभाषा प्रकरण में उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया गया है–

1. महर्षि विश्वामित्र ने यह कहा हैं कि वेदज्ञ आर्य जिसको वेदविहित मानते हैं वह धर्म हैं, जिसको वेद निषिद्ध वह अधर्म है।
2. आपस्तम्ब ऋषि ने यह कहा है कि धर्म, अधर्म अपने स्वरुप को कहते नहीं फिरते कि मैं धर्म हूँ और मैं अधर्म और न देवता का पितर व गन्धर्व किसी मनुष्य से ऐसा कहते कि यह धर्म और यह अधर्म है किन्तु आर्य मनुष्य, किये जाते हुए जिस कर्म की प्रशंसा करते है वह धर्म और जिसकी निन्दा करते हैं वह अधर्म है

क्या कोई स्वतन्त्र रूप से स्मृति का निर्माण कर सकता है?–

- **प्रमुख स्मृतियाँ**– मुख्य स्मृति 18 हैं– मनुस्मृति, बृहस्पतिस्मृति, दक्षस्मृति, गौतमस्मृति, यमस्मृति, अंगिरास्मृति, योगीश्वरस्मृति, प्रचेतास्मृति, शातातपस्मृति, पराशरस्मृति, संवर्तस्मृति, उशनस्स्मृति, शंखस्मृति, लिखितस्मृति, अत्रिस्मृति, विष्णुस्मृति, आपस्तम्बस्मृति, हारीतस्मृति। आईये कुछ प्रमुख स्मृतियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें।

मनुस्मृति– स्मृतियों में सबसे प्राचीन 'मनुस्मृति' है। इसका समय ईसा से कई शताब्दी पहले का है। अन्य स्मृतियाँ 400 और 1000 ई. के बीच की हैं। स्मृतियाँ अधिकांशतः पद्य में हैं और भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्रों के बाद की रचनाएँ हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से स्मृतियों धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं। भारतवर्ष में मनुस्मृति का सर्वप्रथम मुद्रण सन् 1831 ई. में हुआ। डॉ. बुहलर ने इसका अंग्रेजी में सर्वश्रेष्ठ अनुवाद किया है। मानव के आदि पूर्वज मनु ने इसका प्रणयन नहीं किया। वर्तमान मनुस्मृति में 12 अध्याय एवं 2694 श्लोक है।

बूहलर, मैक्समूलर का यह कहना कि मनुस्मृति का विकास मानवधर्म सूत्र से हुआ सत्य नही है। मनुस्मृति अध्याय 2 श्लोक 1 में धर्म का लक्षण दिया गया है–

> धृतिक्षमा, दमोअस्तयम, शौचमिन्द्रिय निग्रहः,
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षमणम्।

मनुस्मृति के अनुसार जिस काम के करने से अन्तरात्मा को प्रसन्नता होती हो, वही

धर्म समझना चाहिए। भगवान् मनु ने आरम्भ में ही धर्म का लक्षण बतलाते हुए लिखा है–

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत।।

अर्थात् रागद्वेष रहित विद्वान् जिसका सेवन करते हों और हृदय से अर्थात् अन्तःकरण से जिसकी अनुमति मिलती हो उसी धर्म का हम निरूपण करते हैं।

याज्ञवल्कस्मृति– 1000, श्लोक में सुगठिन रूप में निबद्ध है। निर्माण काल– ई.पू. पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद तीसरी शताब्दी के मध्य।

पाशर स्मृति– 12 अध्याय एवं 593 श्लोक केवल आचार एवं प्रायश्चित पर चर्चा है। पराशर स्मृति में अन्य 19 स्मृतियों के नाम आये है।

स्मृति टीका– मुख्य टीकाकार विश्वरुप, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, अपरार्क, हरदत्त, मिताक्षरा।

विज्ञानेश्वर – मिताक्षरा 1150 के बाद की रचना है याज्ञवल्क स्मृति पर एक भाष्य है साथ ही साथ यह स्मृति सम्बन्धी एक निबन्ध है इसमें बहुत से स्मृति के उद्धरण है। यह निबन्ध स्मृतियों के अर्न्तविरोधों को पूर्वमीमांसा की पद्धति से व्याख्या द्वारा दूर करता है और भांति–भांति के विषयों को उनके स्थान पर रखकर एक संश्लिष्ट व्यवस्था प्रदान करता है।

1.3.2 स्मृतियों में धर्म

धर्मसूत्रों में निरूपित धर्म की विशद् व्याख्या स्मृतियों में की गई है। स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे प्राचीन है अन्य महत्वपूर्ण स्मृतियों के नाम है गौतम, आपस्तब, वौधायन और वशिष्ठ। मनुस्मृति में चारों वर्णों के धर्म, आचार, आश्रम धर्म, विवाह तथा अन्य संस्कार, पंचमहायज्ञ, श्राद्ध, भक्ष्याभक्ष्य विचार, द्रव्यशुद्धि, स्त्री धर्म, राज धर्म, प्रायश्चित, आपद् धर्म, विधि एवं कर्मों के गुण–दोष आदि का विवेचन मिलता है। इसके अतिरिक्त इनमें देश, जातिश्रेणी, कुल, गण और पाखण्डियों के धर्मों का भी उल्लेख है। डा. आर. सी. हाजरा का मत है कि प्राचीन स्मृतियों के वर्ण्य विषय आचार–व्यवहार तथा प्रायश्चित है। डॉ0 पांडुरंगवामनकाणे के अनुसार ''धर्म शास्त्रों में धर्म तात्पर्य किसी सम्प्रदाय अथवा मत से नहीं अपितु जीवन की विशिष्ट आचार पद्वति से है। जिसके द्वारा मनुष्य वैयक्तिक एवं समाज के सदस्य के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ अभीप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सकें।

धर्मसूत्र और स्मृति

धर्मसूत्र स्मृति नाम से प्रचलित रचनाओं से भिन्न तथा अधिक प्राचीन माने गये हैं वेद के ईश्वर प्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट वाङ्मय को श्रुति और धर्मशास्त्र को स्मृति कहा गया है–

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रंतु वै स्मृतिः।– मनु. 2/10

श्रुति से भिन्न स्मृति के अन्तर्गत सूत्रात्मक एवं श्लोकबद्ध दोनों प्रकार की धर्मशास्त्रीय रचनाएँ आती हैं। किन्तु संकुचित अर्थ में 'स्मृति' शब्द का प्रयोग 'मनुस्मृति' 'याज्ञवल्क्यस्मृति' जैसी पद्यात्मक धर्मशास्त्रीय रचनाओं के लिए हुआ है। इन स्मृतियों में कई सूत्ररचनाओं के ऊपर ही आधारित है। स्मृति की प्रामाणिकता उसके श्रुति पर आधृत होने के कारण ही है–

पूर्वविज्ञानविषयं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते।
पर्वूज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते।।

स्मृति धर्मसूत्रों में अन्तर

सामान्यतः स्मृति नाम से अभिहित रचनाओं एवं धर्मसूत्रों में जो अन्तर हैं उनको महामाहोपाध्याय काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में स्पष्ट किया है, जिसे हम यहाँ साभार प्रस्तुत करते हैं–

1. अनेक धर्मसूत्र किसी चरण के या किसी कल्प के अंग हैं, अथवा उनका गहरा सम्बन्ध गृह्यसूत्रों से है।
2. धर्मसूत्रों में यत्र–तत्र अपने चरण के साहित्य और वेद के उद्धरण दिये गये हैं।
3. धर्मसूत्रों प्रायः गद्य में हैं या कहीं–कहीं मिश्रित गद्य या पद्य में हैं, किन्तु स्मृतियाँ श्लोकों में हैं या पद्यबद्ध हैं।
4. भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्र स्मृतियों के पहले के हैं, और स्मृतियों की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।
5. विषयवस्तु के विन्यास की दृष्टि से भी धर्मसूत्र और स्मृतियों में अन्तर है। धर्मसूत्रों में प्रायः विषय की व्यवस्था, क्रम का अनुसरण नहीं करतीं, किन्तु स्मृतियाँ अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं, उनमें विषयवस्तु मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभक्त हैं– आचार, व्यवहार और प्रायश्चित।
6. बहुत बड़ी संख्या में धर्मसूत्र अधिकतम स्मृतियों से प्राचीन हैं।

धर्मसूत्रों का मुख्य ध्येय हैं आचार, विधिनियम् (कानून) तथा क्रिया संस्कारों की विधिवत् चर्चा करना। धर्मसूत्र – 1. आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा बौधायन (बृहद), 2. गौतम तथा वशिष्ठ (लघु धर्मसूत्र), विद्यमान धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्र सबसे पुराना है। इसे विशेषतः सामवेद के अनुयायी पढ़ते थे। गौतम एक जातिगत नाम है।गौतम बौधायन तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र का रचना काल ई.पू. 600 और 300 के बीच था। इनके ग्रन्थों में धर्मशास्त्रों के चर्चा की गयी है। गौतम ने बहुत से धर्मीशास्त्रों को इत्येके शब्द कहकर चर्चा की है। धर्मसूत्र यास्क के पूर्व उपस्थित थे, कम से कम ई.पू. 600–300 के पूर्व तो वे थे ही ई.पू. 200 में वे मानव आचार के लिए सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे। (पृ. 8 धर्मशास्त्र का इतिहास)

1.3.3 पुराण में धर्म

धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठयते।
धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते।।

(मत्स्यपुराण 134.17)

धृ = धातु धारण–पोषण और महत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इसी धातु से धर्म शब्द निष्पन्न हुआ है। महत्त्वशील और धारक होने से यह धर्म कहा जाता है।

श्रूयतां धर्म सर्व एवं श्रुत्वा चैतत्प्रधार्यताम्
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

(पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड 19.355, विष्णुधर्मोत्तर, 3.253.44)

धर्म का सार सुनें और सुनकर इसे धारण करें। दूसरों के द्वारा किये हुए जिस

वर्ताव को अपने लिए नहीं चाहते, उसे दुसरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए।

धर्ममूलं हि भगवान्सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतं च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति।।

(श्रीमद्भागवत 7.11.6)

भागवतपुराण के सातवें स्कन्ध में युधिष्ठिर द्वारा नारद जी से सनातन धर्म के बारे में पूछे जाने पर नारद जी ने कहा– अजन्मा भगवान् ही समस्त धर्मों का मूल कारण हैं वहीं चराचर जगत् के कल्याण के लिए धर्म और दक्षपुत्री मूर्ति के द्वारा अपने अंश से अवतीर्ण होकर बदरिकाश्रम में तपस्या कर रहे हैं। उन नारायण भगवान् को नमस्कार करके उन्हीं के मुख से सुने हुए सनातन धर्म का मैं वर्णन करता हूँ–

युधिष्ठिर धर्म के ये तीस लक्षण शास्त्रों में कहे गये हैं– सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित–अनुचित का विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शी, महात्माओं की सेवा, धीरे–धीरे सांसारिक भोगों की चेष्टा से निवृत्ति, मनुष्य के अभिमानपूर्ण प्रयन्तों का फल उल्टा ही होता है– ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियों को अन्न आदि का यथा योग्य विभाजन, उनमें और विशेष करके मनुष्यों में अपने आत्मा तथा इष्टदेव का भाव, सन्तों के परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्ण के नाम–गुण लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्म समर्पण– यह तीस प्रकार का आचरण सभी मनुष्यों का परम धर्म हैं। इनके पालन से सर्वात्मा भगवान प्रसन्न हो जाते हैं। (8–12)

धर्मात्सञ्जायते ह्यर्थो धर्मात्कामोऽभिजायते।
धर्म एवापवर्गाय तस्माद्धर्म समाश्रयेत्।।

(कर्मपुराण पूर्व – 2.45)

धर्म से अर्थ सुलभ होता है; धर्म से काम समुत्पन्न होता है धर्म स्वयं धर्म है ही, अपवर्ग व्यञ्जक भी धर्म ही है।

भागवतपुराण में धर्म

युधिष्ठिर के आग्रह पर नारद ने कहा है– अजन्मा भगवान ही समस्त धर्मों का मूल कारण है। वही प्रभु चराचर जगत् के कल्याण के लिए धर्म और दक्ष पुत्री 'मूर्ति' के द्वारा अपने वंश से अवतीर्ण होकर बद्रिकाआश्रम मे तपस्या कर रहे हैं। इन नारायण भगवान् को नमस्कार करके उन्हीं के मुख से सुने हुए सनातन धर्म का मैं वर्णन कर रहा हूँ। युधिष्ठिर! सर्वदेव स्वरूप भगवान् श्री हरि, उनका तत्त्व जानने वाले महर्षियों की स्मृतियां और जिससे आत्मग्लानि न होकर आत्मप्रसाद की उपलब्धि हो, वह कर्म धर्म के मूल है। वेदद्रष्टा ऋषि–मुनियों नें युग–युग में प्रायः मनुष्यों के स्वभाव के अनुसार धर्म की व्यवस्था की है। वही धर्म उनके लिए इस लोक एवं परलोक में कल्याणकारी हैं।

अन्यत्र भागवतपुराण में धर्म चतुष्पाद के रूप में वर्णित है। इस पुराण में हमे धर्म का महत्त्व गो–वृषभ के संवाद से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त इसमें धर्म के दैवी उत्पत्ति की ओर भी संकेत है। धर्म को ब्रह्मा के वक्षस्थल के दक्षिण–पार्श्व से जनहित के लिए उत्पन्न पांच वस्तुओं में प्रथम कहा गया है।

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।।

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेहकर्मभिः।।

—श्रीमद्भागवत, 1/2/9—10

धर्म का फल है संसार के बन्धनों से मुक्ति, भगवान् की प्राप्ति, उससे 'यदि' कुछ सांसारिक सम्पत्ति उपार्जन कर ली, तो यह उसकी कोई सफलता नहीं है। इसी प्रकार अर्थ का फल है एकमात्र धर्म का अनुष्ठान, वह न करके यदि कुछ भोग की सामग्रियाँ एकत्र कर लीं तो कोई लाभ की बात नहीं है।

भोग की सामग्रियों का भी यह लाभ नहीं है, कि उनसे इन्द्रियों को तृप्त की जाय, जितने भी करने से जीवन—निर्वाह हो जाय उतने ही हमारे लिए पर्याप्त है। जीवन निर्वाह— जीवित रहने का यह फल नही है कि अनेक प्रकार के कर्मों के पचड़े में पड़कर इस लोक—परलोक का सांसारिक सुख प्राप्त की जाय उसका वास्तविक परम लाभ तो यह है कि वास्तविक तत्त्व को भगवत तत्त्व को जानने की शुद्ध इच्छा हो।

1. भविष्य पुराण मुख्य इष्ट का कारण धर्म और मुख्य अनिष्ट का कारण अधर्म है।

   यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सः धर्मः।

2. वैशेषिक दर्शन अध्याय 1, पाद 1, सूत्र 1 में कणाद महर्षि ने कहा है— ''स्वर्ग और मोक्ष का वास्तविक उपाय धर्म है। उसकी उपस्कारक टीका में यह व्याख्यान किया है कि धर्म कौन है और उसका लक्षण क्या है?

   चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः।

   मीमांसासूत्र अध्याय 1, पाद 1, सूत्र 2

अर्थात् जो, प्रवृत्ति करने वाले वेद वाक्य ही से यथार्थ निश्चय करने योग्य हैं और उससे कोई निश्चित प्रबल अनिष्ट नहीं होता वह धर्म हैं। (जैस यज्ञ, आत्म ज्ञान, योग और उपासना) अर्थात् धर्म में प्रमाण प्रवृत्ति कराने वाले वेद ही है न कि प्रत्यक्ष, अनुमान वा किसी महापुरुष के वाक्य।

धर्म के लक्षणों की स्थापना

*यहाँ स्वर्ग शब्द से सब सुखों का और मोक्ष शब्द से सब दुःखाभावों को ग्रहण किया है।

इज्याचारो दमोऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।। (याज्ञवल्कस्मृति 1.5)

''यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय रूप कर्म धर्म हैं; परन्तु योग से आत्मदर्शन परम धर्म है।

1.3.4 रामायण में धर्म

रामायण में धर्म का निरुपण संक्षेप में पात्रों के संवादों के द्वारा प्रस्तुत है। इसमें हमें धर्म का फलवादी रुप प्राप्त होता है। रामायण में वर्णाश्रम और राजधर्म का विशेष निरुपण है। रामायण के अनुसार प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य को स्वधर्म के पालन द्वारा मानव का कल्याण करना ही उसका आदर्श बताया गया है। इसमें भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। नैतिक गुणों के पालन पर भी विशेष बल दिया गया है। नियतिवाद की आलोचना करते हुए मनुष्य को स्वयं उसके भाग्य का निर्माता कहा गया है। रामायण में स्त्री मातृ—पुत्र के धर्म का निरुपण है। इसमें धर्म साक्षात् देवता रुप में वर्णित है राम को शरीर धारी धर्म कहा गया है— रामोविग्रहवान धर्मः।धर्म तथा आदर्श के प्रतीक 'राम' शब्द के निहितार्थ के बारे में ब्रह्मवैवर्तपुराण में स्पष्ट कहा गया

है कि– 'रा' शब्द परिपूर्णता का बोधक है तथा 'म' अक्षर परमेश्वर का वाचक है। अतः राम पूर्ण परमेश्वर है। यही इसका तात्पर्य है। इसलिए 'राम' शब्द का अर्थ पूर्ण परमात्मा ही लिया जाता है। बाल्मिकी रामायण के 'युद्ध– काण्ड' में लिखा है– हे राघव! आप ही ब्रह्म हैं। सृष्टि के आदि, मध्य व अन्त में सत्यस्वरूप आप ही अक्षर (ब्रह्म) है। लोंकों में आप ही परमधर्म हैं तथा विष्वकसेन विष्णु है। श्लोक में 'अक्षर' तथा विष्वकसेन शब्द से राम निर्गुण–निराकार व सगुण तथा साकार भी सिद्ध होता है।

रघुकुल में अवतीर्ण होने के पूर्व भी 'राम' शब्द का अस्तित्व विद्यमान था। रत्नाकर को नारद जी ने 'राम' की ही दिक्षा दी थी परन्तु रत्नाकर अन्त तक मरा–मरा का ही उच्चारण करता रहा। अन्त में उसकी दीर्घ समाधि की अवस्था प्राप्त हुई। अतः राम सनातन ब्रह्म हैं, वह एक भी है अनेक भी हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही अग्नि नाना रुपों में उसके समान रुप वाला प्रतिबिम्बित हो रही है, ठीक उसी प्रकार समस्त प्राणियों में अन्तरात्मा स्वरूप परब्रह्म एक होते हुए भी विभिन्न रुपों में भासित हो रहा है तथा वाह्य में भी वही विद्यमान है।

राम को 'धर्म का मूर्तिमान स्वरुप' कहने का तात्पर्य है राम का आदर्श समाज की रक्षा करने वाला तथा मतभेदों को निपटाने वाला, मनुष्यों की दुष्प्रवृत्तियों का संस्कार करके उन्हें सतपथ पर प्रेरित करने वाला, तथा उन सबमें पारस्परिक सौहार्द्र उत्पन्न करने वाला है। अविरोध ही उनका यथार्थ स्वरूप है– **'अविरोधात् तुयोधर्मः सधर्म सत्यविक्रमः।'** राम समाज में इसी धर्म की संस्थापना के लिए जाने जाते हैं।

1.3.5 महाभारत में धर्म

महाभारत में वन पर्व और शांति पर्व मेंधर्म की अवधारणा का विशेष विवेचना हुआ है। धर्म के सम्बंध में वन पर्व में युधिष्ठिर और द्रौपदी का संवाद इस प्रकार है– द्रौपदी कहती हैं– "तुम धर्म ही धर्म लिए बैठे हो और यहाँ जंगल में कष्ट भोग रहे हो। उधर अधर्मी कौरव आनन्दपूर्वक हस्तिनापुर में राज्य भोग कर रहे हैं। तुम शक्तिमान हो, अतएव अपनी बनवास की प्रतिज्ञा छोड़कर बल से अपना राज्य प्राप्त करने का यदि प्रयत्न करोगे तो वह तुम्हें सहज ही प्राप्त हो जाएगा। जिस धर्म से दुःख उत्पन्न होता है उसे धर्म कैसे कहें?" "दुर्योधन के समान दुष्टों को ऐश्वर्य देना और तुम्हारे समान धर्मनिष्ठ को विपत्ति में डालना, इस दुष्कर्म से सचमुच ही परमेश्वर निर्दय जान पड़ता है।" इस प्रश्न का जो उत्तर युधिष्ठिर ने दिया वह उल्लेखनीय है।

धर्मं चरामि सुश्रोणी
न धर्मफलकारणात्।
धर्मवाणिज्यको हीनो
जघन्यो धर्मवादिनाम्।।

"हे सुन्दरी, मैं जो धर्म का आचरण करता हूँ, सो धर्मफल पर अर्थात् उससे होनेवाली सुख की प्राप्ति पर ध्यान देकर नहीं करता; किन्तु इस दृढ़–निश्चय के साथ करता हूँ कि धर्म चूंकि धर्म है इसलिए सेवन करने योग्य है। जो मनुष्य धर्म को एक व्यापार समता है वह हीन है।महाभारत में धर्म के विभिन्न स्वरूप वर्णित हैं। इसमें राजधर्म, प्रजाधर्म, जाति धर्म, कुलधर्म, वर्णाश्रम धर्म, दानधर्म, आपद्धर्म, मोक्ष धर्म, स्त्रीधर्म आदि का वर्णन है। महाभारत में धर्म की मानव मात्र के पूर्ण एवं सर्वांगीण उत्कर्ष का साधन बताया गया है। इसलिए धर्म का एक सापेक्ष स्वरूप इसमें प्रतिभासित होता है। सम्यक् धर्म वही है जो युग–सत्य के अनुकुल एवं उत्कर्षकारी है इसीलिए महाभारत में धर्म का स्वरूपगत्यात्मक हैं। यथा–

"स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः।
कदानमन्दतं हिंसा धर्मों ध्यावस्थिकः स्मृतः।।
–महा.शा.प., 36/11

महाभारत में शांति पर्व में यह कहा गया है कि–

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।। –महाभारत (59.44)

अर्थात– पहले न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड और न ही कोई दण्ड देने वाला। प्रजा धर्म के द्वारा ही एक दुसरे की रक्षा करती थी। तात्पर्य जीवन का संरक्षण, विकास और विस्तार धर्म पर निर्भर था। लेकिन यह धर्म कोई सम्प्रदायगत आचारिक धर्म नहीं वरन आचार निर्धारक 'धर्म' था। उपरोक्त 'धर्मेणैव प्रजाः सर्वा' का तात्पर्य सम्पूर्ण ब्रह्ममय सृष्टि से है क्योंकि शांतिपर्व में ही कहा गया है कि–

विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्राह्ममिदं जगत्
ब्रह्मणा पूर्व सृष्टं हि कर्ममिर्वर्णतां गतम्।। –महा. (188.10)

अर्थात– पहले वर्णो में कोई अन्तर नहीं था, एक ही स्रष्टा से उत्पन्न होने के कारण सारा जगत् ब्राह्मण ही था। पिछे विभिन्न कर्मों के कारण उसमें वर्ण भेद हो गया।

पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्।। –59.5 शां0प0

हे भारत! सब मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ समय बाद सब लोग पारस्परिक संरक्षण के कार्य में घोर कष्ट का अनुभव करने लगे; फिर उन सब पर मोह छा गया।

तपसो बहुरुपस्य तस्तैर्हारिः प्रवर्ततः।
निवृत्या वर्तमानस्य तपो नानशनात्परम्।। –161:7 शांतिपर्व
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमागतिः। –161:4 शांतिपर्व

सत्पुरुषों में सदा सत्यरूप का पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए क्योंकि; 'सत्य ही जीव की परमगति है'।

'धर्म' मात्र कर्म नहीं और न ही मात्र ज्ञान है। धर्म में मन की धृति को ज्ञानमय कर्म और कर्मसंपुष्ट ज्ञान की दृष्टि शक्ति होती है।

अविज्ञानादयोगो हि पुरुषस्योपजायते।
विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकरः परः। – शां.पं. 73.11

अर्थात् ज्ञान न होने से मनुष्य को संकटकाल में उससे बचने के लिए कोई योग्य उपाय नहीं सूझता; परन्तु ज्ञान से वह उपाय ज्ञात हो जाता है। उचित उपाय ही ऐश्वर्य की वृद्धि करने का श्रेष्ठ साधन है।

सत्य के लक्षण

सत्य, समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अनुसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहने वाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा ये तेरह लक्षण सत्य के ही स्वरुप है। इन सत्यस्वरूपों की प्राप्ति हो सकती है सत्य की प्राप्ति नित्य, एकरस, अविनाशी होने से ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्त्तव्यपालन रूप योग के द्वारा भी इस सत्य की प्राप्ति होती है। जैसे कि कहा गया है–

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्य क्षमा चैव छीस्तिक्षान सूयता।। –8/16/2
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश।। –9/162

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारी तथैव च
सर्वधर्मान विरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते।। –10/162

धर्म, अधर्म के लक्षण के बारे में कहा गया है– सबके साथ प्रेमपूर्वक वर्ताव करने से जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब धर्म है तथा जो इसके विपरीत है वह अधर्म है। विधाता ने पूर्वकाल में जिस उत्तम आचरण का विधान किया है, वह विश्व– कल्याण की भावना से युक्त है, और उससे धर्म एवं अर्थ के सूक्ष्म स्वरूप का ज्ञान होता है।

महाभारत के शांतिपर्व में युधिष्ठिर ने मात्र सदाचार को ही धर्म के लक्षण होने पर सन्देह व्यक्त किया है–

सदाचारो मतो धर्मः सन्तस्त्वाचार लक्षणाः।
साध्यासाध्यं कथं शक्यं सदाचारो ह्यलक्षणः।। –म.शां.प., 260.5

अर्थात् 'आपके कथनानुसार सत्पुरुषों का आचरण धर्म माना गया है और जिसमें धर्माचरण लक्षित होता है; वे ही सत्पुरुष (सत्+पुरुष) हैं। ऐसी दशा में अन्योन्याश्रय दोष पड़ने के कारण साध्य और असाध्य का विवेक कैसे हो सकता है? ऐसी दशा में सदाचार धर्म का लक्षण नहीं हो सकता।

महर्षियों ने अपने–अपने विजानित ज्ञान के आधार पर धर्म की एक नहीं, अनेक विधियां बतायी हैं, परन्तु उन सबका आधार शम/दम (मन और इन्द्रियों का संयम) ही है।

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः।। – 160.7 शां.प.
धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्तामहर्षिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम्।। – 160.6 शां.प.

मनुस्मृति में वर्णित 'आचारः परमो धर्मः' वस्तुतः 'दमो धर्मः सनातनः' का धर्माचार है, न कि स्वयं 'आचार' ही परम धर्म। महाभारत की उक्ति है–

दमेन सदृशं धर्म नान्यं लोकेषु सुश्रुम।
दमो हि परमे लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम्।। – 160.10 शां.प.

अर्थात् 'हमने संसार में दम के समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना। जगत् में सब धर्म–सम्प्रदाय में दम को उत्कृष्ट बताया गया है। सबने उसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की है।'

''प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्मं इति निश्चयः।।''

महाभारत– शांतिपर्व 109.10

''प्राणियों के अभ्युदय और परमोत्कर्षरूप निःश्रेयस की सिद्धि के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है; अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो, अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होते हों, वही धर्म है। ऐसा शास्त्रज्ञों का कथन है।''

तर्कोऽप्रतिष्ठाः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्थ मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनों येन गतः स पन्थाः।। महा. 313–117

शाखा भेद से श्रुतियों, स्मृतियों एवं ऋषियों में भी भिन्नता हैं। शाखा भेद से उदित अनुदित काल में हवनादि का विधान और उसकी निन्दा भी है। ऐसी स्थिति में शाखा भेद या सम्प्रदाय भेद से ही व्यवस्था होती है। जिसकी परम्परा में जो पक्ष गृहीत होता आया है, उसे उसी पक्ष को स्वीकार करना चाहिए।[1]

[1]. स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती, धर्ममीमांसा, पृ. 71 स्वस्ती प्रकाशन मठ, पुरी

धर्म एवं कृतः श्रेयानिह लोके परत्र च।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः।।

महाभारत–शान्तिपूर्व 2906

जैसा कि मनीषी पुरुषों का कथन हैं, धर्म का ही विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाय तो वह इहलोक ओर परलोक में कल्याणकारी होता है। उससे बढ़कर दूसरा कोई श्रेय का उत्तम साधन नहीं है।

धृ–धातु धारण–पोषण और महत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी धातु से धर्म निष्पन्न हुआ है। महत्त्वशील एवं धारक होने से यह धर्म कहलाता है।

धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

(महा. शान्तिपर्व 109–11)

धर्म धारण करता है, अर्थात् अस्तित्व और आदर्श की रक्षाकर अधोगति से बचाता हैं, इसलिए उसे धर्म कहा जाता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो, वही धर्म है, ऐसा सत्पुरुषों का निश्चय है।

1.3.6 श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में धर्म

भगवद्‌गीता एक ऐसा प्रामाणिक ग्रंथ है जिसमें दर्शन, धर्म एवं नीतिशास्त्र का समन्वय हुआ है। राधाकृष्णन् इस ग्रंथ को स्मृतियों के अन्तर्गत नहीं मानते, बल्कि इसे एक परम्परा कहते है जिसका प्रभाव सर्वाधिक भारतीयों के मन पर अंकित है गीता के सन्देशों का क्षेत्र सार्वभौम है। यह प्रचलित हिन्दू धर्म का दार्शनिक आधार है। इसके रचयिता गहरी संस्कृति वाले हैं, जोकि समालोचक न होकर सर्वग्राही हैं। वह किसी धार्मिक मत का नेता नही हैं उनका उपदेश किसी सम्प्रदाय विशेष के लिए नहीं है, उन्होनें अपना कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया किन्तु मनुष्य मात्र के लिए उसका निर्दिष्ट मार्ग खुला हुआ है। सब प्रकार की उपासना पद्धतियों के साथ उसकी सहानुभूति है और इसलिए हिन्दू धर्म अपनी संस्कृति को भिन्न–भिन्न विभागों में विभक्त करने की इच्छा नहीं रखता और न ही अन्य विचारों की विधियों के प्रति खण्डनात्मक भाव रखना चाहता है।

भारतीय परम्परा में भागवत धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म की अपनी विशिष्ट प्रणाली रही है। दर्शन और धर्म दोनों दृष्टियों से गीता बौद्ध तथा जैन धर्म की अपेक्षा अधिक परिपूर्ण माना जाता है क्योंकि बौद्ध–जैन में निषेधात्मक पक्ष पर आवश्यकता से कहीं अधिक बल दिया गया है। राधाकृष्णन के शब्दों में ''गीता जहाँ एक ओर बौद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्तों को स्वीकार करती हैं वहां दुसरी ओर बौद्ध धर्म के निषेधात्मक अध्यात्मशास्त्र को संकेतों द्वारा दुषित भी ठहराती है; क्योंकि गीता के सम्मति में वही सब प्रकार की नास्तिकता एवं भ्रांति की जड़ है। गीता का सम्बन्ध प्राचीन परम्परा के अधिक अनुकूल है। और इसीलिए भारत में गीता जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि की अपेक्षा अधिक सफल एवं भाग्यशाली रहा है।

गीता में धर्म शब्द अनेक व्यञ्जनाओं के माध्यम से वर्णित पाया जाता है। इनमें 'स्वधर्म', 'युगधर्म', 'शाश्वतधर्म', 'धर्मान्' शब्द उल्लेखनीय है। स्वधर्म का प्रारम्भिक संकेत अर्जून के लिए केवल क्षात्र आदर्श से प्रेरित धर्म्य युद्ध से सम्बन्धित प्रतीत होता है किन्तु उसमें निहित है वह वैश्व–विकास–विधान और सिद्धान्त जिसका विशेष उद्‌घाटन स्वभाव और 'स्वकर्म' के साथ किया गया है। उसकी नैसर्गिक व्यवस्था से उनके ही स्वभाव में निहित अन्तः प्रकृति के अधीन है। उसी से उसका स्वकर्म और स्वधर्म निर्धारित होता है 'स्वे–स्वेकर्मण्य भिरतः संसिद्धि लभते नरः'। गीता इस प्रसंग में अत्यन्त विशाल योग्यता तथा क्षमता के अनुसार उसके विशेष धर्म को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनाती है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का विकास उसके अन्तःप्रकृति के अनुसार होता है।

श्रेयान स्वधर्मोविगुणः परधर्मान्त्स्वनुष्ठितात।
स्वधर्मे निधन श्रेयः पर धर्म भयावहः।। गीता 3/35

आचरित धर्म निर्देशन के इस प्रसंग में स्वधर्म का अभिप्राय'' स्वभाव' से उत्पन्न स्वकर्म' स्वभावज कर्म का उद्घाटन प्रतीत होता है। इन कर्मों को भी गीता में विस्तार से व्याख्यायित किया गया है। यहाँ शम, दम, तय, शुचि, शांति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य इत्यादि स्वभावज ब्रह्मकर्म, शौर्य, तेज धृति, दक्षता, दान, ऐश्वर्य इत्यादि क्षात्र कर्म, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य इत्यादि स्वभावज वैश्य कर्म तथा परिचर्यात्मक 'स्वभावज' शुद्रकर्म के वर्णन में एक अत्यन्त गहन तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत है। इस प्रकार गीता धर्म पालन द्वारा वैयक्तिक विकास का वैश्विक विधान प्रस्तुत करता है शायद इसीलिए गीता का आदेश भी है सहजसदोशऽपिनत्यजेत्। गीता में स्वधर्म तथा स्वभाव का केन्द्र भी 'स्व' ही है जो तात्विक भी है और सम्भूत्यात्मक भी जिसमें आत्म बोध भी है आत्म सामर्थ्य भी, वह साक्षी भी है और भोक्ता भी। गीता में स्पष्ट उल्लिखित है ''स्वभावोऽध्यात्मयुच्यते'' अर्थात् स्वभाव को ही अध्यात्म कहा जाता है। गीता द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कि व्यक्तियों के स्वभाव में कुछ भिन्नता है और कुछ स्थायित्व भी, स्थायित्व शाश्वत स्वभाव को सम्भूत्यात्मक स्वभाव के अनुसार ही प्राप्त किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के समर्थन में राधाकृष्णन् की पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती है– गीता इस विचार को प्रश्रय देती है कि भिन्न–भिन्न मार्ग आध्यात्मिक प्राप्त करने के लिए विहित हो सकते है; जैसे कुछ के नैतिक जीवन की उलझनों के मार्ग से दुसरे बुद्धि में उत्पन्न संशयों के द्वारा और तीसरे पूर्णता की प्राप्ति के लिए जो भावनामयी मांग मनुष्य के अन्दर उत्पन्न होती है उसके कारण आध्यात्मिक ज्ञान की ओर प्रवृत्त होते हैं।

1.3.7 आगम तथा तन्त्रशास्त्र में धर्म

आगम भी धर्म के स्रोत है आगम श्रुति के समकक्ष है। आगम निगम के परिपूरक है आगम में पैरुषेयता है चाहे दिव्य हो ऋषि हो और मनुष्य है। श्रुति historical है किन्तु आगम History में है उनका कोई वक्ता है। आगम धर्म के स्रोत है। काश्यपीय ज्ञानकाण्ड वैश्वानस आगमों में धर्म की परिभाषा इत्यादि का वर्णन है बताया गया है।

जब अमूर्त उपासना अशक्य हो गयी तो आगम अमूर्त एवं समूर्त दोनों उपासना लेकर आयी। औपासनिक भाग के लिए आगम तथा आचार भाग के लिए हमें स्मृतियों के पास जाना पड़ेगा।

1.3.8 चरक संहिता में धर्म

महर्षि चरक ने सब उन्नतियों का मूल स्वास्थ्य माना है। उत्तम के स्वास्थ्य लिए धर्म की आवश्यकता है। भगवान आत्रेय ने स्वास्थ्य के लिए दो बातों को आवश्यक माना एक उत्पन्न हुए रोग की औषधि द्वारा निवृत्ति करना, दूसरी स्वस्थावस्था में अपनी दिनचर्या ऐसी रखना जिससे रोग उत्पन्न होने ही न पाये। जनपदोरध्वंसनीय (महाभारी) अध्याय में अपने प्रिय शिष्य अग्निवेश को भगवान अत्रेय ने कहा कि– सर्वेषामप्यानिवेश। बारवादीनां यद्वैगुण्यभुत्पद्यते तस्यमूलमधर्मः। तन्मूलञ्चासत्कर्म (चरक विमान स्थान 3 अध्याय)

हे अग्निवेश। इस शरीर के और सब जगत् के मूल तत्व वात पित्त आदि में जो विकार–रोगोत्पादक दोष उत्पन्न होते हैं, इसका मूल कारण अधर्म है। धर्मात्मा भी रोगी देखे जाते है, इसका मूल कारण पूर्वजन्म के पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं जिससे मनुष्यों का तथा अन्य प्राणीयों का संहार होता है ऐसे प्रसंगों का या शस्त्र प्रयोगों का कारण भी अधर्म ही को बतलाते हैं। अतः अपना भला चाहने वाले लोगों का

स्मृति मास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्, तद्धयनुष्ठानं
युगपत्संपादयत्यर्थद्वयम्–आरोग्यमिन्द्रियविजयं च।

अर्थात् ''सारा सद्वृत्त'' बिना भूल व्यवहार में लाना चाहिए। ऐसा करने से एक ही समय में दो लाभ होते ही जाते हैं आरोग्य और इन्द्रियों पर विजय इससे लोक और परलोक दोनों सिद्ध हो जाते है।

धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते।
धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते।।

(मत्स्यपुराण 134.17)

1.3.9 दार्शनिक सम्प्रदाय में धर्म

महर्षि जैमिनि अभ्युदय और मोक्ष हेतु वेदोक्त धर्म का विवेचन करते हुए लिखते हैं– अथातो धर्म जिज्ञासा–1/1/19 (अथ) वेदाध्ययन के पश्चात् (धर्म जिज्ञासा) धर्म जानने की इच्छा, (अतः) अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्ति का साधन है। धर्म उनका दूसरा सूत्र को स्पष्ट करता है। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः–1/1/2 अर्थात् (चोदनालक्षणः) विधान में आये (अर्थः) भाव को (धर्मः) कहते है। अर्थात् वेदाज्ञापूर्वक जिस कर्म के करने की प्रेरणा हो, वह धर्म का लक्षण है। अर्थात् विधि विधानपूर्वक जिस कर्म को करने से जन्म जन्मान्तर में परमानन्द मिले, उस वेद प्रतिपाद्य विधिवत् कर्म का अनुष्ठान धर्म के लक्षण का द्योतक है। धर्म के लक्षण के पश्चात् धर्म के प्रमाण के विषय में उनका तीसरा सूत्र है– तस्य निमित्तपरीष्टिः–1/1/3।

अर्थात् (तस्य) उस वेदोक्त धर्म की (निमित्तपरीष्टिः) प्रमाण परीक्षा है। आशय यह है कि धर्म के विषय में केवल वेदाज्ञा ही प्रमाण है, अतः प्रमाण परीक्षा में प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में काम नही आता क्योंकि– सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां वुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षनिमित्तं विद्यामानोपलम्भनत्वात् 1/1/4 (पुरुषस्य) पुरुष को, (इन्द्रियाणां) इन्द्रियों का (सत्सम्प्रयोगे) कार्य–वस्तुओं के संयोग होने पर (वुद्धिजन्य) जो ज्ञान होता है (तत्) उसका नाम ही (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष है। वह (अनिमित्तं) धर्म में प्रमाण नहीं, क्योंकि (विद्यमानोलम्भनत्वात्) वह विद्यमान पदार्थों की इन्द्रियों के संयोग से प्राप्ति करता है।

आशय यह है कि– आभ्यन्तर और वाह्य उभय भेद इन्द्रियों के होते हैं। यह इन्द्रियां अपने–अपने विषय से सम्बन्ध उत्पन्न कर तत् पदार्थ का बोध उत्पन्न करा सकती है और उसी सम्बन्ध के ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है परन्तु अतीन्द्रियवस्तु का ज्ञान किस प्रकार हो, जहाँ कि इन इन्द्रियों का सम्बन्ध ही नहीं है। इसीलिए प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में सर्वथा लागु नहीं होता है। दर्शन में अनुमान–प्रमाण भी अनुपयोगी है क्योंकि दृष्टान्त नियम से इसका सम्बन्ध माना जाता है। उसके दूसरे अज्ञात सम्बन्धी ज्ञान का उद्गत होना अनुमान होता है। अतीन्द्रिय पदार्थ में तुलनात्मक धर्म अनुमान से इस लिए परे है, कि जिसका प्रत्यक्ष नहीं उसका अनुमान कैसा? अतः वेदाज्ञा ही प्रमाण है।

जैन दर्शन में धर्म

जैन देहातिरिक्त आत्मा, उसका पुनर्जन्म और परलोक मानते हैं। वे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण भी मानते हैं, अतः वे धर्म भी स्वीकार करते हैं। किन्तु उनका धर्म पुद्गल (परमाणु) स्वरूप ही है। उनके सिद्धान्त के अनुसार उत्तम कर्मों से उत्तम–देहारम्भक पुद्गल बनते हैं, उन्हें ही 'धर्म' कहा जाता हैं।

जैनमत में शुभाशुभ कर्मों की वासना से वासित परमाणु धर्म है। गतिशील जीव और पूरणरूप वृद्धि तथा गलनरूप ह्रासशील भौतिक परमाणुसंज्ञक अशब्दातमक पुद्गल की गति में मछली के तैरने में सहायक स्थिर जल के सदृश सहायक सर्वलोक व्यापी स्वतः –सिद्ध अखण्ड नित्य द्रव्य धर्म है। क्षमा, ऋजुता, मृदुता, शुद्धतादि भी धर्मपदवाच्य हैं।

बौद्ध दर्शन मे धर्म

सौगतमत में क्षणिक विज्ञानसन्तति के समाश्रित वासना धर्म है। जगत् के प्रभव और निरोध में हेतुभूत शक्तिरूप पृथक् सत्तासम्पन्न विभागरहित भूत तथा चित्त का सूक्ष्म

क्षणिक तत्त्व धर्म है। अविद्या जगत्प्रवाह में हेतुभूत धर्म है। प्रज्ञा जगत् प्रवाह में निरोधभूत धर्म है। नवीन वस्तु के प्रभव में पदार्थरूप में धर्मों का परस्पर संयोग हेतु है।

बौद्धों के मत में निर्वाण–प्राप्ति के उपाय अहिंसादि साधनों को 'धर्म' माना जाता है। उन्हें भी प्रत्यक्ष–अनुमान से पृथक् आगम–प्रमाण मान्य नहीं। बुद्ध की सर्वज्ञता भी 'जिन' जैसी ही है। बौद्धों में सौत्रान्तिकं, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक ये चार भेद हैं। उनमें भी धर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। व्यवहारतः उनमें अहिंसा, सत्य, क्षमा, दया आदि धर्मों का बड़ा सम्मान है। बुद्ध–भक्ति का भी बड़ा आदर है, पर यह सब बुद्ध की सर्वज्ञता पर ही निर्भर है।

न्याय दर्शन में धर्म

न्याय दर्शन के अनुसार धर्म आत्मनिष्ठ एक विशेष गुण है। उसी को 'अदृष्ट' कहा जाता है। शुभ कर्म से शुभ–अदृष्ट और अशुभ कर्म से अशुभ–अदृष्ट उत्पन्न होता है। नैयायिक प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम प्रमाण भी मानते हैं। आगमों में मन्वादिसम्मत वेदादिशास्त्र उन्हें भी मान्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि मन्वादि–धर्मशास्त्री वेद को अपौरूषेय होने से प्रमाण मानते हैं, जबकि नैयायिकादि सर्वज्ञ परमेश्वरप्रोक्त होने के कारण प्रमाण मानते हैं। प्रतिकल्प के आदि में परमेश्वर से समान आनुपूर्वी वाले वे ही वेद प्रकट होते हैं, अतः उनके अनुसार भी प्रवाह रूप से वेद अनादि ही हैं।

वैशेषिक दर्शन में धर्म

वैशेषिक दर्शनकार कणाद 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः' इस सूत्र के अनुसार अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधन को 'धर्म' मानते हैं।

करपात्री स्वामी ने अपनी पुस्तक 'धर्ममीमांसा' नामक पुस्तक में धर्म के विभिन्न परिभाषाओं के सम्बन्ध में कहा है– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा– इन छः आस्तिक (वैदिक) दर्शनों, पुराणों, मन्वादिधर्मशास्त्रों को अभिमत धर्म का लक्षण एक ही है। उनमें मतभेद की कल्पना अज्ञानमूलक है। अर्थात् वेदादिशास्त्रोक्त कर्म या तज्जन्य अदृष्ट या वृत्ति या संस्कार ही धर्म है, इनमें अत्यल्प ही दार्शनिक भेद हैं, व्यावहारिक भेद तो बिल्कुल ही नहीं है।

1.4 धर्म की अवधारणा

प्रायः सभी शिक्षित व्यक्ति जानते हैं कि भारतीय परम्परा में जीवन के चार मूल्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष स्वीकृत है। ये प्रत्येक मूल्य जीवन के किसी विशेष पक्ष से जुड़े हुए हैं। धर्म का तात्पर्य उस नियम से हैं, जो न केवल मानव के अस्तित्व का आधार है बल्कि विश्व के समग्र वस्तु का आधार भी है। अर्थ का तात्पर्य जीवन के आर्थिक और राजनीतिक पक्ष से है। जबकि काम जीवन के ऐन्द्रियिक तथा सौन्दर्यात्मक अनुभव से जुड़ा हुआ है तथा मोक्ष जीवन के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति है। धर्म, अर्थ और काम– यह जीवन के तीन आयाम है। इन्हीं पर आरूढ़ होकर व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है, इसलिये धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को त्रिवर्ग कहा जाता है।

समकालीन हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में धर्म शब्द का प्रयोग विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है, जैसे– हिन्दूधर्म, इसाईधर्म, बौद्धधर्म, इस्लामी धर्म, मानववादी धर्म इत्यादि। सामान्यजन जब धर्म शब्द का प्रयोग इन अर्थों में करता है, तब वह धर्म शब्द के व्यापक एवं पारिभाषिक अर्थ से अनजान रहता है। भारत के प्राचीन शास्त्रों एवं सम्प्रदायों का अध्ययन करने पर धर्म शब्द की जो अवधारणा स्पष्ट होती है, उसके समक्ष ऊपरविवेचित धर्म की अवधारणा अत्यनत संकुचित प्रतीत होने लगती है।

1.5 सारांश

हमारे धर्मशास्त्रकारों ने हिन्दू समाज को धार्मिक, नैतिक, कानूनी आदि सभी मामलों में एक सूत्र में बाँधे रखना चाहा है। उन्होंने प्रत्येक जाति के सछसयां एवं प्रत्येक व्यक्ति को आर्य समाज का अविच्छेद्य अंग माना है, कहीं भी व्यक्तिगत स्वत्वों को सम्पूर्ण समाज के ऊपर नहीं माना। यदि ऐसा नहीं किया गया होता तो आर्य जाति या आर्य समाज बाह्य आक्रमणों एवं विविध कालों की मार एवं चपेट से छिन्न–भिन्न हो गया होता। धर्मशास्त्रकारों ने आर्य सभ्यता एवं संस्कृति को बाह्य शासकों की कट्टर धार्मिकता के प्रभाव से अक्षुण्ण रखा। इसमें सन्देह नहीं कि कभी–कभी कालान्तर के कुछ धर्मशास्त्रकारों ने धार्मिक मामलों में तर्क से काम लिया है और पृथक्त्व, वैभिन्नय एवं पक्षपात का प्रदर्शन किया हैं, किन्तु ऐसे लेखकों की चली नहीं, क्योंकि केन्द्रीय शासन से उनका सीधा सम्पर्क कभी नहीं था, अन्यथा अनर्थ हो गया होता, क्योंकि राजाओं की छत्रच्छाया में उनकी बातें मन माने रूप में प्रतिफलित होतीं और पृथक्त्ववाद का विषवृक्ष विकराल रूप में उभर पड़ता। संयोग से ऐसा हो नहीं पाया, क्योंकि बाहरी शासकों को भारतीय संस्कृति से कोई प्रेम या भक्ति नहीं रही। इस छोटे दोष के अतिरिक्त धर्मशास्त्र–सम्बन्धी ग्रन्थों के महार्णव में मोती ही मोती भरे पड़े हैं। भारतीय संस्कृति के स्वरूपों को सूत्रों में पिरोकर रखने वाले धर्मशास्त्रकारों को कोटिशः प्रणाम। भारतीय परम्परा में धर्म की अवधारणा विभिन्न ग्रन्थों में तथा सम्प्रदायों संक्षेप में निम्नवत् है–

धर्म नैतिक विधि के रूप में	भगवद्गीता मनुस्मृति
धर्म राजधर्म के रूप में	मनुस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति
धर्म सामाजिक आदर्श के रूप में वर्णाश्रम धर्म	भगवद्गीता एवं स्मृतियाँ
धर्म कर्मकाण्ड के रूप में	पूर्वमीमांसा
धर्म भौतिक वस्तुओं के स्वभाव के रूप में वैज्ञानिक नियम	बौद्ध दर्शन तथा वेदान्त
धर्म परमसत्ता के रूप में	वेदान्त

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

डॉ पी.वी. काणे– पी.वी. काणे संस्कृत के विद्वान् एवं प्राच्यविद्याविशारद थे। इन्होंने धर्मशास्त्र का इतिहास पाँच भागों में लिखा है।

ए.वी. कीथ- आर्थर बेरीडेल कीथ स्कॉटलैण्ड के एक संवैधानिक वकील, संस्कृत के विद्वान और भारतविद् थे। वे एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में संस्कृत और तुलनात्मक भाषाशास्त्र के रेगियस प्रोफेसर एवं ब्रिटिश साम्राज्य के संविधान के व्याख्याता बनाये गये।

पुरूषसूक्त– पुरुषसूक्त ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल का एक प्रमुख सूक्त यानि मंत्र संग्रह (10.90) है, जिसमे पुरुष की चर्चा हुई है और उसके अंगों का वर्णन है। इसको वैदिक ईश्वर का स्वरूप मानते हैं। विभिन्न अंगों में चारों वर्णों, मन, प्राण, नेत्र इत्यादि की बातें कहीं गई हैं। यही श्लोक यजुर्वेद (31वें अध्याय) और अथर्ववेद में भी आया है। क्योकि इस सूक्त मे अनेक बार यज्ञ आया है और यज्ञ की ही चर्चा यजुर्वेद में हुई है।

शतपथ ब्राह्मण– शतपथ ब्राह्मण (अंग्रेज़ी: Shatapatha Brahmana) शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मणग्रन्थ है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे सर्वाधिक प्रमाणिक माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद के दोनों शाखाओं काण्व व माध्यन्दिनी से सम्बद्ध है। यह सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आचार्य सायण– सायण या आचार्य सायण (चौदहवीं सदी, मृत्यु १३८७ इस्वी) वेदों के सर्वमान्य भाष्यकर्ता थे। सायण ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है, परंतु इनकी कीर्ति का मेरुदंड वेदभाष्य ही है। इनसे पहले किसी का लिखा, चारों वेदों का भाष्य नहीं मिलता। ये २४ वर्षों तक विजयनगर साम्राज्य के सेनापति एवं अमात्य रहे

तैतरीय आरण्यक- सुप्रसिद्ध तैत्तिरीय उपनिषद् भी तैत्तिरीय आरण्यक का ही अंश है। इस आरण्यक के सात से नौ प्रपाठकों को ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता है। यज्ञ-संबंधी अनेक विषयों का समावेश इस ग्रन्थ में हुआ है। इस आरण्यक के द्वितीय प्रपाठक में गंगा-यमुना के मध्यप्रदेश को पवित्र मानते हुए उसे मुनियों का निवास स्थान बतलाया गया है।

1.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. धर्म मीमांसा, श्री हरिहरानन्द सरस्वती, स्वस्ति प्रकाशन संस्थान, पुरी, उड़ीसा।
2. डॉ. रणजीत सिंह, धर्म की हिन्दू अवधारणा
3. महर्षि जैमिनिप्रणीत, मीमांसादर्शनम्; भाष्यकार, पं0 देवदत्त शर्मोपाध्याय, प्रेमपुस्तक भण्डार, बिहारीपुर– वरेली, 1957 ई0
4. डा0 एस. राधाकृष्णन– भारतीय दर्शन– भाग 1, राजपाल प्रकाशन, 2002।
5. विवेकानन्द साहित्य, भाग 1—10
6. एन.एस.एस रमन आर्टिकल्स
7. The Dharmashastras and their place in Hinduismand the Concepts of Dharma, Sadhana,Vol.XII, No.2, 2012
8. The Categoric Imparative of Dharma Ed. By Prof. Ashok Bohara, D.K Printworld

1.8 बोधप्रश्न

1. धर्म शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ बताते हुए धर्म की अवधारणा पर प्रकाश डालिये।
2. वैदिक परम्परा के अन्तर्गत धर्म शब्द की विभिन्न परिभाषाओं की विवेचना कीजिए।
3. भारतीय संस्कृति को समझने में धर्म शब्द एक कुंजीपद के रूप में व्याख्यायित हुआ है। इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. स्मकालीन भारत में धर्म और रिलीजन को पर्याय के रूप में मान लिया गया है, इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

इकाई 2 धर्म और रिलीजन में मौलिक अन्तर

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- रिलीजन शब्द का अर्थ एवं अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- विभिन्न पश्चिमी विचारकों द्वारा रिलीजन की परिभाषा से सम्बन्धित विचारों का

अध्ययन कर सकेंगे।

- रिलीजन और धर्म की अवधारणा के मौलिक अन्तर का अवबोध प्राप्त कर सकेंगे।
- रिलीजन और धर्म की अवधारणा से जुड़े प्रश्नों का समुचित उत्तर दे सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

'धर्म' शब्द हम सब के लिए एक ऐसा परिचित शब्द है जिसका हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि सामान्य व्यक्ति इस शब्द के अर्थ के विषय में कोई विशेष कठिनाई अनुभव नहीं करता। यदि उससे पूछा जाए कि धर्म क्या है तो संभवतः वह हिंद धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म यहूदी धर्म आदि की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए इस शब्द का अर्थ स्पष्ट करेगा और हमें बताएगा कि मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि उपासना स्थलों में जाकर विशेष प्रकार से प्रार्थना या पूजा करना ही धर्म है। साधारण व्यक्ति जब 'धर्म' शब्द सुनता या पढ़ता है अथवा स्वयं इस शब्द का प्रयोग करता है तो प्रायः उसके मन में किसी विशेष उपासना स्थल, उसमें विशेष प्रकार से पूजा करने वाले व्यक्तियों, जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि महत्त्वपूर्ण अवसरों पर संपन्न किए जाने वाले विशेष कृत्यों या अनुष्ठानों तथा विशेष प्रकार के वस्त्र पहने हुए ऐसे व्यक्तियों का चित्र उभरता है जिन्हें 'साथ' या 'संत' कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारण व्यक्ति 'धर्म' शब्द को कुछ विशेष बाह्य वस्तुओं, भवनों, वस्त्रों, पुस्तकों, व्यक्तियों तथा प्रार्थना या पूजा-पाठ संबंधी कर्मकांड से ही जोड़ता है।

यद्यपि धर्म का उपर्युक्त प्रचलित सामान्य अर्थ दार्शनिक दृष्टि से बहुत संतोषप्रद नहीं फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें आंशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। यह सर्वोवादित तथ्य है कि विशेष उपासना-स्थल, पवित्र ग्रंथ, प्रार्थना अथवा पूजा-पाठ संबंधी कर्मकांड तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान धर्म के महत्त्वपूर्ण अंग माने जाते हैं जिन्हें हम धर्म का 'बाह्य पक्ष' कह सकते हैं। जनसाधारण धर्म के इस बाह्य पक्ष को अत्यधिक महत्त्व देता है और इसी के आधार पर धर्म को अन्य सभी विषयों, विचारों तथा सिद्धांतों से पृथक करता है। ऐसी स्थिति में धर्म का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उसके इस बाह्य पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रायः सभी धर्मों में धर्म का यह वाह्य पक्ष अनिवार्यतः विद्यमान रहता है जिसके द्वारा उन्हें एक-दूसरे से पृथक किया जाता है और जिसके कारण प्रत्येक धर्म के अनयाई अपने आपको अन्य सभी धर्मों के अनुयाइयों से भिन्न मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न भ्रमों के कर्मकांड संबंधी बाह्य पक्ष में पर्याप्त भिन्नता होती है जो उन्हें एक-दमरे से अलग करती है और जो उनके अनुयाइयों में पारस्परिक विद्वेष तथा संघर्ष का प्रमख कारण बनती है।

2.2 धर्म (Dharma)

धर्म शब्द 'धृ' धातु में 'मन्' प्रत्यय लगाकर बना है जिसका धातुगत अर्थ होता है धारण करना “धारयतीति धर्मः” अर्थात् जो धारण करता है वह धर्म है। महाभारत के 'कर्ण पर्व' में कहा गया है कि धर्म से ही प्रजा का धारण एवं संरक्षण होता है। इस प्रकार जिससे सम्पूर्ण मानव समाज का धारण एवं संरक्षण होता है, वही धर्म है।

'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥"

सर्वप्रथम धर्म के विकल्प के रूप में**'रिलिजन'** शब्द के प्रयोग के लिए **रिलिजन** शब्द की व्युत्पत्ति को समझ**ना** बहुत अनिवार्य है आइए हम **रिलिजन** शब्द की व्युत्पत्ति को समझने का प्रयास करते हैं।

2.3 'रिलिजन' (Religion) शब्द की व्युत्पत्ति

धर्म के लिए अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाला शब्द Religion ऐतिहासिक रूप से न तो बहुत प्राचीन रहा है और न ही बहुत व्यापक। प्रारंभ में पाश्चात्य जगत् में विभिन्न धार्मिक मतों को प्रायः दर्शन, सिद्धान्त, नियम, अनुशासन, मार्ग आदि शब्दों से व्यक्त किया जाता था। स्वयं ईसाई धर्म को प्राचीन ईसाई धर्मशास्त्रियों ने ऐसे ही नामों से अभिहित किया है।

अंग्रेजी का यह 'रिलिजन' शब्द भी लेटिन भाषा के 'Religio' शब्द से व्युत्पन्न माना जाता है, किन्तु इसकी व्युत्पत्ति और इसका अर्थ दोनों ही विवादित हैं। मोटे तौर पर यह शब्द Religere धातु (क्रिया) से निष्पन्न माना जाता है, जिसके तीन अर्थ हैं-

एकत्रित करना (To collect)

चयन करना (To choose)

आबद्ध करना (To bind)

2.4 'रिलिजन' (Religion) व्याख्या

इस दृष्टि से धर्म वह विचार या दर्शन था, जो या स्वयं सैद्धान्तिक रूप से संकलित, चयनित तथा व्यवस्थित किया होता था या फिर व्यावहारिक रूप से जनसामान्य को एकीकृत, वर्गीकृत और आबद्धीकृत करने का कार्य करता था। व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ समाज को बाँधने या व्यवस्थित करने वाला माना जाता रहा है। उक्त का तृतीय अर्थ ही सर्वाधिक लोकप्रिय और मान्यता प्राप्त रहा है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार यह शब्द Re उपसर्गपूर्वक Legere धातु से बना है, जिसके भी तीन अर्थ माने जाते हैं-

चयन करना (To Pick or choose)

मनन करना (To Consider or meditate)

संबद्ध करना (To Link or relate)

वैसे तो 'रिलिजेयर' और 'लिगेयर' शब्दों के अर्थ में बहुत फर्क नहीं लगता, किन्तु 'रि' (Re) उपसर्ग लगने का अर्थ है-'पुनः' शब्द का जुड़ जाना। इस प्रकार दूसरी व्याख्या के अनुसार धर्म का अर्थ होता है-पुनः चयनित करना या पुनः संबद्ध करना या पुनः मनन करना।

धर्म को सदा मौलिक माना जाता रहा है, अतः पुनरावृत्तिमूलक इस अर्थ को मान्यता कम मिल (Supernal पायी; यद्यपि इसमें संबद्ध करना (आत्मा को परमात्मा से संबद्ध करना) और मनन करना ormality) (उपासना एवं दर्शन) जैसे अर्थ पूर्व रिलिजेयर शब्द से बेहतर अर्थ रखते थे। वैसे यह व्याख्या मूलत: फ्रेंच विचारक लॅक्टेशियस ने प्रस्तुत की थी और इसे (Religionem) सेंट ऑगस्टाइन जो सरल ने भी अपनाया था।

तीसरी व्याख्या द्वितीय का ही भाग है, जिसके अनुसार भी रिलिजन शब्द 'Re-legere शब्द से ही बना है, किन्तु 'Legere' का मूल अर्थ है-अध्ययन। ग्रीक दार्शनिक मार्कस सिसरो ने इसी अर्थ में मूल रिलिजियो शब्द का प्रयोग किया था। यहाँ वह गहन चिन्तन या अध्ययन वाले शास्त्र के रूप में प्रयुक्त था।

रिलिजन शब्द की एक अल्प प्रचलित व्युत्पत्ति यह भी है कि यह मूलतः 'Negligens (निषेध या नास्तिकता) का विपरीतार्थक शब्द है, जो मूलत: Religiens था और इसका अर्थ है-आस्तिकता या भावनात्मक। रोचक व्याख्या के बावजूद पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में इसे मान्यता नहीं मिल पाई है।

अनेक विद्वानों के द्वार धर्म की अनेक परिभाषाएं दी गई हैं हम इन परिभाषों के माध्यम से समझेंगे कि धर्म और रिलीजन में क्या भेद है तथा धर्म और रिलीजन किस प्रकार से एक दूसरे से भिन्न है

2.5 रिलीजन की अनेक परिभाषाएँ

रिलीजन की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं तथापि जे० एच० ल्यूबा इन सभी परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त करते हैं: "ज्ञानात्मक (Intellectualistic), भावनात्मक (Affectivistic) एवं संकल्पनात्मक (Volunteristic)।" जॉनसन के अनुसार रिलीजन की उपर्युक्त तीन परिभाषाएँ पर्याप्त नहीं हैं, अत: इन तीनों के साथ तीन अन्य परिभाषाओं को भी शामिल किया जाना चाहिए, जैसे- सामाजिक एवं संस्थागत परिभाषा, ईश्वरमीमांसीय परिभाषा एवं संश्लेषणात्मक परिभाषा। "ल्यूबा इन परिभाषाओं को तीन वर्गों में विभक्त करते हैं, बौद्धिक, भावनात्मक एवं संकल्पनात्मक। इनमें अन्य को भी जोड़ा जा सकता है, जैसे- सामाजिक एवं संस्थागत परिभाषा, ईश्वरमीमांसीय परिभाषा एवं संश्लेषणात्मक परिभाषा, जो एकीकृत रूप से इन सभी पक्षों को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है।"

ल्यूबा एवं जॉनसन के वर्गीकरण में रिलीजन के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष उपेक्षित हैं: पहला, मूल्यात्मक एवं दूसरा, एकाकीपन। अतः उपर्युक्त वर्गीकरण में इन्हें भी शामिल किया जाना चाहिए। इस प्रकार यदि रिलीजन की सभी महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया जाय तो इन्हें मूलत: छ: वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:

1. ज्ञान मूलक परिभाषा (Cognition Oriented Definition)
2. भावना मूलक परिभाषा (Emotion Oriented Definiton)
3. संकल्प मूलक परिभाषा (Conation Oriented Definiton)
4. मूल्य परक परिभाषा (Value Oriented Definiton)
5. एकाकी मूलक परिभाषा (Solitariness Oriented Definiton)
6. सामाजिक तथ्यों पर आधृत परिभाषा (Social Facts Oriented Definiton)

2.5.1 ज्ञान मूलक परिभाषा

ज्ञान मूलक परिभाषा के अंतर्गत धर्म को मूलतः 'ज्ञान' या 'बौद्धिकता' के रूप में परिभाषित किया गया है। हेगल के अनुसार "मनुष्य जब सीमित बुद्धि के द्वारा अपने ही स्वरूप का असीमित एवं पूर्ण बुद्धि के रूप में ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो यही धर्म है।" " मैक्समूलर भी

लिखते हैं कि " धर्म वह मानसिक प्रवृत्ति है जो असीमित एवं पूर्ण सत्ता का ज्ञान कराने में सक्षम है।" कार्डिनल न्यूमैन का भी कहना है कि " धर्म से मेरा तात्पर्य ईश्वर का ज्ञान, उनके संकल्प तथा उनके प्रति हमारे कर्त्तव्यों से है।"

2.5.2 भावना मूलक परिभाषा

कुछ दार्शनिक धर्म के अंतर्गत 'ज्ञानात्मक पक्ष' की अपेक्षा 'भावनात्मक पक्ष' पर अधिक बल देते हैं। श्यालरमाखर के अनुसार " सभी धर्मों में सामान्य तत्व ... हमारी पूर्ण निर्भरता की चेतना अर्थात् ईश्वर में निर्भरता की भावना है।" जब मनुष्य चारों ओर से अपने आप को असहाय एवं असमर्थ महसूस करता है तो उससे वह त्राण पाने के लिए किसी सर्वोच्च सत्ता का सहारा लेता है और उस पर स्वयं को सर्वतोभावेन समर्पित कर देता है। इस प्रकार धर्म का आरम्भ तो भय या अभाव से होता है, परन्तु अंततः यह समर्पण या निर्भरता की भावना के रूप में अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है जहाँ उसकी भावनाओं को अधिकाधिक आत्म-संतोष एवं संरक्षण मिल सके।

इमर्सन के अनुसार"मैं जो अपूर्ण हूँ, पूर्ण की आराधना करता हूँ।"

टील धर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि “यथार्थतः धर्म वह शुद्ध एवं श्रद्धामय मनोवृत्ति या मनोभाव है जिसे हम भक्ति कहते हैं।"

बोसांके भी धर्म को किसी सर्वोच्च सत्ता के प्रति भक्ति के रूप में परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार "जहाँ हमें धर्म-परायणता, अनुरक्ति और भक्ति मिलती है, वहीं धर्म का प्राथमिक रूप प्राप्त हो जाता है।"

गीता में भगवान श्रीकृष्ण धर्म को भक्ति एवं समर्पण के रूप में परिभाषित करते हुए कहते हैं कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' अर्थात् हे अर्जुन! तुम सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ, यही तुम्हारा धर्म है। इसे ही 'ईश्वर प्रणिधान' या 'समर्पण योग' कहते हैं। स्पष्टत: इन परिभाषाओं में केवल भक्ति या समर्पण पर बल देकर ज्ञान, संकल्प, मूल्य इन सभी पक्षों की उपेक्षा की गई है।

2.5.3 संकल्प मूलक परिभाषा

कुछ दार्शनिक धर्म के अंतर्गत ज्ञान एवं भावना की अपेक्षा 'कर्त्तव्य' पक्ष पर बल देते हैं। काण्ट लिखते हैं कि " अपने सभी कर्त्तव्यों की दैवी आदेश के रूप में स्वीकृति ही धर्म है।" ["Religion is the recognition of all our duties as divine commands.”

उल्लेखनीय है कि काण्ट प्रत्येक कर्त्तव्य को ईश्वरीय आदेश के रूप में मानते हैं। अतः उनके अनुसार अपने सभी कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वहन ही धर्म है। जब व्यक्ति सभी प्रकार की तुच्छ भावनाओं (Lust desires) से रहित होकर केवल कर्त्तव्य चेतना से अनुप्रेरित होकर कर्म करता है तो इसे काण्ट 'कर्तव्य के लिए कर्त्तव्य' (Duty for duties sake) का सिद्धांत कहते हैं। इसी प्रकार ब्रेडले भी मानते हैं कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान निर्धारित है। अत: प्रत्येक व्यक्ति का यह धर्म है कि वह उस निर्धारित स्थान के अनुरूप अपने कर्त्तव्य का सम्यक् अनुपालन करे। इसे वे 'मेरा स्थान एवं तदनुरूप कर्त्तव्य' (My station and its duties) की संज्ञा देते हैं, जिसका प्रतिपादन वे अपनी पुस्तक “Ethical Studies" में करते हैं। पुनश्च, वे अपनी एक अन्य पुस्तक "Appearance and Reality" में लिखते हैं कि "हम समझते हैं कि

धर्म हमारी सत्ता के सभी पक्षों के द्वारा शुभत्व की पूर्ण यथार्थता को अभिव्यक्त करने का प्रयास है।

गीता में इसे कर्म में अकर्म' की स्थिति कहा गया है, जहाँ साधक कर्म करते हुए भी अकर्त्ता बना रहता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम्हारा कर्म पर ही अधिकार है, फल पर नहीं कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।। अतः न तो तुम फल को कर्म का हेतु बनाओ और न ही कर्म का परित्याग करो। उनके अनुसार फल की इच्छा रखने पर व्यक्ति एक तो उचित कर्म का चयन ही नहीं कर पाता है और यदि उसने उचित कर्म का चयन कर भी लिया तो उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होने पर या तो वह कर्म का ही परित्याग कर देता है या फिर वह दुःखों से आक्रांत हो जाता है। इसका ये तात्पर्य नहीं है कि कर्म बिना फल के किया जाता है या कर्म करने से फल की प्राप्ति नहीं होगी बल्कि इसका अभिप्राय केवल इतना है कि कर्म करने का हेतु कर्म-फल नहीं होना चाहिए, क्योंकि फलासक्ति से: पहला, कर्म-बंधन दृढ़ होता है (फलेसक्तो निबध्यते एवं दूसरा, फल की इच्छा रखने वाला व्यक्ति कृपण होता है कृपणाः फल हेतव।

2.5.4 मूलक परक परिभाषा

कुछ दार्शनिक धर्म को ज्ञान, भावना एवं संकल्प से पृथक् केवल मूल्य से सम्बंधित करते हैं। उनके अनुसार धर्म का तात्पर्य मूल्यों की सुरक्षा की भावना में ही निहित है। इसी दृष्टि से हेराल्ड हॉफडिंग लिखते हैं कि " मूल्यों के संरक्षण में विश्वास ही धर्म का सारतत्व है।" सामान्यतः मूल्य को 'अभिरुचि' (Preference) एवं 'विरुचि' (Aversion) के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस प्रकार मूल्य का सम्बंध इससे है कि हम किसका वरण करते हैं अर्थात् किसे पसन्द एवं किसे नापसन्द करते हैं। स्पष्टतः मूल्य कोई निरपेक्ष संप्रत्यय न होकर देश-काल एवं व्यक्ति सापेक्ष अवधारणा है। इसी मान्यता के आधार पर मूल्यों को मूलतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है:

1. स्वत: साध्य मूल्य (Intrinsic Value)
2. साधन मूल्य (Extrinsic Value)
3. वैज्ञानिक मूल्य (Scientific Value)

जब हम धर्म के क्षेत्र में मूल्यों की बात करते हैं तो इसका अभिप्राय मुख्यतः 'आदर्शात्मक मूल्यों' या 'स्वतःसाध्य मूल्यों' से ही है, जैसे- सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, प्रेम, करुणा, दया, सामाजिक समरसता, प्रभृति। जब हॉफडिंग धर्म को मूल्य के रूप में परिभाषित करते हैं तो उनका मानना है कि मूल्यों को पोषित एवं संरक्षित करना चाहिए। उल्लेखनीय है कि हॉफडिंग 'मूल्यों की अविनाशिता' (Conservation of values) की तुलना 'ऊर्जा की अविनाशिता' (Conservation of energy) से करते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार ऊर्जा का विनाश नहीं होता उसी प्रकार मूल्यों का भी विनाश नहीं होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि मनुष्य स्वयं के प्रयास से इन मूल्यों को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः हॉफडिंग के अनुसार जब व्यक्ति किसी अलौकिक शक्ति का सहारा लेकर जीवन में इन मूल्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है तो यही धर्म है। इसी दृष्टि से डब्ल्यू० के० राइट लिखते हैं कि "धर्म वह प्रयास है जिसमें समाज से मान्यता प्राप्त मूल्यों का कुछ विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा संरक्षण किया जाता है तथा इन क्रियाओं में किसी महान शक्ति का आवाहन किया जाता है एवं उस शक्ति पर निर्भरता का भाव निहित रहता है।"

2.5.5 एकाकी मूलक परिभाषा

कुछ दार्शनिक धर्म में एकाकीपन के तत्व को ही प्रधानता देते हैं, यथा- ए० एन० हवाइटहेड लिखते हैं कि "मनुष्य एकाकीपन में जो कुछ भी करता है वही धर्म है।" इस परिभाषा में हवाइटहेड धर्म के बाह्य पक्ष की अपेक्षा उसके आन्तरिक पक्ष पर अधिक बल देते हैं। उनके अनुसार धर्म में सामाजिक पक्ष उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता है जितना कि आंतरिक पक्ष अथवा एकाकीपन। उल्लेखनीय है कि धर्म के मूलतः दो पक्ष होते हैं: बाह्य एवं आन्तरिक धर्म का बाह्य पक्ष कर्मकाण्डों (Rituals), भावनाओं (Emotions), विश्वासों (Beliefs) आदि से सम्बंधित होता है जबकि उसका आंतरिक पक्ष मूलतः अनुभूतियों से। ह्वाइटहेड के अनुसार धर्म के सारतत्व को बाह्य पक्षों अर्थात् सार्वजनिक धर्म-सिद्धांतों, क्रियाओं, संस्थाओं आदि के माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता है बल्कि परम सत्ता के समक्ष अनुभूतियों के रूप में खोजा जा सकता है। अस्तु, उनके अनुसार धर्म का बाह्य पक्ष परम सत्ता की अनुभूति में सहायक हो सकता है, परन्तु आत्मानुभूति तो सभी प्रकार के बाह्य आडम्बरों से पूर्णतया असम्पृक्त नितांत व्यक्तिगत अनुभूति है। उल्लेखनीय है कि ह्वाइटहेड धर्म में एकाकीपन पर बल देकर इसे 'साम्प्रदायिक रिलीजन' (Communal religion) से पृथक् करना चाहते हैं।

2.5.6 सामाजिक तथ्यों पर आधृत परिभाषा

समाजशास्त्री इमाईल दुर्खाइम लिखते हैं कि "धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बंधित विश्वासों एवं व्यवहारों की वह समग्र व्यवस्था है, कहने का अर्थ है कि, वह पृथक् एवं निषिद्ध वस्तु है - जो इस पर विश्वास एवं आचरण करने वालों को एक नैतिक समुदाय जिसे चर्च कहते हैं, के रूप में संयुक्त करती है।"

टी० पार्सन्स (Talcott Parsons) लिखते हैं कि "धर्म विश्वासों, क्रियाओं एवं संस्थाओं का एक समूह है जिसे मनुष्य विभिन्न प्रकार के समाजों में विकसित करता है।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में धर्म के किसी एक ही पक्ष पर बल दिया गया है, जबकि धर्म ज्ञान, भावना, संकल्प, मूल्य, एकाकीपन तथा सामाजिक पक्ष आदि सभी पक्षों को किसी न किसी रूप में अपने आप में समाहित करता है।

स्पष्ट है 'धर्म एक व्यापक शब्द है। अतः इसके अंतर्गत किसी एक सर्वगत विशिष्टता की खोज करना असंगत है। इन सभी परिभाषाओं में कुछ- कुछ विशिष्टताएँ मिलती-जुलती हैं, जिसे विट्गेंस्टाइन की भाषा में 'पारिवारिक साम्य' (Family resemblance) कहा जा सकता है। इस दृष्टि से विलियम जेम्स धर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि धर्म का अर्थ "व्यक्ति के एकांतिक भावों, क्रियाओं एवं अनुभवों से हैं, जो व्यक्ति एवं ईश्वर के सम्बंध के ज्ञान से विकसित होते हैं।" इसी प्रकार जार्ज गैलवे भी धर्म की एक व्यापक परिभाषा देते हुए कहते हैं कि 'धर्म अपने से परे शक्ति में वह विश्वास है जिसके द्वारा वह अपनी भावनाओं की संतुष्टि और जीवन में स्थिरता प्राप्त करता है तथा जिसे वह पूजा एवं सेवा के माध्यम से प्रकट करता है।"

यद्यपि जेम्स एवं गैलवे की परिभाषा में धर्म के तीनों ही पक्ष, यथा - ज्ञान, भावना एवं संकल्प समाहित हैं तथापि इसमें धर्म के मूल्यात्मक, व्यक्तिगत एवं सामुदायिक पक्ष उपेक्षित हैं। अस्तु, यह धर्म की अनिवार्य परिभाषा (Necessary definition) होते हुए भी पर्याप्त परिभाषा (Sufficient definition) नहीं है। इन कमियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि "रिलीजन आदर्शों, मूल्यों अथवा अलौकिक सत्ता में एक ऐसी आस्था है, जो हमारे आचरण

में या तो आत्मानुभूति के रूप में या विविध प्रकार के कर्मकाण्डों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं तथा जो सामाजिक स्तर पर धार्मिक संगठन का निर्माण करती है।" धर्म की यह परिभाषा सामान्यतः सभी धर्मों की मूल मान्यताओं का स्पर्श करती है, यहाँ तक कि जैन एवं बौद्ध जैसे अनीश्वरवादी धर्मो को भी। यद्यपि इन धर्मों में ईश्वर को तो स्थान प्रदान नहीं किया गया है तथापि इनमें आदर्शात्मक मूल्यों को अवश्य ही स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से इसे रिलीजन की 'पर्याप्त परिभाषा' (*Sufficient definition*) कहा जा सकता है।

सही मायने में धर्म के अर्थ में Religion शब्द का प्रयोग मध्य युग (लगभग 1360 ई.) में ही प्रचलित हुआ। तत्समय भी यह केवल ईसाई मत के लिए प्रयुक्त हुआ, बाद में इसे अन्य मतों व धर्मों के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा और इसके अर्थ में सार्वभौमता आ गई। किन्तु पुनः यह शब्द राष्ट्रीयता और संस्कृति से जुड़ गया, क्योंकि धर्म संस्कृति से प्रत्यक्षतः और राष्ट्रीयता से परोक्षत: सदैव जुड़ा रहा है। मध्य युग के ही उत्तरार्द्ध और आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में इस शब्द ने पुनः व्यापक अर्थ प्राप्त कर लिया, जिसे आज हम देखते हैं। सच कहें, तो अपनी शाब्दिक व्युत्पत्ति से पृथक् एक पवित्र शब्द के रूप में इसने लोकप्रियता काफी पूर्व ही प्राप्त कर ली थी।

वैसे तो भाषीय और दार्शनिक दृष्टि से धर्म शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; किन्तु इस शब्द का धर्म-दर्शन में उसके सर्वाधिक प्रचलित और व्यावहारिक अर्थ में ही प्रयोग होता है। इस अर्थ में धर्म एक सम्प्रदायबद्ध उपासना पद्धति और आचार संहिता है, जिसमें मनुष्य किसी अलौकिक आदर्श में आस्था रखता है और उससे अपने कल्याण की अपेक्षा रखता है।

प्रश्न उठता है कि धर्म एवं रिलीजन में क्या भेद है

- रिलीजन में जहाँ 'बाँधने' की बात होती है, वहीं धर्म में 'स्वतंत्रता' का भाव प्रमुख हैं। 'बाँधने' में बलात् का भाव परिलक्षित होता है, क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं बल्कि किसी बाह्य शक्ति के द्वारा एक-दूसरे से बँधता है, परन्तु 'स्वतंत्रता' में आत्म-नियंत्रण का। इस प्रकार 'स्वतंत्रता' न तो 'नियंत्रण' (Determinism) है और न ही 'अनियंत्रण' (Indeterminism), बल्कि यह 'आत्म-नियंत्रण' (Self-determinism) की स्थिति है, जहाँ व्यक्ति न तो किसी बाह्य शक्ति से नियंत्रित होता है और न ही वह आंतरिक दृष्टि से उच्छृंखल ही होता है, बल्कि वह स्वयं अपनी आत्मा के द्वारा अनुशासित एवं मर्यादित होता है। इस प्रकार स्वतंत्रता, स्वच्छंदता न होकर आत्मानुशासन है।

- रिलीजन में कठोरता या अनम्यता (Rigidity) का तत्व प्रधान होता है, क्योंकि इसमें मान्य विधानों का कठोरतापूर्वक अनुपालन अपरिहार्य है, जबकि धर्म में मृदुलता या नम्यता (Flexibility) का तत्व प्रधान होता है, क्योंकि एक व्यक्ति उस धर्म में विहित विधानों का अनुपालन नहीं करते हुए भी धार्मिक बना रहता है।

- रिलीजन में परिवर्तन की सम्भावना नगण्य होती है, क्योंकि इसमें मूल 'धर्म-ग्रंथों' को खुदा या ईश्वर का वचन मानते हुए इसे 'पवित्रता' से सम्बंधित कर दिया जाता है, यथा कुरान में लिखा गया है कि यह ख़ुदा का वचन है, जिसकी मूल प्रति खुदा के पास है और जिसकी छाया प्रति मुहम्मद साहब के द्वारा इस जगत में भेजी गयी है। इसी प्रकार अन्य 'धर्म-ग्रंथों' के बारे में भी कहा गया है। अब यदि हम एक ओर 'धर्म-ग्रंथों' को ईश्वर या खुदा का संदेश मानें और दूसरी ओर उसमें परिवर्तन की भी बात करें तो ऐसा करना न केवल एक-दूसरे

का विरोधी है बल्कि यह ईश्वर या खुदा का अपमान भी है। इसी अर्थ में इन्हें 'हठधर्मी' (Fundamentalist) कहते हैं। उल्लेखनीय है कि धर्म को किसी एक व्यक्ति विशेष से सम्बंधित नहीं किया जाता है। यह देश-काल एवं परिस्थितियों के अनुसार स्वतः विकसित होता रहता है।

- रिलीजन में पैगम्बर का होना आवश्यक है, क्योंकि वह ईश्वर अथवा खुदा का संदेश वाहक होता है, यथा यहूदी धर्म में हजरत मूसा को, ईस्लाम में मुहम्मद साहब को तथा ईसाई धर्म में जीसस क्राइस्ट को। धर्म में पैगम्बर का होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यहाँ 'धर्म-ग्रंथों' को या तो ईश्वर का साक्षात् वचन कहा गया है या फिर उसे अपौरुषेय कहा गया है, परन्तु किसी ने भी वेद को मनुष्य की कृति नहीं कहा है। यहाँ पर माना गया है कि ऋषि मंत्र के द्रष्टा हुआ करते थे, न कि स्रष्टा (ऋषयोः मंत्र द्रष्टारः)। अस्तु, वेद को शाश्वत् एवं चिर नवीन भी कहा गया है।

- रिलीजन के लिए किसी न किसी रूप में एक अलौकिक सत्ता में विश्वास आवश्यक है, जबकि धर्म में अलौकिक सत्ता का होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि धर्म मूलतः व्यक्ति की जीवन पद्धति अथवा आचार संहिता से सम्बंधित है।

- रिलीजन में कर्मकाण्ड को आवश्यक तत्व माना गया है। ईस्लाम धर्म में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो रोजा-नमाज नहीं रखते हैं वे काफिर हैं। धर्म के लिए कर्मकाण्ड

- धर्म का स्वरूप एवं क्षेत्र आवश्यक नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यक्ति कर्मकाण्डों को न करते हुए भी धार्मिक बना रह सकता है।

- रिलीजन में सम्प्रदाय या संगठन बनाने की भावना प्रबल रूप में दृष्टिगोचर होती है, जबकि धर्म के लिए यह अनिवार्य नहीं है।

"अँगरेजी शब्द रिलीजन के लिए हमने धर्म को पर्याय मान कर बड़ी गलती की। दोनों में महान अंतर रिलीजन का यथार्थ पर्याय मजहब हैं, न कि धर्म। किसी देश विशेष में किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से एक-दूसरे को विशिष्ट समाज के रूप में बाँधने के लिए जो आचार प्रधान नियम बनाये जाते हैं वे ही रिलीजन के अंतर्गत आते हैं। धर्म समस्त विश्व को प्रतिष्ठा देने वाले, स्थिर तथा धारण करने वाले होते हैं। रिलीजन या मजहब या मत या सम्प्रदाय देश तथा काल की परिधि से सीमित होता है। उसका उद्देश्य किसी विशिष्ट देश तथा काल में, व्यक्ति विशेष के प्रयत्नों का परिणत फल होता है। उधर धर्म होता हैं ईश्वरनिर्मित, नित्य, सर्वदा स्थायी, देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला वस्तुतत्व

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः। इसलिए धर्म निरपेक्ष तत्व है, सम्प्रदाय सापेक्ष। धर्म तो धर्म ही है, अखण्ड सत्तात्मक नित्य पदार्थ। उसके काल से अपरिच्छेद रूप को सूचित करने के लिए सनातन (सर्वदा स्थायी) विशेषण कभी-कभी जोड़ा जाता है। फलतः धर्म एवं सनातन धर्म एक ही वस्तु है"।

'एष धर्मः सनातन''

स्पष्टतः धर्म एक शाश्वत्, स्थायी, चिर नवीन तथा देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला तत्व है जो विभिन्न परिस्थितियों में अपने आपको परिष्कृत, परिमार्जित, परिवर्द्धित एवं

समृद्ध करते हुए अपनी मूल एवं सैद्धांतिक अक्षुण्णता को बनाये रखता है। अतः, 'धर्म' शब्द का किसी भी अन्य भाषा में हू-ब-हू अनुवाद या रूपांतरण सम्भव नहीं है, क्योंकि धर्म जैसा व्यापक एवं गूढ़ शब्द किसी भी अन्य भाषा में प्राप्त नहीं होता है। धर्म वस्तुतः 'आंतरिक शुद्धता' (Internal purification) है। यह आंतरिक शुद्धता चाहे जिस पद्धति के द्वारा हो। जैसे-जैसे आंतरिक शुद्धता होती जाती है वैसे ही वैसे हमारा आचरण भी सरल, शिष्ट एवं मर्यादित होता जाता है। इस प्रकार व्यापक रूप में धर्म के मूलतः दो आयाम हो जाते हैं: पहला, आंतरिक स्तर पर 'आत्म-शुद्धि' (*Internal purification*) एवं दूसरा, बाह्य स्तर पर 'सदाचरण' (*Right conduct*)। अस्तु, केवल सदाचरण को धर्म मान लेना सत्यांश ही है। हम यह भूल जाते हैं कि सदाचरण बिना अंत:करण की शुद्धता के सम्भव ही नहीं है। ऐसा सदाचरण बिना अंतःकरण की शुद्धता के ही दृष्टिगोचर हो रहा है, उसमें स्थायित्व की सम्भावना क्षीण हो जाती है। ऐसा व्यक्ति कभी भी अपने सदाचरण से स्खलित हो सकता है, परन्तु जो सदाचरण अंतःशुद्धि पर आधृत है, उसमें स्थायित्व होता है। इस प्रकार आत्म-शुद्धि एवं सदाचरण एक ही सिक्के के दो पक्ष के समान हैं। जो आंतरिक दृष्टि से आत्म-शुद्धि है वही बाह्य दृष्टि से सदाचरण है। सदाचरण साधन है, जबकि आत्म-शुद्धि साध्य। जो सदाचरण को ही धर्म मानते हैं वे साधन को ही साध्य बना देते हैं।

2.6 धर्म एवं रिलीजन में भेद

- रिलीजन में जहाँ 'बाँधने' की बात होती है, वहीं धर्म में 'स्वतंत्रता' का भाव प्रमुख हैं। 'बाँधने' में बलात् का भाव परिलक्षित होता है, क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं बल्कि किसी बाह्य शक्ति के द्वारा एक-दूसरे से बँधता है, परन्तु 'स्वतंत्रता' में आत्म-नियंत्रण का। इस प्रकार 'स्वतंत्रता' न तो 'नियंत्रण' (Determinism) है और न ही 'अनियंत्रण' (Indeterminism), बल्कि यह 'आत्म-नियंत्रण' (Self-determinism) की स्थिति है, जहाँ व्यक्ति न तो किसी बाह्य शक्ति से नियंत्रित होता है और न ही वह आंतरिक दृष्टि से उच्छृंखल ही होता है, बल्कि वह स्वयं अपनी आत्मा के द्वारा अनुशासित एवं मर्यादित होता है। इस प्रकार स्वतंत्रता, स्वछंदता न होकर आत्मानुशासन है।

- रिलीजन में कठोरता या अनम्यता (Rigidity) का तत्व प्रधान होता है, क्योंकि इसमें मान्य विधानों का कठोरतापूर्वक अनुपालन अपरिहार्य है, जबकि धर्म में मृदुलता या नम्यता (Flexibility) का तत्व प्रधान होता है, क्योंकि एक व्यक्ति उस धर्म में विहित विधानों का अनुपालन नहीं करते हुए भी धार्मिक बना रहता है।

- रिलीजन में परिवर्तन की सम्भावना नगण्य होती है, क्योंकि इसमें मूल 'धर्म-ग्रंथों' को खुदा या ईश्वर का वचन मानते हुए इसे 'पवित्रता' से सम्बंधित कर दिया जाता है, यथा कुरान में लिखा गया है कि यह ख़ुदा का वचन है, जिसकी मूल प्रति खुदा के पास है और जिसकी छाया प्रति मुहम्मद साहब के द्वारा इस जगत में भेजी गयी है। इसी प्रकार अन्य 'धर्म-ग्रंथों' के बारे में भी कहा गया है। अब यदि हम एक ओर 'धर्म-ग्रंथों' को ईश्वर या खुदा का संदेश मानें और दूसरी ओर उसमें परिवर्तन की भी बात करें तो ऐसा करना न केवल एक-दूसरे का विरोधी है बल्कि यह ईश्वर या खुदा का अपमान भी है। इसी अर्थ में इन्हें 'हठधर्मी' (Fundamentalist) कहते हैं। उल्लेखनीय है कि धर्म को किसी एक व्यक्ति विशेष से सम्बंधित नहीं किया जाता है। यह देश-काल एवं परिस्थितियों के

अनुसार स्वतः विकसित होता रहता है।

- रिलीजन में पैगम्बर का होना आवश्यक है, क्योंकि वह ईश्वर अथवा खुदा का संदेश वाहक होता है, यथा यहूदी धर्म में हजरत मूसा को, ईस्लाम में मुहम्मद साहब को तथा ईसाई धर्म में जीसस क्राइस्ट को। धर्म में पैगम्बर का होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यहाँ 'धर्म-ग्रंथों' को या तो ईश्वर का साक्षात् वचन कहा गया है या फिर उसे अपौरुषेय कहा गया है, परन्तु किसी ने भी वेद को मनुष्य की कृति नहीं कहा है। यहाँ पर माना गया है कि ऋषि मंत्र के द्रष्टा हुआ करते थे, न कि स्रष्टा (ऋषयोः मंत्र द्रष्टारः)। अस्तु, वेद को शाश्वत् एवं चिर नवीन भी कहा गया है।
- रिलीजन के लिए किसी न किसी रूप में एक अलौकिक सत्ता में विश्वास आवश्यक है, जबकि धर्म में अलौकिक सत्ता का होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि धर्म मूलतः व्यक्ति की जीवन पद्धति अथवा आचार संहिता से सम्बंधित है।
- रिलीजन में कर्मकाण्ड को आवश्यक तत्व माना गया है। ईस्लाम धर्म में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो रोजा-नमाज नहीं रखते हैं वे काफिर हैं। धर्म के लिए कर्मकाण्ड
- धर्म का स्वरूप एवं क्षेत्र आवश्यक नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यक्ति कर्मकाण्डों को न करते हुए भी धार्मिक बना रह सकता है।
- रिलीजन में सम्प्रदाय या संगठन बनाने की भावना प्रबल रूप में दृष्टिगोचर होती है, जबकि धर्म के लिए यह अनिवार्य नहीं है।

"अँगरेजी शब्द रिलीजन के लिए हमने धर्म को पर्याय मान कर बड़ी गलती की। दोनों में महान अंतर रिलीजन का यथार्थ पर्याय मजहब हैं, न कि धर्म। किसी देश विशेष में किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से एक-दूसरे को विशिष्ट समाज के रूप में बाँधने के लिए जो आचार प्रधान नियम बनाये जाते हैं वे ही रिलीजन के अंतर्गत आते हैं। धर्म समस्त विश्व को प्रतिष्ठा देने वाले, स्थिर तथा धारण करने वाले होते हैं। रिलीजन या मजहब या मत या सम्प्रदाय देश तथा काल की परिधि से सीमित होता है। उसका उद्देश्य किसी विशिष्ट देश तथा काल में, व्यक्ति विशेष के प्रयत्नों का परिणत फल होता है। उधर धर्म होता हैं ईश्वरनिर्मित, नित्य, सर्वदा स्थायी, देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला वस्तुतत्व

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः। इसलिए धर्म निरपेक्ष तत्व है, सम्प्रदाय सापेक्ष। धर्म तो धर्म ही है, अखण्ड सत्तात्मक नित्य पदार्थ। उसके काल से अपरिच्छेद रूप को सूचित करने के लिए सनातन (सर्वदा स्थायी) विशेषण कभी-कभी जोड़ा जाता है। फलतः धर्म एवं सनातन धर्म एक ही वस्तु है"।

'एष धर्मः सनातन''(महाभारत, शांति पर्व)

स्पष्टतः धर्म एक शाश्वत्, स्थायी, चिर नवीन तथा देश-काल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला तत्व है जो विभिन्न परिस्थितियों में अपने आपको परिष्कृत, परिमार्जित, परिवर्द्धित एवं समृद्ध करते हुए अपनी मूल एवं सैद्धांतिक अक्षुण्णता को बनाये रखता है। अतः, 'धर्म' शब्द का किसी भी अन्य भाषा में हू-ब-हू अनुवाद या रूपांतरण सम्भव नहीं है, क्योंकि धर्म जैसा व्यापक एवं गूढ़ शब्द किसी भी अन्य भाषा में प्राप्त नहीं होता है। धर्म वस्तुतः 'आंतरिक शुद्धता' **(Internal purification)** है। यह आंतरिक शुद्धता चाहे जिस पद्धति के द्वारा हो।

जैसे-जैसे आंतरिक शुद्धता होती जाती है वैसे ही वैसे हमारा आचरण भी सरल, शिष्ट एवं मर्यादित होता जाता है। इस प्रकार व्यापक रूप में धर्म के मूलतः दो आयाम हो जाते हैं: पहला, आंतरिक स्तर पर 'आत्म-शुद्धि' (***Internal purification***) एवं दूसरा, बाह्य स्तर पर 'सदाचरण' (***Right conduct***)। अस्तु, केवल सदाचरण को धर्म मान लेना सत्यांश ही है। हम यह भूल जाते हैं कि सदाचरण बिना अंत:करण की शुद्धता के सम्भव ही नहीं है। ऐसा सदाचरण बिना अंतःकरण की शुद्धता के ही दृष्टिगोचर हो रहा है, उसमें स्थायित्व की सम्भावना क्षीण हो जाती है। ऐसा व्यक्ति कभी भी अपने सदाचरण से स्खलित हो सकता है, परन्तु जो सदाचरण अंतःशुद्धि पर आधृत है, उसमें स्थायित्व होता है। इस प्रकार आत्म-शुद्धि एवं सदाचरण एक ही सिक्के के दो पक्ष के समान हैं। जो आंतरिक दृष्टि से आत्म-शुद्धि है वही बाह्य दृष्टि से सदाचरण है। सदाचरण साधन है, जबकि आत्म-शुद्धि साध्या जो सदाचरण को ही धर्म मानते हैं वे साधन को ही साध्य बना देते हैं।

2.7 रिलीजन की विशेषताएँ

रिलीजन धर्म अथवा रिलीजन की निम्नलिखित विशेषताएं देख सकते हैं-

अलौकिक आदर्श-धर्म की यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यह आदर्श ईश्वर हो सकता, स्वर्ग भी हो सकता या फिर मोक्ष। जैन, बौद्ध, ताओ, कन्फ्यूशियस आदि धर्म अनीश्वरवादी तो रहे हैं, किन्तु उन्होंने इस जीवन से परे जीवन के रूप में या फिर मोक्ष के रूप में अलौकिक आदर्श को अवश्य अपवाया है।

1. (Supernaturality) पराप्राकृतिकता (Praterernaturality), परास्वाभाविकता (Paran- ormality), दिव्यता (Divinity) इत्यादि का भी नाम दिया जाता है।
2. उपासना पद्धति-प्रत्येक धर्म कुछ आध्यात्मिक विधियाँ प्रतिपादित करता है, जो सरल प्रार्थना के रूप में भी हो सकती हैं और कठिन साधना के रूप में भी: वह आदिम तंत्र-मंत्र का गर्हित रूप भी हो सकता है और शास्त्रीय कर्मकाण्ड का परिष्कृत रूप भी।
3. आचार संहिता-धर्म में आध्यात्मिक विधानों के अतिरिक्त कुछ वैयक्तिक और सामूहिक विधानों पर भी बल होता है, जो नैतिक सदाचार के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकता है और पर्व- त्योहार के रूप में भी। इसमें धर्मशास्त्रीय, नीतिशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय चीजें एक साथ जुड़ी रहती हैं।
4. आस्था-आस्था ही वह तत्त्व है, जो धर्म को दर्शन से पृथक् करती है। यह धर्म का अविभाज्य तत्त्व है। आस्था तर्कबुद्धिसंगत भी हो सकती है और उससे असंगत भी। एक धार्मिक व्यक्ति अपने उपास्य और उससे जुड़े घटकों (धर्म, धर्मप्रवर्तक, धर्मस्थल, धर्मग्रन्थ, धर्मविधान इत्यादि) के प्रति इतनी गहन आस्था रखता है कि उनकी तनिक भी आलोचना- अवमानना या उपेक्षा सहन नहीं कर पाता। इसे हम 'आस्था' के अध्याय में विस्तृत रूप से भी देख सकते हैं।
5. कल्याण की अपेक्षा-उपासक अपने धर्म या ईश्वर से अपने इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण की अपेक्षा रखता है। वह धार्मिक आदर्शों व विधानों के पालन से अपने दुःखों से मुक्ति और मन्नतों की पूर्ति के लिए बड़ी सीमा तक आश्वस्त होता है।
6. सम्प्रदायबद्धता-धर्म का यह एक समूहगत आयाम होता है। धार्मिक व्यक्ति की आस्था यदि केवल व्यक्तिगत आस्था बनकर रह जाए, तो वह अधिक से अधिक अध्यात्म या

दर्शन का ही रूप ले पाती है। धर्म के लिए एक निश्चित सीमा तक समूहगत होना आवश्यक है। यह समूह कोई छोटा आदिम वन्य कबीला भी हो सकता है और विस्तृत अंतरराष्ट्रीय समुदाय भी। सही मायने में तो धर्म स्वयं में एक संस्कृति का रूप बन जाता है, ऐसी संस्कृति जो समान आध्यात्मिक और आस्थापरक तत्त्वों से युक्त हो।

अब हम समझने का प्रयास करेंगे कि धर्म अर्थ धर्म का उद्भव और विकास किस प्रकार से हुआ

2.8 रिलीजन का उद्‍भव व विकास

धर्म के स्वरूप निदर्शन के साथ ही इसके उद्भव व विकास का प्रश्न उठ खड़ा होता है। सामान्यतया प्रत्येक धर्म अपनी उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता रहा है, किन्तु वर्तमान युग में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। आधुनिक काल में समाजशास्त्र, मानवविज्ञान तथा मनोविज्ञान जैसे विषयों के उदय ने धर्म' रिलिजन के उद्भव एवं विकास पर पर्याप्त प्रकाश डाला। ऐतिहासिक अनुसंधानों और धर्म-दार्शनिक अध्ययनों से भी इस विषय के विवेचन में नई गति आई। वर्तमान में धर्म दर्शन में धर्म के उद्भव के मोटे तौर पर सात सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं।

दैवी प्रकाशना का सिद्धान्त-यह सिद्धान्त यह मानता है कि धर्म को स्वयं ईश्वर द्वारा अपने देवदूतों, पैगम्बरों या ऋषि-मनीषियों के माध्यम से प्रकट किया गया है। इस दृष्टि से समस्त धार्मिक ज्ञान और विधान देवीय हैं। देवी प्रकाशना पर विस्तृत रूप से एतत्संबंधी अध्याय में देखा जा सकता है।

अपनी अतर्कसंगतता, अव्यावहारिकता तथा अवैज्ञानिकता के कारण धर्म दार्शनिक रूप से इस सिद्धान्त को विशेष महत्ता नहीं मिली है, फिर भी धार्मिक जनों के लिए यह धर्मोत्पत्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण ही नहीं, एकमात्र सिद्धान्त भी है।

आदिम धर्म का सिद्धान्त-धर्मोत्पत्ति के सिद्धान्तों की दृष्टि से यह सिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त को सर्वाधिक बल मानववैज्ञानिक अनुसंधानों से मिला, जिसमें उनके साथ समाजशास्त्रियों तथा इतिहासकारों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। वस्तुतः आधुनिक युग में धर्म के मूल की तलाश में अन्वेषकों का ध्यान शास्त्रीय धर्मों की बजाय आदिवासी धर्मों की ओर गया। उन्होंने आधुनिक सभ्यता से दूर वन्य जीवन जीने वाली जनजातियों के धर्मों का अवलोकन किया और तदनुरूप धर्म के उद्भव का मूल रूप प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से मुख्यत: छह रूप सामने आते हैं।

2.8.1 सर्वात्मवाद (Animism)

हिन्दी में इसके लिए जीववाद या प्राणवाद शब्द का भी प्रयोग होता है। 'एनिमिज्म' शब्द का प्रथम प्रयोग १७२० ई. में जर्मन वैज्ञानिक जार्ज अर्न्स्ट स्टाल द्वारा किया गया था, जिसे बाद में प्रसिद्ध मानव वैज्ञानिक सर एडवर्ड टायलर ने अपनी १८७१ ई. में प्रकाशित पुस्तक Primitive Culture में व्यापक रूप में परिभाषित तथा धार्मिक दृष्टि से प्रयुक्त किया। टायलर ने यह सिद्ध किया कि सर्वात्मवाद ही'रिलिजन धर्म का प्रारंभिक रूप है। उनके तर्क का बाद में हर्बर्ट स्पेंसर तथा एंड्रू लैंग आदि विचारकों ने भी समर्थन किया। जे.जी. फ्रेजर ने भी इस सिद्धान्त का थोड़े भिन्न रूप में समर्थन किया है।

सर्वात्मवाद का निहितार्थ है-प्रकृति में समस्त वस्तुओं में आत्मा या जैविक तत्त्व का होना। मनुष्यों में आत्मा का अस्तित्व मानना अत्यंत सामान्य है, अनेक धर्मों ने अन्य प्राणियों में भी

आत्मा का अस्तित्व माना है, कुछ धर्मों ने पेड़-पौधों में भी आत्मा को स्वीकार किया है, किन्तु सर्वात्मवाद ने इनसे भी आगे निर्जीव वस्तुओं (जैसे पर्वत, नदी, सागर, पत्थर, मिट्टी, आकाश आदि) में भी आत्मा की सत्ता स्वीकार की है।

लगभग सभी प्राचीन धर्म, जिनमें अफ्रीकी व अन्य विभिन्न देशों के वन्य जनजातीय धर्मों के अतिरिक्त हिन्दू, जैन और शिन्तो धर्म भी शामिल हैं, बड़ी सीमा तक सर्वात्मवाद को स्वीकार करते हैं। इन धर्मों में पशुओं, पक्षियों, सर्पों, पेड़ों, पहाड़ों, नदियों इत्यादि की पूजा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है। धर्म के ऐसे अभिलक्षण आज भी उपरोक्त धर्मों में सरलतया दिख सकते हैं।

2.8.2 मानावाद (Manaism)

यह सिद्धान्त भी सर्वात्मवाद के समान ही है, भेद केवल यह है कि इसमें विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों में आत्मा की बजाय कोई अतिप्राकृतिक शक्ति निहित मान ली जाती है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मानव वैज्ञानिक मैरियट माने जाते हैं, जिन्होंने मैलेनेशियाई भाषा से 'माना' शब्द को लिया था।

माना प्रथम दृष्ट्या किसी विद्युत् शक्ति की भाँति विभिन्न तत्त्वों में व्याप्त रहने वाली शक्ति प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः मानावाद में इसे एक ऐसी रहस्यात्मक अलौकिक शक्ति के रूप में देखा गया है, जो प्राकृतिक और सामाजिक विधानों को भी नियंत्रित कर रही होती है। यह हमारी प्रकृति और नियति की संचालिका शक्ति है, जिसे भारतीय परंपरा में वैदिक ऋत, वैशेषिक दर्शन के 'अदृष्ट' या मीमांसा दर्शन के 'अपूर्व' के समान भी देखा जा सकता है। कुछ विचारकों ने इसे सांख्य की प्रकृति व वेदान्त की माया के समकक्ष भी देखने का प्रयास किया है, किन्तु वह पूर्णतया संगत नहीं है। इसमें 'शक्ति' पर बल होने के कारण कुछ विचारकों ने इसे 'शक्तिवाद' की भी संज्ञा दी है, जो थोड़ी सीमा तक सुसंगत भी है। माना एक ऐसी शक्ति है, जो आत्मा और परमात्मा तक में व्याप्त होती है तथा स्वयं देवताओं की भी संचालिका शक्ति है। इस शक्ति में सजीव व निर्जीव, जड़ व चेतन दोनों के गुण हैं। धर्म का आदिम रूप होने के कारण इसमें मूर्त पक्षों पर बल अधिक रहा होगा।

वस्तुतः 'माना' शब्द तो संकेतमात्र है। अलग-अलग धर्मों, संस्कृतियों व भाषाओं में ऐसी धारणा के लिए अन्य नाम भी हो सकते हैं; बस उसे प्रकृति में व्याप्त एक अतिप्राकृतिक शक्ति के रूप में देखना अनिवार्य है। प्रो. डी.एन.मजूमदार ने भारत की 'हो' जनजाति की परम्परा पर शोध कर इसे बोंगावाद (Bongaism) नाम दिया।

2.8.3 फीटिशवाद (Fetishism)

फीटिशवाद वस्तुतः मानावाद का ही भौतिक व मूर्त पक्ष माना जा सकता है। प्रारंभ में फीटिश शब्द का प्रयोग पुर्तगालियों ने पश्चिम अफ्रीकी संस्कृतियों में विद्यमान धार्मिक वस्तुओं या प्रतीकों के लिए किया था। सन् १७५७ में चार्ल्स डि ब्रोसेस नामक विचारक ने मिस्री धर्म की अफ्रीकी धर्म से तुलना के संदर्भ में किया था। कालांतर में समाजशास्त्र के जनक ऑगस्ट कॉम्टे ने इसे धर्म के प्रारंभिक रूप में स्वीकार किया।

कॉम्टे ने ज्ञान-विज्ञान के विकास के तीन चरण निर्धारित किए-धार्मिक स्तर, दार्शनिक स्तर (अमूर्त स्तर), वैज्ञानिक स्तर (प्रत्यक्षवादी या भाववादी स्तर)। उनके अनुसार धर्म का विकास

भी तीन चरणों में होता है-प्रथम फीटिशवाद, द्वितीय अनेकेश्वरवाद तथा तृतीय एकेश्वरवाद। इस प्रकार उनके अनुसार फीटिशवाद धर्म का प्रारंभिक रूप है।

फीटिश शब्द पुर्तगाली भाषा के 'Feitico' शब्द से बना है, और यह पुर्तगाली शब्द भी लैटिन भाषा के Facticious शब्द से बना है, जिसका अर्थ है-कृत्रिम या निर्मित वस्तु।

किन्तु यहाँ विशेष धार्मिक या पारिभाषिक अर्थ में इसका तात्पर्य है-ऐसी वस्तु, जिसमें अतिप्राकृतिक शक्ति होने की कल्पना की जाती है।

विभिन्न धर्मों में ऐसे धार्मिक प्रतीकों, संकेतों और वस्तुओं का बाहुल्य पाया जाता है, जिनमें आस्थावान् व्यक्ति अलौकिक शक्ति की मान्यता रखते हैं। ऐसे प्रतीक बिल्कुल अनगढ़ आदिम रूप के भी हो सकते हैं, तो स्वस्तिक, फेंग शुई आदि की तरह विकसित- परिष्कृत भी।

2.8.4 टोटमवाद (Totemism)

टोटमवाद का स्वरूप कुछ सीमा तक मानावाद और फीटिशवाद के मिश्रित रूप में है। इसके अंतर्गत उन वस्तुओं और विधानों को टोटम कहा जाता है, जो किसी कुल या कबीला या समूह विशेष के विधि-निषेधों से जुड़े होते हैं और धार्मिक स्वरूप लिए रहते हैं। यह शब्द मूलतः उत्तरी अमेरिका के मूल निवासियों ओजिब्वे की भाषा के शब्द 'ऊडे' (Oode) या 'ओडोडेम' (Ododem) डे से आया है। इस शब्द को लोकप्रिय बनाने का श्रेय प्रख्यात समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम को है, जिन्होंने धर्म के लिए प्रकार्यवादी (Functionalist) सिद्धान्त पर बल दिया। टोटमवाद के तीन प्रमुख घटक हैं-

प्रथम-सामाजिक विधि-निषेधों (विशेषत: निषेध या वर्जनाओं) का होना।

द्वितीय-कुछ निश्चित प्रतीकों (पशुओं, पक्षियों, वृक्षों इत्यादि) में अतिप्राकृतिक शक्ति का मानना और उनसे अपनी पहचान स्थापित करना ।

तृतीय-इन विधि-निषेधों और प्रतीकों का किसी समूह विशेष (कुल, गोत्र या कबीला) से संबंधित होना।

इनमें द्वितीय व तृतीय गुण ऐसे हैं, जो बड़ी सीमा तक आधुनिक धर्म को प्राचीन धर्म से अलग करते हैं। आधुनिक धर्मों का बल मानवीकरण (Anthropomorphisation) पर है, जबकि प्राचीन धर्मों का पाशवीकरण (Theriomorphisation) पर। इस कारण टोटमवाद पर्याप्त प्रासंगिक प्रतीत होता है। इसकी विशेषता यह भी है कि इसने ईश्वरीय तत्त्व ही नहीं, धार्मिक रीतियों और सम्प्रदायों के निर्माण पर भी प्रकाश डाला है। इसके समर्थकों में मानववादी ब्रोनिस्टा मेलिनोवस्की, रोबर्टन स्मिथ, जेवेन्स आदि का नाम प्रमुख है।

2.8.5 जादू सिद्धान्त (Magic Theory)

इस सिद्धान्त का मानना है कि धर्म का उद्भव जादू-टोने से हुआ है। आदिम धर्मों में टोने-टोटके, झाड़-फूँक, जादू-मंतर जैसी विधियों के बाहुल्य के आधार पर इस मत को समर्थन मिला है। इस मत के समर्थकों में जेम्स फ्रेजर, ब्रोनिस्ला मेलिनोवस्की तथा एल्फ्रेड बेडलेट का नाम प्रमुख है। हीगेल तथा मैक्डोनेल ने भी धर्म के उद्भव में बड़ी सीमा तक जादू की भूमिका स्वीकार की थी।

वैसे तो जेम्स जॉर्ज फ्रेजर (१८५४ ई.-१९४१ ई.) मूलतः एडवर्ड बर्नेट टायलर प्रभावित थे, किन्तु उन्होंने अपनी पुस्तक Golden Bough में सर्वात्मवाद के साथ जादू को भी धर्म के उद्भावक तत्त्वों में रखा। उनके अनुसार मानवीय विश्वास के तीन स्तर होते हैं- प्रथम जादू, द्वितीय धर्म तथा तृतीय विज्ञान। इस प्रकार मानव जीवन प्रथम जादू से चमत्कृत होता है, फिर उसका स्थान धर्म लेता है और तदुपरान्त धर्म का स्थान विज्ञान। उनका यह चरणबद्ध विभाजन बड़ी सीमा तक ऑगस्ट कॉम्टे के मानव ज्ञान स्तर के विभाजन के समानांतर ही था।

सामाजिक मानववाद के जनक माने जाने वाले ब्रोनिस्ला मेलिनोवस्की ने Magic, Science And Religion (१९४८) में यह कहा है कि प्रायः मिथ्या कारण तर्कदोष (Post hoc ergo propter hoc Fallacy) से युक्त होने पर भी धर्म में जादू की भूमिका को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि यह संसार के अधिकांश प्राचीन धर्मों का अभिन्न अंग है।

2.8.6 पूर्वज पूजा सिद्धान्त (Ancestor Worship Theory)

इस सिद्धान्त में पूर्वजों के प्रति श्रद्धा तथा प्रेतात्मा की पूजा को धर्म का मूल आधार माना गया है। यह सिद्धान्त वस्तुतः सर्वात्मवाद में ही प्रस्फुटित हो गया था। एक बार प्रकृति में सर्वत्र आत्मा मान लेने के उपरांत उन आत्माओं से निकटता का संबंध तथा श्रद्धा का भाव अधिक ही हो जाता है, जो हमारे अपने पूर्वज रहे हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से मनुष्य जब अपने मृत पूर्वजों को स्वप्न में देखता था, तो उनके किसी न किसी रूप में किसी न किसी लोक में जीवित होने की कल्पना भी कर लेता था। वह उनसे भयभीत भी होता था, उनके प्रति श्रद्धा भी रखता था। वह उनकी प्रिय वस्तु भी अर्पित करता था और उनसे अपनी आकांक्षा की पूर्ति की अपेक्षा भी करता था। अनेक धर्मों में आज भी प्रेतलोक, पितरलोक व देवलोक में बहुत अधिक अंतर नहीं किया गया है।

इसे प्रेतात्मा सिद्धान्त (Ghost Theory) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें मृतकों की आत्माओं को ही धर्म का मुख्य आधार माना जाता है। परिष्कृत रूप में इसे प्रायः आत्मावाद (spiritism) की भी संज्ञा दी जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार देवों की परिकल्पना या उपासना प्रेतपूजा से ही प्रारंभ हुई है।

इस सिद्धान्त के मूल समर्थक हर्बर्ट स्पेंसर माने जाते हैं। स्पेंसर यद्यपि टायलर के सर्वात्मवाद से प्रभावित थे और उसका समर्थन भी करते थे, किन्तु उन्होंने धर्म की उत्पत्ति में प्रेत सिद्धान्त को विशेष महत्त्व दिया।

2.8.7 प्रकृतिवादी सिद्धान्त (Naturalistic Theory)

इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि धर्म का उद्भव प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना से हुआ है। आरम्भिक मानव प्राकृतिक शक्तियों से अभिभूत और भयभीत दोनों था, फलतः उसने तमाम प्राकृतिक शक्तियों की देवों के रूप में उपासना प्रारंभ कर दी।

इस सिद्धान्त के सर्वप्रमुख समर्थक लोक-परंपरा विशेषज्ञ विल्हेम मैनहार्ट माने जाते हैं। प्राच्यशास्त्र विशेषज्ञ मैक्समूलर भी बड़ी सीमा तक इसके समर्थक हैं।

हम प्रत्येक प्राचीन धर्म में प्राकृतिक तत्त्वों को देख सकते हैं। विशेषतः सूर्य और चन्द्रमा तो सर्वाधिक व्यापक प्राकृतिक देवता रहे हैं। विकसित एकेश्वरवादी धर्मों में भी इसके अवशेष देखे जा सकते हैं जैसे यहूदी धर्म में डेविड के तारे का प्रतीक या इस्लाम में चाँद-तारे का प्रतीक।

हिन्दू और शिन्तो धर्म तो प्राकृतिक उपासना के शिखर दृष्टांत हैं ही। वैदिक धर्म तो प्रकृतिपरक देवताओं की उपासना से भरा पड़ा है। समस्त वैदिक देवता वरुण, मित्र, सविता, पर्जन्य, इन्द्र, रुद्र, उषा इत्यादि प्राकृतिक कारकों का ही अतिप्राकृतिकीकरण माने जाते हैं। प्राचीन मिस्र सूर्य (रा) पूजा का तथा प्राचीन अरब चन्द्र पूजा का केन्द्र रहे हैं। हिन्दू धर्म के विष्णु व शिव क्रमशः सूर्य और चन्द्र देवताओं के ही विस्तार माने जाते हैं।

प्राचीन जनों के लिए प्रकृति सर्जक थी, पालक थी तथा संहारक भी थी। वह मोहक भी थी और भयावह भी। वह नियमित भी थी और अनियंत्रित भी। वह सदा समक्ष भी थी और रहस्यात्मक भी। अर्थात् उसमें वे सभी गुण विद्यमान थे, जो उसे एक धार्मिक रूप देने में समर्थ थे। यही कारण है कि समस्त आदिम धर्मों में प्राकृतिक तत्त्व ही मुख्य तत्त्व हैं और इस कारण धर्मोत्पत्ति के प्रकृतिवादी सिद्धान्त को बल मिलता है। मार्कस टूलियस सिसरो ने ठीक ही कहा था- 'प्रकृति ने सभी के मानस पटल पर ईश्वर की छवि अंकित कर दी है।' (De Natura Deorum)

2.8.8 सहजवृत्तिपरक सिद्धान्त (Instinct Theory)

यह सिद्धान्त मुख्यतः मनोवैज्ञानिकों द्वारा समर्थित है, किन्तु इस पर बल प्रथमतः अनुभववादी और भौतिकवादी दार्शनिकों ने दिया था।

धर्मोत्पत्ति के आदिम धर्म सिद्धान्त तथा प्रकृतिवादी सिद्धान्त ने इस बात को स्पष्ट करने पर बल दिया था कि धर्म में प्रथमतः किन तत्त्वों की उपासना प्रारंभ की गई। फीटिशवाद, टोटमवाद तथा प्रकृतिवाद तो मोटे तौर पर उन मूर्त पक्षों या तत्त्वों की ही तलाश करते नजर आते हैं, जिन्हें प्रथमतः धार्मिक प्रतीक के रूप में उपास्य समझा गया। सर्वात्मवाद, मानावाद, जादू सिद्धान्त तथा पूर्वजपूजा या प्रेतपूजा सिद्धान्त इन मूर्त तत्त्वों के पीछे अमूर्त शक्तियों की तलाश पर बल नहीं देते। पूर्वोक्त समस्त सिद्धान्तों का बल उपास्य तत्त्व के विश्लेषण पर है, उपासक के विश्लेषण पर नहीं।

सहजवृत्तिमूलक सिद्धान्त ने धर्म के बीज मानव में अंतर्निहित सहज प्रवृत्तियों (Basic Instincts) में ढूंढे। उन्होंने इस बात के अन्वेषण पर बल दिया कि हम आज भी अपनी प्रार्थना या ईश्वरीय उपासना में क्या कामना कर रहे होते हैं। मनोवैज्ञानिक मोटे तौर पर चार मूल वृत्तियों को धार्मिक भावना का कारण मानते हैं-भय, विस्मय, सुखाकांक्षा (दुःख-मुक्ति, आवश्यकतापूर्ति तथा लोभसहित) तथा सामाजिकता।

2.9 सारांश

धर्म शब्द **'धृ'** धातु में **'मन्'** प्रत्यय लगाकर बना है जिसका धातुगत अर्थ होता है धारण करना**,** धर्म के लिए अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाला शब्द **Religion** है। व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ समाज को बाँधने या व्यवस्थित करने वाला माना जाता रहा है।

रिलिजन वह सर्वव्यापी **अभिवृत्ति** (all-pervasive attitude) है जो **अलौकि आदर्शपूर्ण** विषय के प्रति आस्था पर **आधारित** होती है और जिसके प्रति **आत्मबन्धन** तथा बचनबद्धता (commitment) उपासना और या समाधि के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

2.10 पारिभाषिक शब्दावली

रिलिजन- का अर्थ होता है-पुनः चयनित करना या पुनः संबद्ध करना या पुनः मनन करना।

टोटम- उन वस्तुओं और विधानों, जो किसी कुल या कबीला या समूह विशेष के विधि-निषेधों से जुड़े होते हैं, टोटम कहा जाता है।

फीटिश- धार्मिक वस्तु या प्रतीक।

2.11 सन्दर्भग्रन्थ

1) धर्म- दर्शन, डॉक्टर कृष्ण कांत पाठक, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी जयपुर,
2) धर्म - दर्शन,ऋषि कांत पांडे, पियर्सन पुस्तकें
3) धर्म- दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉक्टर शिव भानु सिंह, शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद
4) सामान्य धर्म दर्शन एवं दार्र्षणिक विषलेषां, डॉ वाई मसीह, मोतीलाल बनारसी दास
5) बलदेव उपाध्याय, भारतीय धर्म और दर्शन", चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2000

2.12 बोध प्रश्न

1. रिलीजन की व्युत्पत्ति समझिए , धर्म रिलीजन की परिभाषा बतायें
2. रिलीजन और धर्म का भेद स्पष्ट करें
3. क्या धर्म और नैतिकता एक है स्पष्ट करें
4. धर्म के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करें

इकाई 3 धार्मिक सिद्धान्त की स्थापना में मीमांसा दर्शन का महत्त्व

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय संस्कृति में मीमांसा दर्शन के योगदान से परिचित हो सकेंगे।
- मीमांसा दर्शन के उन सिद्धान्तों से परिचित हो सकेंगे, जिनके द्वारा धार्मिक व्यवहारों की वैधता की जांच की जाती है।
- धर्म मीमांसा में मीमांसा दर्शन के उपयोग के महत्त्व से परिचित हो सकेंगे।
- धर्म मीमांसा से जुड़े प्रश्नों के निदान की दृष्टि को प्राप्त कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

धर्मशास्त्र वेद का अनुसरण करते हैं। वैदिक वाक्यों (वचनों, वक्तव्यों अथवा मूल पंक्तियों की व्याख्या के लिए भी मीमांसा व्याख्या पद्धति का उपयोग धर्मशास्त्र के लेखकों ने अपनी समस्याओं से समाधान के लिए उनका प्रयोग किया है।)

मीमांसा का सम्बन्ध किसी राजा या किसी सार्वभौम लोकनीति सभा द्वारा स्थापित विधान नहीं है बल्कि यह धर्म (धार्मिक कृत्य एवं उससे सम्बन्धित विषय) का सम्यक् ज्ञान देने की बात करती है। धर्म ज्ञान का मूल वेद है तथा मीमांसा वैदिक यज्ञों की प्रक्रिया (इति कर्तव्यता तथाउनके सहायक एवं मुख्य विषयों को व्यक्त स्थित करना) वेद नित्य है, स्वयंभू है, यही धार्मिक विषयों का विवेचन करता है, वैदिक शब्दों के आशय से ही धर्म व्याख्यायित होता है।

1. वेद का कोई भी भाग अर्थहीन एवं उद्देश्यहीन नहीं है। मीमांसा दर्शन की मान्यत है कि
2. एक ही वाक्य में एक ही शब्द का प्रयोग दो अर्थों में नहीं होना चाहिए, अर्थात् मुख्य एवं गौण दोनों अर्थों में नहीं होना चाहिए दाय भाग में इस उक्ति का

सहारा लिया गया है। जब भाई बटवारा करते हैं तो याज्ञवल्क (2/123) की व्यवस्था है कि बंटवारा के समय माँ को भी पुत्र के बराबर ही भाग मिलता है। इस पर दाय भाग की टिप्पणी है कि 'माता' शब्द में यहाँ मुख्य अर्थ है– जननी (जन्म देने वाली), इस नियम का सम्बन्ध विमाता से नहीं है, क्योंकि एक ही वाक्य में मुख्य एवं गौड़ अर्थ में संयुक्त नहीं होती है।

3.2 मीमांसा दर्शन का अर्थ एवं स्वरूप

डॉ0 राधाकृष्णन लिखते है कि इस दर्शन का नाम पूर्वमीमांसा इसलिये हुआ क्योंकि यह उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती है, ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से उतना नहीं जितना कि तार्किक अर्थों में। इसका मुख्य विषय कर्मकाण्ड है, जैसे कि उत्तरमीमांसा का मुख्य विषय वस्तुओं का सत्यज्ञान प्राप्त करना है। उपनिषदों को छोड़कर, शेष समग्र वेद के विषय में यह कहा गया है कि वह धर्म अथवा कर्तव्य कर्मों का प्रतिपादन करता है, जिनमें मुख्य हैं यज्ञ। पवित्र क्रियाकलाप का अनुष्ठान ज्ञानोपार्जन की भूमिका है। शंकराचार्य भी, जो कर्म और ज्ञान के मौलिक विरोध पर बल देते हैं, इस विषय में सहमत हैं कि सुकर्म, चाहे वह इस जन्म में किया हुआ हो अथवा पूर्वजन्म में, सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिये इच्छा उत्पन्न करता है। –(भारतीय दर्शन, भाग–द्वितीय, राजपाल एण्ड सन्स, 2016, पृ0–321)

पूजित विचार को मीमांसा कहा जाता है। वह दर्शन जिनमें पूजित विचारों का वर्णन हो मीमांसा दर्शन है। इस दर्शन के प्रतिपादक ऋषि जैमिनी है जिन्होंने मीमांसासूत्र लिखा। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में रचित है, जिसमें धर्म के विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यह दर्शन मुख्य रूप से धर्म के प्रतिपादन से सम्बन्धित है। मीमांसा दर्शन के पूर्व वेद का अध्ययन अपेक्षित है। जिसने वेद, वेदाङ्ग आदि का अध्ययन किया है, वही इस दर्शन का अधिकारी है। मीमांसकों का मत है कि धर्म वेद से ही ज्ञेय है, अन्य साधन (इन्द्रिय तथा प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) से नहीं।

3.3 मीमांसा दर्शन और कर्मकाण्ड के रूप में प्रयोग

मीमांसा दर्शन मुख्यतः वैशेषिक दर्शन के भौतिक सिद्धान्तों को मानकर चलता है और ज्ञान के सिद्धान्त में मीमांसा दर्शन का मत न्यायवैशेषिक से पृथक् है। मीमांसा का मत है कि– 'वेद स्वतः प्रमाण है, इनके लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेदों की प्रामाणिकता के लिये परमात्मा का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। सारा ही ज्ञान स्वतः प्रामाणिक है। धर्म का प्रत्यक्ष किसी अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता। धर्म कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं है जिसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा किया जा सके। वेद–विहित ढंग से उसकी आज्ञाओं के अनुसार कर्मकाण्ड आदि करने से धर्म की उत्पत्ति होती है।

–(भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–प्रथम, एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2011, पृ0–376)

इस प्रकार धर्म अधर्म के ज्ञान के लिये शब्दप्रमाण ही मुख्य आधार है। शब्द प्रमाण के रूप में वेदमंत्रों के अर्थ में जहां संदेह है, उनको ठीक प्रकार से समझने के लिये मीमांसा दर्शन की आवश्यकता पड़ती है। वेदों की व्याख्या करते हुए मीमांसा दर्शन में वेदों को मंत्रों और ब्राह्मणों का संकलन कहा है। ब्राह्मण ग्रन्थ विधि (वैदिक ओदश) है। ये आदेश तीन प्रकार के हैं– 1. अपूर्व विधि, 2. नियम विधि, 3. परिसंख्या विधि।

अपूर्व विधि वह आदेश या विधि है, जिनका हमें कोई पूर्वज्ञान नहीं है और जिसे हम आदेश के कारण ही जान पाते हैं। उदाहरण के लिये जब यह विधि बतलाई जाए कि अक्षतों को धोकर प्रयोग में लाना चाहिए तो हमको इस आज्ञा से ही यह बोध होता है कि यह विधि आवश्यक है। 'नियम' विधि अनेक विकल्पों में एक निश्चित विधान स्थापित करती है। उदाहरण के लिये धान का छिलका कई विधियों में उतारा जा सकता है, यहां तक कि नाखून से भी छीला जा सकता है, परन्तु नियम–विधि में जो आदेश दिया गया है उसको हम पहले से जानते है पर हम उसे कई विकल्पों में से एक के रूप में जानते हैं। अतः नियम–विधि उनमें से एक चुनने का निश्चित आदेश देती है। 'अपूर्व विधि' उस विधि का आदेश देती है जिसका हमको कोई पता ही नहीं था और यदि यह आदेश ही नहीं मिलता तो वह विधि सम्पन्न ही नहीं होती। परिसंख्या–विधि वह विधि है, जो अनेक क्रियाओं में की जा सकती है, जिसकी हमको जानकारी है पर जो निश्चित प्रसंग में ही करना उचित है। उदाहरण के लिये मैं रास (लगाम) को ग्रहरण करता हूँ (इमाम् अगृभ्णाम् रशनाम्) ऐसे अर्थ वाले मंत्र में किसी भी जानवर की रास को ग्रहण करने या पकड़ने का उल्लेख होता है पर परिसंख्या विधि के अनुसार गधे की रास पकड़ना निषिद्ध है, या गधे की रास को पकड़ते हुए इस मंत्र का पढ़ना वर्जित है।

वैदिक मन्त्र–वाक्यों की व्याखा करने के तीन मुख्य सिद्धान्त है– 1. जब वैदिक मंत्रों के शब्द ऐसे हों कि उनकी एक साथ पढ़कर ही पूर्ण अर्थकी प्राप्ति होती है तो उसको एकसाथ पढ़ना और अर्थ करना उचित होता है। 2. यदि अलग–अलग अर्थवाक्यों का अर्थ स्पष्ट हो जाता हो तो उनको मिलाना या एक दूसरे के अर्थ के लिये संयुक्त करना उचित नहीं है, यह दूसरा सिद्धान्त है। 3. उन वाक्यों को जो स्वयं में पूर्ण नहीं है, या आधे वाक्य है, उनके लिये पूर्व वाले वाक्य से प्रसंगानुसार पूरक शब्दों को व्यवहार में लाकर अर्थ करना चाहिए।

धर्म का आधार विधि–विहित वेद–व्याख्या है। वेदों के सारे मन्त्रों को विधि–संहिता के रूप में हृदयंगम करना चाहिए। वेदों के सारे मन्त्र करणीय विधि के रूप में मानने चाहिए और इस आदेशात्मक दृष्टि से ही उनकी व्याख्या करनी चाहिए। जिन मंत्रों के द्वारा देवी–देवताओं की प्रशंसा और महात्म्य कहा गया है वे इन देवताओं की स्तुति और अर्चना की विधि है। इस प्रकार जो भी मंत्र विधि की प्रशंसा या अन्य वर्णन के रूप मे ंमिलते है उनको भी विधि वाक्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए अन्यथा उनको अवैदिक समझकर उनका परित्याग कर देना चाहिए। वेदों का महत्व इसी में है कि उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करते हुए धर्म को प्राप्त करें।

वैदिक विधि–विधान के अनुसार किए हुए यज्ञ के कारण एक अद्भुत–शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह शक्ति कर्म में अथवा कर्त्ता में सन्निहित होती है। इस शक्ति को ही 'अपूर्व' कहते है। यह यज्ञकर्त्ता को अभीष्ट फल देती है। इससे पुण्यों का संचय होता है। –(डॉ0 गंगानाथ झा रचित 'प्रभाकर मीमांसा' और माधव–रचित न्यायमाला विस्तार)

धर्म के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि से परमलाभ प्राप्त होता है। ये बाते वेद, स्मृति, पुराण आदि अनेक धर्म ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। जब प्रश्न उठता है कि धर्म का लक्षण क्या है? तो इसका समाधान हमें मीमांसा दर्शन से प्राप्त होता है।

जैमिनि सूत्र पर शबरस्वामी (200 ई0) ने प्रसन्न गम्भीर भाष्य लिखा, जिसे शाबरभाष्य कहा जाता है। इसी शाबरभाष्य के भाष्कारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर प्रमुख है।

कुमारिल भट्ट ने शाबरभाष्य पर अपना वार्तिक लिखा, जिसके तीन भाग– श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक तथा टुप्टीका है तथा प्रभाकर ने बृहती तथा लध्वी नामक दो भाष्य लिखा। कालान्तर में मीमांसा के इन दोनों सम्प्रदाय के अन्तर्गत कई प्रतिष्ठित आचार्य हुए जिन्होंने इस दर्शन प्रणाली को समृद्ध किया।

यह धर्म लोक की सामान्य रूचि का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप धार्मिक बनने का प्रयत्न करता है और इसीलिए प्रत्येक सम्प्रदाय के शास्त्रकारों ने अपनी सफलता के लिये अनिवार्य रूप से इसका विवेचन किया है। कहीं यह धर्म कर्तव्य का अभिप्राय लेकर आता है– तो कहीं शिष्टाचार का। कहीं इसे भिन्न–भिन्न यज्ञ, अध्ययन–दान आदि क्रियाओं में विभाजित कर दिया गया है।

मीमांसकों के मत में ये ही यज्ञ याग धर्म हैं– जिनमें धर्म की सारी विधाओं का समावेश हो जाता है। स्वयं वेद ने उन्हें प्रथम धर्म के रूप में आहत किया है।

1. **प्रयोजनवान्** : इन सब तथ्यों से परिचित होते ही महामना महर्षि जैमिनि ने धर्म का उपर्युक्त लक्षणा किया है। फिर भी जैमिनि का यह धर्म सर्वथा अलौकिक होते हुए भी लौकिकता से परे नहीं है। प्रयोजनवान् होना धर्म के लिए आवश्यक है, क्योंकि मीमांसक इस बात से सुपरिचित हैं कि प्रयोजन के बिना कोई मूर्ख भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रवृत्ति को कराने के लिए ही धर्म में इष्टसाधनता का प्रयोजन के रूप में होना आवश्यक माना गया है।

2. **वेदबोधिता** : प्रयोजनवत्ता के साथ–साथ धर्म के लिए दूसरी चीज जो आवश्यक समझी गई है– वह है– उसकी वेदबोधितता। यदि वेद–बोधितता को धर्म के साथ सम्बद्ध नहीं किया जायेगा, तो घड़ा और चैत्यवन्दन आदि भी धर्म होने लग जायेंगे, क्योंकि ये सभी प्रयोजन वाले हैं। तीसरा विशेषण जो धर्म के लिये अनिवार्य माना गया है।

3. **अर्थता** : अर्थता अर्थात् उसका अनर्थ के साथ सम्बन्ध न हो। यदि यह विशेषण नहीं लगायेंगे तो श्येन–त्याग आदि कर्म भी धर्म होने लग जायेंगे। संक्षेप में प्रयोजनवान् हो, वेद से विहित हो और अनर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता हो– वही मीमांसकों का धर्म है, जो कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जिसमें सबका समावेश हो जाता है। इसके ठीक विपरीत अधर्म है।

प्रश्न : धर्म के मामले में क्या प्रमाण है?

उत्तर : यह सब कुछ होने पर भी जैमिनि ने धर्म जैसी इस उच्च वस्तु को अंधविश्वास से सर्वथा दूर रखना चाहा और उस जैसे समीक्षा–शास्त्रों के लिये यह आवश्यक भी था। उसने इसी दृष्टि से कहा कि 'इस प्रकार के धर्म के निमित्त को भी परीक्षा करनी चाहिए। सब तरह के प्रमाणों के आधार पर उसे परख कर ही उसका अनुष्ठान करना चाहिए– अंधनुकरण द्वारा नहीं। इसी दृष्टिकोण के कारण धर्म के लिये भी प्रमाणों की अनिवार्य आवश्यकता हुई। धर्म जैसी इन्द्रियों की सीमा से समपेत वस्तु तक पहुँचने की क्षमता प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि इन लौकिक प्रमाणों में नही है। मुख्य रूप से विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय, वाक्यशेष और सामर्थ्य ये आठ प्रमाण धर्म में हैं।

1. विधि

   वेद के सबसे उत्कृष्ट भाग के रूप में विधि को स्थान दिया गया है। यह विधि लिङ्, लेट–लोट और तव्य प्रत्यय इनसे अभिधीयमान अर्थ है। नैयायिक इसको

इष्टसाधनत्व कृतिसाध्यत्व, और बलवद निष्टाननुबन्धित्व इन तीन रूपों में स्वीकार करते हैं और उनके मत में इन तीनों का एक ही साथ बोध होता है। इन सबका ज्ञान प्रवृत्ति के प्रति कारण है। अर्थात् कोई भी यदि किसी कर्म में प्रवृत्त होगा तो सबसे पहले वह यह देखेगा कि इस काम के करने से मेरा इष्ट सिद्ध होगा या नहीं। दूसरी बात यह देखेगा कि यह काम मैं कर भी सकूंगा या नहीं एवं तीसरी बात यह सोचेगा कि इसमें मेरे अनिष्टों को दूर करने की क्षमता है या नहीं। इन तीनों बातों का उचित समाधान होने पर ही कोई किसी कर्म में प्रवृत्त होता है। ये सब विधि के ही रूप हैं— जो प्रवृत्ति के प्रति कारण है। प्रवृत्ति के प्रति कारण होने ही के कारण विधि को प्रवर्तना कहा जाता है। उनके मत में ये सभी लिङ् के अर्थ हैं।

मीमांसक इनको इस रूप में स्वीकृत नहीं करते। उनका कहना है कि इष्टसाधनत्व, कृति साध्यत्व और बलवदनिष्टाननुबन्धित्व ये तीनों ही लिङ् के अर्थ नहीं है। ये तीनों के बिना ही लिङ् के बताये हुए स्वतः आक्षिप्त हो जाते है। विधि वाक्य ने 'दर्शपूर्णामासम्यां स्वर्ग कामो यजेत' इस रूप में दर्शपूर्णा मास का विधान किया। फिर इन तीनों ही का लिङ् के अर्थ के रूप में स्वीकृत किया जाना असंगत है। वस्तुतः प्रवर्तक पुरूष में रहने वाला 'यह इस काम में प्रवृत्त हो जाये' इस प्रकार का जो अभिप्राय है—वहीं लिङ् का अर्थ है।

इस प्रकार लिङ् लेट् तव्यप्रत्यय से अभिधीयमान यह अर्थ में प्रमाण है, क्योंकि इसके द्वारा अन्य प्रमाणों से अज्ञात और अलौकिक कल्याण के साधन यज्ञ का याग आदियों का विधान किया जाता है। इन यज्ञ और होम आदि में जो धर्मता है, वह क्रिया के रूप में न होकर उनके अलौकिक कल्याण के साधन के रूप में है और उनका यह रूप वैदिक शब्द के बिना और किसी भी प्रमाण से जाना नहीं जा सकता। अतः यही उनका सबसे प्रथम प्रमाणिक आधार है।

2. अर्थवाद

वेद का दूसरा भाग अर्थवाद है। ये अर्थवाद विधेय अर्थ की स्तुति कराते हुए प्रमाण बनते हैं। उदाहरण के लिये 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' (जो ऐश्वर्य चाहता है, वह वायव्य याग करे)। इस वाक्य के द्वारा वायव्य याग का विधान किया गया। इसके अनन्तर इसके समीप में 'वायु तेज चलने वाली देवता है, वही इसको ऐश्वर्य की प्राप्ति कराती है'। यह वाक्य श्रुत है। उसका यदि यह मुख्य अर्थ हो ग्रहण किया जायेगा, तो वह सर्वथा असंबद्ध प्रलाप होने के कारण अनर्थक होने लग जायेगा। क्योंकि हम तो यह पहले ही प्रतिज्ञा कर चुक हैं कि जो वाक्य किया या उससे सम्बन्धित अर्थ का ज्ञान करायेगा, वही प्रमाण हैं, शेष नहीं।

3. **वेदार्थ – निर्णय तथा धर्मशास्त्र में मीमांसा का महत्त्व** : विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋगादि वेद हैं। प्रत्येक तत्त्व जिज्ञासु वेदों की तह में पहुँचने का प्रयत्न सदैव से करता आया है। वेदों के अर्थो का निर्णय जो व्यक्ति काव्य–कोषादि के बल पर करना चाहता है, उसका यह साहस मात्र ही कहा जायेगा। वेदार्थ का परिष्कृत स्वरूप तभी निखर सकता है, जबकि मीमांसा का पूर्णतया आश्रय लिया जाय। कुमारिलभट्ट जैसे विशिष्ट विद्वान् वेदार्थज्ञान के लिए मीमांसा के महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डालते है। उनका कहना है कि मीमांसा के व्याख्यान में प्रवृत्ति का मुख्य कारण वेदार्थज्ञान के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करना और कराना

ही है। वेदार्थज्ञान में तृष्णातीव विजृम्भते (श्लो0 वा0 1 पृ0 3 चौ0 सं0) अर्थात् वेदार्थज्ञानरत्न की प्राप्ति के लिए मीमांसा एक प्रधान साधन है। साधारण विद्वान् विविध वैदिक विषय—विवेचन के चक्कर में पड़कर यह भूल जाता है कि वेद का प्रधान विषय क्या है? किसी दूसरे दार्शनिक ने यह प्रयत्न नहीं किया कि उनके अध्ययन से वैदिक विषयों का ज्ञान हो। एकमात्र मीमांसा ने वेद के शब्द से लेकर अर्थ तक के प्रत्येक विषय पर पुष्कल प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, यदि मीमांसा का सराहनीय प्रयत्न न हुआ होता तो वेदों को ही आज के लोग किस्से—कहानी और कुछ असम्बद्ध प्रलापों का संग्रह मात्र मानते। मीमांसा—अनभिज्ञ अपने को दार्शनिक कहलाने वाले पाश्चात्य एवं कुछ प्राच्य लोगों ने भी वैसा ही कह दिया है। समय के प्रभाव से मीमांसा का विरल प्रचार होने के कारण वैदिक विद्वानों की विरलता इतनी हो गई है कि इस समय यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत में और उसी भारत में जहाँ कि पग—पग पर वैदिक विद्वानों का जमघट रहा करता था, वहाँ इने—गिने विद्वान् रह गये हैं। मीमांसा का अध्ययन करने यदि वैदिक धरातल पर कोई उतरा होता तो इस समय भी वैदिक विद्वानों की कमी न होती। मीमांसा—सागर की दुरवगाहता ने साधारण विद्वानों का साहस तोड़ दिया, जिससे मीमांसा ज्ञान से वंचित रहकर वेदार्थज्ञानरत्न को प्राप्त न कर सके। स्मृतिकारों ने मुक्तकण्ठ से यह माना है— 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः' 'मीमांसासम्मित स्तर्कः' सर्ववेदप्रवर्तकः। मीमासा ने वेद का तात्पर्य इतिहास, भूगोल, आचार या सामाजिक व्यवहार के प्रकाश मात्र में न मानकर धर्म जैसे महत्त्व के विषय—विवेचन में माना है। वस्तुतः वेदों की गरिमा भी इसी में है कि जनसाधारण की पहुँच के बाहर तथा दुर्लभ और अज्ञात विषयों का निरूपण करे। जनसाधारण में प्रसिद्ध जो धर्म है, वही धर्म है वेदार्थ है अथवा उससे भिन्न? मीमांसा ने भली प्रकार दर्शाया है कि वेद के सीधे—साधे सरल वाक्य कितना गंभीर तात्पर्य रखते है यह एकमात्र मीमांसा—संस्कृत व्यक्ति ही समझ सकता है। जैसे 'अग्निमीठे पुरोहितम्' वाक्य में अग्नि की चर्चा मात्र कर दी है, किन्तु अग्नि का स्वरूप क्या है और उसके कितने भेद है? किस अग्नि के आश्रित कौन कर्म है? आदि विषयों की व्यवस्था और श्रृंखला मीमांसा ने तैयार की है। जैसे बहुत से मूलग्रन्थों को सुव्यवस्थित करने का श्रेय पटुतम व्याख्याताओं को मिलता आया है, वैसे ही निर्भीक शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वैदिक विषय को सरल एवं सुव्यवस्थित बनाकर वेदों को सर्वोपरि महत्त्व देने का श्रेय मीमांसा को प्राप्त है। ऋगादि वेद परस्पर असम्बद्ध और बिखरे—से प्रतीत होते हैं, उनमें सम्बन्ध और सुश्लिष्टता मीमांसा ने ही स्थापित की। अन्य दर्शनों का एक साधारण विद्वान् यह नहीं बतला सकता कि इषेत्वा, ऊर्जेत्वा, अग्निमीठे पुरोहित् आदि का सम्बन्ध और रहस्य क्या है? किन्तु मीमांसा का एक साधारण छात्र भली भाँति इसे जानता है। अतः वेदार्थ का पूर्णतया असन्दिग्ध रहस्य मीमांसा पर ही निर्भर है। अथातो धर्मजिज्ञासा सूत्र में मीमांसा का प्रयोजन धर्म का निर्णय करना ही जैमिनि ने बतलाया है। इस सूत्र में धर्म शब्द का अर्थ वेदार्थ ही है, ऐसी व्याख्या करके प्रभाकर मिश्र ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वेदार्थ—निर्णय मात्र ही मीमांसा का एक मात्र उद्देश्य है। न्यायदर्शन का प्रमाण—निरूपण वैशेषिक का पदार्थ—विश्लेषण, सांख्ययोग का प्रकृति—पुरूष—विवेचन एवं वेदान्त का ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादन में जितना महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व मीमांसा का वेदार्थ—प्रतिपादन में है। सभी विद्वान् यह जानते है कि दूसरे दर्शन अपने मुख्य उद्देश्य से भिन्न विविध पदार्थो के निरूपण में जितने व्यग्र हैं, उतने अपने मुख्य लक्ष्य के प्रतिपादन में नहीं हैं, किन्तु

मीमांसासूत्र का विशाल कलेवर एकमात्र वेदार्थ–निर्णय में ही संलग्न है। जहाँ वेदान्तदर्शन का एकमात्र प्रथम समन्वयाध्याय ब्रह्मज्ञानपरक है, वहाँ मीमांसादर्शन के पूरे बारह अध्याय धर्मसमन्वय या वेदार्थप्रतिपादन में समन्वय के प्रकाशक है। इसीलिए मीमांसा सूत्रकार को इतना समय न रहा होगा कि वे सृष्टि–प्रलय, आत्मा–परात्मा के उलझन में पड़ते। उनके सामने वेदार्थ के वास्तविक स्वरूप को निखारना ही एकमात्र उद्‌देश्य था। उसकी सिद्धि में वे शप्रतिशत सफल हुए। यद्यपि सृष्टि–प्रलय, आत्मा–परात्मा भी वेदार्थ की कक्षा से बाहर नहीं है, तथापि यज्ञयागोपयोगी वेदार्थ को ही सम्भवतः धर्म शब्द से लिया गया और उसी के प्रकाश से प्रकाशित सभी पदार्थो को ऋषि ने देख लिया था। शास्त्रों के दो भेद परिलक्षित होते है– एक वे जिनके अध्ययन – अध्यापन से प्रवचन–कौशल मात्र प्राप्त होता है और दसूरे शास्त्र वे हैं, जिनके अध्ययन से कर्त्तव्यानुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। मीमांसादर्शन कर्तव्यपराणता की ओर बालक से लेकर वृद्ध तक अपने सभी अधिकारियों को ऐसा प्रवृत्त करता है कि उनका एक क्षण भी वेदार्थानुष्ठान के बिना नहीं रह सकता। ब्रह्मज्ञान अनुष्ठेय नहीं हैं, अतः उसके प्रकाशन की आवश्यकता मीमांसादर्शन को नहीं हुई होगी। इसलिए वेदार्थ–प्रकाशन के अतिरिक्त मीमांसा ने अपने क्षेत्र को विस्तृत नहीं किया वेदाभाष्यकार सायण ने ऋगादि वेदों के व्याख्यान में पग–पग पर मीमांसा का उपयोग होता दिखलाया है। सनः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। स च स्वा नः स्वस्तये।। (ऋ0 सं0 मं0 1, अ0 1, सू0 2, ऋ0 1)। इस प्रसंग में 'शास्त्र' को देवतास्मरण रूप संस्कार कर्म अथवा अदृश्टफलक प्रधान कर्म समझा जाय, ऐसा विचार प्रस्तुत कर मीमांसा के नियमों को लगाकर सिद्ध किया कि यह प्रधान कर्म है। इसी तरह तैत्तिरीयब्राह्मण प्रथमकाण्ड–प्रथम पाठक के पंचम अनुवाद में विचार उपस्थित किया गया है कि पवमानेष्टि से आहवनीयादि अग्नियों के संस्कृत होने पर दर्शपूर्णमासादि कर्मो का अनुष्ठान किया जाता है। उसी तरह पवमानेष्टियों का भी उसी संस्कृत अग्नि में अनुष्ठान होना चाहिए। तब सिद्धान्त किया कि असंस्कृत अग्नि में ही उनका (पवमानेष्टि) अनुष्ठान होगा। इस तरह दसवें अध्याय के द्वितीय पाद के विचार का उपयोग यहाँ किया गया है।

3.4 धर्मशास्त्र में मीमांसा का महत्त्व

धर्मशास्त्रकारों ने वेदविहित एवं मीमांसा परिशोधित धर्मस्वरूप का प्रतिपादन निर्भीक रूप से किया है। मूल ग्रंथकार तो केवल मीमांतित्वा, मीमांसन्ते आदि शब्दों का प्रयोग कर चलते बने। किन्तु टीकाकारों ने मीमांसा का उपयोग अथवा स्पष्टीकरण यत्र–तत्र किया। श्रौतकर्मो के प्रतिपादन में किसी भी ऐसे धर्म का विधान नहीं किया गया जो मीमांसा के विरूद्ध हो। कहीं–कहीं मीमांसान्याय का स्पष्ट प्रतिपादन भी किया गया है, जैसे जीमूत–वाहन–कृत दाय भाग (अ0 11, परि0 5, खं0 16, पृ0 310, जी0 वा0 दा0 प्रसन्न कुमार ठाकुर संपादित, कलकत्ता शक 1785) में द्वयोः प्रणयन्ति अधिकरण का उल्लेख मिलता है। तथापि मूल ग्रन्थकारों की अपेक्षा व्याख्याकारों ने मीमांसा का उपयोग अधिक किया है। मदनरत्न में निर्दिष्ट भविष्यपुराण में बतलाया गया है– क्षमा, सत्य भाषण, दया, दान, स्वच्छता, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहोम, सन्तोष, चोरी न करना ये दस धर्म सामान्यतः सभी व्रतों के लिए है। इस पर वर्धमान का कहना है कि उपर्युक्त सभी शब्द से भविष्यपुराणोक्त व्रतों को ही समझना चाहिए। अन्य व्रतों में यदि होम का विधान हो तो उसे करे न हो तो न करे। यही कारण है कि एकादशीव्रत में शिष्ट लोग हवन नहीं करते। इस पर कमलाकरभट्ट सभी शब्द का रहस्योद्‌घाटन

वाक्य किसी प्रकरण में पठित नहीं है, तब जिन पशुयाग, मित्रविन्दादि इष्टियों के प्रकरण में पठित सप्तदशसामिधेनी बोधक वाक्य हों, उनके साथ एकवाक्यता को पा लेने से पशुयाग प्रकरण के सप्तदश सामिधेनी के वाक्यों से उपर्युक्त प्रकरणरहित सामिधेनी वाक्य का उपसंहार कर लिया जाता है, वैसे ही विशेष व्रत में बतलाये गये होमविधायक वाक्यों से इस वाक्य का भी उपसंहार (संकोच) किया गया है। अतः वर्धमान का कथन ठीक नहीं। इसी सामिधेन्यधिकरण (मी0 3/6/2) का व्यावहारिक धर्म में महत्त्वपूर्ण उपयोग इस प्रकार किया जाता है– समाज में प्रायः देखते है कि लोग वसीयतनामा लिख जाते हैं। एक पुरूष जिसके दो नाबालिग पुत्र हो वह लिखता है कि मेरी मृत्यु के उपरान्त मेरी स्थावर सम्पत्ति की मालिक मेरी स्त्री होगी और जब लड़के बालिग हो जायेगे तो यही उसके मालिक रहेगे। इस लेख में स्त्री को मालिक बतलाया गया है। इससे सन्देह होता है कि क्या स्त्री उस धन की वास्तव में मालिक अर्थात् स्वामिनी है? दूसरे शब्दों में क्या वह स्त्री उस सम्पत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार विक्रय कर सकती है? शास्त्र में तो स्त्री को स्थावर धन के विक्रय का अधिकार नहीं है। तो क्या इस लेख में मालिक कहे जाने के आधार पर वह शास्त्रीय नियम का उल्लंघन कर सकती है? इस प्रकार का सन्देह होने पर यहाँ मीमांसा के अनुसार यह व्यवस्था करनी पड़ेगी कि स्त्री को मालिक कहने का अभिप्राय यह है कि तब तक लड़के बालिग न हो जायें, वह स्थावर सम्पत्ति की देखरेख यानी पूरी तरह से रक्षा करे। दूसरे शब्दों में भाव यह है कि स्त्री के साथ मालिक शब्द का अभिप्राय मैनेजर (प्रबन्धकर्त्री) से है, और लड़कों के लिए मालिक शब्द का अर्थ स्वत्वाधिकारी अर्थात् स्वामी है। एक स्थान में मालिक शब्द अपने पूर्ण अर्थ का बोध कराता है, तो दूसरे में उसका अर्थ प्रकरण तथा शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार संकुचित किया गया है। यदि दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

दूसरा उदाहरण पृथ्वीचन्द्रोदय में उद्धृत अग्निपुराण के व्रत प्रकरण में है विप्रा भोज्या यथाशक्ति तेभ्यो दद्याच्च दक्षिणाम् यहाँ विप्राः शब्द में यदि एकशेष समास करें तो विप्रस्त्रियां और विप्रपुरूष दोनों समझ लिये जा सकते हैं, किन्तु बिना प्रमाण के वह भी नहीं किया जा सकता। इसीलिए द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपद कुर्यात् बहुभ्यो यजमानेभ्यः अर्थात् दो यजमान अथवा बहुत यजमान प्रतिपत् (शस्त्र नामक ऋचाओं मे पहली ऋचा) को करे। यहाँ द्वित्व या बहुत्व का सम्पादन यजमान और उसकी स्त्री को लेकर नहीं किया जाता ऐसा आचार्य मीमांसाकार एवं महामीमांसक पार्थसारथि का भी कहना है। इसी प्रकार ब्राह्मणान् भोजयेत वाक्य में ब्राह्मण शब्द में श्रुत बहुवचन का अन्वय ब्राह्मण के ही साथ होता है, भोजन के साथ नहीं। अतः एक ही ब्राह्मण को बार–बार भोजन कराने से संकल्पित अनेक ब्राह्मण भोजन का सम्पादन होना नहीं कहा जाता यह सिद्धान्त किया है।

मीमांसारहित धर्मशास्त्र के भावों का ज्ञान उसी तरह है, जैसे बिना साधन की इष्ट–प्राप्ति। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में परस्पर विरोधी बातें बहुधा आया करती हैं जिनकी व्यवस्था मीमांसा की सहायता से ही हो सकती है। अतएव मीमांसा को एक प्रकार से व्याख्या के नियम लाज आफ इण्टरप्रिटेशन कह सकते है।

3.5 पूर्वमीमांसा की उपेक्षा–अपेक्षा

प्राचीन काल से मीमांसा की उपेक्षा हुई है। दर्शनशास्त्र होते हुए भी उसमें आत्मा, ईश्वर, मोक्ष आदि तत्त्वों की उपेक्षा कर दी गई या इनको गौण बना दिया गया। धर्म या यज्ञ–याग और स्वर्ग को सर्वश्रेष्ठ मान लिया और प्रमाद तथा अल्प ज्ञानवस

यज्ञ–याग की समुचित व्याख्या नही की गई। सकाम कर्म से निष्काम कर्म एवं आत्मज्ञान श्रेष्ठ है, स्वर्ग से मोक्ष एवं आत्मा का अनुभव श्रेष्ठ है, उसपर ध्यान नही दिया गया। इन्हीं स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में शंकराचार्य ने मीमांसा मत का खण्डन किया।

किन्तु स्वयं शंकाराचार्य ने उपनिषद् वाक्यों के अर्थ गठन में असंख्य बार मीमांसा द्वारा प्रतिपादित अर्थ निधारण के निर्णयों का उपयोग किया गया है। हिन्दुओं के आचार, विचार, नियम, रूढ़ियां, पैत्रिक सम्पत्ति का अधिकार इत्यादि विषयों पर मीमांसा दर्शन में प्रभुत विचार किया है। मीमांसा श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, मनुस्मृति आदि स्मृतियों का मूल स्रोत है।

मीमांसा–विद्वान् यज्ञ या पूजा के प्रसंग में वेदज्ञान समझा कर लोक–जागरण कर सकता है। गाँवों में, नगरों में यज्ञ–पूजा होते ही रहते हैं। अतः लोक–सम्पर्क का पूर्ण अवकाश है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन कर्मकाण्ड पूजा की वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन कर लोकजागरण के माध्यम से हिन्दू ज्ञानपरम्परा के अध्ययन में एक समर्थ माध्यम बन सकता है।

3.6 सारांश

किसी भी धार्मिक सिद्धान्त के तीन पक्ष होते है– 1. पौराणिक भाग, 2. कर्मकाण्ड भाग, 3. दार्शनिक भाग। दार्शनिक भाग तथा कर्मकाण्ड भाग का सैद्धान्तिक परीक्षण एवं पुष्टिकरण एक दार्शनिक क्रिया द्वारा की जाती है। वेद सम्बन्धी धर्मों की विवेचना एवं उसके तार्किक स्थापना मीमांसा दर्शन द्वारा की जाती है। मीमांसा दर्शन वैदिक सिद्धान्तों के क्रियापरक आदेशों/निषेधों के वैचारिक धरातल प्रदान करता है। इस ईकाई में हम मीमांसा में मीमांसा दर्शन के मूल प्रतिपाद्य से परिचित होते हुए उन सिद्धान्तों से धार्मिक सिद्धान्तों की परम्परा चलती रही है।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

काम्यकर्म : स्वार्गादि अभीष्ट स्थानों की प्राप्ति के साधन ज्योतिष्टोम आदि कर्म को 'काम्य' कर्म कहते हैं।

नैमित्तिक : नैमित्तिक पुत्र जन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्टयादिनि आदि किसी निमित्त से सम्बन्धित कर्म को नैमित्तिक कर्म कहते हैं जैसे– जातेष्टि।

उपासना : 'उपासनानि सगुणब्रह्म मानस व्यापार रूपाणि'। राम, कृष्ण को विषय बनाने वाले मानसिक व्यापार को उपासना कर्म कहते हैं। जैसे– शाण्डित्यविद्या।

3.8 सन्दर्भग्रन्थ

1 तत्त्व–सिन्धु, वर्ष–3, लक्ष्मेश जोशी का लेख, कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ

2 भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग–1, एस.एन. दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

3 मीमांसा–दर्शन, आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री, मंडन मिश्र शास्त्री, रमेश बुक डिपो, जयपुर, 1955

4 मीमांसा–दर्शन–विमर्श, सोमनाथ नेने, प्रतिभा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

5 धर्मशास्त्र की इतिहास, भाग–5, डॉ. पी.वी. काणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2014

3.9 बोधप्रश्न

1 हिन्दू दर्शन में धर्म एवं मीमांसा सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिये।

2 मीमांसा दर्शन के उन प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिये।

3 हिन्दू धर्म दर्शन को समझना है, तो हमारे लिये मीमांसा दर्शन अपरिहार्य है, इस कथन की पुष्टि कीजिये।

4 मीमांसा दर्शन की लोकप्रियता में हुए ह्रास के कारणों की विवेचना कीजिए।

इकाई 4 वैदिक धर्म की पारम्परिक संकल्पना और श्रमण परम्परा का समावेशीकरण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप वैदिक धर्म की पारम्परिक संकल्पना के बारे में जान सकेंगे श्रमण परम्परा के अंतर्गत वर्णित धर्म की संकल्पना से परिचित हो सकेगे। आप यह भी जान सकेंगे कि श्रमण परम्परा में निहित धर्म की संकल्पना किस प्रकार वैदिक धर्म की संकल्पना से प्रेरित और प्रभावित हुई है और किस प्रकार उसने वैदिक धर्म की संकल्पना को आत्मसात करते हुये उसको नये स्वरूप में परिमार्जित करते हुये ढ़ाला है।

4.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों! धर्म का अर्थ समझने के लिए इस शब्द की व्युत्पत्ति को समझना चाहिए। 'धृ' धातु में मन् प्रत्यय लगाने से धर्म शब्द की व्युत्पत्ति होती है जिसका अर्थ धारण करने से है। :धारयति इति धर्मः' यानि जो धारण करता है वह धर्म है। इस प्रकार धर्म अपने व्यापक अर्थ में न केवल संपूर्ण विश्व को धारण किये हुये है, बल्कि मानव संस्कृति, दर्शन और समस्त दार्शनिक सिद्धांतों को भी आत्मसात् किये हुये है।

वैदिक और श्रमण दोनों ही परम्परायें भारत भूमि पर ही उत्पन्न हुई और विकसित हुई हैं। दोनों ही परम्पराओं में मनुष्य के चारित्रिक गुणों के विकास पर बल देते हुये उनके आत्मिक स्वरूप के बोध एवं उसकी सम्प्राप्ति को मानव जीव का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस प्रकार दोनों ही परम्पराओं की चेतना और लक्ष्य, साधन और साध्य में

पर्याप्त समानतायें मिलती हैं। इन दोनों परम्पराओं में दृश्य विरोध के बावजूद अन्तर्निहित समानता विद्यमान है। प्रस्तुत इकाई में इसी समानता के अध्ययन के साथ दोनों परम्पराओं में एक दूसरे के सिद्धांतों के समावेशन की भी समझ विकसित होगी।

4.2 वैदिक धर्म का अर्थ एवं स्वरूप

ऋग्वेद में धर्म को निश्चित नियमन व्यवस्था या सिद्धान्त या आचरण –नियम के रूप में वर्णित किया गया है। धर्म का यही रूप वाजसनेयी संहिता में भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद की ही कई अन्य ऋचाओं में धर्म को धार्मिक विधियों, धार्मिक क्रियाओं तथा संस्कारों के रूप में वर्णित किया गया है। अथर्ववेद में धर्म को नागरिकों के कर्त्तव्य कर्म के रूप में परिभाषित किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद में धर्म की तीन प्रकार की शक्तियाँ स्वीकार की गयी हैं, जिनमें यज्ञ, अध्ययन एवं दान को सम्मिलित किया गया है।

पूर्व मीमांसा सूत्र में जैमिनि ने धर्म को वेद–विहित प्रेरक लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है। उनके अनुसार वेदों में वर्णित अनुशासन के अनुरूप जीवनयापन करना ही धर्म है। धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया–संस्कारों से है, जिनसे आनंद की प्राप्ति होती है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित हैं। वैशेषिक सूत्र में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि धर्म वही है जिससे आनंद एवं निःश्रेयस की सिद्धि हो।

स्मृतियों में धर्म को समझाने का विशेष प्रयत्न दिखता है। गौतम धर्मसूत्र ने स्वीकार किया है कि वेद धर्म का मूल है। इसी प्रकार वसिष्ठ धर्म सूत्र में भी वेद को धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में कहा गया है कि जो धर्मज्ञ वेदों को जानते हैं, उनका मत ही धर्म के रूप में प्रमाण है। मनुस्मृति के अनुसार धर्म के पाँच उपादान हैं– सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मतुष्टि। याज्ञवलक्य स्मृति में भी यही बात कही गयी है– वेद, स्मृति, सदाचार अर्थात् भट्ट लोगों के आचार–व्यवहार, जो अपने को प्रिय लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न अभिकांक्षा या इच्छा ये ही परम्परा से चले आये हुये धर्मोपदान है।

ध्यातव्य है कि वेदों में स्पष्ट रूप से धर्म–विषयक विधियाँ प्राप्त नहीं होती। किन्तु उसके सम्बन्ध में निर्देश अवश्य पाये जाते हैं; जो कालांतर के धर्मशास्त्र–सम्बन्धी प्रकरणों को निर्देशित करते हैं। वेदों में लगभग पचास ऐसे स्थल है जहाँ विवाह, विवाह प्रकार, पुत्र प्रकार, संपत्ति–बँटवारा, प्राप्त स्त्री धन आदि विधियों का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धर्म के मूल उपादान हैं– वेद, स्मृतियाँ तथा परम्परा से चला आ रहा शिष्टाचार व सदाचार।

4.3 वैदिक धर्म के मूल सिद्धान्त

वैदिक धर्म का स्वरूप जो वेद से निःसृत होते हुये उपनिषदों, स्मृतियों, आरण्यक, ब्राह्मण ग्रन्थों आदि के द्वारा निर्मित और निश्चित हुआ उसके आधारभूत तत्व निम्न हैंः–

1. यज्ञ : निघण्टु में यज्ञ का अर्थ अनुकूलता, प्रकृति के साथ सहयोग, दान और देव पूजन कहा गया है। प्रकृति के साथ अनुकूलता का अर्थ है प्राकृतिक वस्तुओं, नदी, पहाड़, वन–उपवन, पशु–पक्षी और सभी प्राकृतिक संपदा की रक्षा और संवर्द्धन; वायु, जल पृथ्वी, आकाश आदि की सुरक्षा में यज्ञ सहायक हैं। यज्ञ में अग्नि प्रज्वलित कर विभिन्न प्रदार्थो की आहुति दी जाती है। मनु के अनुसार

अग्नि में दी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से मेघ उत्पन्न होते हैं, जिनसे वर्षा होती है। वर्षा होने से अन्न पैदा होता है। अन्न से प्रजा को पोषण प्राप्त होता है। इस प्रकार यज्ञ मनुष्य के जीवन और पोषण में सहायक हैं।

2. पुरुषार्थ : पुरुषार्थ का शाब्दिक अर्थ मनुष्य प्रयोजन से है। प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में चार प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति के निमित्त कर्म करना चाहिए, जो निम्न हैं— धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। इसी को पुरुषार्थ चतुष्टय भी कहा गया है। धर्म वह कर्तव्य है, जो लोक के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए व्यक्ति के लिए करणीय होता है। धर्म रक्षणीय है और रक्षित होकर वह लोक की रक्षा करता है। धर्म पुरुष को अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर प्रेरित करता है। धर्म, अर्थ और काम को नियंत्रित भी करता है। अर्थ मनुष्य की संपत्ति, भौतिक लाभ और सांसारिक उन्नति को इंगित करता है जिन्हें श्रम, व्यापार, व्यवसाय आदि के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन, विवरण और उपभोग की आर्थिक क्रियाएं इसी में समाहित हैं। काम मनुष्य की चाह, इच्छा या अभिलाषा है। मनुष्य की सभी कामनाएँ काम का ही रूप हैं। कामनाएँ इच्छा के रूप में अपने—अपने विषयों की ओर उन्मुख होने वाली इंद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। अतः कान, आँख, जीभ, नाक और त्वचा द्वारा अपने विषय में अनुरक्त होकर सुख प्राप्ति की प्रवृत्ति ही काम है। मोक्ष अंतिम पुरुषार्थ है वही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। धर्म, अर्थ एवं काम उसकी प्राप्ति के साधन हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार, मोक्ष 'मुच्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है छुटकारा पाना। वैदिक परम्परा मे ंनश्वरता को दुःख का कारण माना जाता है। जन्म—मरण, आवागमन, अविद्या, प्रपंच, नश्वरता इत्यादि से मुक्ति पाना ही मोक्ष है। मोक्ष एक आध्यात्मिक मूल्य है, जो संसार से मुक्ति दिलाता है।

3. आश्रम व्यवस्था : मनुष्य जीवन की सीमा 100 वर्ष निर्धारित करते हुये शास्त्रों ने उसे चार आश्रमों में बॉटा है और उसके कर्तव्य निर्धारित किये हैं। जन्म से लेकर 25 वर्ष तक की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इस कालखण्ड में विद्याध्ययन के द्वारा मनुष्य सांसारिक जीवन की योग्यता प्राप्त करता है। 25 वर्ष से 50 वर्ष तक की अवस्था गृहस्थ आश्रम के लिए निर्धारित की गई है, जिसमें मुनष्य विवाह कर संतानोत्पत्ति करता है, उनका लालन—पालन करता है, जीविकोपार्जन कर धन—संपत्ति इकट्ठा करता है। 50 वर्ष से 75 वर्ष तक की अवस्था में वानप्रस्थ आश्रम में रहना चाहिए। जिसका शाब्दिक अर्थ है वन की ओर प्रस्थान। इस कालखण्ड में मनुष्य को अपने परिवार—पुत्रादि के मोह से अलग होने का प्रयत्न करना चाहिए। सांसारिक कर्त्तव्यों को उनके लिये छोड़कर उन्हें केवल उचित मार्गदर्शन प्रदान करना चाहिए और जीवन्मुक्ति के लिये स्वयं को तैयार करना चाहिए और अध्यात्म की ओर अग्रसर होना चाहिए। 75 वर्ष से 100 वर्ष तक की अवस्था संन्यास के लिये है, जिसमें मनुष्य को सभी सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाना चाहिए। देह, परिवार, जाति, गोत्र, ग्राम आदि के आकर्षण, बंधन से मुक्त होकर स्वयं को मानवता के लिए समर्पित कर देना चाहिए। सभी सांसारिक आकर्षणों से विरक्त होकर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होना चाहिए।

4. संस्कार : संस्कार का अर्थ होता है, मल/विकार आदि को दूर कर शोधन कर मूल्यवत्ता प्रदान करने की क्रिया। मनुष्य जन्म के साथ पूर्व जन्म के संस्कार (प्रवृत्तियों) को लेकर उत्पन्न होता है। उनसे मुक्ति दिलाने के लिए और नवीन

शुभ कर्मों की छाप डालने के लिये जो कर्मकाण्ड करते हैं, उसे ही संस्कार कहते हें। स्मृतियों में सोलह संस्कारों का वर्णन किया गया है, जो माता के गर्भ में आने से लेकर मृत्युपर्यत तक किये जाते हैं।

5. पूजा व्रत, उपवास, तीर्थ यात्रा आदि : आराध्य/इष्ट देव की पूजा का विधान भारतीय धर्म परम्परा की विशेषता है। स्नान, से शरीर की और संतोषादि से अंतः करण की शुद्धि के पश्चात् इष्ट/आराध्य के विग्रह की या प्राण/प्रतिष्ठित पार्थ की पंचोपचार वा षोडशोपचार यानि पाँच अथवा सोलह पदार्थों से/प्रकार से पूजा की जाती है। व्रत का अर्थ है संकल्प या दृढ़ निश्चय करना। वराह पुराण में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और सरलता को मानसिक व्रत कहा गया है। एक भुक्त, सकल व्रत, निराहारादि को कायिक व्रत तथा मौन एवं हित, सत्य एवं मृदु भाषण को मानसिक व्रत कहा गया है। किसी भी इन्द्रिय को उसके सुख से वंचित करना उपवास है। आँख से वस्तु (जैसे–नग्न स्त्री) न देखना, नाक से निषिद्ध वस्तु न सूँघना, त्वचा से निषिद्ध वस्तु न स्पर्श करना, जीभ से निषिद्ध वस्तु (मास–मंदिरा आदि) न करना, मन से निषिद्ध कर्म–हिंसा चोरी आदि न सोचना, करना आदि ही सच्चे उपवास हैं। जो साधन, वस्तु या स्थान व्यक्ति को बार–बार जन्म लेने से मुक्ति दिला दे, वह तीर्थ है। तीर्थ दो प्रकार के होते हैं– जड़ तथा जंगम तीर्थ। जड़ तीर्थ जिनमें गति नहीं है, जैसे स्थान, नदी, तट, संगम, सरोवर आदि जबकि जंगम तीर्थ वे हैं जो गति कर सकते हैं– इनमें माता, पिता, गुरु, अवतारी पुरूष आदि आते हैं। जड़ तीर्थों की यात्रा ही तीर्थ यात्रा कहलाती है।

4.4 श्रमण परम्परा का स्वरूप

बौद्ध धर्म तथा जैनधर्म निरीश्वरवादी धर्म के रूप में भारत में विकसित हुये, जो किसी परम रक्षक, सर्जनकर्ता या संहारकर्ता ईश्वर/देवता में विश्वास नहीं करते हैं। इसके बजाय वे मनुष्य जीवन को शुद्धतापूर्वक जीने पर बल देते हैं। बौद्ध धर्म का आरंम गौतम बुद्ध द्वारा अपने शिष्यों को मध्यम मार्ग के उपदेश से हुआ, जिसमें वे अतिशय त्याग और अतिशय भोग को त्याग कर मध्य मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। बौद्ध धर्म में संसार के सम्बन्ध में चार आर्य–सत्यों का वर्णन है, जो निम्न हैं–संसार में दुःख है, दुःख के कारण–समुदाय हैं, दुःख के निवारण–निरोध हैं, दुःख–निवारण (निरोध) के मार्ग हैं। इस दुःख–निवारण के मार्ग के रूप में बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग सुझाया जो निम्न हैं–सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बौद्ध धर्म में भिक्षु, भिक्खु बनने और बौद्ध बिहार में रहने को महत्त्व दिया गया। भिक्खु संसार से निर्लिप्त होता है; संन्यासी की तरह जीवन यापन करता है। जैन धर्म का उदय 24वें तीर्थंकर महावीर स्वामी के उपदेशों के साथ हुआ। जैन धर्म में त्रिरत्न यानि तीन मूल सिद्धांतों की महिमा वर्णित है जिसमें सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् कर्म को गिना जाता है। जैन धर्म में जीवनयापन में पाँच सिद्धांतों/आचरण के पालन पर बल दिया जाता है, जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप में हैं।

बौद्ध एवं जैन दोनों ही परम्पराओं में संन्यास पर बल, निरीश्वरवाद, आत्मज्ञान, आत्म–विजय एवं आत्म–साक्षात्कार पर बल दिया गया है। श्रमण को तीन प्रमुख अर्थ माने गये हैं–प्रथम 'श्रम'–जिनके अनुसार व्यक्ति अपना विकास अपने ही परिश्रम द्वारा कर सकता है। सुख–दुख, उत्थान–पतन आदि के लिये वह स्वयं जिम्मेदार है।

'शमन' यानि अपनी विषय वृत्ति को शांत रखना या उसका विरोध करना तथा समन यानि समताभाव अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना और सभी के प्रति सम्मान रखना। इस प्रकार श्रमण परम्परा का मूल आधार श्रम, शम एवं सम इन तत्त्वों पर आश्रित है।

4.5 श्रमण परम्परा की प्रमुख धाराएँ

जैन धर्म श्रमण परम्परा का प्राचीन धर्म है, जिसके पहले तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन वेद में आया है। जैन धर्म कालांतर में दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित हो गया—श्वेतांबर तथा दिगंबर। दिगंबर शाखा के अनुयायी विवस्त्र रहते हैं, वे केवल गिरे हुये मोरपंख से बनी झाड़ू और पानी के लिये तुंबा अपने पास रखते हैं। दिगंबर परंपरा के अनुसार तीर्थंकर महावीर ने कभी विवाह नहीं किया। आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद महावीर भूख, प्यास, नींद जैसी मानवीय गतिविधियों से मुक्त हो गये थे। दिगंबर परंपरा दो मुख्य आदेशों—मूल संघ और काष्ठ संघ में बँटी है। मूल संघ को आचार्य अर्हदबली ने चार प्रमुख समूह नंदी संघ, देव संघ, काष्ठ संघ और सिंह संघ में बाँटा था। काष्ठ संघ की उत्पत्ति लोहाचार्य के द्वारा हुई, जिन्हें यह परंपरा दिगंबर परम्परा में आचारांग को जानने वाले अंतिम व्यक्ति के रूप में स्वीकार करती है। काष्ठ संघ की शाखाओं में नंदितत, मथुरा संघ, बगदा गनह और लता—बगड़ा सम्मिलित है। दिगंबर तेरापंथ उप संप्रदाय का गठन अमरा भौसागोदिका और उनके पुत्र जोधराज गोदिका ने किया। इन्होंने कई देवी—देवताओं की पूजा का विरोध किया। पूजा में फूलों का उपयोग न करना इसी पंथ की प्रथा थी जो पूरे उत्तरी भारत में प्रसरित हो गयी। तेरह बिंदुओं पर जैनधर्म के पुरोहित वर्ग भट्टकार से विरोध रखते थे, इसलिये इन्हें तेरापंथ कहा गया। वे जैन जो इन तेरह प्रथाओं को पालन करते रहे उन्हें बिसपंथी कहा जाता है। तारण पंथ की स्थापना तारण स्वामी ने की। ये मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं रखते बल्कि तारण स्वामी द्वारा लिये गये ग्रंथों की प्रार्थना करते हैं।

श्वेतांबर सम्प्रदाय के तपस्वी सफेद रंग का वस्त्र पहनते हैं और बात करते समय अहिंसा का पालन करने के लिये अपने मुँह को सफेद वस्त्र से ढँक लेते हैं। श्वेताम्बर जो मूर्तिपूजा करते हैं और मंदिरों में या आस—पास रहते हैं, उन्हें मूर्तिपूजक कहते हैं और जो मूर्तिपूजा नहीं करते और एक निश्चित मठवासी बैठक स्थल पर आध्यात्मिक कार्य करते हैं, उन्हें स्थानक वासी कहते हैं। मूर्तिपूजक संप्रदाय के भिक्षुओं को छः आदेशों या गच्चा में विभाजित किया गया है, जो निम्न हैं—खरतारा गच्चा, अंकालागच्चा, त्रिस्तुतिक गच्चा, तप गच्चा, विमला गच्चा एवं पार्श्वचन्द्र गच्चा।

बौद्ध धर्म दो प्रमुख संप्रदायों हीनयान और महायान में विभाजित हुआ। हीनयान बौद्ध धर्म की सबसे पुरानी और पारंपरिक शाखा है जिसके भिक्खु बुद्ध के सिद्धांतों—चार आर्य सत्य और अष्टांग मार्ग का पालन करते हैं। यह संप्रदाय व्यक्तिगत मुक्तियों, व्यक्तिगत ज्ञानों पर बल देता है, जिसे प्राप्त लेने पर व्यक्ति 'अर्हत' हो जाता है। यह संप्रदाय मठवासी जीवन और त्याग पर बहुत बल देता है। यह संप्रदाय बौद्ध ग्रंथों को महत्त्व देता है विनय पिटक—जिसमें मठवासी जीवन के नियम और कानून हैं। सुत्त पिटक—जिसमें बुद्ध की शिक्षाएँ हैं और अभिधम्म पिटक, जिसमें बुद्ध की शिक्षाओं का विस्तृत और दार्शनिक विश्लेषण किया गया है। हीनयान संप्रदाय को ही 'थेरवाद' यानि 'बुजुर्गों का सिद्धान्त' के रूप में भी जाना जाता है।

महायान संप्रदाय सभी प्राणियों के कल्याण के लिए ज्ञान प्राप्त करने पर बल देता है। यह संप्रदाय ग्रंथों की और सूत्रों की एक विशाल शृंखला को मान्यता देता है, जिनमें ध्यान का अभ्यास, आत्म ज्ञान का मार्ग आदि विभिन्न विषयों पर शिक्षायें शामिल हैं।

महायान के सिद्धांतों में से एक शून्यता की अवधारणा है जिसका अर्थ है कि सभी घटनाएँ अंतर्निहित अस्तित्व से खाली हैं यानि वे स्वाभाविक रूप से अस्तित्व में नहीं आती बल्कि अन्य कारणों तथा स्थितियों पर निर्भरता के कारण उत्पन्न होती हैं। महायान संप्रदाय मानता है कि आत्मज्ञान का कोई एक मार्ग नहीं है और अलग–अलग व्यक्तियों के लिए अलग–अलग मार्ग उपयुक्त हो सकते हैं। स्वयं बुद्ध ने अलग–अलग लोगों को उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं और क्षमताओं के आधार पर अभ्यास के विभिन्न तरीके सिखाये है। इस मत में करुणा पर बहुत बल दिया गया है जिसके अनुसार सभी प्राणी पीड़ित है और बोधिसत्व पंथ में दूसरों की पीड़ा को कम करने के लिये कार्य किया जाता है। बोधिसत्व पंथ में प्रतिज्ञाओं का अभ्यास और छः पारमिताओं / पूर्णताओं की खेती शामिल है।

बौद्ध धर्म के अन्य संप्रदाओं में वज्रयान और सहजयान सम्मिलित हैं। वज्रयान शाखा में तांत्रिक अनुष्ठानों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने पर बल दिया जाता है। इन तांत्रिक अनुष्ठानों में भैरवी के साथ युगलसाधना और पंचमकार (मांस / मदिरा, मत्स्य, मैथुन, एवं मुद्रा), सोचना आदि पर बल दिया गया है। जबकि सहजयान में सहज जीवन पर बल दिया गया है। महायान की अन्य शाखाओं में जेन बौद्ध धर्म आता है, जो ग्रंथों के अध्ययन या शिक्षकों पर निर्भरता के बजाय ध्यान और आत्मज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभव पर बल देता है। जेन धर्म दिन–प्रतिदिन के जीवन में जागरूक रहने पर बल देता है। महायान की एक अन्य शाखा शुद्ध भूमि बौद्ध धर्म है। इसमें शुद्ध भूमि में पुनर्जन्म प्राप्त करने के साधन के रूप में अमिताभ बुद्ध के नाम के जप पर बल दिया जाता है। शुद्ध भूमि, शुद्ध चेतना का एक क्षेत्र है जहाँ आत्म ज्ञान प्राप्त करना सरल है। इसमें विश्वास और भक्ति पर अतिशय बल है अतः इसे आम लोगों के लिए ज्ञानोदय के सहज मार्ग के रूप में देखा जाता है।

4.6 वैदिक एवं श्रमण परम्परा का सह–अस्तित्व

भारतीय समाज में वैदिक एवं श्रमण परम्पराएँ अति प्राचीन काल से साथ–साथ विद्यमान रही हैं। जैन धर्म में कुल 24 तीर्थंकरों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का वर्णन वैदिक साहित्य एवं पुराणों में प्राप्त होता है जबकि चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी, 5वीं शताब्दी ई0 पू0 में हुये। इस तथ्य से यह निश्चित हो जाता है कि इस पूरे कालखण्ड में जैन परम्परा किसी न किसी रूप में समाज में विद्यमान रही और वैदिक परम्परा के साथ ही समाज में प्रचलित रहीं। परवर्ती काल में भारतीय शासकों ने श्रमण परम्परा का अनुगमन किया, उनके सिद्धांतों को मान्यताएं दीं और उनके प्रचार–प्रसार के लिये प्रयत्न किये। चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन काल के अंतिम समय में जैन धर्म का अनुयायी बन गया था जबकि अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। यह इतिहास विदित तथ्य है कि अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये अत्यधिक प्रयत्न किये और विदेशों तक परिव्राजक भेजे, बुद्ध के उपदेशों को जगह–जगह शिलालेखों के रूप में उत्कीर्ण करवाया। इसके बावजूद इन शासकों ने वैदिक धर्म और उसकी परम्परा को महत्त्व दिया और प्रजा जो वैदिक परंपरा का पालन करती थीं, को संरक्षण दिया। इस प्रकार भारत भूमि पर वैदिक एवं श्रमण परम्पराएँ कई सहस्र वर्षों से एक साथ विद्यमान हैं और सतत प्रवाहमान हैं।

4.7 समावेशीकरण की प्रक्रिया और तत्त्व

कुछ विद्वानों का मानना है कि श्रमण परम्परा, वैदिक परम्परा के अतिचार के विरोध में उपजी और इसमें वैदिक कर्मकाण्डों, जीवन मूल्यों और पद्धतियों का विरोध किया गया है। जबकि वास्तविकता यह है कि श्रमण परम्परा भी प्रकारांतर से विभिन्न वैदिक परंपराओं की आधारशिला पर ही विकसित हुई है। वैदिक पंरपरा के कतिपय मूल्यों पर उसमें अतिशय बल दिया गया है और कुछ मूल्यों के महत्त्व को कम कर दिया गया है। पाठ में आगे इन्ही बिन्दुओं पर विचार किया जायेगा।

पुरुषार्थ चतुष्टय : वैदिक धर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य संतुलन स्थापित किया गया है। पुरुषार्थ–चतुष्टय में अर्थ और काम को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। यद्यपि वे धर्म से नियंत्रित होते हैं किंतु वे अंतिम पुरूषार्थ मोक्ष (निवृत्ति) की प्राप्ति में सहायक ही सिद्ध होते हैं। श्रमण पंरपरा से यदि हम तुलना करें तो इसमें परत्परा में निवृत्ति पर बल दिया गया है और प्रवृत्ति को त्यागने अथवा उसके नियंत्रण की अपेक्षा की गयी है। ध्यान रहे वैदिक परंपरा भी प्रवृत्ति पर नियंत्रण/अनुशासन रखती है। श्रमण परंपरा अपेक्षया प्रवृत्ति पर कठोर नियंत्रण रखना चाहती है, जबकि वैदिक परंपरा में थोड़ा लचीलापन है।

वैदिक परंपरा में 'मोक्ष' को ही मनुष्य जीवन का साध्य माना गया है, जिसका अर्थ लौकिक बंधनों से छुटकारा पाना, आत्मा के स्वरूप को जान लेना, अद्वैतावस्था की प्राप्ति आदि है। श्रमण परंपरा भी जीवन के उद्देश्य के रूप में आत्मज्ञान को ही स्वीकारती है। बौद्ध परंपरा में इसे 'निर्वाण' के रूप में देखा गया है। निर्वाण वह अवस्था है जहाँ दुःखों और कष्टों की अग्नि शांत कर दी गयी है। जैन धर्म में भी 'निर्वाण' का यही अर्थ है। जैन धर्म के अनुसार मोक्ष अवस्था एक ऐसी अवस्था है जहाँ न दुःख है न सुख है न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है, न जन्म है। जहाँ न इन्द्रियाँ हैं, न शरीर है, न चिन्ता है, न किसी भी प्रकार का ध्यान है। इसके विपरीत मोक्ष अवस्था एक ऐसी अवस्था है जहाँ केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख, केवल वीर्य, अमूर्तता, अस्तित्व और संप्रदशत्व के गुण होते हैं। इस प्रकार ध्यान से देखे तो मोक्ष की अवधारणा में वैदिक और श्रमण परंपरा में कोई वास्तविक विरोध नहीं है। दोनों ही परंपराओं में मोक्ष का स्वरूप लगभग समान ही दिखता है।

आश्रम व्यवस्था : वैदिक परंपरा में आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत सन्यास को जीवन के अंतिम चरण में अपनाया गया है, जबकि श्रमण परम्परा में संन्यास को जीवनचर्या/पद्धति के रूप में स्वीकार किया गया है। बौद्ध धर्म के भिक्खु और जैन धर्म के श्रावक वस्तुतः सन्यासी ही हैं, जिन्होंने लोक जीवन से वैराग्य ले लिया है। जैन धर्म में इन्द्रिय निग्रह पर अतिशय बल दिया गया है, जिसे ब्रह्मचर्य के समतुल्य माना जा सकता है। जैन श्रावक के भोजन, शयन, लोक आचरण तथा बौद्ध भिक्खु की जीवन शैली और सन्यासी की जीवन शैली तत्त्वत एक ही है। ये मन, वचन और कर्म से संयमित रहते है, राग–द्वेष, मान–अपमान की अपेक्षा करते हुये मोक्ष/निर्वाण के लिए सतत् साधनारत् रहते हैं। ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन, इन्द्रिय निग्रह, धन–संपत्ति आदि से विरक्ति, गृहस्थ जीवन का त्याग, निग्रह आदि विषयों को ये सभी अपने जीवन में अपनाते हैं।

जीवन मूल्य : जैन धर्म के मूल सिद्धांतों में पंच महाव्रत सम्मिलित हैं। ये पंच महाव्रत हैं– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जैन धर्म में ये नकारात्मक रूप में वर्णित हैं और कहा गया है कि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से निव्रसिया

विरति ही व्रत है। यह ध्यान देने की बात है ये ही पंच व्रत वैदिक परम्परा में भी इसी रूप एवं इसी क्रम में वर्णित है। वैदिक परम्परा के योग दर्शन में अष्टांग योग वर्णन है, जिसके अनुसार योग के आठ अंग हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। इनमें समाधि मनुष्य जीवन का अंतिम लक्ष्य है जो मोक्ष के समतुल्य है और शेष उसे प्राप्त करने के चरण हैं। यम जो अष्टांग योग का पहला अंग या चरण है, पाँच प्रकार के बताये गये हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इसी प्रकार बौद्ध धर्म में भी व्रतों का निरूपण नकारात्मक ही है और उन्हें भी विरतियाँ ही कहा गया है।

ये क्रमशः इस प्रकार है– पानातिपात वेरमणी, अदक्षादान वेरमणी अबह्मचरिया वेरमणी, मूसावाद वेरमणी सुरामैरेयमद्यप्रमादस्थान वेरमणी। पानातिपात वेरमणी–किसी भी जीव के प्राण हनन का निषेध करती है (अहिंसा)। अदसादान वेरमणी जो वस्तुएँ प्राप्त नहीं की गई हैं, उनसे बचने को कहती है, अस्तेय। अब्रह्मचरिया वेरमणी का अर्थ है– काम मिथ्याचार से बचाना (ब्रह्मचर्य) मूसावाद वेरमणी का अर्थ है–झूठ न बोलना (सत्य) जबकि सुरा मैरेयमद्यप्रमाद स्थान वेरमणी का अर्थ ऐसे स्थानों पर न जाने से है, जहाँ शराब का सेवन और प्रमाद युक्त मनोरंजन कराया जाता हो। इस प्रकार वैदिक परम्परा और श्रमण परम्परा में अन्तर्निहित साम्यता को हम सरलता से देख सकते हैं।

पुनर्जन्म : वैदिक परंपरा पुनर्जनम पर विश्वास करती है, जिसके अनुसार आत्मा जब तक सांसारिक विषय–वासनाओं में लिप्त रहते हुये कर्म करती है, तो उन कर्मो से प्राप्त सुख वा दुःख को भोगने के लिये उसका बार–बार इस धरती पर जन्म होता रहता है। जब आत्मा अपने स्वभाव (मूल प्रकृति) को जान जाती है, संसार की आसक्ति से विरत हो जाती है, तो वह जन्म–मरण के बंधन से मुक्त हो जाती है, यानि उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। बौद्ध परम्परा में भी पुनर्जन्म के सिद्धांत को मान्यता दी गई है। यह बताया गया है कि पूर्व जन्म के संस्कार के साथ आत्मा नया शरीर धारण करती है। इस प्रकार पूर्ण ज्ञान (निर्वाण) की प्राप्ति के पूर्व आत्मा को कई शरीर धारण करने पड़ते हैं। जातक कथाओं में भगवान बुद्ध के लगभग 547 जन्मों का विवरण प्राप्त होता है। जातक कथाएं सुत्तपिटक के अंतर्गत खुद्दक निकाय के दसवें भाग में वर्णित हैं, जिनमें प्रमुख हैं–वानरिन्द जातक, विलाखत जातक, सीहयम्म जातक, सुंसुमार जातक और सन्धिभेद जातक। इन कथाओं में भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म में मछली, बंदर, सिंह, हाथी, वृक्ष, घोड़ा, भैंसा, तपस्वी, राजा, देवता आदि रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रत्येक जन्म में बुद्ध ने ज्ञान का कुछ अंश प्राप्त किया और इस प्रकार प्रत्येक जन्म के संचित ज्ञान के कारण ही वे आखिरी जन्म में बुद्धत्व की प्राप्ति कर सके। ठीक इसी प्रकार जैन धर्म भी पुनर्जन्म के सिद्धांत को पूर्णतया स्वीकार करता है। जैन धर्म के अनुसार आत्मा आंतरिक रूप से शुद्ध होती है, जिसमें अनंत ज्ञान, अनंत धारणा, अनंत आनंद और अनंत ऊर्जा के गुण होते हैं। यह आत्मा संसार में फंसी होती है और कर्म से प्रदूषित होती है (लेश्या)। जैन सिद्धांत में कर्म प्रवाह (आश्रव) और बंधन (बंध) के विभिन्न कारणों की भी व्याख्या है। अपने कर्मो के आधार पर आत्मा विभिन्न अवस्थाओं में पुनर्जन्म लेती है। तपस्या और आचरण की शुद्धता के माध्यम से कर्म को संशोधित करना और उससे मुक्ति प्राप्त करना संभव है, तीर्थंकर–नाम–कर्म एक विशेष प्रकार का कर्म है, जिसका बंधन एक आत्मा को तीर्थंकर की सर्वोच्च स्थिति तक ले जाता है।

अवतारवाद : वैदिक परम्परा जो बाद में पुराणों के रूप में विकसित हुई, में अवतारवाद को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। इसके अनुसार जब–जब इस धरती पर पाप कर्म बढ़

जाते हैं, आसुरी प्रवृत्ति दैवीय प्रवृत्ति पर हावी हो जाती है, साधु पुरुषों का जीवन कष्टमय हो जाता है, तब–तब असुरों का संहार करने और विश्व में धर्म की व्यवस्था कायम रखने के लिये ईश्वर (ब्रह्म के एक अंश) का इस धरती पर अवतार होता है। सनातन धर्म में त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश का महत्त्व सर्वज्ञात है, जो क्रमशः सृष्टि के सृजनकर्ता पालनकर्ता तथा संहारकर्ता देवता हैं। इन सभी के अवतारों का वर्णन पुराणों में हुआ है। विष्णु पुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण में ब्रह्मा के सात अवतारों का वर्णन है जो ये हैं– महर्षि वाल्मीकि, महर्षि कश्यप, महर्षि बहेस, चंद्रदेव, बृहस्पति, कालिदास, महर्षि खट एवं जामवंत। इसी प्रकार भगवान शिव के भी कई अवतारों का उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में प्राप्त होता है। भगवान शिव के 28 अवतार हैं, जिनमें 10 प्रमुख अवतारों का वर्णन शिवपुराण में प्राप्त होता है। जिनमें महाकाल, तारा, बाल भुवनेश, षोडश भैरव, छिन्नमस्तक, धूम्रवान, बगंलामुखी मातंग और कमल नामक अवतार आते हैं। शिव के ये दसों अवतार तंत्र शास्त्र से सम्बन्धित हैं और अद्भुत शक्तियों को धारण करने वाले है। इन के अतिरिक्त भगवान शिव के ग्यारह रुद्रावतार भी माने गये हैं, जो कपाली, पिंगल, भीम विरूपाक्ष, विलोहित शास्ता, अजपाद, आपिर्बुध्य, शम्भू, चण्ड तथा भव हैं। इनके अतिरिक्त भगवान शिव के अंशावतारों में दुर्वासा, हनुमान, महेश, वृषभ, पिप्पलाद, द्विजेश्वर, हंस रूप, अवधूतेश्वर, भिक्षुवर्य, सुरेश्वर, ब्रह्मचारी, सुनटनतर्क, द्विज, अश्वत्थामा, किरात और नतेश्वर आदि अवतारों का उल्लेख भी शिवपुराण में प्राप्त होता है। ठीक इसी प्रकार भगवान विष्णु के भी 24 अवतारों का वर्णन श्रीमद्भागवत में हुआ है, जिनके नाम सनकादि, पृथु, वाराह, यज्ञ (सुयज्ञ), कपिल दत्तात्रेय, नर–नारायण, ऋषभदेव, हयग्रीव, मत्स्य कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, गजेन्द्र–मोक्षदाता, नरसिंह, वामन, हंस, परशुराम, राम, वेदव्यास, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि हैं। इनमें से भी 10 अवतार प्रमुख हैं जिनके नाम गरुड़ पुराण में इस प्रकार दिये गये हैं–मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि, जिनमें कल्कि भविष्य के अवतार हैं।

इस सूची में यह बात महत्त्वपूर्ण एवं ध्यान देने योग्य है कि जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध दोनों को विष्णु के अवतारों के रूप में पुराणों में मान्यता दी गई गई है। बौद्ध धर्म के एक ग्रंथ बुद्धवंश जो कि सुत्तपिटक के खुद्दक निकाय का एक हिस्सा है, के अनुसार अब तक 28 बुद्ध हो चुके हैं– तान्डांकर बुद्ध, मोद्यांकर बुद्ध, सारांकर बुद्ध, दीपांकर बुद्ध, कोण्डाना बुद्ध मंगला बुद्ध, सुमन बुद्ध, रेवत बुद्ध, सोमित बुद्ध, अनोमादस्सी बुद्ध, पद्म बुद्ध, नारद बुद्ध, पदुमुक्षरा बुद्ध, सुमेद्या बुद्ध, सुजाता बुद्ध, पियदस्सी बुद्ध, अठदस्सी बुद्ध, द्यम्मादास्सी बुद्ध, सिद्द्धाथा बुद्ध, तिस्सा बुद्ध, द्यम्मादासी बुद्ध, फुस्सा बुद्ध, विपस्सी बुद्ध, सिखी बुद्ध, वेस्सामु बुद्ध, ककुसंघा बुद्ध, कोणांगमन बुद्ध, कस्सप बुद्ध और अंतिम 28 वें गौतम बुद्ध। इसी प्रकार भविष्य के (29 वें) बुद्ध के रूप में मैत्रेय (मेतेय्य) बुद्ध का वर्णन प्राप्त होता है।

अमिताभ सूत्र और कमल सूत्र जैसे ग्रंथो में उन्हें अजित कहा गया है। ठीक इसी प्रकार जैन धर्म में भी 24 तीर्थकरों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनके नाम निम्नवत् हैं– ऋषभनाथ, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ स्वामी, पुष्पदंत (उविद्यिनाथ) शीतलानाथ, श्रेयांशनाथ, वसुपूज्य स्वामी, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरणनाथ, मल्लिनाथ, मुनि सुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि श्रमण परम्परा में जिन कई बुद्धों या तीर्थकरो का उल्लेख प्राप्त होता है वे सनातन परम्परा में वर्णित एक ही देवता के अवतार नहीं है, इन सभी तीर्थकरों या बुद्धों का

व्यक्तित्व अलग है। किंतु सनातन परम्परा और श्रमण परम्परा दोनों में ही अवतार के उद्देश्य समान हैं– धर्म की स्थापना, आत्माओं का उद्धार आदि।

व्रत और उपवास : सनातन धर्म में व्रत और उपवास का अत्यंधिक महत्त्व है। मासिक व्रतों में पूर्णिमा, मास शिवरात्रि आदि, पाक्षिक व्रतों में एकादशी आदि, साप्ताहिक व्रतों में सोमवार, मंगलवार, बृहस्पतिवार, शुक्रवार आदि के अतिरिक्त विशेष माहात्म्य के व्रतों में हरितालिका तीज, गणेश चतुर्थी जीवित्पुत्रिका, सूर्य षष्ठी (छठ) करवा चौथ आदि व्रत आते हैं, जिनमें लोग यथाविधान उपवास रखते हैं और अधिष्ठाता देवता की पूजा करते हैं। श्रमण परम्परा में भी उपवास का महत्त्व इसी प्रकार है। बौद्ध धर्म में मठवासी दोपहर के भोजन के पश्चात भोजन नहीं करते और इस अवधि में ध्यान या सूत्र जाप करते हैं। इसके अतिरिक्त महायान संप्रदाय में तीन दिन का उपवास (साझाई) छः दिन का उपवास (लियुसाई) और एक लंबा उपवास (चांगझाई) जो पहले, पाँचवें और नवें महीने में लगातार मनाया जाता है। जापानी बौद्ध संप्रदाय तेंदाई में कैहोग्यो उपवास–नौ दिनों का व्रत भी रखा जाता है। जैन धर्म में भी कई प्रकार के उपवास का वर्णन प्राप्त होता है। चौबिहार उपवास में अन्न–जल नहीं ग्रहण किया जाता, तिविहार उपवास में सूर्यास्त से तीसरे दिन सूर्योदय तक (36 घंटे) भोजन का त्याग किया जाता है।

अथाई उपवास में लगातार 8 दिनों तक केवल उबला हुआ पानी ग्रहण, कबजा नवाई में लगातार 9 दिनों तक केवल उबला हुआ पानी ग्रहण, सोलभायु 16 मासक्षमण पूरे एक माह तक लगातार केवल अन्न या अन्न–जल ग्रहण दोनों का त्याग किया जाता है। इनके अतिरिक्त महान उपवासों में वर्षीय उपवास आता है जिसमें 13 चंद्र महीनों और लगातार तेरह दिनों तक साधक एक दिन छोड़कर सूर्योदय और सूर्यास्त के मध्य ही भोजन ग्रहण करता है। जैन नैतिक आचार संहिता द्वारा निर्धारित अंतिमव्रत सल्लेखना है, जिसमें जैन तपस्वी अपने जीवन के अंत में भोजन और तरल पदार्थो का सेवन धीरे–धीरे कम करते जाते है। इसे संलेहना, संथारा, समाधि भरण या संन्यास मरण भी कहते हैं क्योंकि इसमें अंत में जैन मतावलंबी अन्न–जल का पूर्णतया त्याग कर देते हैं और इस प्रकार स्वयं मृत्यु का वरण करते हैं।

वर्षा ऋतु के चार मास को सनातन एवं श्रमण परम्परा में विशेष महत्त्व प्राप्त है। सनातन परम्परा में आषाढ़ शुक्ल एकादशी को देवशयनी एकादशी कहा जाता है। मान्यतानुसार इस दिन सृष्टि के पालनकर्ता देव विष्णु योगनिद्रा में चले जाते हैं। इन दिनों में भगवान शिव सृष्टि की देख–रेख करते है, इसीलिए श्रावण (सावन) मास में भगवान शंकर की पूजा का विशेष महत्त्व है। कार्तिक शुक्ल पक्ष एकादशी को देवोत्थान एकादशी या प्रबोधिनी एकादशी कहा जाता है और इस दिन देव विष्णु अपनी निद्रा त्यागते हैं। इसीलिये सभी मंगल कार्य इस तिथि के बाद ही किये जाते हैं। यह चातुर्मास जैन धर्म में भी विशेष महत्त्व प्राप्त हैं। वे जैन मतावलंबी जो निरंतर भ्रमण करते रहते हैं, वे वर्षाकाल के इन चार महीनों में कही एक स्थान जैन मठ, मंदिर आदि में और लोगों को प्रतिदिन उपदेश देते है। भद्रनाड़ द्वारा लिखित कल्पसूत्र के तृतीय खंड में चातुर्मास व्रत के निर्देश दिये गये है। बौद्ध धर्म के थेरवाद भिक्खुओं द्वारा भी वर्षाकाल में तीन महीनों का वर्षा–वास किया जाता है, जिसे वस्सा कहा जाता है, जो असल्हा पूजा के साथ प्रारंभ होता है।

इसी चातुर्मास में सनातन परम्परा के त्योहार गुरुपूर्णिमा, रक्षावंश विज्यदशमी, दीपावली आदि मनाये जाते है और कई महत्वपूर्ण व्रत गणेश चतुर्थी, हरियाली तीज, हरितालिका तीज, बहुला, सूर्यषष्ठी छठ, जीवित्पुत्रिका आदि इसी समय रखे जाते हैं। इसी प्रकार

जैन धर्म का अति महत्त्वपूर्ण पर्व पर्यूषण मनाया जाता है, जो भाद्रपद शुक्ल पंचमी से आरंभ होता है। दिगंबर जैन 10 दिन के लिये दशलक्षण व्रत करते हैं जबकि श्वेतांबर आठ दिन का त्योहार मनाते है। यह पर्व संवत्सरी या क्षमावाणी के साथ समाप्त होता है। दिगंबर जैन इसे दास लक्षण धर्म कहते हैं क्योंकि इन दस दिनों में वे दस धार्मिक गुण जिनका उल्लेख जैन गंथ तत्वार्थ सूत्र में किया गया हैं, का अभ्यास एवं पालन करते हैं। ये निम्नवत हैं:—उत्तम क्षमा (सहनशीलता), उत्तम मार्दव (सर्वोच्च शील) उत्तम आर्जव, उत्तम शौच (पवित्रता) उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकियन्स (अनासक्ति) तथा उत्तम ब्रह्मचर्य।

तीर्थयात्रा : सनातन एवं श्रमण परम्परा में तीर्थयात्रा को भी लगभग समान रूप से महत्त्व प्राप्त है। नदी तट, संगम, अवतारों से जुड़े स्थल, चार धाम— बद्रीनाथ, पुरी, रामेश्वरम, द्वारका, चार धाम—उत्तराखंड (गंगोत्री, यमुनोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ), द्वादश ज्योर्तिलिंग, इक्यावन शक्तिपीठ आदि सनातन धर्म के प्रमुख तीर्थ स्थल हैं, जहाँ की लोग यात्रा करते हैं। बौद्ध परंपरा में भी इसी प्रकार भगवान बुद्ध के जीवन से जुड़े महत्त्वपूर्ण स्थल लुंबिनी, बोध गया सारनाथ कुशीनगर आदि वे प्रमुख जगहे हैं, जहाँ संसार भर के बौद्ध आते है। बौद्ध धर्म के अन्य तीर्थस्थलों में श्रावस्ती राजगीर, सनकिस्सा, वैशाली आदि आते हैं, जो बुद्ध के जीवन से जुड़े हैं, इनके अतिरिक्त स्तूप, चैत्य, गुफा पगोडा विहार आदि जो सांची, एलोरा, भरहुत आदि जगहों पर विद्यमान है भी बौद्ध धर्म के प्रमुख तीर्थ स्थल हैं। इसी प्रकार जैन धर्म के प्रमुख तीर्थ स्थल तीर्थंकरों के जीवन से जुड़े स्थल तथा मंदिरों, मठों के रूप में भारत भर में मौजूद हैं। जैन धर्म के प्रमुख तीर्थ स्थल निम्न हैं— सम्मेद शिखर, (गिरिडीह, झारखंड यहाँ 20 तीर्थंकरों ने मोक्ष प्राप्त किया था), अयोध्या यहाँ 5 तीर्थंकरों आदिनाथ अजितनाथ, अभिनंदनाथ, उमतिनाथ और अनंतनाथ का जन्म हुआ था, वाराणसी यहाँ 4 जैन तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु श्रेयांसनाथ पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। कुंडलपुर, पावापुरी, नालंदा जहाँ महावीर स्वामी का क्रमशः जन्म तथा निर्वाण हुआ था, गिरनार पर्वत—जूनागढ़, गुजरात, नेमिनाथ को मोक्ष प्राप्त हुआ था, चंपापुरी तीर्थंकर—वासुपूज्य को मोक्ष प्राप्त हुआ था। श्रवणबेलगोला, बाहुबली की विशाल प्रतिमा है, जिसका हर 12 वर्ष बाद मस्तकाभिषेक होता है। चादखेड़ी, कोटा, राजस्थान में भूगर्भ में विशाल जैन मंदिर है दिलवाड़ा मंदिर माउंट आबू आदि हैं। जैन धर्म के मंदिर और तीर्थस्थल पूरे देश में फैले हैं और इनकी संख्या दस हजार से भी ज्यादा है।

4.8 सारांश

प्रिय विद्यार्थियो! इस इकाई में अपने वैदिक धर्म, जो बाद में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, पुराणों आदि के माध्यम से विकसित हुआ, के मूल तत्वों के बारे में जानकारी प्राप्त की। आपने श्रमण परम्परा जिसमें मूलतः बौद्ध एवं जैन धर्म आते हैं, की शाखाओं एवं प्रशाखाओं के बारे में जानकारी प्राप्त की। आपने जाना कि वैदिक परम्परा जिसे कई जगह सनातन परम्परा कहा गया में यज्ञ, पुरुषार्थ, आश्रम—व्यवस्था, संस्कार, पुनर्जन्म एवं अवतारवाद व्रत— उपवास एवं तीर्थयात्रा को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। इन्हें ही सनातन धर्म का मूलतत्त्व माना जा सकता है। जैन धर्म की मुख्यतः दो शाखाएँ—श्वेतांबर एवं दिगंबर तथा बौद्ध धर्म की मुख्यतः दो शाखाएँ—हीनयान एवं महायान हैं। श्रमण परम्परा और सनातन परम्परा दोनों ही भारत भूमि पर विकसित हुई और सहस्रों वर्षों तक एक साथ विकसित होती रहीं। इस सुदीर्घ साहचर्य और एक ही मूल (सामाजिक—भौगोलिक—सांस्कृतिक ऐक्य) के कारण इन दोनों परम्पराओं में कतिपय बिन्दुओं को छोड़कर अधिकांश सिद्धान्त एक समान हैं।

इस इकाई में आपने देखा कि जैन एवं बौद्ध धर्म में भी ब्रह्मचर्य एवं संन्यास पर अतिशय बल दिया गया है, जो सनातन परम्परा के चार आश्रमों में समाहित हैं। इसी प्रकार जैन एवं बौद्ध धर्म में सनातन परंपरा के पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म और मोक्ष (निर्वाण) का विस्तृत विवेचन और विश्लेषण किया गया है। जैन और बौद्ध धर्म में वर्णित धर्म (जीवन मूल्य) सनातन परंपरा के जीवन मूल्यों में समाहित हैं, विशेष रूप से योग दर्शन से उसकी अतिशय समानता है। बौद्ध और जैन धर्म भी सनातन परम्परा के अनुसार पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। जातक कथाओं में भगवान बुद्ध के लगभग 540 जन्मों का वर्णन किया गया है। सनातन परंपरा में ईश्वर के विभिन्न अवतारों का वर्णन है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवताओं के विभिन्न अवतारों का वर्णन अलग–अलग पुराणों में हुआ है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म में भी बुद्ध के 29 अवतारों का वर्णन है। जैन धर्म में वर्णित तीर्थकर भी अवतारी पुरुष के शील और गुण के अनुरूप हैं। एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य है कि गौतम बुद्ध और ऋषभदेव, जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर दोनों भगवान विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकृत हैं। दोनों परम्पराओं के साहचर्य और सहअस्तित्व का यह स्वतः प्रमाण है। अंत में आपने देखा कि व्रत–उपवास एवं तीर्थयात्रा को सनातन परंपरा के साथ ही श्रमण परंपरा में भी उतना ही महत्त्व दिया गया है।

हमें आशा है कि इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप वैदिक–सनातन परंपरा और श्रमण परंपरा के मूल सिद्धांतों में समानता और सहअस्तित्व के बारे में ज्ञान–समृद्ध हुए होंगे।

4.9 पारिभाषिक शब्दावली

निःश्रेयस :मोक्ष

अस्तेय : चोरी न करना।

अपरिग्रह : आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना।

प्रवृत्ति :मनुष्य की सहज कामनाएँ

निवृत्ति : सहज कामनाओं में तटस्थता का भाव

आसक्ति :किसी भी काम्य विषय से गहरा लगाव

4.10 सन्दर्भग्रन्थ

1. जैन धर्म, पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री
2. सनातन हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म, श्यामसुन्दर उपाध्याय
3. जैन धर्म परिचय, वृषभ प्रसाद जैन
4. जैन दर्शन में धर्म का स्वरूप, डॉ. कृष्ण कुमार सिंह
5. जैन धर्म एवं दर्शन, महेश भट्ट श्रीवास्तव
6. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव
7. बौद्ध दर्शन, राहुल सांकृत्यायन

4.11 बोधप्रश्न

1. वैदिक धर्म के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए?
2. श्रमण परम्परा और वैदिक परम्परा के स्वरूप में अन्तर को बताइये?
3. श्रमण परम्परा की विभिन्न धाराओं का परिचय दीजिए?
4. वैदिक एवं श्रमण परम्परा में आश्रम व्यवस्था की विवेचना कीजिए?
5. वैदिक एवं श्रमण परम्परा में पुरुषार्थ की विवेचना कीजिए?
6. वैदिक एवं श्रमण परम्परा में जीवन–मूल्य की विवेचना कीजिए?
7. वैदिक एवं श्रमण परम्परा में अवतार की संकल्पना का वर्णन कीजिए?
8. वैदिक एवं श्रमण परम्परा में तीर्थयात्रा के महत्त्व को बताइये?
9. वैदिक एवं श्रमण परम्परा में व्रत एवं उपवास का महत्त्व बताइये?

खण्ड 2
धर्म का स्वरूप

द्वितीय खण्ड का परिचय

द्वितीय खण्ड के अध्ययन में आपका स्वागत है। धर्म का स्वरूप इस खण्ड का नाम है। इसमें चार इकाइयॉं हैं। धर्म में ऋत समाहित है। ऋृत से सत्य तक की यात्रा है। जो कर्म वेद में इंगित नहीं होते हैं उन्हें आगम और पुराण में पाया जाता है। इसी को धर्मानुशासन कहते हैं। कर्तव्य ही धर्म है। इसलिए धर्मशास्त्र में कर्तव्य का निरूपण किस प्रकार है। इसकी जानकारी आपको इसी खण्ड में मिलेगी। गुरूग्रन्थ साहिब में धर्म विषयक संयोजक सिद्धान्तों को इसी खण्ड की अन्तिम इकाई में बताया गया है। प्रथम इकाई ऋृत की व्याख्या करती है। ऋृत को परम सत्य भी कहते हैं। यह मूल रूप से वैदिक सनातन धर्म को जानने के लिए सत्ता की जानकारी देने वाला परमतत्व है। दूसरी इकाई में वेद, आगम के धार्मिक अनुशासन के साथ-साथ पौराणिक धर्म और अनुशासन की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। कर्तव्य के अलावा हिन्दू संकल्पना में धर्म को जानने का सरल मार्ग दूसरा कोई नहीं है। धर्मशास्त्र में ही कर्तव्य का निरूपण मिलता है। तीसरी इकाई में धर्मशास्त्र के अनुसार कर्तव्य को स्पष्ट किया गया है। मत पन्थ और सम्प्रदाय चाहे जितने हों, सभी का संयोजन वैदिक धर्म में प्राप्त है । इसी के दृष्टिगत प्रस्तुत खण्ड की चतुर्थ इकाई में वैदिक, श्रमण एवं गुरू ग्रन्थ साहिब के धर्म विषयक संयोजक सिद्धान्तों की व्याख्या करके आपके अध्ययन हेतु प्रस्तुत किया गया है। अत: इस खण्ड का अध्ययन करके आप धर्म के स्वरूप और सिद्धान्तों का परिचय देने में सक्षम हो जाएगें।

इकाई 1 ऋत की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

ऋत की अवधारणा विषय पर केन्द्रित इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- ऋत का तात्पर्य क्या है, इससे परिचित हों सकेगे।
- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप ऋत के शाश्वत स्वरूप से परिचित हो सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप ऋत और देवों के सम्बन्ध को भी जान सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप ऋत के विस्तार को भी समझ सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह परिभाषित कर सकेगें कि ऋत के द्वारा किस प्रकार धर्मानुशासन है।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप ऋत एवं सत्य के अन्तःसम्बन्ध को भी समझ सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेगें कि किस प्रकार ऋत के द्वारा सृष्टि का संचालन होता है।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप ऋत एवं अनृत के अन्तर को भी समझ सकेगें।

1.1 प्रस्तावना

मानव जाति का प्रारम्भिक जीवन प्रकृति पर आधारित था। यह प्रकृति मनुष्य के लिये जहाँ हित साधक है, वहीं नाना प्रकार के भय भी उत्पन्न करती है। जैसे अग्नि और सूर्य मानव कल्याण के लिये है लेकिन अग्नि का वैद्युत रूप और सूर्य का अस्ताचल की ओर गमन भय उत्पन्न करता है। प्रकृति के अनेक उपादान सृष्टि को संचालित करने के हेतु हैं।

तपःपूत ऋषियों ने अपने अन्तःकरण में स्वयं प्रविष्ट ज्ञान का अनुभव प्राप्त किया तथा ऋचाओं के माध्यम से उन प्राकृतिक शक्तियों के दर्शन के अलौकिक रूपों को व्यक्त किया है। यह अलौकिक रूप किसी ऐसे नियम से अथवा मार्ग से उद्भूत होता है जो अपनी अलौकिकता के कारण शाश्वत नियम के रूप में उपस्थित होता है। एक विशिष्ट काल से उद्भूत होने वाला प्रकृति का यह अलौकिक स्वरूप एक दूसरे के पूरक हैं जैसे– आकाश–पृथिवी, जल–वायु वहीं एक दूसरे के विपरीत भी हैं, जैसे– जल–अग्नि, सूर्य–चन्द्रमा, दिन–रात आदि। इन्हीं से समस्त सृष्टि का विकाश माना जाता है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त 10.129, के माध्यम से ऋषि ने उद्घोष किया कि सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम अन्धकार ही अन्धकार व्याप्त था अथवा दूसरे शब्दों में असत् से सत का प्रादुर्भाव हुआ जैसा कि कहा गया है– **देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत** (ऋग्वेद10.72.2) एवं **नासदासीन्नोसदासीत्** (ऋग्वेद 10.129.1)। इन दोनों सन्दर्भों से सृष्टि के पूर्व किसी एक तत्त्व अथवा शक्ति की उपस्थिति का आभास होता है। वह तत्त्व एक महान् शक्ति है जो समस्त विरोधों से स्वतन्त्र है। जिसे वेद में इस रूप में कहा गया है–**तस्मात् ह परः किं चनास्** (ऋग्वेद 10.129.2)। वेद में इसी को **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकासीत्** एवं **देवेष्वधि देव एक आसीत्** (ऋग्वेद 10.129.1 एवं 8) के रूपमें वर्णित किया गया है। इसी महनीय तत्त्व को ''**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत**'' अर्थात् अभीद्ध तप से उत्पन्न ऋत के रूप में भी कहा गया है।

1.2 ऋत सृष्टि के नियामक तत्त्व के रूप में

वेद सृष्टि के प्रारम्भ से ही सृष्टि के एक विशिष्ट नियामक तत्त्व को स्वीकार करता है जो शाश्वत और अनन्त है। इस शाश्वत एवं नियामक तत्त्व के अनुकूल जो भी तत्त्व रहा उसे ऋषियों ने कल्याणकर के रूप में अपने अन्तःकरण में अनुभव किया और उसी को मानव या समाज के लिये श्रेष्ठ माना। इस श्रेष्ठ कर्मों के अन्तर्गत सर्वप्रथम यज्ञ को स्थान दिया गया (**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**), **तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्**। यह यज्ञ कर्म प्रकृति में चलने वाले शाश्वत नियमों के आधार पर उद्भूत होते हैं। यज्ञ को ऋत के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया। ऋत समस्त सृष्टि का नियामक तत्त्व है और इस सृष्टि के अन्तर्गत सभी देवगण, प्रकृति, मनुष्य आदि इसी से नियमित होते हैं–

ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः । ऋग्वेद 10.85.1

ऋत को जहाँ एक ओर समस्त सृष्टि का मूल तत्त्व स्वीकार किया गया अथवा सृष्टि के उद्भव का हेतु माना गया वहीं दूसरी ओर यज्ञ को उसके साथ सम्पृक्त कर यज्ञ को इस सृष्टि की नाभि या आधार के रूपमें कहा गया है। इसी से समस्त सृष्टि का विकाश हुआ।

देवताओं ने ऋत के नियम का पालन एवं समस्त सृष्टि के नियामक तत्त्वों को अपने में निहित कर उसको अपने अनुरूप समाज के लिये स्वीकार किया। अतः यह निश्चय हुआ कि दैवी शक्तियाँ ऋत सम्बन्धी नियमों का पालन करती हैं। इसी बात को हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि जितनी भी दैवी शक्तियाँ हैं तथा उनके आधार पर जो नियम बनाय गये अथवा उनके जो अपने नियम हैं, जिनके आधार पर वे संचरण करते हैं, उसी दैवी प्रक्रिया को ग्रहण कर जिन मनुष्यों ने अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाया, उसका मूल आधार ऋत ही है। इस सम्पूर्ण धरा पर जो आत्मोन्नति का संकल्प है और अलौकिक जगत् में या दूसरे शब्दों में कहें तो, जो अमृतत्व प्राप्त की कामना है, वह सुकृत के परिणाम स्वरूप हमे प्राप्त होती है। वह हमें सुकृत रूपमें , देव रूप में अथवा ऋत के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के सपीप ले जाता है। ऋत के अनुगमन से दैवी प्रवृत्ति की प्रधानता होने पर उत्तम लोक की प्राप्ति होती है।

1.3 शाश्वत नियम के रूप में ऋत

पूर्व में नियमित रूप से सूर्य का उदय होना, एक निश्चित मार्ग से अस्ताचल की ओर गमन करना, सूर्योदय से पूर्व उषा का आगमन, अस्ताचल के बाद निशा का प्रवेश, आकाश से जल का वर्षण, ऋतुओं का निश्चित परिवर्तन, विभिन्न माध्यमों से अग्नि की उत्पत्ति आदि अनेक ऐसी बाते हैं जो अलौकिक एवं शाश्वत हैं। इसका कोई उल्लंघन नही कर सकता। इन्हीं शाश्वत नियमों को ऋषियों ने प्रकृति के विभिन्न शक्तियों के साथ सम्पृक्त कर इसे ऋत की संज्ञा प्रदान की है। ऋत वह है जो कभी विनाश को नही प्राप्त होता। इसलिये ऋत शाश्वत है। इसी के परिप्रेक्ष्य में ऋत के विभिन्न स्वरूपों का विकाश हुआ।

ऋत स्वयं अपने आप में भावमूलक है लेकिन ऋत को देवत्व के पद पर नही प्रतिष्ठित किया गया। महान् शक्तिशाली होकर यह देवताओं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ। जैसे– **ऋतधीतयः** (ऋग्वेद 4.55.2), **ऋतस्यगोपा** (ऋग्वेद 5.63.1) आदि। ऋत देवताओं का मूल स्थान है। ऋत साध्य और साधन दोनों है। ऋषियों ने इसी ऋत के माध्यम से ऋत की प्राप्ति को अन्तिम लक्ष्य या अन्तिम सत्य के रूप में ऋचाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया। ऋग्वेद के साथ–साथ अवान्तरकालीन वैदिक साहित्य में ऋत के कई बार अलग–अलग स्थानों पर प्रयोग के कारण इसके मूल रूपको समझने में कठिनाई उत्पन्न होती है। इसे विभिन्न व्याख्याकारों के अर्थों के माध्यम से समझा जा सकता है।

1.3.1 विभिन्न व्याख्याकारों की दृष्टि में ऋत का स्वरूप

पारम्परिक व्याख्याकारों ने ऋत को अनेक सन्दर्भों में ग्रहण किया है। ऋग्वेद में मुख्य रूप से यह संज्ञा शब्द के रूप में आया है। कुछ स्थलो पर **ऋतायतः** (ऋग्वेद 2.1.2; 32.1; 10.91.10) के रूप में विशेषण बनकर आया है और देवताओं को **ऋतेजाः** (ऋग्वेद 1.113.12) तथा **ऋतावानः** (ऋग्वेद 2.24.7) आदि भी कहा गया है। ऋत ऋ गतौ धातु से निष्पन्न है जिसका मूल अर्थ है– वह जो हो चुका है अथवा जो अनन्तकाल से अपने मार्ग पर चलता रहा है। निघण्टु में इसे सत्य का पर्याय माना गया है। इसीलिये वेदभाष्यकार सायणाचार्य भी यास्क का अनुसरण करते हुये इसी अर्थ को मानते हैं।

पाश्चात्य पण्डितों ने भी इस शब्द पर विशेष चिन्तन किया है। सेण्टपीटर्सबर्ग कोष में रुडाल्फ राठ ने ऋत को व्यवस्था या नियम के रूप में परिभाषित कर विश्व एवं जीवन

के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित किया है। जैसे– प्रकृति में व्यवस्था, यज्ञ नियम, आदि। सामान्य रूपसे सभी प्रकार की व्यवस्थायें ऋत के अन्तर्गत समाहित हो जाती है। रुडाल्फ राठ का चिन्तन पाश्चात्य जगत् के लिये ऋत के सम्बन्ध में मार्गदर्शन करने का विषय रहा। मैक्डानल ने अपनी पुस्तक वैदिक रीडर में ऋत को प्राकृतिक व्यवस्था, यज्ञ नियम और मानव–चरित्र या नैतिकता के नियामक रूप में व्याख्यायित किया है।

त्सिमरमान ने 1959 में, अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के अवसर पर ऋत और सत्य पर अनुसन्धान पत्र प्रस्तुत किया था जहाँ उन्होंने ऋत को मानव जीवन को नियन्त्रित करने वाला सिद्धान्त माना। मानव जीवन के सभी कार्य ऋत के द्वारा संचालित होते हैं। इस तरह ऋत नैतिकता या धर्म का ही एक स्वरूप है। इसलिये ऋग्वेद में यह यज्ञ का भी वाचक है। कार्य रूप में ऋत, ऋतु के समीप है तथा लैटिन ऋतुस् तथा जर्मन् रिम, लिथुआनियन रेजु, अवेस्तन् रातुम् आदि के समान है। त्सिमरमान, ऋत को आर्यो के मस्तिष्क में विश्व के उद्‌भव का सिद्धान्त मानते हैं तथा द्रव्य की सत्ता के रूप में यह सृष्टि का मूल है इसलिये यह उदक अर्थात् जल का पर्याय है। इस तरह उन्होंने ऋत का अर्थ सत्य, उदक, यज्ञ एवं सृष्टि नियम आदि के रूपमें प्रस्तुत किया।

प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् जिन्होंने प्राच्यविद्या के क्षेत्र को अपनी उच्चस्तरीय अनेक कृ तियों के माध्यम से समृद्ध किया, ऐसे प्रोफेसर एच. डी वेलणकर ने ऋत और सत्य का तुलनात्मक अध्ययन करते हुये कहा कि– ऋत अनन्तकाल से चले आ रहे उस तथ्य की ओर संकेत करता है, जो सदा तथ्य रूप में ही है। सत्य किसी की इच्छा पर निर्भर रहता है जबकि ऋत देवताओं के पूर्व भी था और शक्तिशाली है। ऋत ब्रह्म के समान ही सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है।

1.3.2 ऋत के दैवी तथा मानवीय गुण

यदि हम ऋत के गुणों पर अध्ययन करें तो हमारे सामने ऋत के दैवी तथा मानवीय गुणों के रूप में मिथुन दिखाई पड़ता है। प्रथमतः ऋत किसी महान् सत्य का सिद्धान्त है जिसके कारण ऋग्वेद 1.151.4 में ऋत को **ऋतं महत्** और 8.25.4 में **ऋतं बृहत्** कहा गया है। देवताओं को इसका स्वरूप माना गया है। वेद में अग्नि, सोम, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं को ऋत कहा गया है। इस तरह से ऋत देवताओं का उपादान है।

मानवीय गुण के रूप में यदि ऋत की व्याख्या करें तो हम देख सकते हैं कि मानव जीवन की व्यवस्था का हेतु ऋत है जिसे हम मानवीय चरित्र या नैतिकता के नियामक और यज्ञ व्यवस्था के नियामक के रूप में देख सकते हैं। प्रथम रूप में वह उदक है जिसे **ऋतस्य योनि** के रूपमें प्रस्तुत किया गया है। इस तरह से ऋत एक ओर सृष्टि के विकाशक्रम का नियम है तो दूसरी ओर जीवन की प्रक्रियाओं का नियामक भी। देवगण ऋत के अनुसार ही अपने–अपने नियमों का पालन करते हैं अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो देवगण ऋत के नियमों का पालन करते हुये ऋत की रक्षा करते हैं। इस कारण से उन्हें ऋतपाः नाम से अभिहित किया गया है।

धर्मशास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करने वाले भारतरत्न प्रोफेसर पी. वी. काणे ऋत की त्रिगुणात्मक व्याख्या करते हैं–

1. प्राकृतिक व्यवस्था (The Course of Nature)

2. दैविक व्यवस्था या धर्म का उपयुक्त नियम (The Correct and ordered way of the Cults of the Gods)
3. मानव का नैतिक व्यवहार (Moral Conduct of the Man)

ऋत मूलतः सतत् गतिमान तत्त्व का बोधक है। इस तथ्य को हम ऋग्वेद में प्रयुक्त ऋत सम्बन्धी सन्दर्भों के द्वारा अधिक स्पष्टता से प्रमाणित कर सकते हैं। ऋग्वेद में अनेक सन्दर्भ हैं कि देवगण स्वयं ऋत हैं। उन्हें **ऋतेजाः** (ऋत से उत्पन्न होने वाला), **ऋतावान** (ऋत से युक्त), **ऋतज्ञाः** (ऋत को जानने वाल), **ऋतस्य योनौ** और **ऋतस्य सादने** (ऋत के स्थान में बैठने वाले), **ऋतस्पर्श** (ऋत का स्पर्श करने वाले) आदि के रूप में कहा गया है। इस रूप में ऋत और देवताओं का अभिन्न सम्बन्ध है।

अग्नि को ऋत कहा गया है। लेकिन वह ऋत का रक्षक भी है। यह विशेषण वेद में सोम के साथ भी जोड़ा गया है। अग्नि और सोम का सम्बन्ध इस सृष्टि अथवा सृष्टि यज्ञ से है, (अग्निसोमात्मकं जगत्)। इसलिये ऋत यज्ञ स्वरूप है या ऋत यज्ञ का प्रतीक है। यह भी कह सकते हैं कि ऋत और यज्ञ एक दूसरे के पर्याय हैं। इसलिये ऋत को हम यज्ञ के रूपमें व्याख्यायित करके विचार करें तो यह विषय और स्पष्ट होगा।

सत्य को शाश्वत सत्य के रूप में जब हम प्रस्तुत करते हैं तब ऋत और सत्य दो तत्त्व हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। इससे ऋत को स्पष्ट करने में कठिनाई होती है। जैसे कि एक सन्दर्भ में नदियों को ऋत का प्रवाहक और सूर्य को सत्य का विस्तार करने वाला कहा गया है। नदियों से तात्पर्य उदक से है जिसे सृष्टि का नियामक और प्राणरूप कहा गया है जबकि सूर्य समस्त सृष्टि का प्रतिष्ठापक तत्त्वरूप स्वरूप है। वस्तुतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

सृष्टि का प्रवहमान स्वरूप जलमय है जिसे ऋत कहा गया है और उस ऋत की प्रतिष्ठा सत्य में है। इस प्रकार ऋत से सत्य की ओर गमन का संकेत है और यही मूल बिन्दु है जहाँ ऋत सत्य में समाहित होता हुआ सत्य की अवधारणा में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। ये सभी तत्त्व ऋत और सत्य को अलग–अलग प्रतिष्ठित कर दोनों के एकत्व की घोषणा भी करते हैं। ऋग्वेद के ऋषि जब यह साक्षात्कार करते हैं कि ऋत और सत्य अभीद्ध तप से उत्पन्न हुये और उससे रात्रि उत्पन्न हुई और फिर उससे महान् समुद्र उत्पन्न हुआ तो वह उन सबमें एक विशिष्ट तादात्म्य उपस्थित करता हुआ प्रतीत होता है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततो समुद्रोऽर्णवः।। ऋग्वेद 10.190.1

इस प्रकार ऋत एवं सत्य जहां अन्तिम सत्य के रूप में उपस्थित हैं वहीं रात्रि महत् अन्धकार की परिचायक है और महत् समुद्र सृष्टि के प्राण रूपमें उपस्थित है। अभीद्ध तपस् को प्रकाशपुंज के रूप में अग्नि या सूर्य का प्रतीक स्वीकार कर सकते हैं।

क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद्, विभर्ति नूतनो वित्तं में अस्य रोदसी (ऋग्वेद 1.105.4)

इस रूप में ऋत, सत्य, द्यावा पृथिवी, अन्धकार, जल सभी एक दूसरे से जुड़कर सृष्टि प्रक्रिया के नियामक तत्त्व के रूप में हैं। द्युलोक के तीनों स्थानों में निवास करने वाले देवता ऋत की व्याख्या करने में समर्थ हैं– नाहं देवस्य मर्त्येश्चिकेत (ऋग्वेद 10.7.4) अथवा ऋत का स्वरूप उनकी कृपा से ही जाना जा सकता है।

1.3.3 ऋत के दर्शन के कुछ अन्य प्रसंग

ऋत के दर्शन की सम्पूर्ण यात्रा अत्यन्त रोचक है। इसके एक–एक तत्त्व पर क्रमशः चर्चा किया जा सकता है–

1. ऋत सूर्य के मार्ग का पर्याय है अर्थात् सतत् गतिशील है और उसकी गतिशीलता एवं निरन्तरता तथा अक्षुण्णता के कारण ऋत ध्रुव सत्य के रूप में प्रतीत होता है। ऋत के द्वारा ही ध्रुव ऋत अपिहित है क्योंकि सूर्य के अश्वों को छोड़ने वाली शक्ति ऋत ही है।
2. ऋत और देवताओं की अत्यन्त सामीप्यता के कारण अलग–अलग देवताओं के अलग–अलग ऋत की चर्चा की गई है। इसलिये ऋत के विभिन्न प्रकाशमान स्वरूपों का वर्णन वैदिक साहित्य में प्राप्त है।
3. ऋत के माध्यम से ही अनेक प्रकार के अन्न उपलब्ध होते हैं और ऋत के ही माध्यम से गायें ऋत में प्रवेश करती हैं। **ऋतेन गााव ऋतमा विवेशुः ।**
4. ऋषि स्वयं कहते हैं कि मैं ऋत के द्वारा नियत ऋत की स्तुति करता हूँ। **ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति...., ऋतेन ऋतं नियतम्.....।**

इस सृष्टि को संचालित करने में जिन तत्त्वों की सहभागिता है, वही देव एवं देवता हैं जो सृष्टि के अमर तत्त्व हैं। वैदिक देवता मानवीय उद्देश्यों एवं भावनाओं से प्राणित हैं। मानव की भांति उत्पन्न भी होते हैं परन्तु इनका विनाश नहीं है। ऋषियों की अन्तश्चेतना का ज्ञान–विज्ञान ही सृष्टि है। देवों में भिन्नता दिखाई देती है परन्तु एक दूसरे से अभिन्न है। ऋषि, देवता एवं छन्द तथा ऋक्, यजुष् एवं सामन् आदि का अपना एक महत्त्व है। ऋषि पद के निर्वचन से स्पष्ट है कि स्वयं ब्रह्म तपस्यारत ऋषियों की अन्तश्चेतना में प्रविष्ट हुए। सृष्टि का आदि तत्त्व ब्रह्म है। इस तत्त्व का बोध होना ही ऋषि की अन्तश्चेतना में ब्रह्म का आगमन है। सृष्टि की गति में मानव जाति की कोई भूमिका नहीं है। इस सृष्टि में जो स्वतः कार्य चल रहा है या जिसके माध्यम से चल रहा है वही विद्या वेद है।

इस रहस्यमयी ज्ञान को समझने के लिए अनेक ग्रन्थ प्रवृत्त हुए। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, रामायण एवं महाभारत आदि। इस वेद विद्या को ही दृष्टि में रखकर हमारे पूर्वजों ने ज्ञान–परम्परा को आगे बढ़ाया है। शब्द ब्रह्म में कुछ ऐसे शब्द है जो देव और मानव के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं। तप, सत्य, ऋत, धर्म, व्रत, यश, कीर्ति एवं दान आदि का पालन देव और मानव सभी को करना पड़ता है। तप, सत्य, ऋत ही तो वेद है। वैदिक ऋषि अपने दर्शन से 'एकं सत्' की प्रतिष्ठा कर चुके हैं। ''**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत**'' महान् तप से ऋत और सत्य पैदा हुए। 'सत्यं वदामि ऋतं वदामि'

जो महान् सत्य है उसकी घोषणा करनी चाहिए। ऋत के कारण यह जगत सुव्यवस्थित है। देवगण ऋत के स्वरुप हैं। सूर्य ऋत का विस्तार करता है, नदियाँ ऋत को प्रवाहित करती हैं। ऋत एवं सत्य, ऋषियों का गूढ़ चिन्तन है जो जड़ सृष्टि में छिपे चेतन तत्त्व का भी नियमन करता है। पृथिवी एवं समुद्र भी उसी पर निर्भर हैं– ऋतमेव पदमेष्ठी।

ऋतं नात्येति किंचन ऋतेसमुद्र आहितः। ऋतेभूमिरियंश्रिता– तैत्तिरीय ब्राह्मण 7.5.5

इसी प्रकार अनेक मंत्रों में सत्य और व्रत का भी दर्शन ऋषि करते हैं। 'धर्म' शब्द भी

अपने में सब कुछ समाहित कर लेता है। सर्वप्रथम ऋत में धर्म का प्रयोग हुआ। यह नपुंसकलिंग में 'धर्मन्' के रुप में है। इसके अतिरिक्त इसका उत्तरोत्तर उल्लेख होता चला गया है।

> समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा– ऋ0 3.17.।
> तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ऋ0 10.90.16

ऋत शब्द यज्ञ का भी वाचक है। यजमान के द्वारा किया गया यज्ञ, यजमान का आचरण सम्बन्धी बल हो जाता है, उसे नियम का पालन करना होगा इसलिए ऋत मनुष्यों के नैतिक नियम का पर्याय है जिसके कारण अनृत भी सामने प्रस्तुत होता है अर्थात् असत्य का आचरण नहीं होना चाहिए। ऋत जीवन को अनुशासित करने वाला एक शाश्वत नियम और वैश्विक गति प्रदान करने वाला तत्त्व है।

1.3.4 ऋत की उत्पत्ति के कुछ सन्दर्भ

ब्रह्माण्ड की व्यवस्था यज्ञ के कारण है। देवों के द्वारा सम्पादित यही प्राकृतिक अंग धर्म का प्रथम स्वरूप है। यही सृष्टि यज्ञ है। इस यज्ञ को सम्पादित करने वाले देव साध्य तथा ऋषि हैं। ये भी सृष्टि के मूलभूत तत्त्व हैं। मन्त्र में यज्ञ की सात परिधियाँ बतायी गयी है और 21 समिधायें भी है। परिधि का अभिप्राय सात लोक से है, परिधि यज्ञ वेदी की सीमा को कहते है। सम्वत्सर के 12 महीने, 5 ऋतुयें, 3 लोक, तथा आदित्य ये यज्ञ की 21 समिधायें है। इसी यज्ञ से यज्ञ का सम्पादन है।

देवों का यज्ञ प्राकृत नियम के अनुसार किया गया है जिससे सृष्टि नियम से संचालित हो रही है। इसी प्राकृत सृष्टि विद्या के आधार पर मानवीय संस्कृति का निर्माण हुआ। प्राकृत कृत्यों पर किये गये कर्म ही कल्याणकारी हैं। आत्म कल्याण, प्रकृति के अनुसार कर्म करने में ही है। इन सबका सम्बन्ध ऋत से है।

वेद में सत्य और ऋ़त को भी उत्पन्न कहा गया है। उपनिषद् में कहा गया है– **सत्यं वदामि ऋतं वदामि।** ऋत और सत्य अभीद्ध तप से उत्पन्न है– ऋग्वेद 10.190।

1.4 ऋत और सत्य

> सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
> ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः।। ऋग्वेद 10.85.1

ऋत का तात्पर्य शाश्वत नियम। सत्य, वस्तु के वास्तविक स्वरूप की ओर ले जाता है। ऋत जल भी है क्योंकि वह उसकी भाँति सर्वत्र विद्यमान है। यास्क ने ''ऋ़तम्'' का अर्थ सत्य और यज्ञ किया। ऋत शाश्वत प्रवर्तमान सत्य है जो सृष्टि का नियामक है। ऋ़त में गति है और सत्य में स्थिरता। देवता इस ऋत और सत्य का पालन करते है। ऋग्वेद में ऋ़त से सम्बन्धित अनेक मंत्र प्राप्त हैं। महान् कर्म कौशल से देवता सम्पृक्त हैं। तीनों लोकों में प्रकट होकर अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, यज्ञ, दान, क्षमा आदि ऐसे अनेक शब्द जो मानव स्तुति और प्रार्थना से देवों के सम्बन्ध की निकटता को द्योतित करते हैं । अथर्ववेद 12.1 अर्थात् पृथिवी सूक्त में सर्वप्रथम ऋत और सत्य के विषय में ऋषि ने अपना अनुभव प्रस्तुत किया है।

> सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षातपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
> सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नयुरुं लोकं पृथिवीं नः कृणोतु।।

अर्थात् महान् सत्य, शक्तिशाली ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं। इन्हीं तत्त्वों के कारण वह हमारे भूत, भविष्य की पालिका यह पृथिवी हमारे लिये विशाल लोक का निर्माण करे।

अग्नि देवता के लिए कहा गया है कि– ऋत अग्नि है उनका नियम उनका व्रत निश्चित है। सनातन धर्म एवं संस्कृति की व्यवस्था से ही समाज का धर्म निश्चित हुआ है।

1.4.1 ऋषियों के द्वारा ऋत का साक्षात्कार

ऋषियों ने धर्म का अनुभव देवों के माध्यम से किया और सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के लिए एक निश्चित व्यवस्था की। यज्ञ के आधार पर कर्मकाण्डीय व्यवस्था भी की गयी। वैदिक धर्म वेद के विद्वानों की दृष्टि में सर्व श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि यह प्रकृति की व्यवस्था को संचालित करने के लिये है। यह व्यवस्था सार्वभौमिक है क्योंकि सभी इसी के द्वारा संचालित होते हैं। इसमें किसी प्रकार का भेद भाव नहीं है। इसी का अनुकरण मात्र अन्य धर्म करते हैं। ऋषियों ने अपने अन्तःकरण में शाश्वत व्यवस्था की अनुभूति के द्वारा एक निश्चित व्यवस्था उपस्थित की है। अग्नि के माध्यम से उपदेश अर्थात् विचार आ रहा है कि हम धन प्राप्त करें परन्तु धन कीर्ति देने वाला हो, पुत्र भी वीर हो, पुत्र की प्राप्ति भी होनी चाहिए क्योंकि प्रजा उत्पन्न करना भी धर्म है।

महान् सत्य, शाश्वत नियम (ऋ़त), दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथिवी को धारण करते हैं। दीक्षा से व्यक्ति संस्कार युक्त होता है। नियम के पालन में प्रवृत्त होता है। तप से व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति में नियम का पालन करता है। एक अनुशासित जीवन की ओर बढ़ता है। तप ही कार्य की सिद्धि में सहायक है। राजा वरुण जो द्युलोक के देवता हैं अपने पुत्र भृगु को तप से ब्रह्मतत्त्व का मार्गदर्शन किया। (तैत्तिरीय आरण्यक 3.2.1)

इस अपार ज्ञानराशि में जिसका न आदि है न अन्त परन्तु मन्त्रों की संख्या निश्चित की गयी हैं। कोई ऐसा तथ्य नहीं प्राप्त है जहाँ 'स्वस्ति' कल्याण की बात न कही गयी हो। इस देवतत्त्व की नगरी में ऐसा कोई शब्द नही है जिससे अधर्म हो। इसलिए कवि कहता है– आ नो भद्राः, भद्रं कर्णेभिः, श्रोत्र के द्वारा कल्याणकारी वचन ही ही सुने। यह सनातन धर्म है। किसी प्रकार से दूषित नही है। धर्म को धारण करनेवाला अग्नि हैं– समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा। वायु जो बह रहा है, यज्ञ है– अयं वै यज्ञो योऽयं वायुः। यज्ञ करें परन्तु यज्ञ हिंसा रहित हो क्योंकि हिंसा रहित यज्ञ की ही देवता रक्षा करते हैं। वही यज्ञ देवों को पहुँचता है। देवता सत्य स्वरूप हैं, अद्‌भुत कीर्ति सम्पन्न हैं। मनु राम को भी यज्ञ में आकर वही अपने स्वरूप का ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। देवता 'ऋतपा' हैं, ऋतज्ञ हैं।

1.4.2 ऋत का सर्व व्यापकत्व

इस तरह से हम देख सकते हैं कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में यह सन्दर्भ प्राप्त होता है कि ऋषियों ने ऋत को मूलतः प्रथम तत्त्व के रूपमें दर्शन किया गया जिससे समस्त देवताओं एवं सृष्टि का विकाश हुआ।इसीलिये अनेक मन्त्रों में ऋत की मूल भावना को व्यक्त किया गया है। ऋत मानव और देवगण दोनों का अन्तिम लक्ष्य है जिसे वे प्राप्त करना चाहते हैं। इस उपलब्धि का माध्यम भी ऋत ही है जो तीनों लोकों में अपनी सत्ता को ग्रहण करता है। इस प्रकार ऋत का सम्बन्ध तीनों लोकों में उसकी उपस्थिति होने से सर्वव्यापी तत्त्व के रूपमें हो जाता है। वह ही द्युलोकस्थ सत्य,

अन्तरिक्षस्थ सत्य एवं भूमिस्थ सत्य या यज्ञ का वाचक बनकर देवों, पितरों, ऋषियों एवं मनुष्यों का साध्य स्वीकार किया गया है। इसलिये वेद में ऋत की बहुमुखी प्रतिष्ठा अथवा उसके विभिन्न रूपों का प्रतिपादन किया गया है।

जिन देवताओं को ऋतावृध कहा गया है उनमें सर्वप्रथम द्यावा पृथिवी और मित्र–वरुण के युग्मों को ग्रहण करें अथवा इन्द्र और अग्नि के युग्म को लें तो आकाश और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित देवताओं का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार से ऋत दैवी शक्तियों का संयोजन करने वाला अथवा उस शक्ति के नियामक तत्त्व के रूपमें ग्रहण किया जा सकता है।

1.4.3 ऋत एवं अनृत का स्वरूप

ऋत के साथ अनृत का स्वरूप भी यदि हम समझे ंतो ऋत की व्याख्या में और सरलता हो जाती है। देवताओं को जो स्वभाव है, उनका जो मार्ग है, उनके जो नियम हैं, उनका जो स्वरूप है, यह सभी ऋत के रूप में व्यक्त किया गया है। जो कुछ इससे भिन्न है अथवा जो कुछ इसके विपरीत है, वह अनृत की अवधारणा को व्यक्त करता है। ऋत के पालन करने वाले देवताओं में वरुण का प्रमुख स्थान है। उनसे सदैव अनृत को नष्ट करने के लिये प्रार्थना की गई है। अनृत सम्बन्धी जितने भी कार्य हैं उन्हें मित्र और वरुण एक साथ ऋत के माध्यम से पार करते हैं। जो लोग अनृत का सेवन करते हैं उनके घर में मित्र और वरुण गमन नहीं करते हैं। मित्र और वरुण का मार्ग ऋत का मार्ग है।

1.5 सारांश

सृष्टि के पूर्व किसी एक तत्त्व अथवा शक्ति की उपस्थिति का आभास होता है। वह तत्त्व एक महान् शक्ति है जो समस्त विरोधों से स्वतन्त्र है। इसी महनीय तत्त्व को ''ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत'' के रूप में भी कहा गया है।ऋत समस्त सृष्टि का नियामक तत्त्व है और इस सृष्टि के अन्तर्गत सभी देवगण, प्रकृति, मनुष्य आदि इसी से नियमित होते हैं– ऋतेन आदित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः । ऋग्वेद 10.85.1, ऋत शब्द यज्ञ का भी वाचक है। यजमान के द्वारा किया गया यज्ञ, यजमान का आचरण सम्बन्धी बल हो जाता है, उसे नियम का पालन करना होगा इसलिए ऋत मनुष्यों के नैतिक नियम का पर्याय है जिसके कारण अनृत भी सामने प्रस्तुत होता है अर्थात् असत्य का आचरण नहीं होना चाहिए। ऋत जीवन को अनुशासित करने वाला एक शाश्वत नियम और वैश्विक गति प्रदान करने वाला तत्त्व है। ऋत शाश्वत प्रवर्तमान सत्य है जो सृष्टि का नियामक है। ऋ़त में गति है और सत्य में स्थिरता। देवता इस ऋत और सत्य का पालन करते है। महान् सत्य, शाश्वत नियम (ऋ़त), दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथिवी को धारण करते हैं।

अग्नि को ऋत कहा गया है। लेकिन वह ऋत का रक्षक भी है। यह विशेषण वेद में सोम के साथ भी जोड़ा गया है। अग्नि और सोम का सम्बन्ध इस सृष्टि अथवा सृष्टि यज्ञ से है, (अग्निसोमात्मकं जगत्)। इसलिये ऋत यज्ञ स्वरूप है या ऋत यज्ञ का प्रतीक है। यह भी कह सकते हैं कि ऋत और यज्ञ एक दूसरे के पर्याय हैं।सत्य को शाश्वत सत्य के रूपमें जब हम प्रस्तुत करते हैं तब ऋत और सत्य दो तत्त्व हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं।इससे ऋत को स्पष्ट करने में कठिनाई होती है। जैसे कि एक सन्दर्भ में नदियों को ऋत का प्रवाहक और सूर्य को सत्स का विस्तार करने वाला कहा गया है। नदियों से तात्पर्य उदक से है जो सृष्टि का नियामक और

प्राणरूप कहा गया है जबकि सूर्य समस्त सृष्टि का प्रतिष्ठापक तत्त्वरूप स्वरूप है। वस्तुतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सृष्टि का प्रवहमान स्वरूप जलमय है जिसे ऋत कहा गया है और उस ऋत की प्रतिष्ठा सत्य में है। इस प्रकार ऋत से सत्य की ओर गमन का संकेत है और यही मूल बिन्दु है जहाँ ऋत सत्य में समाहित होता हुआ सत्य की अवधारणा में ही प्रतिष्ठित हो जाता है।

1.6 अभ्यास प्रश्न

1. ऋषियों ने अपने अन्तःकरण में स्वयं प्रविष्ट ज्ञान का अनुभव प्राप्त करके उस अलौकिक रूपों को किसके माध्यम से व्यक्त किया है—

   क) ऋचाओं के माध्यम से

   ख) यज्ञ के माध्यम से

   ग) शिष्यों को उपदेश के माध्यम से

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. सभी देवगण, प्रकृति, मनुष्य आदि किस नियम से नियमित होते हैं—

   क) वरुण देव के नियम से

   ख) ऋत के नियम से

   ग) इन्द्र के नियम से

   घ) अश्विनौ के नियम से

3. ऋत के अनुगमन से दैवी प्रवृत्ति की प्रधानता होने पर किस लोक की प्राप्ति होती है—

   क) इन्द्र लोक की

   ख) आदित्य लोक की

   ग) उत्तम लोक की

   घ) चन्द्र लोक की

4. ऋत शब्द संस्कृत व्याकरण की किस धातु से निष्पन्न है

   क) विद् ज्ञाने

   ख) विद् विचारणे

   ग) विदलृ लाभे

   घ) ऋ गतौ

5. रुडाल्फ राठ नामक विद्वान् ने ऋत का क्या अर्थ किया है—

   क) व्यवस्था या नियम के रूपमें परिभाषित किया है।

   ख) ऋत को देवताओं का विशेषण माना है।

   ग) ऋत को अन्तरिक्ष स्थानीय देवता माना है

   घ) ऋत का सम्बन्ध सत्य के साथ स्थपित किया है।

6. ऋत जल क्यों है—

   क) क्योंकि वह जल की तरह रस से युक्त है।

ख) क्योंकि वह जल की भाँति सर्वत्र विद्यमान है ।

ग) क्योंकि वह जल की तरह प्रवाहित होता है।

घ) दोनो का उत्पत्ति स्थान एक है।

7. ऋत और सत्य किससे उत्पन्न हैं–

क) जल से

ख) आकाश से

ग) अभीद्ध तप से

घ) वायु से

8. पृथिवी को कौन धारण करते हैं–

क) महान् सत्य,

ख) शाश्वत नियम (ऋ़त),

ग) दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ

घ) उपर्युक्त सभी

9. भारतरत्न प्रोफेसर पी. वी. काणे ऋत की व्याख्या किस प्रकार करते हैं –

क) निम्नलिखित त्रिगुणात्मक रूपमें

ख) प्राकृतिक व्यवस्था के रूप में

ग) दैविक व्यवस्था या धर्म के उपयुक्त नियम के रूप में

घ) ऋत को मानव के नैतिक व्यवहार के रूप में

10. ऋत और देवताओं का किस प्रकार का सम्बन्ध हैं–

क) दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं

ख) ऋत और देवताओं का अभिन्न सम्बन्ध है।

ग) दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है।

घ) उपर्युक्त सभी गलत हैं।

11. अन्तिम सत्य के रूप में क्या उपस्थित हैं –

क) अग्नि

ख) अश्विनौ

ग) ऋत और सत्य

घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

12. ऋत और सत्य किससे उत्पन्न है

क) सूर्य से

ख) प्रकृति से

ग) पुरुष से

घ) अभीद्ध तप से

13. वरुण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्मतत्त्व का उपदेश किससे दिया

    क) तप से

    ख) ब्रह्मविद्या के माध्यम से

    ग) वेद के अध्ययन के द्वारा

    घ) ऋषियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से

14. इनमे ऋ़त में कौन सा विशिष्ट गुण है

    क) स्थिरता

    ख) गति अर्थात् सातत्य

    ग) वृद्धि

    घ) इनमें से कोई नहीं

15. इनमे सत्य का कौन सा विशिष्ट गुण है

    क) सातत्य

    ख) वृद्धि

    ग) स्थिरता

    घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

16. निम्नलिखित में किस देवता को ऋतावृध कहा गया है

    क) मित्र

    ख) वरुण

    ग) द्यावा –पृथिवी

    घ) उपर्युक्त सभी को

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.(क), 2. (ख), 3.(ग), 4..(घ), 5.(क), 6.(ख), 7.(ग), 8.(घ), 9. (क), 10. (ख), 11.(ग), 12.(घ), 13.(क), 14. (ख), 15.(ग),16.(घ)

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. ऋतायतः के रूप में विशेषण बनकर आया है
2. ऋतेजाः का तात्पर्य ऋत से उत्पन्न होने वाला है।
3. ऋतावान अर्थात् ऋत से युक्त
4. ऋतज्ञाः –ऋत को जानने वाला,
5. ऋतस्य सादने का तात्पर्य ऋत के स्थान में बैठने वाले से है।
6. ऋतस्पर्श –ऋत का स्पर्श करने वाले

1.9 सन्दर्भग्रन्थ

1. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास द्वितीय खण्ड, वेदांग, प्रधान सम्पादक.पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, सम्पादक. प्रोफेसर ओंम्प्रकाश पाण्डेय उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996
2. निरुक्तम्, महामहोपाध्याय श्री छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2016
3. ए प्रेक्टिकल वैदिक डिक्सनरी, सूर्यकान्त आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली. 1981
4. वैदिक कोषः हंसराज एवं भगवद्दत्त, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2002
5. ऋग्वेद संहिता, (पाँचभाग) सायण–भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे
6. ऋग्वेद संहिता, (चार भाग) हिन्दी अनुवाद सहित, स्वाध्याय मण्डल पारडी
7. धर्मशास्त्र का इतिहास, (पाच भागों मेँ) भारतरत्न, महामहोपाध्याय डॉ॰ पाण्डुरंग वामन काणे, अनुवादक– प्राध्यापक अर्जुन चौबे, हन्दिी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
9. दर्शन, धर्म तथा समाज, राजाराम शास्त्री,, विश्व विद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी, 1994
10. भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, श्री व्रज वल्लभ द्विवेदी, विश्व विद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी, 2003
11. बृहदारण्यक उपनिषद्, सानुवाद शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2052
12. ऋग्वेदकालीन समाज और संस्कृति, विजयशंकर शुक्ल, शारदा पब्लिशिंग् हाउस, दिल्ली, 2001
13. ऋत सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करने के लिये विशेष सामग्री अपने पूज्य पिताजी स्व. डा. सिद्धनाथ शुक्ल जी के संग्रह से प्राप्त की है जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अपने शोधछात्रों के शोधप्रबन्ध के लिये तैयार की थी।

1.10 बोधप्रश्न

1. ऋत् की अवधारणा से आप क्या समझते हैं, विवेचना कीजिए।
2. ऋत की अवधारणा ब्रह्माण्डीय नैतिक व्यवस्था को स्थापित करता है, इस कथन की व्याख्या कीजिए।
3. ऋत तथा सत्य के अन्तःसम्बन्ध की विवेचना कीजिए।
4. धर्म की अवधारणा ऋत की अवधारणा की सापेक्षिक व्याख्या है, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

इकाई 2 वैदिक आगमिक पौराणिक धर्मानुशासन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

वैदिक–आगमिक–पौराणिक धर्मानुशासन विषय पर केन्द्रित इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- वैदिक–आगमिक–पौराणिक कहने का तात्पर्य क्या है, इससे परिचित हों सकेगे।
- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप वैदिक धर्म के स्वरूप से परिचित हो सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप सभी आगमों के विषय में जान सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप वेद एवं आगमों के अन्तःसम्बन्ध को भी समझ सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह परिभाषित कर सकेगें कि वैदिक–आगमिक–पौराणिक धर्मानुशासन है क्या?

- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भारतीय आगमिक परम्परा को भी समझ सकेगें।
- इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेगें कि किस प्रकार वैदिक परम्परा का अन्तःसम्बन्ध अन्य भारतीय परम्पराओं के साथ है।

2.1 प्रस्तावना

सृष्टि का आदि तत्त्व परात्पर ब्रह्म को छोड़कर सभी देवता और मनुष्य में कर्तृत्त्व है। सबका गुण और धर्म है। यहाँ यह संकेत प्राप्त होता है कि धर्म वह परमात्मा है जो सब कुछ धारण करता है। 'धर्म' शब्द का वेद में कई बार उल्लेख है। एक तत्त्व से जगत् की सृष्टि होती है। सभी पदार्थों का अपना अपना एक स्वभावगत धर्म होता है। अग्नि की दाहकता, जल की शीतलता आदि स्वाभाविक धर्म है। जब सृष्टि नहीं थी तो धर्म भी नही था।

'धर्म' तत्त्व को समझने के लिए सृष्टि के बाद 'यज्ञ' पर विचार करना आवश्यक है। जो मनुष्य करते है वह देवता के लिए अनुकरणीय नहीं है, परन्तु देवकार्य मनुष्यों के लिए अनुकरणीय है ऐसा वैदिक शास्त्र कहते हैं।

यद् वै देवा अकुर्वन्तस्तत्करवाणि देवाननुविधा वै मनुष्याः ।

जो देवों ने किया वह हम करें। सृष्टि–यज्ञ, देव–यज्ञ है। जो प्राकृत यज्ञ का विधान है वही देव यज्ञ है। ऋग्वेद में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। इसे ही प्रथम वैदिक धर्म कहा गया है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।। ऋग्वेद 10.90.16

प्रस्तुत इकाई में वेद से प्रारम्भ करके आगमशास्त्र तथा पुराणों में किस तरह से धर्म का स्वरूप हैं, इस पर संक्षेप में विचार किया जायेगा।

2.2 वैदिक धर्म का उद्भव

वेदों का अध्ययन गुरु–शिष्य परम्परा में श्रवण से आया है । इसलिये वेद को आगम भी कहा जाता है। किन्तु आगम रूप में रूढ़ विशिष्ट प्रकार के साहित्य से वेद को अलग दिखाने के लिये इसके लिये निगम शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार निगम और आगम ये दो शब्द ज्ञान के बोधक हैं। आगम विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों के आधार भूत ग्रन्थ हैं जो मर्यादापूर्वक मनुष्यों को ऐहिक और पारलौकिक कल्याण प्रदान करते हैं। आगम ग्रन्थ वस्तुतः वेद के अनुशासन को स्वीकार करते हैं। यद्यपि अन्य भारतीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों को भी आगम कहा गया है जो वेद की सत्ता को नहीं मानते हैं। वे उस सम्प्रदाय विशेष के लिये वेद की ही तरह हैं। वेद और आगम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आगम शास्त्र में वर्णित मन्दिर निर्माण, मूर्ति प्रतिष्ठा आदि के तत्त्व वेद से ही निःसृत हैं। आगमों की उपस्थिति वैदिक ऋषियों की ही परम्परा है।

ऋषियों के ज्ञान का विस्तार ही यह सृष्टि है। ऋषि, ज्ञान के कर्ता भी हैं और द्रष्टा भी। ऋषियों ने ज्ञान का, अन्य ऋषियों को उपदेश किया। ऋषियों की अन्तश्चेतना में जिस ज्ञान विज्ञान का आगमन होता है वही धर्म का प्रथम साक्षात्कार है। निरुक्तकार यास्क ने कहा–

तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्त, तपस्यारत ऋषियों की अन्तश्चेतना में 'ब्रह्म' अर्थात् अपौरुषेय वेद प्रकट हुआ। यही धर्म का प्रथम स्वरूप है। पुनः ऋषि तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।। अर्थात् उपदेश के माध्यम से ऋषि गण उसे बाहर करते हैं। यह सब कार्य एक निश्चित नियम एवं सिद्धान्त के साथ प्रचलित हुआ। वैदिक धर्म का तातपर्य है कि निश्चित नियम एवं सुनिश्चित व्यवस्था का स्वरूप और उसका पालन जो सत्य पर प्रतिष्ठित है। अतः हम कह सकते हैं कि निश्चित नियम एवं सिद्धान्त को आचरण में लाना एवं उसका पालन करना ही वैदिक धर्म है।

2.2.1 धृतव्रत के रूप में वरूण

वरुण देव नैतिक आचरण के रूप में ऋत के रूप में वर्णित है। उन्हें राजा कहा गया है– विश्वस्य भुवनस्य राजा (ऋग्वेद 5.85.3) और धृतव्रत भी कहा गया है। वह देवों एवं मनुष्यों के भी राजा हैं।

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवाः असुर ये च मर्ताः। ऋग्वेद 2.27.10

सतो अस्य राजा अर्थात् सत् पदार्थो के स्वामी, कर्म करते हुए मनुष्यों को देखते हैं। अपने व्रत के कारण ही धृतव्रत कहे गये हैं। संसार के पालन के लिए निश्चित नियमों को बनाया है। अपने नियम से राजा वरुण सत्य एवं ऋत को धारण करते हुये संसार का पालन करते है–

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।
ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो चित्र्यं रथम्।। ऋग्वेद 5.63.7

2.3 धर्म का शाब्दिक अर्थ

संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से धारणार्थक 'धृ' धातु से मन् प्रत्यय करने पर धर्म शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ – धारण करना, पालन करना तथा आचरण करना आदि हैं। उससे धारणा की ओर संकेत है। महाभारत के कर्णपर्व में कहा भी गया है–

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।

दान और उपदेश भी सर्वप्रथम धर्म से जुड़ गया। धर्म से ही विश्व की प्रतिष्ठा है। कहने का तात्पर्य यह कि यह विश्व जिसके कारण स्थित है वह धर्म ही है।

तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है– धर्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा । महाभारत में धर्म शब्द का और विस्तार देखा जा सकता है। यहाँ धर्म को सत्य, मन का निग्रह, तप, स्वाध्याय, पवित्रता, इन्द्रिय सम्बन्धी विषय वासनाओं का त्याग, क्षमा, तथा तत्त्वबोध आदि अनेक विषय के साथ प्रस्तुत किया गया है।

सत्यभूतहितं प्रोक्तं मनसा दमनं दमः ।
तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं संकरवर्जनम्।।

संतोषोविषयत्यागो ह्नीरकार्यविवर्तनम्।
क्षमा द्वन्द्वं सहिष्णुत्वमार्जकमं समचित्तता।।

ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शश्चित्तप्रशान्तता।
दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः।। महाभारत उद्योगपर्व,

इसके साथ ही अहिंसा को परम धर्म के रूप में भी व्याख्यायित करते हुये कहा गया कि– **अहिंसा परमो धर्मः** (अनुशासन पर्व 115.1)। वस्तुतः अहिंसा जीवन में आचार का ही अंग है। इसलिये स्मृतियों मे आचार को ही परम धर्म के रूप में स्वीकार किया गया – **आचारः परमो धर्मः** (मनुस्मृति 1.108)। हारीत नामक आचार्य ने इन सबके ऊपर श्रुति को ही धर्म का प्रमाण मानते हुये कहा कि– **अथातो धर्मव्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः।** गौतम धर्म सूत्र में भी यही प्रतिपादित किया गया है– **वेदो धर्ममूलम्। दद्विदां च स्मृतिशीले** (गौतम धर्मसूत्र 1.1.2)। वेद धर्म का मूल है जो वेदों को जानते हैं, उनका मत ही धर्म का प्रमाण है। यह आपस्तम्ब का मत है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (1.1.5) सम्पूर्ण परम्परा को लेकर धर्म के तत्त्व का विवेचन करता है– **श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः।**

महर्षि याज्ञवल्क्य ने सब को समेटते हुये कहा कि मुख्य रूप से धर्म के पांच उपादान हैं– सम्पूर्ण वेद, पाम्परा से चला आया हुआ ज्ञान अर्थात् स्मृतियां, सदाचार (भद्र लोगों के आचरण एवं व्यवहार), जो अपने को प्रिय लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न इच्छा।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

2.3.1 वैदिक धर्म शब्द का विस्तार

यज्ञ धर्म का ही स्वरूप है। पुराण देवताओं को मानव की आकृति के रूप में प्रस्तुत करते हैं परन्तु मन्त्र में देवों का स्वरूप सृष्टि से सम्बन्धित है। वे देव सृष्टि के धारक तत्त्व हैं। ये देव तत्त्व किसी से सृष्ट है और अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करने वाले भी हैं। देवों ने जो यह यज्ञ सम्पादित किया है वह शाश्वत यज्ञ सृष्टि यज्ञ है। यही यज्ञ सबको धारण करता है। यही धर्म है। **''यज्ञेन यज्ञमयजन्त''** देवताओं के द्वारा देव का यजन करने का तात्पर्य है ''प्रजापति'' ही वह देव है, विश्व ही 'प्रजापति' हैं। देवताओं के द्वारा सृष्टिरूप कार्य का सम्पादन ही देवों का देव से यजन है। इसी का संकेत हिरण्यगर्भसूक्त में किया गया है। **प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव''** (ऋग्वेद 10.121.10)। सम्पूर्ण विश्व प्रजापति का ही रूप है उससे अलग नहीं।

अतः वेद जिस कर्म को करने का उपदेश करें वही धर्म है तथा जिसका निषेध करें वह अधर्म है। गौतम धर्मसूत्र में स्पष्ट कहा गया है– **वेदो धर्ममूलम्** । आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र में कहा कि जो धर्म को जानने वाले हैं, जो वेद को जानते हैं, उनका मत ही धर्म के लिये प्रमाण है। महर्षि वसिष्ठ ने इसका और विस्तार करते हुये कहा कि वेद और स्मृतियाँ के द्वारा जो कर्म निश्चित किये गये हैं, वह धर्म है, **श्रुतिस्मृतिविहितो घर्मः।**

धर्मशास्त्र में धर्म शब्द का और विस्तार करते हुये कहा गया कि धर्म के तीन स्वरूप हैं– सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म और आपद्धर्म। सामान्य धर्म वह है जो सभी मनुष्यों के लिये सामान्य रूप से पालन करने योग्य है। विशिष्ट धर्म के अनतर्गत वह कर्म आते हैं जिनका वेद में एक निश्चित प्रयोजन के लिये उपदेश किया गया है। जैसे कि स्वर्ग की कामना करने वाला ज्योतिष्टोम यज्ञ करे। आपद्धर्म उस स्थिति में काम आता है जब सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म के द्वारा जीवन का निर्वाह कठिन हो जाय, उस

स्थिति में आप वेद द्वारा निर्दिष्ट धर्म से बाहर जाकर विशेष परिस्थिति में आप कोई कार्य करते हैं तो वह आपद्धर्म है। इस तरह से धर्म शब्द सृष्टि के नियम, सामाजिक धर्म तथा व्यक्तिगत धर्म को परिलक्षित करता है।

2.4 विषय की दृष्टि से धर्म की व्यापकता

वैदिक वाङ्मय में मन्त्र साहित्य जो संहिताओं के रूप में प्राप्त हैं, यह ऋक्, यजुस्, साम एवं अथर्ववेद की संहिता के नाम से जाना जाता है। ऋषि अपने बल एवं ईश्वर की असीम कृपा से सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान अपनी अन्तश्चेतना में प्राप्त करते हैं। उनके ज्ञान विज्ञान का तात्त्विक चिन्तन ही मन्त्र का रूप ले लेता हैं। यही ज्ञान विज्ञान वेद है। कोई ऐसी विद्या नहीं है जिसका दर्शन वेद में न हो। सृष्टि से लेकर व्यवहार जगत् तक की ज्ञान की अजस्र धारा बहती है। वेद परमात्मा का निःश्वास है। ऋषियों की दिव्यदृष्टि का ही परिणाम वेद है, जिसका ज्ञान ऋषि अपने मानस में करते हैं।

सृष्टि के आदि में लोक कल्याण के लिए परमात्मा ने यह शाश्वत ज्ञान–राशि प्रदान की है। वेद अपने में स्वतः प्रमाण है। किसी अन्य के प्रमाण की आवश्यकता नही है। ऋषियों ने अपने तात्त्विक चिन्तन से जो अनुभूति की वह परम सत्य है। उसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए। ब्रह्माण्ड का निर्माण जिस शक्ति से हुआ है। वह देव हैं, देव तत्त्व ही वेद का मुख्य विषय है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि, सोम, अश्विनौ, रुद्र, विष्णु, सविता, पूषन् उषस्, आदित्य, पृथिवी, द्यौ, चन्द्रमा, वायु आदि का उल्लेख मिलता है। ये सब सृष्टि में सर्वव्यापक देव तत्त्व हैं।

सृष्टि के पूर्व एक तत्त्व था। सम्पूर्ण सृष्टि इसी में समाहित है। यही असत् में सत् की प्राप्ति है। असत् का मतलब नामरूपरहित सत्ता से है। यही सृष्टि का आदि कारण ब्रह्म है। यह अपने में पूर्ण है। उसे किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नही है। यहाँ सत् से तात्पर्य नामरूपात्मक तत्त्व। नाम रूप रहित तत्त्व से नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ। मन्त्र में कहा गया है कि न मृत्यु थी, रात दिन की सत्ता भी नही थीं। कोई भेदात्मक ज्ञान नही था। सृष्टि कहाँ से आई। उसके लिये कहा– वह परात्पर बिना वायु के भी अपनी शक्ति से श्वास ले रहा था। यही सृष्टि का आदि तत्त्व आदि कारण ब्रह्म है। सृष्टि की प्रक्रिया में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सृष्टिविद्या का आधार यही देवतत्त्व है। यह देवतत्त्व ही वैदिक धर्म का आधार है। इसी से ब्रह्माण्डीय धर्म, आगमिक एवं पौराणिक धर्म का स्वरूप बना।

2.5 ब्रह्माण्डीय धर्म

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि।। ऋग्वेद 10.72.3

सृष्टि विषयक चिन्तन में ऋषि कहते हैं कि प्रलयावस्था में एक ही परात्पर बिना वायु के भी अपनी आत्मशक्ति से श्वास ले रहा था। सृष्टि जिस कारण में समाविष्ट थी, उसी की संज्ञा ब्रह्म है। उसे किसी वायु की आवश्यकता नहीं थी। वह अपने आप में परिपूर्ण था। जो शक्ति उसके अन्दर समाहित है वही पौराणिक ग्रन्थों एवं आगमिक ग्रन्थों में वर्णित आदिशक्ति हैं। उस परात्पर ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी सत्ता नही थी।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधयां तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।। ऋग्वेद 10.129.2

'यज्ञ' ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का साधन है। यज्ञ, देवता और व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। सम्पूर्ण जीवन यज्ञ है। बिना यज्ञ के– व्यवस्था, अनुशासन, सत्य, नियम, धर्म सब बाधित हो जाते हैं। देवता से इस ब्रह्माण्ड की व्यवस्था स्थित है। यज्ञ, व्यवस्था का साधन है। 'यज्ञ' सबको धारण कर रहा है।

संवत्सर भी प्रजापति का ही रूप है। क्योंकि इसी में सम्पूर्ण कर्म सम्पादित होते हैं। अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात आदि सभी संवत्सर में ही प्रतिष्ठित हैं। संवत्सर की ऋतु ही उस संवत्सर सत्र की सामग्री बन जाती है जिसका उल्लेख मन्त्रद्रष्टा ऋषि ऋग्वेद 10.90.6 में करते हैं–

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।

यही प्राकृत मूल यज्ञ है। सृष्टि यज्ञ में वसन्त ऋतु घी है (आज्य)। ग्रीष्म समिधा है, शरद् हवि अर्थात् द्रव्य। यज्ञ शाश्वत यज्ञ है, समाप्तहीन यज्ञ है। इसी से पृथिवी पर प्राणी और वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है। यज्ञ परमेश्वर रूप है, उसी में सबकी आहुति हो रही है। जन्म–मरण अर्थात् उत्पन्न और विनाश सभी का होता है। यही शाश्वत यज्ञ है।

पृषदाज्य अन्न को कहते हैं– **अन्नं वै पृषदाज्यम्**, (शतपथ ब्राह्मण 3.8.4.8)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के आठवें मंत्र में "पृषदाज्य" पद आया है उसका अर्थ शतपथ ब्राह्मण में 'अन्न' किया गया है। वेद जिस तत्त्व का वर्णन करता है उस देव तत्त्व की संज्ञा वेद है। ब्राह्मण ग्रन्थ उन्ही तत्त्वों का व्याख्यान करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् 2.2.1 में कहा गया है–

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः।
अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः।

अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति है, उसी से बढ़ते है, और उसी अन्न में प्रविष्ट होते हैं। प्राण अपान भी पृषदाज्य हैं–

प्राणापानौ वै पृषदाज्यम्" (मैत्रायिणी संहिता 3.10.2, 4)

मंत्र में बर्हि (तं यज्ञं बर्हि) शब्द है जिसका अर्थ देवता है। इसी बर्हि से प्रजाओं की सृष्टि होती है। यज्ञ बर्हि पर किया गया। जिसमे प्रजा उत्पन्न होती हैं– बर्हिषा वै प्रजापतिः प्रजा असृजत। (काठक संहिता. 32.3)

शरद्वैबर्हिरिति हि शरद्। शतपथ ब्राह्मण में ऋतुओं को बर्हि कहा गया है। ऋतुओं के अनुसार ओषधियाँ घटती बढ़ती है। (शतपथ ब्राह्मण 1.5.3.12)

अन्न से सभी प्राणी बढ़ते हैं, उत्पन्न होते हैं जो सर्वहुत यज्ञ से 'पृषदाज्य' इकठ्ठा किया उसी से वायव्य, आरण्य तथा ग्राम्य की सृष्टि बतायी गयी है। सभी प्रकार के प्राणी का कारण पृषदाज्य है अर्थात् अन्न। अन्न का एक नाम सोम भी है। सोम तत्त्व अन्न है और अन्न का भक्षण करने वाला अग्नि अन्नाद है। अन्न की आहुति अग्नि में होती है। यही सम्बन्ध यज्ञ है' सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय व्यवस्था इसी पर आधारित है। इसी अन्न अन्नाद के यज्ञ से विश्व के सारे तत्त्वों का निर्माण होता है। यही विश्व संचालित

होने की प्रक्रिया है।

पूर्व में यह बता चुके हैं कि मंत्र के बाद के सभी शास्त्र केवल मंत्र की विवेचना करते हैं। पुरुष सूक्त के 10 मंत्र में अश्व, गौ तथा अजावयः की उत्पत्ति बतायी गयी है। वेद में अग्नि को अन्नाद एवं बहुत खाने वाला बताया गया है। उन्हें ''महाशन'' कहा गया है। यहाँ पर अश्व 'अग्नि' है, अग्नि सूर्य का ही रूपान्तर है इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में सूर्य को श्वेत अश्व कहा गया है। अश्वमेध का अश्व भी यही सूर्य है। सूर्य को एकविंश कहा गया है जो इक्कीस अर्हगण तक व्याप्त है – असावादित्य एकविंशः सोऽश्वमेधः– (शतपथ ब्राह्मण 13.5.1.5) ।

ब्रह्माण्ड की व्यवस्था यज्ञ के कारण है। देवों के द्वारा **सम्पादित यही प्राकृतिक अंग, धर्म का प्रथम स्वरूप है। यही सृष्टि यज्ञ है। इस यज्ञ को सम्पादित करने वाले देव साध्य तथा ऋषि हैं। ये भी सृष्टि के मूलभूत तत्त्व हैं।**

मन्त्र में यज्ञ की सात परिधियाँ बतायी गयी है और 21 समिधायें भी है। परिधि का अभिप्राय सात लोक से है, परिधि यज्ञ वेदी की सीमा को कहते है। सम्वत्सर के 12 महीने, 5 ऋतुयें, 3 लोक, तथा आदित्य ये यज्ञ की 21 समिधायें है। इसी यज्ञ से यज्ञ का सम्पादन है।

2.6 वैदिक धर्म के प्रमुख तत्त्व

वैदिक धर्म देवों का धर्म है। यही प्रथम धर्म है– तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋग्वेद 10.90.16) । यही प्रथम विधि है– प्रथमानु धर्मा (ऋग्वेद 3.17.1)। यही प्राचीनतम धर्म या विधियां हैं– धर्माणि सनता (ऋग्वेद 3.3.1)। इसका आधार वैदिक यज्ञ हैं। मनुष्य इस वैदिक यज्ञमय जीवन से अपने को सुखी बना सकता है। वैदिक मान्यताओं में किसी भी प्रकार की अव्यवस्था नहीं दिखाई पड़ती। ऋषियों ने अपने ज्ञान से सन्मार्ग को ही प्रशस्त किया है। हमें भी उसी सन्मार्ग पर चलना चाहिये। सन्मार्ग को समझने के लिये ईश्वर के गुणों को समझना आवश्यक है। वेद ने मानवमात्र को यह अमूल्य निधि प्रदान की है। वेद में अदिति को देवों की माता कहा गया है। अदिति सृष्टि का अखण्डनीय तत्त्व है। अदिति से आदित्यगण उत्पन्न हैं। अदिति के पश्चात् सभी देवतागण उत्पन्न हैं।

अदितिर्ह्यजनिष्ठ दक्षया दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः।। ऋग्वेद 10.75.5

यहाँ पर दो मुख्य पद हैं **भद्रा अमृतबन्धवः** जिसका अर्थ कल्याणकारी शक्ति से हैं। यह वह कल्याणकारी शक्ति हैजिसका सम्बन्श सृष्टि के प्रत्येक वस्तु के साथ है, वही देव शक्ति है। अदिति जो अखण्डनीय तत्त्व है, उसी से सृष्टि है। अदिति के आठ पुत्रों के जन्म की बात कही गई है– **अष्टौ पुत्रासौ अदितेः**। साथ के साथ वह देववलोक को चली गईं। आठवें सूर्य को आकाश में छोड़ दिया। इसका सन्दर्भ ऋग्वेद 10.72.8 में देखा जा सकता है। यह मार्तण्ड सूर्य है। मार्तण्ड सूर्य का सम्बन्ध जन्म –मरण से है। मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंश, भग और विवश्वान् का सम्बन्ध जन्म –मरण से नही है। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि की व्यवस्था में ये देवतत्त्व अपने पर केन्द्रित हैं। सृष्टि यज्ञ सम्पादन की सुचारु व्यवस्था इन्हीं पर आधारित है।

अथर्ववेद 12.1 में ऋत और सत्य के विषय में ऋषि की अद्भुत अनुभूति प्रस्तुत हुई है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षातपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवीं नः कृणोतु।।

अग्नि देवता के लिए कहा गया है कि– ऋत अग्नि है उनका नियम उनका व्रत निश्चित है। सनातन धर्म एवं संस्कृति की व्यवस्था से ही समाज का धर्म निश्चित हुआ है।

ऋषियों ने धर्म का अनुभव देवों के माध्यम से किया और विश्व के कल्याण के लिए एक निश्चित व्यवस्था की जिससे षोडष संस्कारादि का निरूपण हुआ। गृहस्थ जीवन में माता–पिता, पुत्र, भाई–बहन आदि के सम्बन्धों का भी वर्णन किया गया है। यज्ञ के आधार पर कर्मकाण्डीय व्यवस्था भी की गयी। वैदिक धर्म सर्व श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि यह प्रकृति की व्यवस्था को संचालित करने के लिये है। इसी का अनुकरण मात्र अन्य धर्म करते हैं। ऋषियों ने अपनी शाश्वत व्यवस्था की अनुभूति से एक निश्चित व्यवस्था की है। अग्नि के माध्यम से उपदेश अर्थात् विचार आ रहा है कि हम धन प्राप्त करें परन्तु धन कीर्ति देने वाला हो, पुत्र भी वीर हो, पुत्र की प्राप्ति भी होनी चाहिए क्योंकि प्रजा उत्पन्न करना भी धर्म है। ''महान् सत्य, शाश्वत निमय (ऋत), दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ ये पृथिवी को धारण करते हैं। दीक्षा से व्यक्ति संस्कार युक्त होता है। नियम के पालन में प्रवृत्त होता है। तप से व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति में नियम का पालन करता है। एक अनुशासित जीवन की ओर बढ़ता है। तप ही कार्य की सिद्धि में सहायक है। राजा वरुण जो द्युलोक के देवता हैं अपने पुत्र भृगु को तप से ब्रह्मतत्त्व का मार्गदर्शन किया। (तैत्तिरीय आरण्यक 3.2.1)

इस अपार ज्ञानराशि में जिसका न आदि है न अन्त परन्तु मन्त्रों की संख्या निश्चित की गयी हैं। कोई ऐसा तथ्य नहीं प्राप्त है जहाँ 'स्वस्ति' कल्याण की बात न कही गयी हो। इस देवतत्त्व की नगरी में ऐसा कोई शब्द नही है जिससे अधर्म हो। इसलिए कवि कहता है– **आ नो भद्राः, भद्रं कर्णेभिः**, श्रोत्र के द्वारा कल्याणकारी वचन ही सुने। यह सनातन धर्म है। किसी प्रकार से दूषित नही है। धर्म को धारण करनेवाला अग्नि हैं– **समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा**। वायु जो बह रहा है, यज्ञ है– **अयं वै यज्ञो योऽयं वायुः**।

महर्षि जैमिनि ने मीमांसा सूत्र में धर्म के इसी स्वरूप को वेद विहित प्रेरक लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है अर्थात् वेदविहित अनुशासन का पालन करना धर्म है। **चोदनालक्षणोऽर्थ धर्मः**। धर्म वह तत्त्व है जिसके द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। वैशेषिक सूत्रकार कहते हैं–

अथातो धर्म व्याख्यास्यामः। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।। धर्म तत्त्व को अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि का हेतु माना।

2.7 धर्म का तात्त्विक विवेचन

'धर्म' ऋग्वेद के सभी देवों से जुड़ा है। देवता मनुष्यों से और मनुष्य देवों से जुड़ा है। मनुष्य का भी धर्म देवों की भाँति निश्चल और सत्य होना चाहिए। वेद के पश्चात् महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण का पृथिवी पर अवतरण होता है। यह भी महर्षि वाल्मीकि की अन्तश्चेतना का आलोडन है। यह मान्यता है कि वेद के उपबृंहणार्थ ही ब्रह्मर्षि वाल्मीकि ने लव–कुश के प्रति रामायण को संक्रमित किया–

वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः। वाल्मीकिरामायण 1.4.6

उपबृंहण शब्द √बृंह् से निष्पन होता है जो विस्तार के अर्थ में प्रयुक्त है। ऋषियों ने प्रकृति के स्वरूप के वर्णन में देवों की स्तुति की और स्तुति के माध्यम से देवों के गुणो कार्यों एवं ऐश्वर्य आदि का गान किया। मन्त्रद्रष्टाऋषि ने 'अग्नि' को पुरोहित बताया, अग्निमीळे पुरोहितम्'' सृष्टिरूपी यज्ञ का पुरोहित, पुरं एनं दधाति' (निरुक्त 2. 12)। धार्मिक कृत्यों में इन्हें आगे रखा गया। पुजारी के रूप में या धार्मिक कृत्यों में संगत होने के रूप में बहुत बाद में प्रचलित हुआ। धीरे–धीरे मानवीय पुरोहित की संकल्पना निश्चित हो गयी।

धर्म की व्याख्या में भारतीय संस्कृति ही नही मानवीय आदर्श मूल आधार है। धर्म की विस्तृत व्याख्या में रामायण और महाभारत इतिहास के रूप में प्राप्त हैं। पुराण और उपपुराणों की रचना बहुत प्राचीन नही है। वेद व्याख्यान की एक प्राचीन परम्परा है। जिसे ब्राह्मणों के रचना काल में गाथाओं, नाराशंसी तथा परवर्ती काल में महाभारत और पुराण में दिखाई पड़ता है। अथर्ववेद में पुराणविद् शब्द का उल्लेख मिलता है।

यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्। अथर्व0 11.8.7

इतिहास के निवर्चन मूलक अर्थ से यह द्योतित होता है कि वह ऐतिहासिक घटनाओं तथा पूर्वजों के ज्ञान से जुड़ा हुआ है। श्रीमद्वाल्मीकिरामायण एवं महाभारत भी हमारी भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हैं।

आचार एवं व्यवहारशास्त्र का सम्बन्ध भी धर्म से ही है। धर्म एक आचार भी है एवं आचरण भी। आचार पारम्परिक धर्म है। जैसे प्रातः काल उठकर नित्य नैमित्तिक आदि क्रियाओं को करना। आचरण में हमारा स्वभाव जुड़ता है। विद्यार्थी जीवन का आचरण, कल ऐसा था आज वैसा है। श्रेष्ठ पुरुषों के आचारण को ध्यान में रख कर अपने आचरण की परीक्षा करनी चाहिए। धर्म से ही विश्व प्रतिष्ठित है। वह स्थिर है। धर्म से पापाचार नही होते। जो तत्त्व समस्त विश्व को धारण करने की शक्ति रखता है, वही धर्म है।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्यात् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।। महाभारत उद्योगापर्व 9.8

सत्य, मनोनिग्रह, तप, स्वाध्याय, शुचिता, विषयवासनानिग्रह, क्षमा, तत्त्वबोध आदि गुणो को धर्म कहा गया। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की प्राप्ति का मूल कारण धर्म ही है–

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेद्र राज्यं चेदं धर्ममूलं वदन्ति।
महाभारत, वनपर्व 4.4

शास्त्र के प्रति आस्था ही सच्ची श्रद्धा है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि– वेदशास्त्र जिस कर्म को करने का उपदेश करे वही धर्म है जिसका निषेध करें वह अधर्म है। वेद धर्म का मूल है। जो वेद का ज्ञाता है उसका मत ही प्रमाण है। वेद का ऋषि कहता है– विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मवेदं भारतं जनम्।।

यह ज्ञान भारतीय जनों का रक्षक है। विश्व का हित करने वाला मनुष्य ही देवों के गुणों से संयुक्त होता है। वैदिक धर्म के ज्ञाता प्राकृतिक यज्ञ की अनुकृति से वैध यज्ञों का प्रचलन हुआ। इससे प्राकृतिक यज्ञ सुरक्षित रहा। ब्रह्माण्डीय ज्ञान–विज्ञान, व्यवहार

में सबको विदित होना चाहिए। देवों से प्राप्त वस्तुओं को देवों के लिए होना चाहिए। देवों से प्राप्त वस्तुओं का देवों के प्रति समर्पण का भाव होना चाहिए। मानव को प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाये रखना ही यज्ञमय जीवन है। छान्दोग्य उपनिषद् में 116 वर्ष की आयु का उल्लेख किया गया है। महिदास ऐतरेय को गर्व है कि जो प्राकृत यज्ञ के साथ सम्बन्ध जोड़ेगा, वह उसे प्राप्त कर सकता है। आयु को छन्द से जोड़ते है। 24 वर्ष की आयु प्रातः सवन है जो गायत्री छन्द से सम्बद्ध है, (3.16.1।)। अगली 24 वर्ष की आयु माध्यन्दिन सवन है जिसका सम्बन्ध त्रिष्टुभ से है(3.16.3)। अन्तिम अड़तालीस वर्ष की आयु तृतीय सवन है जिसका सम्बन्ध जगती छन्द से है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस पर अधिक चर्चा है। वेद से ही यश, दान, तप, स्वधर्म चातुर्वर्ण्य, सत्कर्म आदि की सुरक्षा है।

2.8 वैदिक संहिताओं में संकल्परूप में धर्म का विवेचन

देवता मनुष्य के प्रत्येक क्रियाकलाप पर दृष्टि रखते हुये उनकी रक्षा एवं कल्याण करते हैं। इसलिये सवितृ देव से प्रार्थना की जाती है– **ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वामि मित्रावरुणा विहावसे,** कल्याण के लिये सर्वप्रथम अग्नि का आह्वान करता हूँ । रक्षा के लिये मित्र एवं वरुण का आह्वान करता हूँ । सवितृ देव हमारी सहायता के लिये हैं। वे प्रत्येक मनुष्य और देवताओं को अपने–अपने कार्य में निवेशित करते हैं। सम्पूर्ण प्राणियों पर दृष्टि रखते हैं। ज्ञान और चेतना का सम्बन्ध और उत्तम तेज की जो प्राप्ति होती है, वह सवितृ देव के ही होती है।

इन सभी देवों के गुण मनुष्य भी धारण करें। जैसे अग्नि, मित्र, वरुण आदि देवगण न्यायप्रिय हैं, उसी तरह मनुष्य भी न्याय प्रिय हो। सवितृ देव वह ज्योति हैं जो आकाश में सतत् विद्यमान हैं। अजस्र ज्योति है। देवों के लिये धृतव्रत विशेषण इसीलिये है कि वे अपने कर्म से विचलित नही होते।

व्रत उपासकों के लिये भी आया है। वेद यजमान उपासक को भी यही ओदश देता है। मित्र एवं वरुण उसी यजमान का हविष स्वीकार करतें हैं जो व्रत का पालन करते समय विचलित नही होते। वेद में प्रतिपादित ऋत, नियम, व्रत, सत्य, कल्याण, दान, यज्ञ, तप, इच्छा, क्रिया, ज्ञान कुछ ऐसे शब्द हैंजो मनुष्य और देवों को पालन करना पड़ता है। इन सभी के कर्म पर वरुण की निरन्तर दृष्टि रहती है। वेद में नैतिक पक्ष के अधिष्ठाता के रूप में वरुण को देखा गया है। दण्ड का विधान भी वही करते हैं। उपर्युक्त सभी व्रतों का पालन जो भी नहीं करता, वरुण उसके लिये दण्ड देने का विधान करते हैं। अनृत व्यक्ति को कभी भी नही छोड़ता। देवगण दुराचारी व्यक्तियों के शत्रु हैं। उनके पास बांधने के लिये रस्सी नहीं है फिर भी उन्हें अपने पाश में बांध ही लेते हैं। अपने अन्दर जो सुविचार आते हैं वह भी देवों के कारण। इसलिये सुविचारों पर ध्यान देना मनुष्य का कर्तव्य हैं क्योंकि प्रत्येक विचार पर , प्रत्येक कार्य पर देवों की दृष्टि प्रति क्षण रहती है। उनके निरीक्षण में कभी भी कोई त्रुटि होने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिये जो कर्म हम कर रहे है। अथवा भविष्य में करने के लिये उद्यत होंगे सभी को सत्य एवं ऋत आदि के नियम के अनुसार ही सम्पन्न करें।

पर्जन्य देवता तृप्त करने वाले देव हैं। पृथिवी एवं संसार के हितैषी देव हैं। अन्नाद के उत्पादक देव है। परन्तु सम्पूर्ण विश्व उनसे डरता है (विश्वं भुवनं विभाय)। पर्जन्य के कारण पृथिवी, पृथिवी हो जाती है। वृक्ष वनस्पतियां नाना रूप धारण करती हैं। ये देवों के सब प्राकृतिक यज्ञ हैं। मनुष्य भी देवों के आधार पर अपने कर्म निर्धारित करे। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के निवासी अग्नि के व्रत का पालन करते हैं। यही वैदिक

धर्म का रहस्य है। प्रत्येक मनुष्य को इसका आदर करना चाहिये। सृष्टि में एक सुदृढ़ व्यवस्था का निर्माण करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि देवता बुद्धिपूर्वक किये जाने वाले कर्म को ही धारण करते हैं। मनुष्य धर्म के मार्ग का ही अनुशरण करे। त्रेतायुग में भगवान् श्रीराम ने यही कहा कि– मैं धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग का अनुशरण कर रहा हूँ।

नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये । पूर्वैरयमभिप्रेते गते मार्गोऽनुगम्यते।।

ऋषियों ने जिस धर्म का अनुशरण किया उस धर्म का महर्षि वाल्मीकि ने राम के चरित में दर्शन किया।

2.8.1 वैदिक धर्मानुशासन का वैशिष्ट्य

वैदिक धर्मानुशासन का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि यह व्यवस्था सार्वभौमिक है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के लिये, सभी वर्गो के लिये, सभी प्राणियों के लिये है। इसका अर्थ यह है कि सब की धर्म में कैसे प्रवृत्ति हो, सब को कैसे धर्म अर्थात् न्याय प्राप्त हो, इसका सूत्र हमारे वेद प्रदान करते हैं। इनमें जो तत्त्व हैं वे सभी धर्मो में समान रूप से प्रतिष्ठित हैं। ऋत एवं सत्य का माहात्म्य सभी भारतीय सम्प्रदाय चाहे वह भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म हो अथवा भगवान् महावीर जी द्वारा उपदेशित जैन धर्म या भारतीय चिन्तन परम्परा से सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदाय, सबके सब इस बात पर एकमत हैं, क्योंकि सभी सृष्टि के नियामक तत्त्व पर ही प्रतिष्ठित हैं। वैदिक धर्मानुशासन के जो मुख्य तीन तत्त्व हैं अर्थात् परम ब्रह्म की सत्ता, उसके प्रतिरूप देवगण तथा दृश्यमान यह जगत्, उसका परम आनन्द सामाजिक परिप्रेक्ष्य में तीन तत्त्वों पर ही प्रतिष्ठित है। धर्म के अधिष्ठान के रूप में उपस्थित तथा सत्य एवं ऋत के प्रतिरूप राष्ट्र के न्याय मन्दिर, देवगण के रूप में जिनकी सत्ता है, सत्य की प्रमाणिकता के लिये जो प्रतिबद्ध हैं अथवा जो सहज ही सत्य असत्य का भेद समझ लेते हैं, ऐसे विधिशास्त्र के महान् भारतीय पण्डित तथा समस्त जड़ और चेतन जो अपने आनन्द के प्रवाह के लिये इनकी ओर देखते हैं। यदि ब्रह्माण्डीय नियम और पार्थिव नियम में सामंजस्य हो जाय तो सम्पूर्ण विश्व के लिये भारत धर्माध्यक्ष के रूप में स्वीकार होगा।

2.9 आगमिक अर्थात् आगम परम्परा का स्वरूप

महाभाष्यकार पतंजलि आगम का अर्थ वेद करते हैं। आगम का व्यवहार शब्द प्रमाण के लिये भी किया जाता है। उसके बाद के आचार्यों ने जैसे कुमारिलभट्ट, ईश्वरकृष्ण आदि ने आगम का अर्थ मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद राशि के रूप मे किया है लेकिन कालान्तर में आगम शब्द का अर्थ सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थों से लिया जाने लगा। प्रस्तुत विषय में आगम शब्द का व्यवहार प्रमुख पांच सम्प्रदायों के सम्बन्ध में कर रहे हैं। ये सम्प्रदाय हैं– वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर सम्प्रदाय। वैष्णव सम्प्रदाय अथवा वैष्णव आगम में विष्णु प्रधान देवता हैं। शैव आगम में शिव प्रधान देवता हैं। शाक्त आगम में शक्ति प्रधान हैं जबकि गाणपत्य में गणेश जी प्रधान देवता हैं एवं सौर सम्प्रदाय में सूर्य की उपासना की जाती हैं। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि जब महाभाष्यकार पतंजलि आगम का अर्थ वेद करते है तो इसका अर्थ सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थों अथवा अन्य विषयों के साथ कैसे है। इसका उत्तर यह है कि ये सभी के सभी सम्प्रदाय मूल रूप से वेद का ही अनुशरण करते हैं। इसलिये ये भी वेद के ही स्वरूप हैं अथवा ये अपने–अपने सम्प्रदाय के लिये वेद ही हैं। ये सम्प्रदाय विशेष के लिये

धर्मशास्त्र अथवा धर्म के अनुशासन के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

2.9.1 आगम परम्परा का संरचनात्मक स्वरूप

वैष्णव एवं शैव आगम मुख्य रूप से चार अंगों में प्रस्तुत किये गये हैं–

1. ज्ञानपाद
2. क्रियापाद
3. योगपाद
4. चर्यापाद या अर्चा

श्रुति (वेद और आगमशास्त्र) में इसका एक–एक अंग भी मुक्ति का कारण माना गया है फिर सभी अंगों को एक साथ अनुष्ठान किया जाय या पालन किया जाय तो फिर मोक्ष की प्राप्ति के लिये कहना ही क्या है अर्थात् अतिशीघ्र मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

एकैकमपि चास्यांग मुक्तिदं कीर्तितं श्रुतौ।
किमु वाच्यं नु सर्वांगकलितं मोक्षदं त्विति।। मकुटागम 49

शैव देवशास्त्र में में लिंग सदाशिव की मूर्ति है। जो उनके पूर्णता का चिन्ह है। शम्भोर्वदनपंचकम् अर्थात् सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान के रूप में भगवान् शिव का स्वरूप है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में कहा गया है– सदाशिवाख्यं विज्ञेयं पावनं तस्य पंचमम् । शैव आगम की पूजा पद्धति ही उस सम्प्रदाय का धर्मशास्त्र है। अघोरशिवाचार्यकृत क्रियाक्रमोद्योतिका या अघोरशिवाचार्य पद्धति नामक ग्रन्थ में विस्तार के साथ इसका विवेचन किया गया है। इस श्रेणी में कुछ और भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि शैव आगम के जितने भी मूल ग्रन्थ हैं , उसके प्रवक्ता स्वयं भगवान् शिव हैं। इसलिये मूल आगम के ग्रन्थ के अनुसार अपने सभी कार्य का सम्पादन करना ही इस सम्प्रदाय का धर्म है।

2.9.2 प्रमुख वैष्णव आगम

वैष्णव आगम के अन्तर्गत दो सम्प्रदाय हैं– पांचरात्र और वैखानस । वैखानस सम्प्रदाय पांचरात्र आगम से थोड़ा प्राचीन है। इसके संस्थापक वैखानस ऋषि हैं। इसके तीनों शब्द महत्त्वपूर्ण है– वि+ नखन्+ अस् । यहाँ नख = न + ख। न का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् नहीं और ख, ज्ञानेन्द्रिय के अर्थ में है । कहने का तात्पर्य यह है कि जहां कोई विषेश ज्ञानेन्द्रिय नहीं है। इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि – तत्त्वज्ञान में निरन्तर रत रहने वाले, वैखानस के रूप में प्रतिष्ठित हुये। ब्रह्मवादिभिः कहा गया है।

ंन विद्यन्ते खानि इन्द्रियाणि येषां ते नखाः।

न नखाः विनखाः। नख बदलकर खन हो गया। खन् खनने धतु से विखनाज् अथ्रत् गहराई तक खनन करने वाले, तत्त्व ज्ञान में निरन्तर रत। आनन्द संहिता में इन्हें रूप में वर्णित किया गया है–

अन्तर्हितानां खननात् वेदानां तु विशेषतः।
स प्रभुः प्रोच्यते सर्वैर्विखना ब्रह्मवादिभिः।। आनन्द संहिता

ताण्ड्यब्राह्मण में कहा गया है— ब्रह्मा विखना मुनिः अर्थात् ब्रह्मा ही विखना मुनि के रूप में वैखानस आगम के प्रवर्तक हैं। इस आगम का अनुशासन महर्षि अत्रि, मरीचि, भृगु एवं कश्यप के द्वारा विभिन्न ग्रन्थों के माध्यम से आगे बढता है। इस परम्परा अथवा धर्म को मानने वाले तप एवं आचार के साथ विष्णु की पूजा विधि—विधान के साथ करने वाले कहे गये हैं। इस सम्प्रदाय को श्रीवैखानस भागवतशास्त्र भी कहा गया है। परम्परा की दृष्टि से इस सम्प्रदाय के मुख्य रूप से दो विभाग हैं— दैविक एवं मानुषिक। दैविक के अन्तर्गत विग्रह से सम्बन्धित सभी प्रकार के अंग आते हैं जबकि मानुषिक कर्म के अन्तर्गत अठारह संस्कारों के पालन का विधान है।

पांचरात्र आगम में वासुदेव सर्वोच्च देव के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वसुदेव के पुत्र ही वासुदेव हैं। विष्णुपुराण(1.8) में कहा गया है कि— कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। पांचरात्र आगम पांच रूपों में ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करता हैं। ये पांच रूप हैं— पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामिन् और अर्चा। पर, ईश्वर का उच्चतम बिन्दु है । व्यूह के अन्तर्गत चार देवों की उपस्थिति है। ये चार देव हैं— वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इन्हें कृष्ण, पीत, रक्त एवं श्वेत रंग में प्रतीक स्वरूप बताया गया है। वस्तुतः ये चार देव कृतयुग, त्रेता युगत्र द्वापर युग एवं कलियुग के प्रतीक स्वरूप हैं। व्यूह का तात्पर्य व्यक्ति की वैयक्तिक चेतना में विद्यमान मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार जिसका व्यूह तत्त्व के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

विभव के अन्तर्गत उस सर्वोच्च शक्ति के विभिन्न अवतार या स्वरूप है। अन्तर्यामिन् के रूप में वह विश्व का नियन्ता एवं शासक है जो पुरुष के रूप में सब में प्रतिष्ठित है। अर्चा के अन्तर्गत पूजन के लिये विग्रह सम्बन्धी सभी तन्त्र एवं पूजन पद्धति का समावेश किया गया है। यहाँ विग्रह से किसी स्थूल तत्त्व को नहीं ग्रहण करना चाहिये। वस्तुतः विग्रह का तात्पर्य भगवान् की साक्षात् उपस्थिति ही माना जाता है। यहाँ धारण करने का जो मूल सिद्धान्त है वह यह कि सब तरह की स्वार्थपरता एवं सम्पूर्ण इच्छाओं को त्यागकर वासुदेव की आराधना एवं पूजन जो मोक्ष प्रदान करने वाली है। भागवतपुराण में कहा गया है—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

ज्ञानपाद के अन्तर्गत सम्प्रदाय विशेष के दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। क्रियापाद के रूप में मन्दिर सम्बन्धी सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है। जैसे विग्रह एवं देव मूर्तियों का निर्माण, मन्दिर का निर्माण, मन्दिर की व्यवस्था से सम्बन्धित अन्य भवनों का निर्माण। चर्यापाद के अन्तर्गत नित्य नैमित्तिक पूजन विधान के साथ उत्सव आदि के आयोजन का स्वरूप भी प्रस्तुत किया गया है। ईश्वर सान्निध्य प्राप्त करने के चार साधन हैं—जप, होम, अर्चना और ध्यान। कौन इसे कर सकता है, इसका विधान हमारे आगम ग्रन्थ चर्यापाद के अन्तर्गत करते हैं। पूजा प्रक्रिया के चार प्रकारों का भी वर्णन अर्थात् भूमि पर, जल, हृदय, सूर्य परिक्रमा एवं अमूर्त उपासना के साथ साकार उपासना के विषय में निश्चित नियम प्रस्तुत किये गये हैं। मुख्य उद्देश्य विग्रह पूजा के महत्त्व का प्रतिपादन करना है क्योंकि मानसिक, याज्ञिक एवं विग्रह पूजन में विग्रह पूजन श्रेष्ठ है। विग्रह के प्राण प्रतिष्ठा में केवल वैदिक मन्त्रों का ही प्रयोग किया जाता है। यदि विग्रह की प्रतिष्ठा घर में कर रहे हैं तो विग्रह की लम्बाई छः इन्च से कम होनी चाहिये। विग्रह पूजन की परम्परा वैखानस आगम की ही देन है। पांचरात्र आगम ने भी इसे सवीकार किया लेकिन साथ में और भी बहुत से तत्त्वों को इसमें

समाहित किया। जैसे कि– यन्त्र, मण्डल, मुद्रायें, आदि। वैष्णव आगम की परम्परा में संसारमुक्ति चार प्रकार से हो सकती है– सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य। इसमे सायुज्य से वैकुण्ठलोक की प्राप्ति होती है। इस आगम की परम्परा में पांच नित्य कर्म हैं–

1. अभिगमन अर्थात् पूजन के लिये मन्दिर जाना दूसरे कर्त्तव्यों को पूर्ण करके।
2. उपादान अर्थात् पूजन सामग्री का संकलन।
3. इज्या अर्थात् वास्तविक रूप से पूजन
4. स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन
5. योग, विशेष रूप से रात्रि में योगाभ्यास

आगम परम्परा में योगपाद का स्वरूप अद्‌भुत है। वस्तुतः सभी आगम पतंजलि के योगसूत्र को ही ग्रहण करते हुये परमेश्वर के परम सान्निध्य का उपाय खोजते हैं।

आगमों ने एक ऐसे सम्प्रदाय की स्थापना की जिसके माध्यम से ईश्वर की उपासना परिमित स्वरूप में किया जा सके। जैसे–जैसे उपासना बढ़ेगी आप परिमित से अपरिमित की ओर बढ़ते चले जायेंगे। आप के अन्तःकरण में ध्यान शक्ति का जागरण होता चला जायेगा। उपासना की यह परम्परा जो आगम के रूप में प्रवर्तित हुई , वही तीनों रूपों में अर्थात् शैव, वैष्णव और शाक्त आगम के रूप में प्रवर्तित हुई। यह यात्रा शिव और विष्णु की उपासना की यात्रा है जिसमें शक्ति तो निहित ही हैं। इन्हीं तत्त्वों का वर्णन सभी पुराणों में हुआ है जो पूर्ण रूप से वैदिक एवं आगमिक तत्त्वों पर आधारित हैं लेकिन देवों का मानवीकरण एवं लौकिक छन्दों की उपस्थिति उसें और गरिमा प्रदान करती है।

2.10 सारांश

सभी पदार्थों का अपना अपना एक स्वभावगत धर्म होता है। जब सृष्टि नहीं थी तो धर्म भी नही था। 'धर्म' को समझने के लिए सृष्टि के बाद 'यज्ञ' पर विचार करना आवश्यक है। जो मनुष्य करते है वह देवता के लिए अनुकरणीय नहीं है, परन्तु देवकार्य मनुष्यों के लिए अनुकरणीय है ऐसा वैदिक शास्त्र कहते हैं। ऋषियों की अन्तश्चेतना में जिस ज्ञान विज्ञान का आगमन होता है वही धर्म का प्रथम साक्षात्कार है। तपस्यारत ऋषियों की अन्तश्चेतना में 'ब्रह्म' अर्थात् अपौरुषेय वेद प्रकट हुआ। यही धर्म का प्रथम स्वरूप है। पुनः **ऋषियों ने** उपदेश के माध्यम से उसे बाहर करते हैं। यह सब कार्य एक निश्चित नियम एवं सिद्धान्त के साथ प्रचलित हुआ। वैदिक धर्म का तातपर्य है कि निश्चित नियम एवं सुनिश्चित व्यवस्था का स्वरूप और उसका पालन जो सत्य पर प्रतिष्ठित है। अतः हम कह सकते हैं कि निश्चित नियम एवं सिद्धान्त को आचरण में लाना एवं उसका पालन करना ही वैदिक धर्म है।

यज्ञ धर्म का ही स्वरूप है। पुराण देवताओं को मानव की आकृति के रूप में प्रस्तुत करते हैं परन्तु मन्त्र में देवों का स्वरूप सृष्टि से सम्बन्धित है। वे देव सृष्टि के धारक तत्त्व हैं। देवों ने जो यह यज्ञ सम्पादित किया है वह शाश्वत यज्ञ सृष्टि यज्ञ है। यही यज्ञ सबको धारण करता है। यही धर्म है।

अतः वेद जिस कर्म को करने का उपदेश करें वही धर्म है तथा जिसका निषेध करें वह अधर्म है। गौतम धर्मसूत्र में स्पष्ट कहा गया है– **वेदो धर्ममूलम्** । आपस्तम्ब ने

अपने धर्मसूत्र में कहा कि जो धर्म को जानने वाले हैं, जो वेद को जानते हैं, उनका मत ही धर्म के लिये प्रमाण है। महर्षि वसिष्ठ ने इसका और विस्तार करते हुये कहा कि वेद और स्मृतियाँ के द्वारा जो कर्म निश्चित किये गये हैं, वह धर्म है, **श्रुतिस्मृतिविहितो घर्मः**। इसी वैदिक घर्म को आगम परम्परा ने तथा उसके बाद पौराणिक परम्परा ने स्वीकार किया है। मूलभूत तत्त्व सभी परम्राओं में एक ही हैं। जैसे सत्य का पालन आदि।

2.11 पारिभाषिक शब्दावली

1. **धर्म–** संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से धारणार्थक 'धृ' धातु से मन् प्रत्यय करने पर धर्म शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ– धारण करना, पालन करना तथा आचरण करना आदि हैं।
2. **आगम–** महाभाष्यकार पतंजलि आगम का अर्थ वेद करते हैं। आगम का व्यवहार शब्द प्रमाण के लिये भी किया जाता है। आचार्यों ने आगम का अर्थ मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद राशि के रूप मे किया है लेकिन कालान्तर में आगम शब्द का अर्थ सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थों से लिया जाने लगा।
3. **ज्ञानपाद–** ज्ञानपाद के अन्तर्गत सम्प्रदाय विशेष के दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जाता है।
4. **क्रियापाद–** इसके अन्तर्गत मन्दिर सम्बन्धी सभी तत्त्वों का समावेश हो जाता है। जैसे विग्रह एवं देव मूर्तियों का निर्माण, मन्दिर का निर्माण, मन्दिर की व्यवस्था से सम्बन्धित अन्य भवनों का निर्माण आदि।
5. **चर्यापाद–** नित्य नैमित्तिक पूजन विधान के साथ उत्सव आदि के आयोजन का स्वरूप चर्यापाद के अन्तर्गत प्रस्तुत कियाजाता है।
6. **योगपाद –** आगम परम्परा में योगपाद का स्वरूप अद्‌भुत है। वस्तुतः सभी आगम पतंजलि के योगसूत्र को ही ग्रहण करते हुये परमेश्वर के परम सान्निध्य का उपाय खोजते हैं।
7. **विग्रह–** विग्रह का तात्पर्य भगवान् की साक्षात् उपस्थिति ही स्वीकार किया जाता है।
8. **वैखानस–** वैष्णव आगम के अन्तर्गत दो सम्प्रदाय हैं– पांचरात्र और वैखानस। वैखानस सम्प्रदाय पांचरात्र आगम से थोड़ा प्राचीन है। इसके संस्थापक वैखानस ऋषि हैं।

2.12 अभ्यास प्रश्न

1. वैदिक साहित्य का तात्पर्य है

   क) वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् एवं वेदांग

   ख) वेद एवं वेदांग

   ग) वेद एवं उपनिषद्

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. धर्म शब्द की व्युत्पत्ति होती है –

   क) विद् धतु से घञ् पंत्यय करने पर

ख) धारणार्थक 'धृ' धातु से मन् प्रत्यय करने

ग) ऋ गतौ धातु से

घ) विद् विचारणे धातु से

3. धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः। यह अंश लिया गया है–

क) ऋग्वेद संहिता से

ख) वाल्मीकि रामायण से

ग) महाभारत से

घ) पांचरात्र आगम से

4. पांचरात्र आगम आगम का सम्बन्ध है –

क) शिव जी की उपासना से

ख) सूर्य की उपासना से

ग) काली की उपासना से

घ) वासुदेव अथवा नारायण की उपासना से

5. वैदिक धर्मानुशासन का वैशिष्ट्य है कि–

क) वैदिक धर्मानुशासन सार्वभौमिक अर्थात् सभी के लिये है।

ख) केवल वैष्णव सम्प्रदाय के लिये है।

ग) वैदिक धर्मानुशासन केवल वेद पाठ करने वालों के लिये है।

घ) उपर्युक्त में से किसी के लिये नहीं।

6. मुख्य रूप से धर्म के कितने उपादान है–

क) ग्यारह

ख) पांच

ग) तीन

घ) सात

7. श्रुतिप्रमाणको धर्मः, यह वचन किस आचार्य का है–

क) महर्षि याज्ञवल्क्य

ख) आपस्तम्ब

ग) हारीत

घ) उपर्युक्त सभी गलत हैं

1- वेद में धृतव्रत किसे कहा गया है–

क) अश्विनौ

ख) मरुत्

ग) सूर्या

घ) वरुण

2. इनमें से किस ग्रन्थ में धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा कहा गया है–

क) तैत्तिरीय आरण्यक

ख) ऋग्वेद सेहिता

ग) शतपथ ब्राह्मण

घ) ईशावास्योपनिषद्

3- महर्षि वसिष्ठ के द्वारा इनमें से कौन सा वाक्य कहा गया है–

क) वेदो धर्ममूलम्

ख) श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः

ग) धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

घ) उपर्युक्त में से कोई नही

4. निम्नलिखित में से कौन सा तत्त्व धर्म शब्द को परिलक्षित नहीं करता है–

क) व्यक्तिगत धर्म

ख) सामाजिक धर्म

ग) अनैतिक कर्म

घ) सृष्टि के नियम

5- निम्नलिखित में से मनुष्य का धर्म किस प्रकार होना चाहिये–

क) गतिशील होना चाहिये

ख) समय के अनुसार धर्म का पालन करना चाहिये

ग) दूसरों के दिशा निर्देश के अनुसार होना चाहिये

घ) देवों की भांति निश्चल और सत्य होना चाहिये

6- निम्नलिखित में कौन सा नाम वैखानस आगम का दूसरा नाम है –

क) श्रीवैखानस भागवतशास्त्र

ख) परम भागवत

ग) सिद्धान्त शैवागम

घ) शब्दाद्वैत आगम

7- विग्रह से क्या तात्पर्य है–

क) देव विशेष का पूजन है।

ख) विग्रह का तात्पर्य भगवान् की साक्षात् उपस्थिति है।

ग) विग्रह का तात्पर्य उत्सव मूर्ति से है।

घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

8. इनमें से किस ऋषि का सम्बन्ध वैखनस आगम के साथ नहीं है–
   क) अत्रि,
   ख) मरीचि
   ग) विश्वामित्र
   घ) भृगु एवं कश्यप
9- इसमे वैकुण्ठलोक की प्राप्ति किससे होती है।
   क) सालोक्य
   ख) सारूप्य
   ग) सामीप्य
   घ) सायुज्य से

2.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.(क), 2. (ख), 3.(ग), 4..(घ), 5.(क), 6.(ख), 7.(ग), 8.(घ), 9.(क), 10. (ख), 11.(ग), 12.(घ), 13.(क), 14. (ख), 15.(ग), 16. (घ)

2.14 सन्दर्भग्रन्थ

1. संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास प्रथम खण्ड, वेद, प्रधान सम्पादक-पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, सम्पादक-प्रो0 व्रजबिहारी चौबे, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996
2. निरुक्तम्, महामहोपाध्याय श्री छज्जूराम शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2016
3. ए प्रेक्टिकल वैदिक डिक्सनरी, सूर्यकान्त आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली-1981
4. वैदिक कोषः हंसराज एवं भगवद्दत्त, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2002
5. शब्दकल्पद्रुम : राधाकान्तदेव बहादुर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, विक्रम सम्वत् 2024
6. ऋग्वेद संहिता, (पाँचभाग) सायण–भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे
7. ऋग्वेद संहिता, (चार भाग) हिन्दी अनुवाद सहित, स्वाध्याय मण्डल पारडी
8. धर्मशास्त्र का इतिहास, (पाच भागों मेँ) भारतरत्न, महामहोपाध्याय डॉ॰ पाण्डुरंग वामन काणे, अनुवादक– प्राध्यापक अर्जुन चौबे, हन्दिी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
9. धर्मशास्त्रीय विषयों का परिशीलन, डॉ॰ श्रीधर त्रिपाठी, मिथिला शोध संस्थान ग्रन्थमाला, नवीन ग्रन्थमाला 12, मिथिला संस्कृत विद्यापीठ, दरभंगा, 1999
10. गौतम धर्मसूत्राणि, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ॰उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, विक्रम सम्वत् 2050

11. बौधायन धर्मसूत्रम्, हिन्दी व्याख्याकार– डॉ.उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, विक्रम सम्वत् 2065

12. हिन्दू जीवन पद्धति, डॉ॰ कामेश्वर उपाध्याय, त्रिस्कन्ध ज्योतिष प्रकाशन, देवतायन, 96 जानकीनगर, वाराणसी, 2011

13. श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत महाभारत, प्रथम, तृतीय एवं पंचम खण्ड, (सरलहिन्दी अनुवाद सहित) गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 2053

2.15 बोध प्रश्न

सृष्टि का

इकाई 4 वैदिक, श्रमण एवं श्री गुरूग्रन्थ साहिब के धर्म विषयक संयोजक सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

वैदिक, श्रमण एवं श्रीगुरुग्रन्थ साहिब के धर्मविषयक संयोजक सिद्धान्त विषय पर केन्द्रित इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

1. धर्म का तात्पर्य क्या है, इससे परिचित हों सकेगे।
2. इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप वैदिक धर्म से परिचित हो सकेगें।
3. इस इकाई के अध्ययन के बाद आप श्रमण परम्परा को भी जान सकेगें।
4. इस इकाई के अध्ययन के बाद आप श्रमण परम्परा के धर्मविषयक तत्त्वों को भी समझ सकेगें।
5. इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह परिभाषित कर सकेगें कि किस प्रकार वैदिक धर्म एवं श्रमण परम्रा का धर्मानुशासन है।
6. इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह परिभाषित कर सकेगें कि श्रीगुरुग्रन्थ साहिब में धर्मविषयक तत्त्वों को किस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है।
7. इस इकाई के अध्ययन के बाद आप वैदिक, श्रमण एवं श्रीगुरुग्रन्थ साहिब के धर्मविषयक संयोजक सिद्धान्तों को एकसूत्र में रखकर देख सकते हैं।

4.1 प्रस्तावना

आर्यावर्त अथवा सप्तसैन्धव प्रदेश में अंकुरित एवं पुष्पित तथा उपनिषद् काल में जिस क्षेत्र को अपने ज्ञान के आलोक से सम्पूर्ण विश्व को आप्लावित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, ऐसे पाटलिपुत्र एवं उसके आस–पास की धरती पर महनीय भारत की चार प्रमुख ज्ञान अथवा धार्मिक परम्परायें कालक्रम से उपस्थित हुईं। ईश्वर की इस महनीय प्रस्तुति को हम वैदिक,, बौद्ध, जैन और सिक्ख धर्म के रूपमें प्राप्त करते हैं । निस्संदेह इन चारों धर्मों ने विश्व में अपनी स्वतन्त्र वैश्विक पहचान स्थापित की है। इन सभी धर्मों में अनेक पन्थ, विभिन्न सिद्धान्तों को मानने वालों के साथ–साथ अनेक प्रकार की साधना–पद्धति के होते हुये भी सामाजिक सामंजस्य और उत्तरदायित्व का वैश्विक दृष्टिकोण और जीवनशैली में विभिन्नता होते हुये भी, भारत के लिये ये सभी धर्म अन्तःकरण में एक हैं। इन्ही के माध्यम से भारत, अपनी एकता का अक्षुण्ण रूप प्रस्तुत करते हुये सम्पूर्ण विश्व को एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत करता हैं। भारतीय समाज की समाजिकता को देखने और समझने और सामाजिक जीवन को जीने से सम्बन्धित बहुत से धर्म हैं जिन के दार्शनिक केंद्र–बिंदु भी अलग–अलग हैं, इन्हीं धर्मो में बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख हैं जिनकी सामाजिक जीवन को जीने की व्यवहारिक शैली भी भिन्न है।

इसी प्रकार सिख धर्म का उदय भी इसी सनातन ज्ञान परम्परा में से हुआ और इसका दार्शनिक केन्द्र–बिन्दु 'ब्रह्म–जीव–जगत्' की परिकल्पना पर ही संचालित है। सिख धर्म की विशिष्टता यह है कि इसने 'अद्वैत' दर्शन को व्यावहारिक स्तर पर जीवन–जीने का एक मार्ग प्रशस्त किया। सिख धर्म के आधार में मौजूद अद्वैत दर्शन जहाँ इसे भारतीय सनातन परंपरा से जोड़ता है वहीं इसका व्यावहारिक पक्ष इसे एक विशिष्ट धर्म के रूप में भी स्थापित करता है।

ईश्वर को न मानने पर भी सत्य की खोज में सर्वस्व न्योक्षावर कर देने वाली दो परम्परायें हैं– बौद्ध तथा जैन। इन दोनों परम्पराओं में ऐसे ईश्वर को कोई प्रधानता नही दी गई जो सृष्टि का स्रष्टा अथवा नियन्ता हो तथापि ये दोनों परम्परायें सत्य की खोज को अत्यन्त महत्त्व देती हैं। सुत्तनिपात में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि सत्य का रस सबसे अधिक स्वादु है – **सच्चं हे व सादुतरं रसानं** (1.10.2)। आगे वे कहते हैं कि शाश्वत धर्म यह है कि सत्य वाणी ही अमृत है– **सच्चं वे अमता वाचा** (3.29.4)। उन्होंने यह भी कहा कि– असत्यवादी नरक में जाता है– **अभूतवादी निरयं उपेति** (3. 36.5)।

26वीं शतताब्दी ईसा पूर्व भगवान् ऋषभदेवके बहुत लम्बे समय बाद चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म तब हुआ जब विभिन्न धर्मों के बीच संवाद की आवश्यकता थी। बारह वर्ष की लम्बी तपस्या के बाद भगवान् महावीर ने पहला प्रवचन दिया। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उनके ग्यारह गणधर ब्राह्मण कुल के थे। भगवान् महावीर ने भी सत्य में बुद्धि स्थिर रखने का उपदेश दिया है. **सच्चंमि धिइं कुव्वह** (आचारांग 1.3.2), हे पुरुष तुम सत्य को ही जानो– **पुरिसा सच्चमेव समभिजाणहि** (आचारांग 1.3.3)। सूत्रकृतांग में उल्लेख है कि असत्य प्ररूपणा करने वाले संसार के पार नही जा सकते। प्रश्नव्याकरण नामक ग्रन्थ मे ंतो सत्य को ही भगवान् कह दिया गया है। संसार में सत्य ही सारभूत है– **सच्चं लोगम्मि सारभूयं**।

इस तरह से हम देख सकते हैं कि सत्य आप्त वाक्य की दृष्टि से , सत्य वाक् तथा आचारशास्त्रीय दृष्टि से सत्य भाषण का महत्त्व जैन परम्परा, बौद्ध परम्परा, वैदिक

परम्परा एवं सिख धर्म में समान रूप से आदरणीय, पालनीय एवं सभी धर्मों का मूल तत्त्व होकर धर्मविषयक संयोजक सिद्धान्त का हेतु बन जाता है।

4.2 धर्म का स्वरूप

सभी तरह के आचार एवं व्यवहारशास्त्र का सम्बन्ध धर्म से है। आचार पारम्परिक धर्म है। श्रेष्ठ पुरुषों के आचारण को ध्यान में रख कर अपने आचरण की परीक्षा करनी चाहिए। धर्म से ही विश्व प्रतिष्ठित है। वह स्थिर है। धर्म से पापाचार नही होते। जो तत्त्व समस्त विश्व को धारण करने की शक्ति रखता है, वही धर्म है।

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्यात् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

—महाभारत उद्योगापर्व 9.8

सत्य, मनोनिग्रह, तप, स्वाध्याय, शुचिता, विषयवासनानिग्रह, क्षमा, तत्त्वबोध आदि गुणो को धर्म कहा गया है । धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की प्राप्ति का मूल कारण धर्म ही है। विश्व को धारण करने वाली वह महान् शक्ति जो अपने ही शक्ति से महिमावान् है, जो पुरुष, परमात्मा, परात्पर ब्रह्म आदि नामो से कहा जाता है। उसी परब्रह्म में नामरूप है, जिसका नामरूप नहीं है ऐसा कुछ भी नहीं है।

वैदिक धर्म का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है कि यह व्यवस्था सार्वभौमिक है अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के लिये, सभी वर्गो के लिये, सभी प्राणियों के लिये है। सब की धर्म में कैसे प्रवृत्ति हो, इसका सूत्र हमारे वेद प्रदान करते हैं। इनमें जो तत्त्व हैं वे सभी धर्मो में समान रूप से प्रतिष्ठित हैं। ऋत एवं सत्य का माहात्म्य सभी भारतीय सम्प्रदाय चाहे वह भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म हो अथवा भगवान् महावीर जी द्वारा उपदेशित जैन धर्म या भारतीय चिन्तन परम्परा से गहराई के साथ सम्बन्धित हमारा सिख धर्म, सबके सब इस बात पर एकमत हैं, क्योंकि सभी सृष्टि के नियामक तत्त्व पर ही प्रतिष्ठित हैं और वह तत्त्व है सत्य। सत्य से ही नैतिक धारणा सबल होगी और उससे यश की प्राप्ति होगी। इसी प्रकार विशिष्ट नियमों अथवा आदेशों का पालन आवश्यक है, जिसे हम व्यवस्था का नाम देते हैं। वस्तुतः यही ऋत है। सभी भारतीय धर्मों के मूल में यही दो तत्त्व हैं।

4.3 वैदिक धर्म में दान का महत्व

ऋग्वेद में उदारता एवं दान की चर्चा बार–बार की गई है। दानशील व्यक्ति दीर्घजीवन एवं अमृतत्त्व की प्राप्ति करता है और मृत्यु के पश्चात् देवताओं के उत्तम लोक में गमन करता है। वैदिक, बौद्ध, जैन दर्शन एव सिख धर्म की नैतिक अवधरणाओं अथवा मानवमूल्यों के तुलनात्मक विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि सभी धर्मों में दान एवं उदारता सम्बन्धी विचारधारायें समान रूप से प्रवाहित होती चली आ रही हैं। ऋग्वेद का यह मन्त्र यहां अत्यन्त समीचीन है–

समानी वः आकूतिः समाना ह्रदयानि वः।
समानमस्तु वो मनः यथा वः सुसहासति।।

तुम्हारे प्रयास व लक्ष्य समान हो, तुम्हारे ह्रदय की कामनायें समान हो, तुम्हारे विचार समान हो जिससे कि तुम सब में पूर्ण सहभाव हो।

4.4 वैदिक, श्रमण एवं श्रीगुरूग्रन्थ साहिब के अन्तर्गत पाप–पुण्य की अवधारणा

धर्म के प्रमुख तत्त्वों में महत्वपूर्ण है पाप–पुण्य की अवधरणा जो समान रूप से बौद्ध, जैन, सिख एवं वैदिक धर्म में प्राप्त होती है। जैन दर्शन में शुभ कर्मों को या शुभ कर्म के रूप में उदय हुए शुभ पुद्गलों को पुण्य कहा गया है जिसके अन्तर्गत दीन–दुःखी पर करुणा करना, उनकी सेवा शुश्रूषा करना, गुणी जनों पर प्रमोद भावना रखना, परोपकार करना आदि अनेक प्रकार के कर्म से पुण्य अर्जित किया जा सकता है। जैन शास्त्र परम्परा में इसके कई भेद बताये गये हैं– अन्न–पुण्य, पान–पुण्य, स्थान–पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र–पुण्य, मन–पुण्य, वचन–पुण्य, काय–पुण्य एवं नमस्कार पुण्य दूसरे शब्दों में कहा जाय तो अन्न, जल, औषधि आदि वस्तुओं का दान करना, ठहरने के लिये स्थान देना, मन से प्रशस्त भावना रखना, वचन से मधुर, सत्य और हितकारी निर्दोष बोलना, शरीर से शुभ कार्य करना, देव गुरु, धर्म व अभिभावक आदि को नमस्कार करना इन सभी से पुण्य होता है। इनमें कुछ विषयों पर तो हमारे सिख धर्म में अत्यन्त गरिमा के साथ प्रतिष्ठित किया गया है।

अशुभ कर्मों को पाप संज्ञक स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन में पाप उपार्जन के अठारह कारण माने गये है।। जिन्हें पापस्थान भी कहते हैं। ये हैं – हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान ; झूठा आरोप लगाना, दोषारोपण करना, पैशुन्य, चुगली, परनिन्दा, रति–अरति, पाप में रुचि और धर्म में अरुचि, माया–मृषावाद, कपट सहित झूठ बोलना और मिथ्यादर्शन। वैदिक जीवन दर्शन में भी ये सभी बातें पूर्ण रूपसे ग्राह्य हैं।

ऋग्वेद 7.86.4 में वरुण के सम्बन्ध में उल्लेख है कि–   हे वरुण हमारा वह कौन सबसे बड़ा पाप था जिसके कारण तुम अपने इस मित्र का हनन करते हो–

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं
यत् स्तोतारम् जिघांससि सखायम्।।

वस्तुतः मानव मूल्यों का सम्बन्ध मन, वाणी और कर्म से सम्बन्धित है। समाज की विभिन्न पृष्ठभूमियों पर प्रत्येक व्यक्ति से विभिन्न प्रकार के व्यवहारों की आकांक्षा की जाती है। इसीलिये प्रत्येक समाज में उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप मानवीय व्यवहारों से सम्बन्धित विभिन्न विधि–विधानों का आकलन किया जाता है। वैदिक दर्शन में जैन दर्शन की तरह यह समान रूप से परिलक्षित होता है। वहाँ नैतिकता की जो सबसे प्रमुख पीठ है वह है सत्य एवं ऋत के अनुसार आचरण। इसके अनुसार जो आचरण नहीं करता उसे अव्रत कहा जाता है और उसका परिणाम भोगने के लिए अन्धकार से पूर्ण लोकों में गमन करना पड़ता है। इसीलियेँ वरुण को नैतिकता के देवता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है और इसीलिये उन्हें धृतव्रत कहा गया है। जहाँ तक वैदिक दर्शन में मानवीय कर्मों की बात है – सत्यशील व्यक्ति को अच्छे और बुरे कर्मों में विभेद करना पड़ता है और जो कल्याणकारी है उसका चुनाव करना पड़ता है। मन, वचन और कर्म में सत्य का समावेश ही शुभ परिणामों का प्रदाता माना गया है–

ते सत्येन मनसा दीध्यानाः (ऋग्वेद. 7.90.5)

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर असत्य से रक्षा करने के लिये देवताओं का आह्वान किया

गया है। ऋषियों ने देवताओं की बार–बार प्रार्थना की है कि वे उन्हें ऐसी शक्ति दें जिससे वे सत्य को छोड़कर कुछ भी न बोलें। सूर्य के द्वारा सत्य का विस्तार किया गया है और वह समस्त सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण करता है। इस प्रकार सत्य की अवधरणा से समस्त मानवीय कर्म आवेष्टित हैं। असंयम, क्रोध एवं इस प्रकार के अनेक संवेगों को पाप के रूप में माना गया है। ऋषियों ने यह कामना की है कि क्रोध अभिभूत न करे और यज्ञ करने वाले के मन से इसको दूर किया जाय जिससे उनके मन में यह पाप को विकसित न कर सके।

प्रमाद, नशा एवं द्यूतक्रीडा आदि भी अनैतिक कर्मों के अन्तर्गत स्वीकार किये गये हैं। वस्तुतः ये ऐसी बुराइयाँ है जो मानव के व्यक्तित्व के ऊपर मैल का आवरण बनाती हैं और व्यक्ति के विकास में अवरोध बनकर खड़ी रहती है। ऋग्वेद का यह कथन कि कठिन परिश्रम के बिना देवताओं का सख्यभाव नहीं प्राप्त होता। (न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः – ऋग्वेद 4.33.11)। यह इस बात का प्रमाण है कि प्रमाद या आलस्य नैतिकता के मूल्यों के विरुद्ध है। इसी प्रकार सुरापान एवं द्यूतक्रीडा भी गर्हित मानी गई है। अतिथि–सत्कार, दान, दया, उदारता, मानवता आदि विहिति कर्त्तव्यों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत इनका अभाव पाप के अन्तर्गत आता है। वैदिक धर्म में तो यह नियम ही था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मित्राों एवं अतिथियों के साथ बाँटकर ही भोजन करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अकेले भोजन करता है तो वह पाप ही खाता है एवं उसे ऊर्ध्वलोक में स्थान नहीं प्राप्त होगा।

न स सखा यो न ददाति सख्ये। ऋग्वेद 10.11.4

जिस भोजन को न तो अर्यमन् को समर्पित किया गया हो और न किसी मित्र को ही, ऐसा भोजन ग्रहण करने वाला मात्र पाप का भक्षण करता है। यह भोजन उसकी मृत्यु का प्रतिरूप है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध्इत् स तस्य।
नार्यमणं पुण्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। ऋग्वेद 10.117.6

4.5 वैदिक धर्म एवं जैन धर्म के प्रमुख संयोजक तत्व एवं सिद्धान्त

वैदिक दर्शन के दो पक्ष हैं– पूर्वमीमांसा दर्शन और उत्तरमीमांसा दर्शन। दोनों के प्रथम सूत्र से इनके सैद्धान्तिक पक्ष को समझा जा सकता है। मीमांसा सूत्र का प्रथम सूत्र है – **अथातो धर्म जिज्ञासा**, अब इसलिये धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिए और वेदान्त सूत्र का प्रथम सूत्र है – **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** अर्थात् ब्रह्म या ज्ञान की जिज्ञासा करना चाहिए। यद्यपि ऐसे भी आचार्य हैं जो दोनों को एक ही शास्त्र मानते हैं और उनमें भगवान रामानुजाचार्य जी का नाम लिया जा सकता है। महर्षि जैमिनि मीमांसा सूत्र के रचयिता हैं।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है कि समन्वय की दृष्टि तभी प्रकाशित होती है जब शास्त्राीय परम्परा के सभी पक्ष स्पष्ट हों। वैदिक परम्परा के बारे में जो विभाजन हुआ उसके बाद की पीढ़ी ने या आचार्य परम्परा ने एक पक्षीय घोषित कर दिया अर्थात् उपासना, कर्म एवं ज्ञान के समुच्चय को वगीकृत करके उन्हें अलग–अलग संज्ञाओं से विभूषित किया गया जबकि भारतीय दर्शन की परम्परा या उसके बीज का अंकुरण जिस भूमि पर हुआ वह प्राचीन ऋषि परम्परा या मुनि परम्परा

का प्रथम सोपान था। यहाँ पर हमें जो दिग्दर्शन होता है वह एक ओर सत्ता के अस्तित्त्व का, दूसरी ओर उसके पोषण या विकास का।

यहीं पर हमें काल एवं उसके आयाम का भी बोध होता है। तथा हमें सत्–असत् आदि दार्शनिक सैद्धान्तिक बिन्दुओं पर चर्चा करने हेतु सामग्री प्राप्त होती है। दार्शनिक पक्षों से सम्बन्धित ऐसा कोई भी बिन्दु नहीं है जो उपासना काण्ड में न हो अथवा जिसकी चर्चा कर्मकाण्ड में न आयी हो। ज्ञान काण्ड जिसे हम औपनिषदिक् ज्ञान राशि के रूप में जानते हैं, उसके विषय में कहने की आवश्यकता नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन के अन्तिम लक्ष्य अर्थात मोक्ष प्राप्ति के साधन अथवा उस ज्ञान के आलोक को प्राप्त करने हेतु जो हमें मार्ग प्राप्त हुआ उसका प्रारम्भ हम वैदिक वाङ्मय के रूप में स्वीकार करते हैं। इसमें ज्ञान, वैराग्य एवं कर्म तीनों तत्त्वों की प्रधानता है। इसके साधन या प्राप्ति की आधारशिला का विस्तृत स्वरूप हमें अथर्ववेद में परिलक्षित होता है। यह स्वरूप हमें–्बृहद्–सत्य, शक्तिशाली ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म अर्थात ज्ञान एवं यज्ञ के रूप में प्राप्त हुआ और इसी के साथ वैदिक दर्शन या पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा के साथ–साथ समस्त भारतीय दर्शनों में इन तत्त्वों का विभिन्न रूपों में समावेश होता है। इन्हीं का संशय विभिन्न दार्शनिक बिन्दुओं का प्रतिपादित करता है। जो ज्ञान सत्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, वह ज्ञान प्रमा है और उसका कारण प्रमाण है।

> प्रामाण्यं स्वतः उत्पद्यते स्वतः ज्ञायते च।
> उत्पतौ स्वतः प्रामाण्यं ज्ञप्तौ च स्वतः प्रामाण्यम्।।

आचार्य जैमिनि ने जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण माना वहीं प्रभाकर ने इनके साथ उपमान और अर्थापत्ति को प्रमाण मानकर इनकी संख्या पाँच की। आचार्य कुमारिल भट्ट ने अनुपलब्धि को भी प्रमाण मानकर छः प्रमाण स्वीकार किये हैं। प्रामाण्यवाद से प्रारम्भ होकर अन्ततः आत्मा, परमात्मा एवं मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रतिपादित करना इस परम्परा या दर्शन का विषय रहा। आत्मा को ज्ञानशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया।

इसी के परिणामस्वरूप वेदान्तदर्शन की प्रतिष्ठा हुई जिसे एक ओर कुमारिल भट्ट जैसे प्रखर आचार्यों के सिद्धान्तों के साथ तथा दूसरी ओर बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों के आलोक में एक मार्ग प्रदान करना था। निश्चित रूप से आचार्य शंकर का उदय इस काल की एक ऐतिहासिक घटना है। आचार्य शंकर ने आत्मा या ब्रह्म को अपना प्रतिपाद्य बनाया। यही अविद्या या माया का अधिष्ठान है। यह उसका आश्रय और विषय है। प्रपंच इसी पर अध्यस्त होकर भासता है। समस्त ज्ञान एवं अनुभव का अधिष्ठान होनेसे यह आत्मा स्वयं सिद्ध एवं स्वयं प्रकाश है। यह निर्विशेष चित् और अखण्ड आनन्द है। इसका निराकरण सम्भव नहीं है। आत्मा स्वानुभूतिगम्य है। स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश होने से वह अपरोक्षानुभूत और साक्षात्कृत है। यह चित्सुखाचार्य का मत है। श्रीहर्ष और चित्सुखाचार्य ने अपने प्रबल तथा प्रखर शरों द्वारा बुद्धि ग्राह्य समस्त सापेक्ष पदार्थों को ध्वस्त करने का प्रयत्न किया। वेदान्त के सभी सम्प्रदाय स्वयं को उपनिषद् पर आधारित स्वीकार करते हैं तथा उपनिषद् को वेदान्त का मूल प्रस्थान मानते हैं।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः इस पृष्ठ भूमि को प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह है कि इन बिन्दुओं को उद्घाटित करने में जैन दर्शन की दृष्टि क्या है एवं

आचार्यों ने किस प्रकार इसे प्रतिष्ठित किया। जहाँ वैदिक दर्शन में सत्य को बृहत् सत्य के रूप में प्रतिष्ठा हुई वहीं पर जैन दर्शन की परम्परा में अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा हुई जो वास्तविक सत्य का साक्षात्कार करने में सहायक है। और इसी का स्याद्वाद मूल बिन्दु है। ऋग्वैदिक नासदीयसूक्त के माध्यम से हमें स्याद्वाद का संकेत मिलता है लेकिन उसकी स्पष्टता व्यवहार में उतनी नहीं प्रतिपादित हुई जितना की स्याद्वाद का सिद्धान्त अथवा सापेक्ष सिद्धान्त या वह सिद्धान्त जो विविध दृष्टि बिन्दुओं से वस्तु तत्त्व का निरीक्षण परीक्षण करता है। चिन्तन की यह पद्धति हमें एकांगी विचार और निश्चय से बचाकर सर्वांगीण विचार के लिये प्रेरित करती है इसका परिणाम यह होता है कि हम सत्य के प्रत्येक पहलू से परिचित हो जाते हैं। वस्तुतः समग्र सत्य को समझने की दृष्टि का साधन है स्याद्वाद। विराट् सत्य के साक्षात्कार हेतु स्याद्वाद पद्धति का अनुसरण आवश्यक है। जो विचारक वस्तु के अनेक धर्मों को अपनी दृष्टि से ओझल करके किसी एक ही धर्म को पकड़कर रुक जाता है वह सत्य को नहीं पा सकता। वस्तुतः शब्द सत्य का प्रतीक है। इस तरह से अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का आश्रय लेकर, सत्त्व–असत्त्व, नित्यत्व–अनियतत्व, भेद–अभेद, द्वैत–अद्वैत, भाग्य–पुरुषार्थ आदि विरोधी भावों या पूरक भावों का तर्क संगत समन्वय और विचार की एक व्यापक परिधि जैन आचार्यों ने दी। जिसमें आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक एवं हरिभद्रसूरि आदि विशेष आदरणीय हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि – आग्रहशील व्यक्ति युक्तियों को उसी तरह खीचतान करके ले जाना चाहता है जहाँ पहले से उसकी बुद्धि जमी हुई है, मगर पक्षपात से रहित मध्यस्थ पुरुष अपनी बुद्धि का निवेश वहीं करता है जहाँ युक्तियाँ उसे ले जाती हैं।

> आग्रही यत निनीषंत युक्तिं यत्रा तत्रा मतिरस्य निविष्टा।
> पक्षपातरहितस्य तु युक्तिः यत्रा तत्रा मतिरेति निवेशम्।।

इस तरह से भारतीय दर्शन में विश्व के सम्बन्ध में सत्, असत्, उभय और अनुभव ये चार पक्ष चिन्तन के मुख्य विषय रहे हैं। ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् तक दो विरोधी धर्म स्वीकार किये गये –

एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति – – – ऋग्वेद 1.164.46

तदेजति तन्नेजति – ईशावास्योपनिषद्

अणोरणीयान महतो महीयान् – कठोपनिषद्

सदसद्वरेण्यम् – मुण्डकोपनिषद्

जैन दर्शन इस विचार से आगे बढ़ा और भगवान् महावीर ने वस्तु के विराट स्वरूप को चार कोटियों से बाहर निकाल कर कहा कि – प्रत्येक वस्तु में अनन्त पक्ष हैं, अनन्त विकल्प है, अनन्त धर्म हैं और अनन्त धर्मों के लिये सप्तभंगी का सर्वग्राही रूप उपस्थित किया। वस्तुतः दर्शन के क्षेत्र में सद् असद्वाद की औपनिषदिक् विचारधारा को तथा भगवान बुद्ध के विभज्यवाद के चिन्तन का आगे बढ़ाते हुये भगवान महावीर ने वस्तु के स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन किया जिसके परिणामस्वरूप सप्तभंगी और स्याद्वाद हमारे सामने आये। जैन दर्शन की इस परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि जी ने शास्त्रावार्तासमुच्चय के आठवें स्तबक में मात्रा 9 कारिका में सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन किया। यह बात अलग है कि अनेक शास्त्रीय पक्षों में मत वैभिन्य है लेकिन मूल विचारधाराये तो एक हैं । यही कारण है कि अपनी मातृभूमि में इन चारों विचारधाराओं का आपस में पूर्ण सामंजस्य है।

4.6 सिख धर्म के प्रमुख तत्व एवं वैदिक परम्परा से सम्बन्ध

सिख धर्म के संस्थापक, गुरू नानक देव, मध्यकालीन भारत के उन क्रांतिकारी धर्म प्रवर्तकों में से हैं जिन्होंने अपने आध्यात्मिक संदेश द्वारा तत्कालीन मानव समाज को मूल्यवान दिशाएं प्रदान कीं। उनके द्वारा स्थापित किये गये इस धर्म की प्रमुख विशेषता यह है कि यह भारत की उस प्राचीन और जीवन्त सभ्यता का अंग है जिसका प्रादुर्भाव सप्तसिन्धु क्षेत्र में हुआ था।

भारत की यह सनातन परम्परा धर्म केंद्रित और ज्ञान आधारित है। इस परम्परा के अन्तर्गत धर्म का अर्थ रिलिजन अथवा मज़हब नहीं है। यह मानव जीवन को नैतिक आधार प्रदान करने वाले उस विराट विधान की ओर संकेत करता है जो संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। भारतीय सभ्यता ब्रह्म के रूप में जीवन और यथार्थ के परम सत्य की संकल्पना पेश करती है और इसके अनुरूप ही मानव जीवन के परमार्थ की व्याख्या प्रस्तुत करती है।

प्राचीन काल से ही इसके अंतर्गत ज्ञान की अविरल धारा प्रवाहित होती रही है। इस सभ्यता का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद और नवीनतम गुरु ग्रंथ साहिब है। यहाँ ज्ञान का अर्थ केवल दैनिक जीवन के व्यावहारिक मुद्दों से संबंधित उपयोगी ज्ञान नहीं है, बल्कि यह मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य की समझ प्रदान करने वाला परम ज्ञान है, जो व्यक्ति की समग्र विश्वदृष्टि और जीवन शैली का परिचायक है।

इसी प्रकार गुरु ग्रन्थ साहिब में ज्ञान की तुलना गुरु द्वारा प्राप्त अंजन से की गई है, जो अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करता है – **ज्ञान अंजनु गुरि दिया अग्यान अन्धेर बिनासु।** – (गुरु ग्रंथ साहिब, 293)

यहां ज्ञान उस विवेक दृष्टि का स्रोत बन जाता है जो जीवन के अंतिम सत्य को प्रकट करता है। इसी प्रकार गुरु नानक देव जी की रचना 'जपुजी' में ज्ञान को मानव चेतना के विकास में एक महत्त्वपूर्ण चरण (खंड) के रूप में स्वीकार किया गया है–

ज्ञान खंड महि ज्ञानु परचंडु तिथे नाद बिनोद कोड आनंदु॥ (गुरु ग्रंथ साहिब, 362.)

गुरुवाणी के विमर्श की विशेषता यह है कि यह परम सत्य और परम पुरुष के सन्दर्भ में जीवन और यथार्थ की व्याख्या प्रस्तुत करता। भारतीय सभ्यता का परम प्रतीक 'ब्रह्म' सर्व व्यापक है। यह जीवन और यथार्थ का परम सत्य है जो मानव अस्तित्व की आध्यात्मिक दिशा का अन्तिम आधार है। यह प्रत्येक जीव के आत्मा में निवास करता है।

मुख्य बात यह है कि गुरु नानक वाणी की पृष्ठभूमि में भारतीय दर्शन की परम्परा कार्यशील है। इसमें जीवन और यथार्थ के परम सत्य को केन्द्र में रखा गया है जिसका परम प्रतीक ब्रह्म है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है के गुरु नानक वाणी में ब्रह्म, जीव और जगत् की व्याख्या को ही दार्शनिक सरोकार माना गया है। ब्रह्म ही सृष्टि का परम सत्य है और यही दृष्टमान संसार का कर्ता है। भारतीय सभ्यता के सबसे प्राचीन ज्ञान–ग्रन्थ, ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' के अंतर्गत इसका सुंदर वर्णन किया गया है :

नासदीय सूक्त में वर्णित सृष्टि रचना की इसी रहस्यमय स्थिति के साथ रचनात्मक संवाद रचाते हुये गुरु नानक देव ने मारू राग में लिखा हैः

अरबद नरबद धुंधूकारा ॥ धरणि न गगना हुकमु अपारा ॥
ना दिनु रैनि न चंदु न सूरजु सुंन समाधि लगाइदा ॥१॥

खाणी न बाणी पउण न पाणी ॥ ओपति खपति न आवण जाणी ॥
खंड पताल सपत नही सागर नदी न नीरु वहाइदा ॥„॥¼5) . . .

जा तिसु भाणा ता जगतु उपाया। बाझु कला आडाण रहाया।
ब्रह्मा बिसनु महेसु उपाए माइआ मोहु वधाएंदा।

(गुरु ग्रंथ साहिब, 1035)

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् । ऋग्वेद 129.10

इस तरह गुरू जी ने सृष्टि रचना से पूर्व की शून्य अवस्था का जो वर्णन किया है वह नासदीय सूक्त में वर्णित स्थिति के अनुरूप है। इस में गुरू नानक देव जी ने अपनी ओर से कुछ नया जोड़ने का प्रयास भी किया है। उन्होंने सृष्टि रचना के कारण के रूप में प्रभु की इच्छा (भाणा) और त्रिदेव (ब्रह्मा विष्णु महेश) को शमिल कर दिया ।

ऋग्वेद की दार्शनिक शब्दावली में 'सत्य' और 'ऋत' की अवधारणा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सत्य सृष्टि रचना के परम यथार्थ की ओर संकेत करता है और ऋत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कार्यशील विधान का द्योतक है। गुरु नानक वाणी में इन अवधारणाओं को 'सच' और 'हुक्म' के हवाले से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के तौर पर गुरू नानक देव जी की दार्शनिक रचना 'जपुजी' की निम्नलिखित पंक्तियां देखी जा सकती हैं–

आदि सचु जुगादि सचु, है भी सचु, नानक होसी भी सचु।
. . .
किव सचिआरा होईऐ किव कूड़ै तुटै पालि ॥
हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि ॥१॥

(गुरु ग्रंथ साहिब, 1)

गुरु नानक वाणी की इन पंक्तियों में 'सत्य और 'ऋत' की अवधारणा को सच और हुकुम की अवधारणा के अंतर्गत प्रस्तुत किया गया है। इन अवधारणाओं का अर्थ वही है परन्तु शब्दावली अलग है। यह शब्दावली लोक भाषा से ली गई है। इस तरह हमें गुरु नानक वाणी में भारतीय धार्मिक परम्परा अर्थात् वैदिक परम्परा की निरंतरता का आभास होता है।

एक अद्वितीय धर्म प्रवर्तक के रूप में, गुरु नानक देव जी की विशेषता यह है कि वे मध्यकालीन भारत की उस नव–जागृति लहर के साथ भी संबंधित हैं जिसको भक्ति लहर के नाम से जाना जाता है। नव–जागृति की इस क्रांतिकारी लहर ने भारतीय लोक मानस को विदेशी मूल के, तुर्क–मंगोल–अफ़ग़ान, आक्रान्ताओं और दमनकारी शासकों के सदियों से चले आ रहे आतंक से मानसिक मुक्ति प्रदान करने की चेष्टा की।

गुरु कवियों ने अहंकार और मोह को बंधन का कारण बताते हुए मनुष्य की चेतना को

लौकिक नियम के साथ सामंजस्य बिठाने का प्रयास किया है, जिसे मानव मुक्ति की सर्वोत्तम स्थिति माना जा सकता हैः

जिहि प्रानी हउमै तजी करता रामु पछानि ॥
जिहि प्रानी हउमै तजी करता रामु पछानि ॥
कहु नानक वहु मुकति नरु इह मन साची मानु ॥

(गुरू ग्रंथ साहिब, १४२७)

हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई ॥
हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वडिआई ॥
हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाईअहि ॥
इकना हुकमी बखसीस इकि हुकमी सदा भवाईअहि ॥
हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ ॥
नानक हुकमै जे बुझै त हउमै कहै न कोइ ॥

(गुरू ग्रंथ साहिब, १)

इस प्रकार, गुरु ग्रंथ साहिब वाणी का विमर्श ऐसे व्यक्ति का आदर्श प्रस्तुत करता है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार के पारम्परिक विकारों से मुक्त है और दुःख की भावना से अलग होकर अपने और दुनिया के साथ सद्भाव में रहता है। समाज की दुनियादारी से मानसिक दूरी स्थापित करना वह अपने अहंकार के संकीर्ण दायरे से बाहर निकलने और ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। इसी स्थिति को कवियों ने मानव मुक्ति के चरम आदर्श के रूप में स्थापित किया है।

गुरु नानक देव जी ने सिख परंपरा की नींव ही कर्म–आधारित न्याय के विचार पर रखी, जिस में सभी जीव समान हैं। गुरु साहिब के विचार अनुसार लोगों की धार्मिक मान्यताओं को लेकर उनसे भेदभाव करना भी अन्याय सूचक ही है। अर्थात् अपने आप से धारण किए हुए धर्म के राह में रुकावट डालना अन्याय है और ऐसा कर्म करने वाला चाहे राजा ही क्यों न हो, उसको भी एहसास करवाया जाना आवश्यक है। इस तरह गुरु नानक देव जी ने न्याय को धर्म के साथ जोड़ा है। न्याय की ऐसी ही अवधारणा श्री गुरु अमर दास जी ने भी अभिव्यक्त की हैः

अंदरि राजा तखतु है आपे करे निआउ ॥
गुर सबदी दरु जाणीऐ अंदरि महलु असराउ ॥
खरे परखि खजानै पाईअनि खोटिआ नाही थाउ ॥

सभु सचो सचु वरतदा सदा सचु निआउ ॥¼गुरु ग्रन्थ साहिब, अंक 1092)

गुरु अमर दास जी अपने इस शब्द में जीव के अंदर बैठे आत्म को न्याय का सूचक बता रहे हैं। ये आत्म जीव के अंदर तख्त पर बिराजमान है, जो हर वक्त जीव के अंदर चल रहे विचारों, कामनाओं इतियाद कर्मों पर इन्साफ कर रहा है। आत्म इस महल में जहां बिराजमान है, वहां तक पहुंचने के लिए गुरु का शब्द ही सहायक हो सकता है। जो खरा सिक्का है उसे ख़ज़ाने में जगह मिल जाती है और जो खोटा रह जाता है, उसे कहीं भी जगह नहीं मिलती। अंत में वे कहते हैं कि जो सच है वे सब जगह हर वक्त मौजुद है और उसका न्याय अटल है।

गुरु जी के अनुसार जब मनुष्य प्रभु के दरबार में पहुँच जाता है तो उसके सारे संशय मिट जाते हैं और वो सच्चे मार्ग से भटकता नहीं है। गुरु साहिब ने धर्म के आधार को किसी भी सांसारिक न्याय की दृष्टि से ऊपर माना है। जो न्याय राजा नहीं कर सकता वह न्याय अध्यात्म दृष्टि से होता है और उसका एक रास्ता कर्मफल है। कर्मफल आत्मचिंतन, स्वानुभूति, स्वीकार्यता, प्रायश्चित और समर्पण भाव से न्यायरूप में प्रगट होता है। भारतीय दार्शनिक दृष्टि भी धर्मानुकूल कर्म के सिद्धांत को ही सामाजिक न्याय व्यवस्था का मूलाधार मानती है।

धर्म ऊपर आधारित कर्म का सिद्धान्त सिख परम्परा में सर्वोपरि है। कर्म ही व्यक्ति विशेष सामाजिक जीवन का आधार है और कर्म धर्मानुकूल होना चाहिए।

करम धरम सचु साचा नाउ ॥
ता कै सद बलिहारै जाउ ॥ (गुरु ग्रन्थ साहिब, अंक 353)

इस तरह ज्ञान से उपजा धर्म ही फलदायक कर्म की ओर ले जाता हैः
करम पेडु साखा हरी धरमु फुलु फलु गिआनु ॥
पत परापति छाव घणी चूका मन अभिमानु ॥„ (गुरु ग्रन्थ साहिब, अंक 1168)

सनातन धर्म परम्परा के चारों पुरुषार्थों में निहित कर्म को धर्म अनुसार करने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

सरब धरम महि स्रेसट धरमु ॥
हरि को नामु जपि निरमल करमु ॥
सगल क्रिआ महि ऊतम किरिआ ॥
साधसंगि दुरमति मलु हिरिआ ॥ (गुरु ग्रन्थ साहिब, अंक 266)

कर्म को प्रेरित करने वाला साधन अपना विचार है, इसलिए वैचारिक शुद्धता भी महत्त्वपूर्ण है। विचार और भाव का जो अन्तःसम्बन्ध है, गुरुमत का प्रवचन उसी संदर्भ में लोक–न्याय का अवलोकन करता है। यह एक सर्व–समाहित विचार है, जिसमें कर्म को शुद्ध रखने के ऊपर बल दिया गया है।

4.7 बौद्धधर्मविषयक संयोजक सिद्धान्त

बौद्ध साहित्य में धर्म शब्द का अनेक अर्थोंमें उल्लेख मिलता है। चन्द्रकीर्ति का कहना है कि – धर्मशब्दोऽयं प्रवचने त्रिधाव्यवस्थापितस्वलक्षणपारणार्थेन कुगतिगमनविचारणार्थेन पांचगतिकसंसारगमनविचारणार्थेन। कहने का तात्पर्य यह है कि – प्रवचन में धर्म शब्द का अर्थ त्रिविध निश्चित किया गया है। प्रथम है स्वलक्षण वारण, दूसरा है कुगति विचारण और अन्तिम है पांचगतिकगमन विचारण अर्थात् परमार्थ। इस रूप में एक पदार्थ के सदृश, दूसरा कल्याणशील और तीसरा परमार्थ है।

भगवान् ने सहज ही धर्मदेशना नही दी। सम्बोधि के अनन्तर शोक से व्याकुल जन समुदाय को देखकर करुणा से परिपूर्ण उन्होंने धर्म की देशना का भार अपनाया था। संसार सागर के इस तट से जाना वाला उनका धर्म करुणा का एक सेतु था। जीवन के अपरिहार्य दुःख के दर्शन से उनके धर्म का प्रारम्भ होता है। अतः बौद्ध धर्म के विकाश का जो सोपान् है वह दुःख, समुदाय, निरोध और निरोधगामिनी प्रतिपद् इन चार विभागों में प्रस्तुत होता है। सभी बौद्ध सम्प्रदाय इस बात में एक मत हैं कि इन

चार आर्य सत्य का उल्लेख भगवान् ने किया है।

दुःख का मूल आधार अविद्या है। बौद्ध धर्म का प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त वस्तुतः अविद्या का स्वरूप प्रकट करता है और इसके साथ ही परमार्थ की ओर संकेत करता है। परमार्थ वह है जो सत् एवं असत् से परे है।

दुःख समुदाय का सम्बन्ध तृष्णा, कर्म, अहंकार दृष्टि, से है। भगवान् के समय में दुःख की उत्पत्ति का मूल कारण कर्म ही माना जाता था। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनतर्गत द्वादश निदान की चर्चा की गई है। ये हैं– अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, और जरा–मरण–शोक–परिदेव–दुःख–दौर्मनस्य–उपायास।

निर्वाण अर्थात् बुझ जाने से संसार का निरोध एवं सत्य की प्राप्ति सूचित होती है। निर्वाण के अन्तर्गत आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य समझा जा सकता है। निर्वाण का तात्पर्य सर्व –संस्कार–शमथ, सर्वोपाधि प्रति निस्सर्ग, तृष्णा–क्षय, विराग निरोध। यह संसार, जात, भूत, समुत्पन्न, कृत, संस्कृत और अध्रुव है। उसका निस्सरण है– शान्त, ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न, अशोक, विरज पद। निर्वाण परम निःश्रेयस एवं अशेष साधना का लक्ष्य है। निर्वाण ही परमार्थ, उत्तमार्थ है। निवार्ण को अनुत्तर योगक्षेम भी कहा गया है। निर्वाण को बहुधा संसार का वह पार कहा गया है।

4.7.1 धर्मविषयक संयोजक सिद्धान्त के सन्दर्भ में बौद्ध धर्म के प्रमुख तत्त्व

भगवान् गौतम बुद्ध ने ईसा के लगभग 563 ई. पू. में शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी नामक स्थान में जन्म लिया। उनके पिता शाक्य शुद्धोधन गौतम गोत्रीय थे। माता महामाया देवी के न रहने के उपरान्त मौसी महा प्रजापति गौतमी ने ही विशेष देखभाल की। 19 वर्ष की आयु में ही भगवान् बुद्ध गृह त्याग करके वन को चले गये। इस घटना को बौद्ध धर्म में अभिनिष्क्रमण कहा गया है। जरा, रोग, मृत्यु **और भिक्षु** के दर्शन से उनके मन में सहसा तीव्र उद्वेग उत्पन्न हुआ। अनेक विषम परिस्थियों को झेलते हुये अन्त में भगवान् को ज्ञान प्राप्त हुआ जिसे सम्बोधि के रूप में कहा जाता है। भगवान् को रात्र के प्रथम याम अर्थात् प्रथम प्रहर में पूर्व जन्मों की स्मृतिरूप विद्या का ज्ञान हुआ। रात्रि के मध्य में उन्हें दिव्य चक्षु प्राप्त हुआ और उसके द्वारा समस्त लोक को अपने कर्मों का अनुभव करते हुये देखा। रात्रि के तृतीय पाद में उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया जिससे सर्वज्ञ ने सत्य को आपाततः दो पक्षो में विभक्त देखा। एक ओर अनित्य पर तन्त्र और सापेक्ष संसार तो दूसरी ओर चिर शान्त और निर्वाण। एकमत से यह त्रैविधता ही बुद्ध की सर्वज्ञता थी। अब भगवान् बुद्ध सम्यक् बुद्ध के रूपमें प्रतिष्ठित थे।

सम्यक् बुद्ध के चित्त में करुणा का विकाश एक अनिवार्य घटना थी। वस्तुतः जिसे होना ही था। बुद्ध ने अन्तिम समय में सुभद्र नाम के परिब्राजक को उपदेश किया और भिक्षुओं से कहा कि उनके बाद धर्म ही शास्ता रहेगा। भगवान् बुद्ध ने कोई ग्रन्थ नही लिखा और न अपने शिष्यों को अपने उपदेश किसी विशिष्ट प्रमाणभूत भाषा में स्मरण रखने के लिये कहा। उन्होंने प्रचलित मागधी भाषा में उपदेश किया और भिक्षुओं को अनुमति दी की अपनी अपनी बोलियों में उनके उपदेश का स्मरण करें। कालान्तर में चार बौद्ध संगीति का आयेजन करके धीरे धीरे बौद्ध वाङ्मय का विकाश हुआ।

4.7.2 बौद्ध एवं वैदिक विचारधारा के संयोजक तत्त्व

जिस प्रकार से निर्वाण के सम्बन्ध में हमने देखा कि निर्वाण ही परमार्थ, उत्तमार्थ है। उपनिषदों में भी इसी बात को अनेक बार कहा गया है– शोकस्य पारं (छान्दोग्य उपनिषद् 7.13), तमसः पारं, अभयस्य पारं, अभयं तितीर्षतां पारं (मुण्डक 2.2.6) अर्थात् शोक से अशोक की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर गमन करना, मृत्यं से अमृतत्व की ओर जाना ही परम तत्त्व की प्राप्ति है। भगवान् बुद्ध ने अपने निर्वाण के स्वरूप को भी परम सुख या परम पद कहा गया है। मैत्रायिणी आरण्यक (6.34.1) में कहा गया है कि जैसे– ईधन के अभाव में अग्नि अपनी योनि में शान्त हो जाती है, वैसे ही वृत्तियों के अभाव में क्षय से चित्त अपनी योनि में उपशान्ति हो जाती है। कठोपनिषद् (2.5.9) में कहा गया है कि–एक ही अग्नि नाना रूपों में विश्व में प्रकट होती है।

इससे स्पष्ट होता है कि अग्नि का एक सूक्ष्म व्यापक रूप है जो अदृश्य है और एक जाज्वल्यमान प्रकट रूप है जो बुझने पर संहृत हो जाता है और अग्नि फिर से अपने मूल रूपमें लीन हो जाती है।

आत्मा और चैतन्य के विषय में भी ऐसी ही धारणा थी कि इनकी संसार में नाना अभिव्यक्ति होती है। जब कारणभूत अज्ञान एवं काम और कर्म समाप्त हो जाते हैं तो आत्मा अथवा चैतन्य की ज्योति भी अपना संसार में प्रकट रूप छोड़कर मूल प्रकट रूप धारण कर लेती है।

निर्वाण का निरन्वय विनाश के अर्थ में तथागत ने प्रयोग नहीं किया था अपितु संसार के अवसान और एक अनिर्वचनीय पद की प्राप्ति की सूचना के लिये किया था जो वैदिक विचारधारा के ही समान है।

प्रश्नोपनिषद् (1.15–16) के उपदेश की तरह, ज्ञान के लिये सत्य और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को बौद्ध धर्म में भी पूरी तरह से स्वीकार किया गया है। देवताओं, मनुष्यों एवं असुरों को दम, दान एवं दया का उपदेश दिया गया है। दम अर्थात् संयम सबके लिये आवश्यक है, दान उपासकों के लिये महत्त्वपूर्ण है एवं दया या करुणा धर्म का मूल है। अहिंसा, मैत्री, करुणा, सहानुभूति एवं सहिष्णुता का बौद्ध शील में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक परम्परा में शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण को सबका मित्र तथा अहिंसक कहा गया है।

4.7.3 बौद्ध, जैन, सिख एवं वैदिक विचारधारा में संयोजक तत्त्व के रूप में ध्यान

एक बात और महत्त्वपूर्ण है वह यह कि तथागत की देशना में ध्यान का स्थान। घ्यान ही उनके मार्ग का प्रधान अंग था। ध्यान के द्वारा ही बोधिसत्व ने सम्बोधि का लाभ प्राप्त किया था। वैदिक परम्परा में कठोपनिषद् (2.4.1) में कहा गया है कि अन्तरात्मा के दर्शन के लिये इन्द्रियों का प्रत्याहार आवश्यक है। सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धि से निगूढ़ आत्मा का ज्ञान होता है। वाणी का मन में, मन का ज्ञानात्मा में, ज्ञानात्मा का महान् आत्मा में एवं महान् आत्मा का शान्त आत्मा में लय करना चाहिये, कठोपनिषद् (2.4. 1)।

बुद्ध शासन में गुरु का स्वरूप है– कल्याण मित्र का और कार्य है मार्गदर्शन । तथागत के शिष्यों को अपने बल पर चलना और निर्भर रहना था। इसलिये उन्हें

आत्मदीपोभव का उपदेश दिया गया। इस यात्रा में धर्म ही उनका सहायक और नियामक बना। धर्म ही भगवान् की वास्तविक काया है। धर्म को देखना ही बुद्ध को देखना है।

बुद्ध ने अपने शिष्यों का ध्यान अपने पार्थिव व्यक्तित्व से परे अपनी शिक्षा में सूचित अमृत पद और उस तक ले जाने वाले आध्यात्मिक नियमों और स्वभावगत प्रेरणा की ओर प्ररित किया। इसलिये उन्होंने संघ के संयोजक सूत्र को गुरु परम्परा का रूप ना देकर धर्म विनय का रूप दिया।

प्रत्येक भिक्षु को प्रतिमोक्ष का स्मरण करना आवश्यक है जिसके अन्तर्गत वही सूत्र हैं जो वैदिक परम्परा में भी देखें जा सकते हैं। ये सूत्र हैं– शान्ति और तितीक्षा परम तप है। कोई पाप न करना, पुण्य सम्पादित करना और अपने चित्त को निर्मल रखना, दूसरों की निदा न करना और न हिंसा, संयम पालन करना, भोजन में मात्रा जानना, ध्यान में मन लगााना। यही भगवान् बुद्ध का वास्तविक शासन है।

जैन धर्म में ध्यान एवं योग साधना पर विशेष बल दिया गया है। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने योगसूत्र नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें भगवान् पतंजलि के योगसूत्र का अनुसरण तो किया लेकिन उससे भी आगे बढ़कर उन्होंने इसमें दो अध्यायों में योग से सम्बन्धित मनोविज्ञान पर भी प्रकाश डाला।

4.8 सारांश

महनीय भारत की चार प्रमुख ज्ञान अथवा धार्मिक परम्परायें कालक्रम से सप्तसिन्धु प्रदेश एवं पूर्वी भारत के आज के बिहार के आस–पास उपस्थित हुईं। ईश्वर की इस महनीय प्रस्तुति को हम वैदिक,, बौद्ध, जैन और सिक्ख धर्म के रूपमें प्राप्त करते हैं। मानव मूल्यों का सम्बन्ध मन, वाणी और कर्म से सम्बन्धित है। समाज की विभिन्न पृष्ठभूमियों पर प्रत्येक व्यक्ति से विभिन्न प्रकार के व्यवहारों की आकांक्षा की जाती है। इसीलिये प्रत्येक समाज में उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप मानवीय व्यवहारों से सम्बन्धित विभिन्न विधि–विधानों का आकलन किया जाता है। ऋत एवं सत्य का माहात्म्य सभी भारतीय सम्प्रदाय चाहे वह भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म हो अथवा भगवान् महावीर जी द्वारा उपदेशित जैन धर्म या भारतीय चिन्तन परम्परा से गहराई के साथ सम्बन्धित हमारा सिख धर्म, सबके सब इस बात पर एकमत हैं, क्योंकि सभी सृष्टि के नियामक तत्त्व पर ही प्रतिष्ठित हैं और वह तत्त्व है सत्य।

सिख परम्परा धर्म और कर्म से सम्बंधित सनातनी सामाजिक व्यवस्था का ही एक अंग है, जिसमें धर्म सांसारिक जीवन को संचालित करने वाली एक नैतिक व्यवस्था है। उसकी पालना कर्म का न्याय उचित उद्देश्य है। कर्त्तव्य की भावना से विचलित हो कर जो कर्म किये जाते हैं, वे अधर्म है और न्याय उचित नहीं है। अपने भाव, विचार और कर्म की धर्म अनुरूप अनुभूति ही न्याय की उचित अभिव्यक्ति है।

4.9 पारिभाषिक शब्दावली

अपरिग्रह : आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना।

प्रवृत्ति :मनुष्य की सहज कामनाएँ

निवृत्ति : सहज कामनाओं में तटस्थता का भाव

आसक्ति :किसी भी काम्य विषय से गहरा लगाव

आत्मदीपोभव : आत्म दीपो भव बुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण विचार है जिसका अर्थ है अपना दीपक स्वयं बनो। अर्थात व्यक्ति को अपने जीवन का उद्देश्य या किसी नैतिक/अनैतिक का फैसला स्वयं लेना चाहिये किसी दूसरे का मुँह नही ताकना चाहिये। इस विचार में निहित है कि बुद्ध हर व्यक्ति की क्षमताओं में विश्वास रखते हैं।

4.10 अभ्यास प्रश्न

1. सभी प्रमुख भारतीय धर्मों के मूल में कौन–कौन से तत्त्व हैं।

   क) सत्य

   ख) अहिंसा

   ग) दया

   घ) उपर्युक्त सभी

2. केवलाघो भवति केवलादी, का तात्पर्य हैं–

   क) जो अकेले भोजन करता है वह पाप खाता है

   ख) जो सब पर दया करता है।

   ग) जो अंहिसा को मानता है

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. जैन दर्शन में पाप उपार्जन के कितने कारण माने गये हैं–

   क) नौ

   ख) बारह

   ग) अठारह

   घ) तीन

4. भगवान् बुद्ध ने किस भाषा में उपदेश दिया

   क) संस्कृत भाषा में

   ख) पालि भाषा में

   ग) प्राकृत भाषा में

   घ) प्रचलित मागधी भाषा में

5. दुःख समुदाय का सम्बन्ध निम्नलिखित में किससे है।

   क) तृष्णा,

   ख) कर्म

   ग) अहंकार दृष्टि,

   घ) उपर्युक्त सभी

6. निम्नलिखित में किसका सम्बन्ध निर्वाण से नहीं है–
   क) निर्वाण परम निःश्रेयस एवं अशेष साधना का लक्ष्य है।
   ख) निर्वाण ही परमार्थ, उत्तमार्थ है। निर्वाण को बहुधा संसार का वह पार कहा गया है।
   ग) निवार्ण को अनुत्तर योगक्षेम भी कहा गया है।
   घ) निर्वाण ही दुःख का समुदाय है।
7. औपनिषदिक चिन्तन में निम्नलिखित में कौन सा विषय निर्वाण की परिभाषा में नहीं आता है –
   क) शोक से अशोक की ओर जाना,
   ख) अन्धकार से प्रकाश की ओर गमन करना,
   ग) सद् असद् का विवेक न करते हुये जीवन यापन करना
   घ) मृत्यृ से अमृतत्व की ओर जाना ही परम तत्त्व अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति है।
8. भगवान् बुद्ध का वास्तविक शासन अर्थात् धर्म निम्नलिखित में कौन सा विषय नही है –
   क) शान्ति और तितीक्षा परम तप है।
   ख) कोई पाप न करना, पुण्य सम्पादित करना और अपने चित्त को निर्मल रखना,
   ग) दूसरों की निदा न करना और न हिंसा, संयम पालन करना, भोजन में मात्रा जानना, ध्यान में मन लगााना।
   घ) उपर्युक्त सभी विषय हैं।
9. गरुवाणी के विमर्श की क्या विशेषता है–
   क) परम सत्य और परम पुरुष के सन्दर्भ में जीवन और यथार्थ की व्याख्या प्रस्तुत करता है।
   ख) करुणा की व्याख्या प्रस्तुत करता है।
   ग) समाज की व्याख्या करता है।
   घ) उपर्युक्त में कोई नहीं।
10. ऋग्वेदीय नासदीयसूक्त का स्वरूप हमें जैन दर्शन के किस सिद्धान्त में दिखाई देता है–
   क) अनेकान्तवाद
   ख) स्याद्वाद
   ग) अहिंसा का सिद्धान्त
   घ) अपरिग्रह का सिद्धान्त
11. एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, यह मन्त्रांश किस वेद से लिया गया है–
   क) यजुर्वेद
   ख) सामवेद

ग) ऋग्वेद

घ) अथर्ववेद

12. समग्र सत्य को समझने की दृष्टि के लिये जैन दर्शन में क्या साधन है–

क) अहिंसा

ख) क्षमा

ग) करुणा

घ) स्याद्वाद

13. निम्नलिखित में से कौन मीमांसा सूत्र का प्रथम सूत्र है –

क) अथातो धर्मजिज्ञासा

ख) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

ग) अथकाव्यानुशासनम्

घ) अथ योगानुशासनम्

14. यह वाणी– आदि सचु जुगादि सचु, है भी सचु, नानक होसी भी सचु। कहाँ से उद्धृत है–

क) गुरु ग्रंथ साहिब

ख) जपुजी

ग) कबीर जी की साखी

घ) सन्त रैदास की वाणी

15. सुत्तनिपात किस धर्म से सम्बन्धित है–

क) जैन

ख) वैदिक

ग) बौद्ध

घ) सिख

16. सच्चं लोगम्मि सारभूयं, किस ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है–

क) आचारांग सूत्र

ख) समवायांग सूत्र

ग) धम्मपद

घ) प्रश्नव्याकरण

4.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.(घ), 2. (क), 3.(ग), 4.. (घ), 5.(घ), 6.(घ), 7.(ग), 8.(घ), 9. (क), 10. (ख), 11.(ग), 12.(घ), 13.(क), 14. (ख), 15.(ग),16.(घ)

4.12 सन्दर्भग्रन्थ

1. **संस्कृत वाड्.मय का बृहद् इतिहास**, प्रथम खण्ड, प्रधान सम्पादक पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, सम्पादक– प्रोफसर बृजबिहारी चौबे, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, 1996
2. **संस्कृत वाड्.मय का बृहद् इतिहास**, द्वितीय खण्ड, प्रधान सम्पादक पद्मभूषण आचार्य बल्देव उपाध्याय, सम्पादक– प्रोफेसर ओंम्प्रकाश पाण्डेय उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, 1996
3. **धर्मशास्त्र का इतिहास**, (पाच भागों मैं) भारतरत्न, महामहोपाध्याय डॉ॰ पाण्डुरंग वामन काणे, अनुवादक– प्राध्यापक अर्जुन चौबे, हन्दिी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
4. **दर्शन, धर्म तथा समाज**, राजाराम शास्त्री,, विश्व विद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी, 1994
5. **कठोपनिषद्**, सानुवाद शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2052
6. **मुण्डकोपनिषद्** , सानुवाद शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् 2052
7. **ऋग्वेदकालीन समाज और संस्कृति**, विजयशंकर शुक्ल, शारदा पब्लिशिंग् हाउस, दिल्ली, 2001
8. **सिख परम्परा में न्याय की अवधारणा**, प्रोफेसर जगबीर सिंह, कुलाधिपति, पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय, भटिंडा ,पंजाब, द्वारा काशी न्याय समागम, वाराणसी में प्रस्तुत शोध पत्र, 16–17 मार्च 2024.
9. **धर्म और न्याय की सिख परंपरा**, प्रो रविंदर सिंह, पूर्व अध्येता, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला। प्रोफेसर, दयाल सिंह कॉलेज, नई दिल्ली द्वारा काशी न्याय समागम, वाराणसी में प्रस्तुत शोध पत्र, 16–17 मार्च 2024.
10. **बौद्ध धर्म के विकाश का इतिहास**, डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संसकरण 1963
11. **बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा**, डॉ0 धर्मचन्द जैन,पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1995

4.13 बोधप्रश्न

1. समकालीन भारत में वैदिक, श्रमण और सिख परम्पराएँ ऐतिहासिक रूप से एक दूसरे पर निर्भर हैं, इस कथन की व्याख्या कीजिए।
2. वैदिक, श्रमण तथा श्री गुरूग्रन्थ साहिब के धर्म विषयक संयोजक तत्वों की विवेचना कीजिए।
3. वैदिक, श्रमण तथा श्री गुरूग्रन्थ साहिब द्वारा निर्मित संस्कृति में धर्म की स्थापना होती है, न की रिलीजन की। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

खण्ड 3
कर्म-विमर्श

खण्ड 3 का परिचय

तीसरे खण्ड का नाम कर्म विमर्श है। हिन्दू सनातन संस्कृति में कर्म और धर्म तत्व के रूप में एक हैं। कहीं पर कर्म ही धर्म है तो कहीं धर्म ही कर्म। भारतीय संस्कृति में कार्य करना कर्म नहीं है। जब तक किसी भी कार्य से दूसरे का हित न हो तब तक वह कर्म नहीं बनता। फल प्राप्ति को कर्म का परिणाम नहीं माना गया। इसीलिए कर्म का सम्बन्ध सर्वप्रथम परहित से है। तीसरे खण्ड में कर्म-विमर्श की चार इकाइयॉ है जिनमें कर्म, अकर्म , विकर्म के साथ-साथ अधिकार भेद और फल में एकता की बात की गई है। कर्म सम्बन्धी दृष्टान्तों के माध्यम से कर्म की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। जडभरत चरित के माध्यम से कर्म और धर्म दोनों को निरूपित किया गया ।प्रथम इकाई में छ: प्रकार के कर्मों का विवेचन हुआ है। दूसरी इकाई कर्म में भी अधिकार भेद आदि जैसे तथ्यों की चर्चा की गई है। साथ-साथ फल में एकत्व भी बताया गया। ग्रन्थों में कर्म सम्बन्धी सैद्धान्तिक बातें तो बहुत मिलती हैं , किन्तु कर्म की व्यावहारिक व्याख्या के लिए उदाहरणों और दृष्टान्तों का अवलोकर करना होता है। इसीलिए विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार कर्म सम्बन्धी उदाहरण देकर तीसरी इकाई की विषयवस्तु को प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ इकाई में भागवत महापुराण से जडभरत के चरित्र को ग्रहण करके धर्म एवं कर्म के स्वरूप को कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 1 कर्म निरूपण : कर्म, अकर्म और विकर्म

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- कर्म, अकर्म, विकर्म की परिभाषा एवं अवधारणा को जान सकेंगे।
- भगवद्गीता में वर्णित इच्छास्वातन्त्र्यवाद के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- कर्म, अकर्म तथा विकर्म का विश्लेषण कर सकेंगे।
- अनाशक्त कर्म से जुड़े प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

विगत इकाई में आपने वेदान्त द्वारा प्रतिपादित छः प्रकार के कर्मों को पढ़ा। ये कर्म चित्त के शोधन के शास्त्रीय विधान है। भगवद्गीता के चौथे अध्याय में कर्म और सन्यास के समन्वय का विवेचन है। शाङ्कर वेदान्त ने कर्म को बन्धनकारी माना है तथा भगवद्गीता की स्थापना है कि प्रकृति का कोई भी अंश एक क्षण भी कर्म किये बिना नही रह सकता। ऐसे में यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि हम जब हम देहधारी के रूप में कर्म किये बिना नहीं रह सकते, तो शरीर रहते सन्यास कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर गीता द्वाारा प्रतिपादित कर्म, अकर्म तथा विकर्म के अवधारणा द्वारा प्राप्त होता है। इस इकाई में हम इन सम्प्रत्ययों का बोधात्मक तथा व्याख्यात्मक अध्ययन में करने जा रहे हैं।

श्रुति कहती है – कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। कर्म वह है जो किया जाता है। चौरासी लाख योनियों में मनुष्य को छोड़कर सभी जीवन अपने स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार कर्म करते हैं। एक मात्र मनुष्य ही ऐसा है जो विवेकशील है, ज्ञानवान है। उसका कार्य उसके स्वतन्त्र संकल्प का परिणाम होता है, उनका मूल्यांकन होता है। उनके कार्य

को उचित या अनुचित कहा जाता है। मांसाहारी जीव व दूसरों की हत्या कर अपना भोजन करते हैं किन्तु उनके कर्म को उचित या अनुचित नहीं कहा जाता, वे स्वयं से निर्धमित है। किन्तु मनुष्य जब भी कोई कर्म करता हैं शास्त्र एवं समाज उसको मूल्य प्रदान करता है।

प्रत्येक कर्म का कोई फल होता है। फल निर्धारण के सम्बन्ध में हिन्दू धर्म में अनेक सिद्धान्त हैं। कोई ईश्वर को फल प्रदान करता है, कोई अदृष्ट को और कोई अपूर्व को। यह जिज्ञासा भी बनती है कि कर्म के कितने भेद हैं और किन कर्मों को करना मनुष्य के लिए उचित है, किनको करना अनुचित है और अकर्म की स्थिति क्या है? इसी संदर्भ में कर्म अकर्म और विकर्म का विषय उपस्थित होता है। हिन्दू धर्म में इन पर विचार हुआ है।

छ: प्रकार के कर्म जो प्रतिदिन करणीय हैं, वे कौन-कौन हैं, उनका क्या स्वरूप है, क्या प्रयोजन है? इत्यादि सभी विषय एवं प्रश्न इस इकाई से सम्बद्ध हैं।

1.2 कर्म के स्वरूप सम्बन्धी अनिश्चय

गीता के चतुर्थ अध्यायके 15वें श्लोक में भगवान् कहते हैं कि 'अहंकाररहित होकर कोई कर्म करनेपर वह बन्धक नहीं होता, यह जानकर युगान्तर में मुमुक्षुओं ने सत्त्वशुद्धि के निमित्त, तो तत्त्ववित् जनकादिने लोकसंग्रहार्थ कर्मोंका अनुष्ठान किया है। एतदर्थ अर्जुन, तू भी इसी प्रकार निरहंकार हो अपना कर्तव्य कर्म कर।'

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरू कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।

इस प्रकार अकर्ता आत्मा में कर्म के लेख का अभाव जानकर इस युग में अतिक्रान्त, ययाति, यदु आदि मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था। अतः हे! अर्जुन तुम्हें भी कर्म करना चाहिए। न तो तुम चुप बैठो, और न ही सन्यास ग्रहण करों। यदि तुम तत्त्वविद् नही हो, तो चित्तशुद्धि के लिये कर्म करो। और यदि तुम तत्त्वविद् हो तो लोकासंग्रह के लिये कर्म करों। पूर्ववर्ती जनक आदि ऋषियों ने अत्यन्त पूर्वकाल में और युगान्तरों में भी कर्म किया था। इस प्रकार से अर्जुन से भगवान् ने इस बात का दृष्टान्त दिया कि इस युग में और अन्य युगों में भी पूर्ववर्ती और अत्यन्त पूर्ववर्ती मुमुक्षुओं ने भी कर्म किया था। इसके बाद अर्जुन ने जो प्रश्न किया वह प्रश्न मानव जीवन में कर्म के स्वरूप की गूढ़ता को रेखांकित करता है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है– इस विषय में मेधावी पुरूषों को भी मोह हो जाता है, अतः मैं तुमको प्रकर्ष से कर्म और अकर्म बताऊँगा, जिसको जानकर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे।

1.3 कर्म की अवधारणा

देहेन्द्रियादि विहित वह गतिविधि जो शास्त्रनुमोदित या शास्त्र द्वारा प्रतिसिद्ध है, उसे कर्म कहा गया है। जब अकर्ता आत्मा देहेन्द्रियादि से संयुक्त होकर अपनेक को कर्ता स्वीकार करता है, तब वह कर्म में लिप्त हो जाता है।

कर्म का एक व्यापक अर्थ है – जो भी किया जाय। इसी अभिप्राय को लेकर गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि – कोई व्यक्ति एक क्षण के लिए भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रत्येक

व्यक्ति को प्रकृति से अर्जित गुणों के अनुसार विवश होकर कर्म करना पड़ता है। उठना, बैठना, चलना, श्वास लेना, सोना आदि सभी व्यापक अर्थ में कर्म हैं। बिना कर्म के शरीर यात्रा भी नहीं चलेगी।

कर्म की दूसरी परिभाषा है – कर्म वह है जो स्वतन्त्र संकल्प पूर्वक किया जाय, जानबूझकर किया जाय। श्वास लेने का या सोने का कर्म स्वाभाविक है उसमें हमारा कोई संकल्प या विवेक नहीं है। किन्तु रागद्वेष से प्रेरित होकर या इससे परे हटकर जो कर्म करते हैं वे ही वास्तविक कर्म हैं और इनका मूल्यांकन पुण्यकर्म और पापकर्म या उचित और अनुचित कर्म के रूप में होता है। उचित एवं अनुचित के मापदण्ड तय करना एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। यहां इतना ही कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म में सामान्य रूप् से शास्त्रानुमोदित एवं सामाजिक संदर्भ में सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप कार्य उचित और इनके विपरीत कर्म अनुचित हैं।

कर्म और कर्म फल को लेकर हिन्दू धर्म में कर्म का सिद्धान्त है। कर्मवाद, आसवाद एवं ईश्वरवाद भारतीय दर्शन का आधार स्तम्भ है। ईश्वरवाद को चार्वाक, जैन और बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों में तथा सांरक तथा मीमांस्त दर्शन में नहीं माना गया है। चार्वाक एवं बौद्ध दर्शन आत्मा के भी अस्तित्व को नकारता है किन्तु आन्तरिक दर्शनों के साथ जैन और बौद्ध दर्शन भी कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। कर्म का सिद्धान्त है – कृत प्रजाश और अकृत अभ्युगम का न होना। अर्थात् किये हुए कर्म का नाश एवं न किये कर्म के फल की प्राप्ति नहीं होती।

उत्तम संदर्भ में फल को लेकर कर्म के तीन प्रकार हैं – संचित, संचीयमान एवं प्रारब्ध। कर्म के ये तीन रूप कर्मशक्ति संचालन को तीन विधाएँ हैं। संचित कर्मपूर्वकृत् कर्म हैं, जिनके फल का अभ्युदय कभी नहीं हुआ है। ये संस्कार बनकर समय की प्रतीक्षा करते है। संचीयमानया क्रियामाण कर्म वर्तमान में होने वाले कर्म हैं जिनका फल भविष्य में मिलेगा। ये संस्कार निधि हैं जिसका भोग भविष्य के लिए सुरक्षित है। प्रारब्ध वे पूर्वकृत् कर्म हैं जिनके फल का अभ्युदय हो गया है।

कर्म के इन तीनों रूपों से ही भाग्य का निर्माण होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य का निर्माण इन्ही के अधीन है। भूत कर्म के आधार पर वर्तमान जीवन और वर्तमान कर्म के अनुसार भविष्य जीवन प्राप्त होता रहता है। श्रुति कहती है – अच्छे कर्म से उच्च योनि की प्राप्ति होती है और बुरे कर्म से निम्न योनि की प्राप्ति होती है। भगवान कृष्ण ने भी 'लोकोड़य' कर्म बन्धन: कहकर इसी बात का निदर्शन किया है। कर्म के अविच्छिन्य प्रवाह के चलते ही व्यक्ति 'पुनरूचि जनन' पुनरचि मरण पुनरचि जननी जठोशयनम्' अर्थात् पुन:जन्म और मृत्यु को प्राप्त है। यह कार्य तब तक चलता रहता है जब तक इसे सामाज न रोका जाय। कर्म बन्धन से छूटने के उपायों पर भी हिन्दू धर्म में पर्याप्त विचार हुआ।

षट्कर्म

हिन्दू धर्म में छह कर्मों को नित्य करणीय बताया गया है। ये कर्म हैं –स्नान, सन्ध्या, जप, देव पूजन,वैश्वदेव तथा आतिध्य।[1]

स्नान- षट् कर्मों में पहला कर्म है – स्नान। शरीर अत्यन्त मलिन होता है क्योंकि इसके नौ छिद्रों

[1] सन्ध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनं। वैशष देवं तथादतिथ्यं षट् कर्माणि दिने-दिने। पृ. प; स्मृति 1/39। यहां पाठकुमादर्थ क्रमो बलीयान के आधार पर स्नान के पश्चात् सन्ध्या समझना चाहिए।

से दिन-रात मल निकलता रहता है।[2] विशेषकर सुजुप्तावस्था में समस्त इन्द्रियां कर्मक्त होकर मल स्रवण करतीं रहती हैं।[3] सोते समय व्यक्ति के उत्तम अंग भी अधम अंगों के समान हो जाते हैं। मनुष्य शैम्या से उठता है तो अनेक प्रकार के स्वेदों युक्त होता है। अत: वह पूजा-पाठ आदि के योग्य नहीं होता है।[4] प्रात: स्नान से शरीर की शुद्धि होती है और इसके बाद मनुष्य जप आदि समान कर्मों के योग्य बनता है।[5]

प्रात: स्नान प्रशंसनीय है। यह प्रत्यक्ष (दृष्ट) एवं अप्रत्यक्ष (अदृष्ट) दोनों प्रकार की श्रेष्ठता प्रदान करता है।[6] इसका दृष्ट फल शरीर की स्वच्छता है। अदृष्ट फल, पाप का नाश तथा पुण्य की प्राप्ति है, उसके पास दुष्ट भूत-प्रेतादि नहीं आते हैं।[7] दक्ष कहते हैं कि – रूप, तेज, बल, पवित्रता, आयु, आरोग्य, निर्लोमता, दु:स्वप्न का नाश तप और मेधा में दान गुण स्नान करने वाले को प्राप्त होते हैं।[8] जो विप्र प्रात: स्नानी (प्रात: नहाने वाला) होता है वह तीन वर्ष में समस्त जन्मों के पापो का नाश कर देता है।[9] उसे प्रजापत्य तुल्य फल प्राप्त होता है जो महापापों का नाश करता है।[10] उषा की लाली के पहले ही स्नान करना उत्तममाना गया है।[11] प्रात:कालीन लालिमा के पहले का समय उषा काल होता है। यदि उषा काल व्यतीत हो जाये तो भी स्नान का परित्याग नहीं करना चाहिए। यह नित्य कर्म में विहित है।

स्नान जल की सापेक्षिक श्रेष्ठता – स्नान हेतु कूप जल से झरने का जल, झरने से सरोवर का जल, सरोवर से नदी का जल, नदी से तीर्थ का जल और तीर्थ जल से गंगा जल अधिक श्रेष्ठ है।[12] समुद्र का जल स्नान के लिए सर्वश्रेष्ठ है। हजारों जन्मों में मनुष्य जो पाप करता है, उन सारे पापों से समुद्र जल में एक बार स्नान करने से मुक्त हो जाता है।[13] स्नान के लिए यथा साध्य श्रेष्ठ जल का चयन करना चाहिए।

वर्जित जल – जहां धोबी का शिलापट रखा हो और कपड़ा धोते समय जहां तक छीटें पड़ते हों, वहां तक का जल स्थान अपवित्र होता है। वहां स्नान नहीं करना चाहिए।[14]

स्नान विधि- यथा साध्य शुद्ध तीर्थ में स्नान करना चाहिए।[15] शास्त्रकारों नदी एवं तीर्थों में

---

[2] अत्यन्त मलिन: कायोनवच्छिद्र समान्वेत:। स्रवत्येष दिवा रात्रोप्रात: स्नानं विशोधनम्।। दक्ष संस्कृत 2/7

[3] किलयन्ति हि प्रानुत्रस्प इन्द्रियाणी स्रवनि च अंगनि समतां यान्त्रि उत्तमनिका धमैसठ।। 2/8

[4] अश्वात्मा नाचरेह कर्म जपहोमादि किञ्जन।। 2/9

[5] सर्वमर्हति पूजात्या प्रात: स्नानी जपदिकम 2/12 स्नान मूला क्रिया: सर्व: प्रात: स्नात्वा शुचि: कूर्यात देवर्षि पितृतर्पपम् देवता दभ्यर्चन चैव समिधारान दानच।। मनु 2/176

[6] प्रात: स्नानं प्रशंसन्ति दृष्टादृष्ट करंहितत् ।। दक्ष 2/12

[7] नोपर्सिन्ति वे दुष्ट: प्रात: स्नामिजन क्वचित्। दक्ष स्मृति 2

[8] गुणादश स्नान परस्य सोधो।

[9] समात्र जन्मज पापं त्तिवर्षे व्यपरिहति: 2/10

[10] प्राजाप्रत्येन तत्रुल्यं महापातक नाशनम्।।2/11

[11] उप: कालात्रु लोग्हितादि गुण लक्षित काजम प्रापतकतर- (कच्णनता)

[12] निपानादुद्धतं पुण्यं तत: प्रसवणोदकम्। ततोऽपि सारस पुण्यं ततो नादेय मुच्येत।। तीर्थ तोपं तत: पुण्यं गड़्गतोयं ततोदधिकम्।। अभि पुराण

[13] जन्मान्तर सहस्रेण यत पापं कुरूतेना:। मुच्यते सर्व पापेम्यां स्नानत्वा क्षीणार्वव सकृत्। कहा भी गया है – सभी तीर्थ बार-बार गंगासागर एक बार।

[14] वासांसि धावेता यन्त्र पतन्ति जल बिन्दव:। तदपुण्यं जल स्थानं रजकस्यशिलाडित्तम्।। पृ. प. स्मृति।

[15] प्रात: स्नानं चरित्वाय शुद्धे तीर्थ विशेषत:। दक्ष

स्नान की विशेष विधि बताई है। स्नान पूर्व नदी से बाहर देहआदि मलकर नहा लेना चाहिए।[16] इसे मलापकर्षण कहा जाता है। इसके लिए मोटे कपड़े से प्रत्येक अंग को रगड़कर साफ किया जा सकता है। निकीती (कण्ठमें यज्ञोपवीत कर) वसन आदि से यज्ञोपवीत को भी स्वच्छ कर लेना चाहिए। मलापकर्षण के बाद ही। मलापकर्षण आवश्यक है क्योंकि देह में मल रह जाने से शुचिता में कमी आती है और रोम छिद्रों के न खुलने से स्वास्थ्य में अवरोध होता है। मलापकर्षण स्नान आमन्त्रक होता है। मलापकर्षण घर पर भी किया जा सकता है। नदी को स्वच्छ बनाये रखना आवश्यक है। नदी में शरीर मलना, कपड़ा धोना शास्त्र वर्जित है। इस क्रिया के बाद नदी में संकल्पपूर्वक गोता (डुबकी) लगानी चाहिए। नाभि पर्यन्त जल में जाकर जल की ऊपरी सतह हटाकर नाक एवं कान बन्द कर प्रवाह या सूर्य की ओर मुख करके तीन, पांच, सात या बारह डुबकियां लगानी चाहिए।[17] साधारण कूप, बावड़ी आदि के जल में ही नहीं अपितु पवित्र नदियों के जल में स्नान पूर्व गंगा जी का आह्वादन करना चाहिए क्योंकि गंगाजी अघ (पाप) शोधन में सर्वथा समर्थ है।[18] ऐसा शास्त्र का कहना है कि – बारह नामों के स्मरण करने पर गंगा जी उस जल में आ जाती है।[19] गंगा में स्नान के लिए कोई आवाहन नहीं करना होता। केवल गंगा नाम लेकर पाप हरने की प्रार्थना की जाती है – पाप हर में जाहवीं।

निमित्र स्नान – हिन्दू धर्म में यह मान्यता है कि - कोई उदार चेता चाहे तो दूसरों के लिए भी स्नान कर उसे पुण्य का भागी बना सकता है। किसी के निमित्र संकल्पपूर्वक स्नान करने से स्नान का आठवां भाग पून्य उसे प्राप्त होता है।[20] मृत व्यक्ति के लिए कुश में गांठ लगाकर उस कुश में उस व्यक्ति का ध्यान कर मन्त्रोच्चारणपूर्वक कुश स्नान कराया जाता है। स्नान पश्चात ग्रन्थि मोचन कर विसर्जन होता है।

अशक्तों के लिए स्नान - स्नान में असमर्थ होने पर सिर के नीचे से ही स्नान करना चाहिए अथवा गीले वस्त्र से शरीर को पोंछ लेना चाहिए।[21] गीले वस्त्रों से शरीर का मार्जन कापिलस्नान कहलाता है – आर्द्र वासना मार्जनं कापिलम्।

स्नान के भेद – मुख्य और गौण के भेद से स्नान दो प्रकार का होता है। तीर्थ, तालाब, कुआं एवं घर में स्नान – ये चार प्रकार के मुख्य स्नान हैं। गौण स्नान छ: प्रकार के हैं[22] - मान्त्र, भौम, आग्नेय, दिव्य, वारूण तथा मानस। आपो हिष्ठा इत्यादि तीन मन्त्रों से शरीर पर जल छिड़कना मन्त्र स्नान है, समस्त शरीर में मिट्टी लगाना भौम स्नान है, भस्म लगाना अग्नि स्नान है। गाय के खुर की धूल लगाना वायव्य स्नान है, सूर्य की किरणों में वर्षा के जल से स्नान दिव्य स्नान है। आचार मयूख एवं प्रयोग पारिजात में स्नान के सात प्रकार हैं और सातवां स्नान जल में डुबकी लगाकर नहाना (वारूण) है।[23] जो मुख्य स्नान है। अत: छह ही गौत्र स्नान हुए। कर्मठ गुरू में

---

[16] मलं प्रक्षालयेततीरे तत: स्नानं सभाचोत।। मेघतियों

[17] नाभिमाते जले तिपठन् सत्रद्दशा पण्च् वी तिवारं वाईप चारलुत्यं स्नानमेध विधियते विश्वमित्र आचार रत्न पृ. 30

[18] बिना विष्णु पड़ी कस्यत् समर्था ध्मघशोधने।। स्कन्द पुराण

[19] भागीरथी मोगबती जाहवी त्रिदशेश्वरी।द्वादशैतानि नामानि यन्त्र-2 जलाशये। स्नानोधत: स्मेरन्नित्यं तल-तल वसाम्यहम्।। आचार प्रकाश, आचारेन्दु पृ. 45

[20] मातर पिता वापि भ्रातरं सुहदमंगुरूम्। यमुदेश्यनिमज्जेत् अष्टमोश लभेत् स:।। 51

[21] अशिरस्कं मवेत् स्नानं स्नानाशत्मौ तु कर्मिणाम्। आद्रेण वासांतावापि मार्जन दैहिकं बिन्दु:।।

[22] स्नानंतुद्विविधंत्तोच्यं मुख्य गौण प्रभेदत:। चतुर्विध तल मुख्य गौणं वे षड्निधमवेत्।

[23] आचार भभूवि पृ. 47-48, प्रयोग पारिजात।

मन्त्र (आपो.), कापिल, गायत्री (दस बार गायत्री मन्त्र पढ़ कर अंग प्रोक्षम) तथा यौगिक (विष्णु चिंतन) चार प्रकार का गौण स्नान बताया गया है। कुछ विद्धान सात गौण स्नान मानते हैं।

स्नानाड़्म तर्पण – गंगादि नदियों में स्नान के बाद तर्पण करने का विधान है। इसमें देवताओं, ऋषियों, पितरों और अन्त में यक्ष्मा को तर्पण किया जाता है। इसे स्नान का ही अंग माना जाता है और इसे कभी भी न छोड़ने के लिए शास्त्रादेश है।

1.4 अकर्म की अवधारणा

सामान्य अर्थों में जिस स्थल पर आपको कार्य करना चाहिए, वहां पर चुप बैठे रहने को अकर्म कहा जाता है। यह दो स्थितियों में संभव है। या तो अज्ञानता और प्रमादवश कोई कार्य न करे, या फिर अकर्ता आत्मा के स्वरूप को देहेन्द्रियादि में अध्यास करके काई कर्म न करें। इसे निवृत्ति नामक प्रयत्नरूप व्यवहार कहा जाता है। इसमे कर्ता अपने उदासीन अवस्था का अभिमान करता है। अभिमान करने के कारण अकर्म भी एक प्रकार का कर्म है।

सामान्य रूप से मन, वाणी और शरीर की चेष्टा (क्रिया व्यायाम) के अभाव को अकर्म समझा जाता है। कर्म, मन, वाणी एवं शरीर से किया जाता है इसीलिए मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक कर्म होता है। इनके व्यापार को त्याग देने का ही नाम अकर्म है। किन्तु शंकराचार्य इस परिभाषा को नकारते हैं और कहते हैं कि – तुम्हें यह नहीं समझना चाहिए कि कर्म देहादि की चेष्टातै और अकर्म चेष्टा न करना है। गीता भी कर्म की गति को गहन बताकर यह संकेत करती है कि कर्म और अकर्म को इतनी सरलता से नहीं समझा जा सकता है। गीता कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने की भी बात करती है और ऐसा देखने वालों को बुद्धिमान कहती है। वास्तव में कर्म और अकर्म का सम्बन्ध चेष्टा से न होकर भाव से है, ज्ञान से है। ज्ञान की दृष्टि से देखने पर कर्म अकर्म और अकर्म कर्म हो जाता है। सुतरां प्राणियों ने कर्म और अकर्म को विपरीत समझ रखा है। यह आभासी ज्ञान है।

उत्तम आभासी ज्ञान को आचार्य शंकर उदाहरण से समझाते हैं। एक नौका में बैठे पुरूष को तट के अचल वृक्षों में प्रतिकूल गति दिखती है। ये वृक्ष उलटे चलते हुए (गतिशील-कर्म) दिखते हैं। किन्तु वास्तव में वृक्षों गतिशीलता नहीं है, कर्म नहीं है, अकर्म की स्थिति है। कर्म केवल आभास रहा है। इसी प्रकार दूरस्थ गतिशील नक्षत्रों में गति का अभाव (कर्म में अकर्म) दिखाई पड़ता है। यह भी आभास है। आत्मा क्रिया रहित है। श्रुति, स्मृति और न्याय सिद्ध आत्मा में

कर्मों का अभाव **अव्यमोSयम् चिन्त्योSयम** न जायतेस्त्रियते[24] इत्यादि मन्त्रों में बताया गया है। क्रिया रहित कारण में अर्थात अकर्म में कर्म देखना विपरीत दर्शन है और ऐसा देखना लोगों में अत्यन्त स्वाभाविक सा हो गया है। अर्थात् देहेन्द्रियों के द्वारा होने वाले कर्मों को आत्मा में अध्यारोप का मो कर्त्ता हूं। मेरा यह कर्म है मुझे इसका फल भोगना है, इस प्रकार लोग मानते हैं और अकर्म में कर्म देखते हैं जो आभास है।

इसी प्रकार में चुप होकर बैठता हूँ जिससे कि मैं परिश्रम रहित और कर्म रहित होकर सुखी हो जाऊँ। यहां देहेन्द्रिय के व्यापार की उपरामता को अकर्म समझा गया है। यह भी आभास है, तात्विक नहीं। तात्विक दृष्टि से कर्मों का करना और कर्मों का त्याग करना दोनों ही कर्त्ता के

गीता 2/20

व्यापार के अधीन हैं। जिसमें कर्त्ता का व्यापार है वह प्रवृत्ति हो या निवृत्ति वास्तव में कर्म ही है। इसलिए अंहकारपूर्वक किया हुआ कर्म त्याग भी वास्तव में कर्म ही है।[25]

एक अन्य दृष्टि है कर्म में अकर्म देखने की और वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है शास्त्र विहित कर्तव्य कर्म है। यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रम के अनुसार जीविका और शरीर निर्वाह सम्बन्धी जितने भी शास्त्र विहित कर्म हैं उन सब में आसक्ति फलेच्छा, ममता और अंहकार का त्याग कर देने से इस लोक या पर लोक में सुख दु:खादि फल भुगताने के और पुनर्जन्म के हेतु नहीं बनते बल्कि मनुष्य के पूर्वकृत समस्त शुभाशुभ कर्मों का नाश करके उसे संसार बन्धन से मुक्त करने वाले होते हैं। इस रहस्य को समझ लेना ही कर्म में अकर्म देखना है।[26] इस प्रकार कर्म में अकर्म देखने वाला मनुष्य आसक्ति, फलेच्छा और ममता के त्यागपूर्वक ही विहित कर्मों का यथायोग्य आचरण करता है। अत: वह कर्म करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता। इसीलिए वह बुद्धिमान होता है, उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता – वह कृतकृत्य हो जाता है।

लोक प्रसिद्धी में मन, वाणी और शरीर के व्यापार त्याग देने का नाम अकर्म है किन्तु यह त्याग रूपी अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अंहकारपूर्वक किए जाने पर कर्म की भांति पुनर्जन्म का हेतु बन जाता है। इस रहस्य को समझना अकर्म में कर्म देखना है।

कर्मों में अभिमान और फलासक्ति का त्याग करके जो नित्यश्रद्धा है अर्थात् विषय कामना से रहित हो गया है ऐसे ज्ञानी द्वारा किए हुए समस्त कर्म वास्तव में अकर्म ही है। क्योंकि वह निष्क्रिय आत्मा के ज्ञान से सम्पन्नहै। वह कर्मों में प्रवृत्त होते हुए भी वास्तव में कुछ नहीं करता है।

1.5 विकर्म की अवधारणा

विहित कर्म को न करना विकर्म है। जैसे शास्त्रों द्वारा नित्यकर्म अनुमोदित है। किन्तु नित्यकर्म का न करना विकर्म कहलाता है। क्योंकि नित्यकर्मों का न करना भी स्वरूपतः नित्यकर्म से विरूद्ध कर्म के रूप में ही उपयोगी होता है।

विकर्म वे कर्म हैं जो शास्त्रों में प्रतिषिद्ध हैं। वेद शास्त्र जिसे न करने का आदेश देते हैं ऐसे कर्म विकर्मकी श्रेणी में आते हैं। किसी प्राणी की हिंसा करना, अभक्ष्य भक्षय करना, असत्य बोलना किसी से घृणा करना आदि विकर्म के उदाहरण हैं। सभी आश्रमों एवं वर्णों के न करने योग्य कर्मों का निदर्शन शास्त्रों में हुआ है। ये अशुभ कर्म हैं। इनका फल पाप है।

मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में अशुभ फल देने वाले मानस, वाचिक एवं दैहिक विकर्मो का निदर्शन है। अन्यायपूर्वक पर धन लेनेका विचार, मन से किसी का अनिष्ट चिन्तन, असत्य में अभिनिवेश अर्थात् देह में आत्मभाव – ये तीन अशुभ फल दाता **मानस विकर्म** हैं। कठोर या मिथ्या भाषण पर दोष कथन और निरर्थक वार्ता – ये चार अशुभ फल दाता वाणी के कर्म अर्थात् वाचिक विकर्म हैं: परायी वस्तुओं को बलपूर्वक लेना, अवैध हिंसा और पर नारी गमन ये अशुभ फल देने वाले तीन प्रकार दैहिक विकर्म हैं।[27]

याज्ञवल्कय स्मृति में मधु, मांस भोजन, तैलादि मर्दन, काजल लगाना, उदिृष्ट (जूठा) भोजन

[25] श्रीमद्भगवत गीता, शंकरभाष्य पाद टिप्पणी पृ. 115

[26] गीता तत्व विषेचनी गीता पृ. 214

[27] मनुस्मृति 121

करना, कठोर वाक्य प्रयोग, स्त्री संपर्क, प्राणि हिंसा,अश्लील एवं असत्य भाषण परदोष कथन, उदयास्तसूर्य का दर्शन ब्रह्मचारी के लिए विकर्म बताये गये हैं[28]। गौतम स्मृति में भी ब्रहमचारी धर्म वर्णन प्रकरण में निषिद्ध कर्मो (विकर्मो) की व्यापक चर्चा हैं: औशनस स्मृति गुरू से सम्बन्धित विकर्मों को बताती है गुरू के दर्शन के पश्चात् भी आसन पर बैठे रहना, उनके भाषण एवं चेष्टा का अनुकरण (नकल) करना और गुरू निन्दा सुनना, ब्रहमचारी के लिए वर्णित है[29]।

दक्ष स्मृतिमें गृहस्थ के नौ विकर्म बताये गये है – अन्तत (असत्य तथा व्यवहार) परस्त्री संपर्क, अभक्ष्यवस्तु भोजन,अगम्याकि साथ गमन, अपेय का पान, चोरी, हिंसा, वेद विरूद्ध आचरण तथा मित्त धर्मों के विपरीत कर्म।[30]

मनुस्मृति चौथे अध्ययन के श्लोक 161-212 तक वर्जित कर्म (विकर्म) तथा उसके परिणामों की व्यापक चर्चा है। तदनुसार आत्म असन्तोषकारक कर्म, आचार्य-प्रवत्या, माता-पिता, गुरू-ब्राहमण, गौ और तपस्वी की हत्या, नास्किता, वेद निन्दा, द्वेष, धर्म, मान, क्रोध, क्रूरता, दूसरे पर लाठी उठाना (डण्डा मारना), ब्रहम हत्या, धर्म-वर्णित अर्थ एवं काम का सेवन, लोक निन्दित कर्म, निष्प्रयोजन घूमना, नैन चपलता, वाणी चपलता, दूसरों को हानि पहुँचाना, आचार्य मामा अतिथि बाल-वृद्ध-रोगी-वैध (डॉक्टर) जातिबन्धन पिता-जामाता (दामाद), पुत्र-पुत्री एवं दास वर्ग के लिए कटुवचन, प्रतिग्रह, दूसरे के सरोवर के स्नान, गणिका (वैश्य) गणक (ज्योतिषी) एवं चिकित्सक (डॉक्टर) के यहां भोजन, इत्यादि वर्जित कर्म अर्थात् विक्रम हैं।

मनु एवं याज्ञवल्कय पर दोष कथन एवं किसी के पुश्चरित्र को प्रकट करने के कर्म को प्रतिषिद्ध कर्म मानते हैं। ऐसा करने वाला व्यक्ति उसके पाप का स्वयं भागी हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है एक राजा ने ब्राहमणों को भोजन के लिए निमन्त्रित किया, विविध प्रकार भोजन बनवाया और श्रृद्धापूर्वक उन्हें जिमाया। किन्तु ब्राहमण सब मृत्यु को प्राप्त हो हुए। आकाश में एक चील सर्प को लेकर उड़ रही थी सर्प का बन्धन कुछ ढीला होने पर उसके फन से विष स्लोवित होकर आंगन में पक रहे व्यंजनों पर पड़ा और व्यंजन विषैलें हो गये। अब ब्राहमणों के मृत्यु के पापफल का विधान किसके लिए हो निर्णय कठिन हो गया। राजा के श्रृद्धा और आचरण में एक मात्र की कमी नहीं थीं। चील एवं सर्प भी अपनी स्वाभाविक .... रहे। निर्णय स्थागित हो गया। कालान्तर में राजा ने पुन: ब्राहमण भोज की व्यवस्था सात्विक भाव एवं श्रृद्धापूर्वक किया। भोजन के लिए जाते हुए ब्राहमणों को एक व्यक्ति ने यह कहकर रोकने की कोशिश की कि राजा विष मिश्रित भोजन खिलाकर ब्राहमणों को मार डालता है। उसके ऐसा कहने ही सारे पाप का निर्णय उसी व्यक्ति के लिए कर दिया गया। पर दोष कथन उसके पापों को अपने ऊपर लेना है। अत: हमें दूसरों की निन्दा और दोष कथन से बचना चाहिए।

आज समाज में वायफ्रेण्ड एवं गर्लस्फ्रेण्ड का चलन व्यापक होता जा रहा है। विधि भी इस सम्बन्ध में उदार है। वयस्क पर कोई प्रतिबन्ध नहीं। लिव इन रिलेसनसिप की मान्यता स्थापित हो गयी। दृष्टि केवल वैषणिक है, अध्यात्यिक नहीं है। अपसंस्कृति बढ़ रही है, संस्कृति घट रही है। दिन प्रतिदिन इसके परिणाम और खतरे सुर्खियां बनते हैं, पर समाज इसके प्रति जागरूक

[28] याज्ञवल्कयस्मृति श्लोक 33

[29] औशनस स्मृति – ब्रहमचारी प्रकरण 112-114

[30] दक्ष स्मृति 3/10-11

नहीं हो रहा है। शायद कलिका प्रभाव है। पराशर को कहना पड़ा – 'कुमार्य्यश्च प्रसूयत्रे तस्मिन कलियुगे सदा अर्थात् कुमारी लड़कियां कलियुग में बच्चा पैदा करेंगी। किन्तु हमारे शास्त्रकार पर नारी संग को बहुत बड़ा पाप एवं प्रतिषिद्ध कर्म मानते रहे है। अनेक स्मृतियों एवं पुराणों में इसकी निन्दा की गयी है। महाराज मनु तो यहां तक लिखते हैं – पर नारी के संग के समान और कोई पाप कर्म संसार में नहीं है, जो पुरूष की आयु को क्षीण करता है।

शास्त्र प्रतिषिद्ध कर्म विकर्म हैं। यह विकर्म की एक सामान्य परिभाषा है पर भगवान कृष्ण कहते हैं कि इसे तत्व से समझना चाहिए क्योंकि शासन के तत्व को न जानने वाले अज्ञानी कर्म को विकर्म और विकर्म को कर्म समझ बैठते हैं इसलिए शास्त्रज्ञों से इसके रहस्य का ज्ञान करना चाहिए। उदाहरणार्थ वर्ण, आश्रम एवं अधिकार भेद से जो कर्म एक के लिए शास्त्र विहित है – कर्म है वहीं दूसरे के लिए निषिद्ध होने से विकर्म हो जाता है। सब वर्णों की सेवा करके जीविका चलाना शूद्र के लिए विहित कर्म है किन्तु ब्राहमण के लिए विकर्म है। दान लेकर वेद पढ़ाकर और यज्ञ कराकर जीविका चलाना ब्राहमय के लिए मर्त का कर्म है। किन्तु दूसरे वर्णों के लिए विकर्म है। गृहस्थ के लिए न्यायोर्जित द्रव्य संग्रह करना और ऋतुकाल में स्वपत्नीगमन करना कर्म है किन्तु सन्यासी के लिए कांचन और कामिनी का दर्शन-स्पर्श करना भी पाप है, विकर्म है। अत: तत्ववेत्ता पुरूष से इसे ठीक-ठीक समझना चाहिए।

1.6 कर्म, अकर्म, विकर्म विमर्श

हिन्दू धर्म में कर्म को दो प्रकार से विभाजित किया गया है। एक विभाजन कर्म शक्ति के आधार पर संचित, संचीयमान एवं प्रारब्ध के रूप में हुआ है जिसका संक्षिप्त निदर्शन हो चुका है। दूसरा विभाजन शास्त्र मर्यादा के अनुसार कर्म, अकर्म एवं विकर्म के रूप में हुआ है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं-

कर्मणोध्मपि बोद्धव्यं बोधव्यंच विकर्मण:।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहनां कर्मणो मति:। गीता 4/1

कर्म, विकर्म एवं अकर्म को समझाना चाहिए क्योंकि इनकी गति अर्थात् यर्थाथ स्वरूप बड़ा गहन है। समझने में बड़ा कठिन है। क्या कर्म और क्या अकर्म है इस सम्बन्ध बड़े-बड़े बुद्धिमान भी मोहित हो चुके हैं। अर्थात कर्म-अकर्म का निर्णय नहीं कर सके।

प्रश्न होगा, इसका इतना आग्रह क्यों? भगवान् कहते हैं :

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।
(गो० 4–18)

इसका सीधा–सादा अर्थ है कि जो कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म, वह बुद्धिमान् है। मनुष्यों के बीच योगयुक्त है और कर्मके रहस्य का ज्ञाता होने से सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता मी है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण कर्मों का फल तत्त्व ज्ञान या मुक्ति पा लेने से वह अर्थतः सम्पूर्ण कर्मों का कर्ता बन जाता है।

किन्तु इस पर कोई सहज पूछ सकता है कि ये कैसी उलटी बातें कर रहे हैं ? क्या कमी कर्म में अकर्म या अकर्म में कर्म रह सकता है ? प्रकाश और अन्धकार– की भाँति परस्पर विरुद्ध दो पदार्थ एक–दूसरेमें कैसे रहेंगे और क्या वैसा मानना भ्रम न होगा ?

मला ऐसे भ्रम से कमी अशुम संसार बन्धन से मुक्ति मिल सकती है ?

इसका मार्मिक समाधान महाभारत के व्याख्याकार महामनीषी **श्री नील– कण्ठ** ने अपनी व्याख्या में कर दिया है। वे इस श्लोक के कई अर्थ प्रस्तुत कर अन्त में सिद्धान्त पक्ष के रूप में लिखते हैं कि कर्म अर्थात् श्रुति–स्मृतिविहित सत्कर्म मी श्रद्धा विरहित पुरुष द्वारा करने पर अकर्म बन जाता है। वही दम्भ या ढोंग से करने– पर विकर्म यानी पापजनक, निषिद्ध कर्म के रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार कहीं निरपराध का वध हो रहा हो और हम शक्ति रहते मी हिंसा–हिसा जपते चुप मारकर अकर्मण्य या कर्मरहित हो बैठते हैं, तो वह भी पापजनक कर्म का रूप धारण कर लेता है। अतएव प्रत्येक कर्म में अनुस्यूत विशेषता जानकर ही कोई कर्म करना उचित है। गीता के सुपरिचित व्याख्याकार श्रीधर स्वामी लिखते हैं कि ईश्वराराधन– रूप सत्कर्म में जो अकर्म दृष्टि रखता है अर्थात् कर्मके फल विशेषजनकता रूप स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा नहीं रखता, दूसरे शब्दों में निष्काम बन कर्म करता है तो वह उसके लिए अकर्म बन जाता है यानी कर्म के स्वाभाविक दोष बन्धकता से वह बच जाता है। इसी प्रकार फलविशेष–जनकता रूप कर्मता न होनेसे 'अकर्म' कहे जा सकने वाले नित्य–नैमित्तिक कर्मों के त्याग में जो कर्मता यानी पापजनकता देखता है, दूसरे शब्दों में उस कर्मत्याग को मी बन्धक समझता है, वह बुद्धिमान् है, योगयुक्त है और समस्त कर्मोंका कर्ता बन जाता है।

श्रीधर स्वामी के इस विस्तृत व्याख्यान का भाव यह है कि 'जो किया जाता है वही कर्म है' ऐसी बात नहीं। प्रत्युत जिस क्रिया के करने पर बन्ध हो वही कर्म है। 'करोति बन्धमिति कर्म' इस तरह व्युत्पत्ति कर बन्धन–हेतु क्रिया को ही कर्म मानना चाहिए और इसी आधार पर किसी कर्म, विकर्म या अकर्म को देखना सच्चे अर्थमें बुद्धिमानी है।

भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य, मधुसूदन सरस्वती और श्रीधर स्वामी ने भी इस श्लोक की ज्ञानप्रधान व्याख्याएँ कर आपाततः दीखने वाले विरोध का परिहार किया है।

श्री शङ्कराचार्य कहते हैं कि वास्तव में जो अकर्म है, वह मूढमति लोगों को कर्म सदृ श भासता है और अकर्म मासता है कर्म सदृश । किन्तु उसमें यथार्थ तत्त्व देखने के लिए ही भगवान् यहाँ 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' आदि बता रहे हैं। बात यह है कि नाव या गाड़ी के चलते समय उसपर बैठे पुरुष को किनारे के अचल वृक्षों में गतिका भ्रम होता है। इसी प्रकार नेत्रोंसे वास्तवमें गतिमान् भी दूरवर्ती पुरुष, नक्षत्रादि दूरत्वदोषसे अचल दीखते हैं। ठीक ऐसे ही यहाँ मी 'अकर्म' यानी सर्वथा क्रियाशून्य आत्मा में 'मैं करता हूँ' इस प्रकार कर्म का देखना और त्याग रूप कर्म में 'मैं कुछ नहीं करता' इस प्रकार अकर्म देखना भ्रम है। भगवान् कहते हैं कि 'मैं करता हूँ' यह देखते हुए मी आत्मा को अकर्ता ही समझो और नित्य–नैमित्तिक कर्मोंके त्याग में (अकर्म में) प्रत्यवायजनकता रूप कर्म समझो, तमी तुम बुद्धिमान् माने जाओगे।

सारे कर्म त्यागकर चुप मारकर बैठना मी अन्ततः कर्म करना ही है। कारण, प्रकृतिके गुण स्वभावतः क्रियाशील होते हैं। उन्हें रोकने के लिए भी निवृत्ति नामक यत्न करना ही होगा। फिर तज्जन्य जो क्रिया होगी, वह कर्म नहीं तो क्या है ?

श्री मधुसूदन सरस्वतीने एक अर्थ तो श्री शङ्कराचार्य के अनुसार ही लगाया है। दूसरा अर्थ यह है कि यतः यहाँ कर्ममें अकर्म या अकर्ममें कर्म देखने (ज्ञान) का फल अशुम संसारसे मोक्ष बताया है, अतः वह ज्ञान तत्त्वज्ञान या परमात्म– ज्ञान ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्या विद्यतेऽयनाय' इस

श्रुति से मात्र तत्त्वज्ञान को ही मुक्तिका साधन माना गया है। अतएव इस पद्यका अर्थ है : कर्म में कर्मजनित अथवा ज्ञान विषय दृश्य संसारमें, जो अकर्म—ज्ञानाविषय किंवा अदृश्य, परमात्मरूप द्रष्टा की दृष्टि रखता हैय तथा अकर्म परमात्मामें कर्मभूत दृश्य जगत्को आरोपित रूपमें देखता है, परमात्मासे अतिरिक्त किसीको भी वास्तविक सत्ता नहीं मानता, वही बुद्धिमान्, योगयुक्त और सर्वकर्मफलस्वरूप ज्ञान प्राप्त कर लेता है। कारण, ज्ञान में ही सभी कर्मोंके फल गतार्थ हो जाते हैं।

श्रीधर स्वामी ज्ञानपक्षीय व्याख्या करते हुए लिखते हैं : देह, इन्द्रिय आदि में कर्म होते रहने पर भी आत्मा में जो उनका अभाव देखता है और क्लेशप्रद विहित कर्मों के त्याग रूप अकर्म में बन्धक होने से जो कर्मभाव देखता है, वह बुद्धिमान् है।

श्री शङ्करानन्दजीने अपनी टीकामें इसी अभिमतका विस्तार किया है। विशेष बात यह की है कि 'कृत्स्नकर्मकृत्' का अर्थ वे 'समस्त कमों, कर्मबन्धनोंको काटने, छेदनेवाला' बतलाते हैं।

ज्ञातव्य है कि इन सभी प्राचीन दार्शनिकों के मत में 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं...' इत्यादि श्लोक में 'कर्म' पदका अर्थ है श्रुति—स्मृतिविहित सत्कर्म । 'विकर्म' का अर्थ है, उनके विपरीत या विरुद्ध अर्थात् निषिद्ध कर्म । इसी प्रकार 'अकर्म' का अर्थ है कर्माभाव, कर्मत्याग या कर्मशून्यता। संक्षेप में भगवान् यहाँ यही कहना चाहते हैं कि श्अर्जुन, तुम सत्कर्म करो, विकर्म से बचो और अकर्म या कर्मशून्यता का त्याग करो, तो उस समय उनका कमी अभिमान न रखो— 'मैं इन्हें कर रहा हूँ' या 'नहीं करता' ऐसा मत मानो। इस तरह किसी प्रकारके कर्म या उसके अभावका अभिमान न रखते हुए प्रवाहपतित न्यायसे जो भी क्रिया करोगे, वह कभी तुम्हारे लिए बन्धक नहीं हो सकती। तुम्हारी वही क्रिया सत्त्वशुद्धिपूर्वक तुम्हें अशुम संसारसे मुक्ति दिलाकर तत्त्वका ज्ञान करा देगी । भगवान्ने कर्मयोगके इस प्रकरणमें यह कैसा सहज उपाय बताया है, जो साधारण बुद्धिमान् मी कार्यान्वित कर अपना उद्धार कर सकता है।

श्री रामानुजाचार्य 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इत्यादि में 'अकर्म' का अर्थ ज्ञान करते हैं। वे कहते हैं कि कर्मके साथ अकर्म = ज्ञान और अकर्म—ज्ञानके साथ कर्म, इस प्रकार ज्ञान—कर्म—समुच्चय बतानेमें ही प्रस्तुत श्लोकका तात्पर्य है। श्री वल्लमाचार्य के अनुयायी वल्लम नामक कोई विद्वान् इस श्लोकका यह अर्थ करते हैं ' कर्मणि कर्म या कर्मकी सारी सामग्री में, जो अकर्म — ब्रह्म को देखता है, जैसा कि आगे 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' श्लोक में वर्णित है। इसी प्रकार वे 'अकर्भ' का अर्थ प्रतिषिद्ध कर्म या अनधिकारिकृत कर्मत्याग करते हैं। इन दोनों अकर्मों में बन्धन या पापजनकता होने से जो कर्मत्व देखता है, वह बुद्धिमान् है, यह भाव है।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रखर विद्वान् **श्री गोस्वामी पुरुषोत्तम** का मत है कि पुष्टिमार्ग में भगवदाज्ञा से क्रियमाण कर्म ही यहाँ 'कर्म' पद से विवक्षित है। वह किसी प्रकार बन्धक नहीं होता। उसे जो 'अकर्म' समझता है, वह बुद्धिमान् है। इसी प्रकार लौकिक, अकरणीय माने जाने वाले अकर्मको भी भगवदाज्ञासिद्ध होने— पर जो 'कर्म' समझता है, वह बुद्धिमान् है, इत्यादि। इससे भगवान् अर्जुन को यह संकेत करते हैं कि अपनी दृष्टिसे अकरणीय भी युद्धकर्म को मेरी आज्ञा के फल— स्वरूप तुम करणीय या कर्तव्य कर्म मानोगे तो वह तुम्हें बन्धक न होगा और तुम बुद्धिमान् माने जाओगे तथा सब कर्मों का फल प्राप्त करोगे ।

लोकमान्य तिलक कहते हैं कि फलाशा एवं आसक्तिसे रहित होकर कर्म करने वाले कर्मयोगी के कर्मों में जो अकर्मता (कर्मबन्धकताका अभाव) देखता है तथा ह्वात्'

कर्मसंन्यास या कर्मत्याग करने वाले के अकर्म में कर्मभाव (बन्ध– कता) देखता है (अर्थात् उस तामस त्याग को बन्धक मानता है) वह बुद्धिमान् है।

आचार्य विनोबा भावे मानते हैं कि कर्म यानी स्वधर्माचरण और विकर्म यानी विशिष्ट कर्म, मनोयोग से कृत कर्म। कर्म में विकमं मिलाने पर वह अकर्म यानी बन्धरहित निष्काम कर्म बन जाता है। उन्होंने 'विकर्म' शब्दगत 'वि' का अर्थ विरोध न मानकर 'विशिष्ट' माना है। अर्थात् विकमं यानी विशिष्ट कर्म । कर्ममें वैशिष्टय यही है कि उसमें पूरा मनोयोग दिया जाय। वे कहते हैं कि कर्म के साथ जव आन्तरिक भावका मेल हो जाता है, तो वह कर्म कुछ निराला ही हो जाता है। तेल और बत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है तो प्रकाश फैलता है। इसी प्रकार कर्मके साथ विकर्म का मेल होनेपर निष्कामता आती है। कर्म में विकर्म डाल देने पर वह कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। उससे शक्तिस्फोट होता है और उसमेंसे अकर्म (निष्कामता) का निर्माण होता है। फिर उस कर्मका कोई बोझा नहीं मालूम पड़ता। कर्ममें विकर्म डाल देने पर वह अकर्म बन जाता है, मानो कर्म करके पुनः उसे पोंछ दिया गया हो।

श्री जयदयाल गोयन्द का 'कर्म' का अर्थ 'विधिसंगत उत्तम क्रिया' करते हुए भी यह मानते हैं कि वह कर्ता के भावों की विभिन्नता से कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती है। इसमें भाव ही प्रधान है। उनके मत से 'विकर्म' का अर्थ मन, वाणी, शरीर से होने वाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि अकर्तव्य या निषिद्ध कर्म है। किन्तु उनका कहना है कि वे विकर्म कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्म रूप में बदल जाते हैं। उनके अनुसार 'अकर्म' का अर्थ है मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं का अभाव। फिर भी क्रिया न करनेवाले पुरुष के भावानुसार वह अकर्म भी कर्म, विकर्म या अकर्म बन सकता है। सर्वत्र भावका ही प्राधान्य है। उदाहरणों– द्वारा ये बातें स्पष्ट कर उपसंहारमें वे कहते हैं कि भावों के अनुसार कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म आदि का रहस्य जानने वाला ही गीता के मत से मनुष्यों में बुद्धिमान् है।

श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पति ने अपने वैदिक–विज्ञान के अनुसार इस पद्य का कुछ अलग ही अर्थ लगाया है। संक्षेपमें वे कर्म छह प्रकार के बताते हैं : 1. अमृत– मागसे मृत्युको अलग करने वाला ऋतु, 2. क्षण, 3. माव, 4. संस्कार, 5. अव्यय पुरुषके विरुद्ध पाप, 6. मनुष्यद्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादनाचं करणीय कर्म । इनमें पाँचवाँ प्रकार अव्यय पुरुष आत्माका विरोधी होने से सर्वथा त्याज्य अतएव 'विकर्म' है। दूसरे मी यदि आत्म विरोधी हों तो त्याज्य, अतएव विकर्म होंगे। वे कहते हैं कि अमृत ने चारों ओर से मृत्यु को घेर रखा है, इसी को गीता ने कर्म में अकर्म का और अकर्म में कर्म का अनुप्रवेश कहा है। किन्तु जो उसी सम्मिलित रूप में से अमृतभाग (आनन्द) को सूक्ष्म दृष्टि से पृथक् कर देखता है, वह बुद्धिमान् है। सब कर्म अमृत आत्मापर आश्रित हैं। इसलिए पुरुष को 'कृत्स्नकर्मकृत्' कहा है।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा किये गये कर्म–अकर्म सम्बन्धी विवेचन के प्रकाश में इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित न होगा कि भगवान् यहां यही संकेत करते हैं कि ग्राह्यके अन्तरमें स्थित अग्राह्य पर और अग्राह्य के अन्तर में स्थित ग्राह्य पर दृष्टि रखकर ही कर्म करो। संसार की कोई भी वस्तु सर्वथा निरपवाद नहीं हुआ करती । ग्राह्य आम्रफल का उपभोग उसके भीतर की अग्राह्य गुठली पर दृष्टि रखकर ही किया जाना चाहिए। इसी प्रकार बादाम के अग्राह्य छिलके के भीतर स्थित ग्राह्य बीज पर ध्यान रखकर ही बादाम का उपयोग करना चाहिए। कोई भी वस्तु एकान्ततः अच्छी या बुरी नहीं हुआ करती। सबमें ग्राह्य और अग्राह्य दोनों अंश रहते हैं। बुद्धिमान् का कर्तव्य है कि उनका विवेक करके ही किसी वस्तुका उपयोग करे। सत्य जैसी

परमार्थतः ग्राह्य और असत्य जैसी सर्वथा अग्राह्य वस्तु के विषय में भी यही बात है। अतएव अनृत के सम्बन्धमें महा– भारत का यह श्लोक प्रसिद्ध है :

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।।
(म० भा० आदि० 82–16)

अर्थात् हँसी में, स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, प्राण संकट के समय और सम्पत्ति–रक्षा के लिए झूठ बोलना पाप नहीं है। कर्म और अकर्म के विषय में भी उत्सर्ग–अपवाद की यह दृष्टि ध्यान में रखकर ही भगवान् यहाँ कर्मयोग का उपदेश दे रहे हैं। संक्षेप में कर्म, विकर्म और अकर्मका यही रहस्य है।

कर्म स्वातन्त्य : प्रश्न यह होता है कि क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है? यदि नहीं तो उसके कर्म का क्या मूल्यांकन? यदि स्वतन्त्र है तो उसका अर्थ क्या है? उसकी सीमा क्या है?

ईश्वरवादी मानते है कि – सब कुछ ईश्वर करता है। एक भक्त तो यहां तक कहता है – 'तेरी सत्ता के बिना हे मुदमंगल मूल, पत्ता तक हिलता नहीं खिलने एक हूँ फूल'। गीता एक स्थान पर यह कहती है कि सभी प्राणी प्रकृति से उत्पन्न सत्य, रज और तय इनती नंगुओं द्वार पावर हुए अवश्य ही कर्मों में प्रवृन्त कर दिये जाते हैं। दूसरे स्थान पर भगवान ने कहा कि – हे अर्जुन सब कुछ में करता हूँ जिसकी यौद्धायों इमाहत हैं तुम केवल निर्मित बनो।

दूसरी तरफ मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है। मनुष्य कर्म करता है और उसका फल भोगता है। व्यास कहते है – जिस प्रकार हजार गौओं के बीच बछड़ा अपनी मां को ढूंढ लेता है। उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्त्ता के अनुसरण करता है। ईश्वर कर्माध्यक्ष है और फल विधान करता है। ईश्वर ने मनुष्य को कर्म करने की आजादी दी है और वह साक्षी मात्र रहता है[31]। एक प्रसिद्ध यन्त्र जिसका भावार्थ है - दो पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा) एक वृक्ष (मनुष्य शरीर) पर बैठे हैं एक फल (कर्म फल) का भोग करता है और इसका साक्षी भाव से देख रहा है[32]।

संकल्प की स्वतन्त्रता पर अनेक विध चिन्तन हुआ है जो पृथक अध्ययन का विषय है। हिन्दू धर्म के चिन्तन का निष्कर्ष यह है कि - देव-दानव, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व सभी कार्य करने की शक्ति ईश्वर से प्राप्त करते हैं। केन उपनिषद् एवं देवी भागवत में एक कथा है जिसमें बताया गया कि ईश्वर अग्नि से उसकी दाहि का शक्ति छीन ली तो वह तिनका नहीं जला सका, पवन से उड़ाने की शक्ति छीन ली तो वह तिनका भी नहीं उड़ा पाया। देवी ने इसका समाधान इन्द्र को दिया कि - सारी शक्तियाँ ईश्वर प्रदत्त होती हैं, शक्ति का वही स्रोत है व्यर्थ ही तुम लोग देवासुर संग्राम में अपनी शक्ति का बखान कर रहे हो। उसने शक्ति वापस ली तो अग्नि और पवन शक्ति हीन हो गये।

शक्ति पाने में सभी लोग भले ही ईश्वर पराधीन हैं किन्तु उसका प्रयोग करने में सभी लोग स्वतन्त्र हैं और अपने कार्य के प्रति उत्तरदायी है। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है कि - हम अपने घर में विद्युत पाने में विद्युत गृह के अधीन हैं पर प्राप्त हो जाने के बाद अपने घर के अन्दर उसका सदुपयोग या दुरूपयोग करने में स्वतन्त्र हैं। हम सदुपयोग का सांसारिक सुख

[31] कर्माध्यक्ष: सर्वयूतदिवास: साक्षीचेता केरत्नो निर्गुजश्च।

[32] द्व सुपर्णा सयुजा सखायां समानं वृक्षं परिशाचजाते। तयोरूप: पिप्यस स्वाद्वत्यनरन्पो आये चामर्शर्ति। मुण्डकोपनिषद् 3/1/1

सुविधाओं को प्राप्त कर सकते हैं और दुरूपयोग कर मृत्यु का वरण भी कर सकते हैं। इसके विद्युत गृह का कोई रचोकार नहीं है।

1.7 सारांश

कोई कर्म मुझे स्पर्श नहीं कर सकता। मुझे कर्म के फल की स्पृहा नहीं है। जो कोई मुझे ऐसा जानता है, वह कर्म के बंधन में नहीं तथा जो पुरूष प्रचण्ड अकर्म में प्रचण्ड कर्म देखता है, वही पुरूष सचमुच में बुद्धिमान होता है। ज्ञानीजन उसे ही बुद्धिमान कहते हैं, जिसके प्रत्येक कार्य संकल्प और कामना से रहित होते है, जिनमें कोई स्वार्थ नहीं होता। हम कर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते, इसलिये कर्म अर्थात् शास्त्र तथा समाज द्वारा निर्धारित कर्म अकर्म अर्थात् शास्त्र तथा समाज द्वारा निर्धारित कर्मों को न करना और विकर्म अर्थात् शास्त्र तथा समाज द्वारा जिसका कर्म का निषेध किया गया है, उस कर्म को करना, इन तीनों का ज्ञान आवश्यक है।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

पुष्टिमार्ग : यह भक्ति वेदान्त की एक परम्परा है। इसके आचार्य वल्लभाचार्य हैं। सेवा के द्वारा भवगत्तत्व को प्राप्त करना पुष्टिमार्ग का मुख्य ध्येय है। ये सेवा दो प्रकार से होती है। 1. नाम सेवा तथा 2. स्वरूप सेवा। स्वरूप सेवा अन्तर्गत साधक अपनी ममता और अहम् को त्याग कर कृष्ण भक्ति में लिन हो जाता है।

अतिथि - विना पूर्व सूचना के आया हुआ

अधमर्षण - पापों को हटाना

अकर्म - कर्म से उपरत

काम्य कर्म - कामना विशेष से किये जाने वाले कर्म

नित्य कर्म - अनिवार्य रूप से नित्य किये जाने वाले सन्ध्यासन्ध्यान्दादि कर्म

नैमित्रिक कर्म - किसी के निमित्र अवसर विशेषकर किये जाने वाले व्रत एवं श्राद्धदि कर्म

प्रारब्ध कर्म - जिन कर्मों का फल भोग प्रारम्भ हो गया है।

संचित कर्म - जिन कर्मों का फल भोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है।

संचीयमान कर्म - जो कर्म हम कर रहे हैं।

षट्कर्म - स्नान, सन्ध्या, जप, देवार्चन वैश्वदेव तथा आतिथ्य

वैश्वदेव - देव, भूत, पितृ, ब्रहम एवं मनुष्य के लिए हविष्याभ देना

1.9 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2008
3. गीतारहस्य, बालगंगाधर तिलक, पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, 2017
4. श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप, स्वामी प्रभुपाद, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई।
5. गीता व्याख्यानमाला, भाग 1, गिरधरशर्मा चतुर्वेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

6. याज्ञवल्क्य स्मृति चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान 1998 ई.
7. बीस स्मृतियां संस्कृत संस्थान, ख्वाजा कुतुब बरेली,
8. केनाद्युपनिषद सूक्त श्री सूक्तमापयम् द सुन्दरम चैरिटीज मद्रास 1973
9. आपस्तम्भ्य धर्म सूत्र बम्बई संस्कृत सीरीज बम्बई 1892
10. वीर मित्रोदम मित्रमित्र चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी
11. रामचरितमानस गीता प्रेस गोरखपुर

1.10 बोधप्रश्न

1. कर्म क्या है? कर्म की अवधारणा को अपने शब्दों में लिखिए।
2. अकर्म क्या है? अकर्म की अवधारणा को अपने शब्दों में लिखिए।
3. विकर्म क्या है? विकर्म की अवधारणा को अपने शब्दों में लिखिए।
4- हिन्दू धर्म में कर्म सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।
5- कर्म एवं उसके भेदों की विवेचना कीजिए।
6- विकर्म को परिभाषित करते हुए, विकर्मों पर प्रकाश डालिए।
7- कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म देखना क्या है? विवेचना कीजिए।
8- षट्कर्मों की विवेचना कीजिए।

इकाई 2 छः प्रकार के कर्म

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप

1. वेदान्त में प्रतिपादित कर्म के महत्त्व को जान पायेंगे।
2. मोक्षाधिकारी के तात्पर्य एवं उसके द्वारा अपेक्षित कर्म को जान सकेंगे।
3. षड्कर्म के विवेचन एवं महत्त्व से परिचित हो सकेंगे।
4. हिन्दू परम्परा में कर्म के धार्मिक एवं नैतिक स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
5. ज्ञान–प्राप्ति में कर्म की भूमिका को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

कर्म सनातन हिन्दू धर्म की एक परिभाषित विशेषता के रूप में कार्य करता है जो उसे वैकल्पिक सांस्कृतिक विचारधाराओं से अलग करता है। यह बताता है कि प्रत्येक क्रिया एक मूलभूत घटक के रूप में कार्य करती है जो सीधे व्यक्ति के जीवन पथ को आकार देती है। वेदान्त दर्शन भारतीय ज्ञान परम्परा का शिरोमणि है। वेदान्त के अनुसार मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य की प्राप्ति ज्ञान से होती है। ऐसे में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मानव जीवन में कर्म की क्या भूमिका है? और वेदान्त के अनुसार किस प्रकार के कर्म अनुमन्य हैं? इस प्रश्न का उत्तर वेदान्त द्वारा प्रतिपादित 'षड्कर्म' से हमें प्राप्त होता है। इस ईकाई में हम इन्हीं छः प्रकार के कर्मों के विषय में विस्तार से समझने का प्रयास करेंगे।

2.2 मोक्ष : वेदान्त के प्रतिपाद्य अध्ययन का अधिकारी

हिन्दू धर्म सार्वभौमिक मोक्ष में विश्वास करता है। इस अवधारणा के अनुसार प्रत्येक जीव की आत्मा अन्ततः मोक्ष प्राप्त करेगी, भले ही इसमें कितना भी समय लगे, भले ही इसमें लाखों वर्षों तक पुनर्जन्म के अनगिनत चक्र लगें। यह अवधारणा इस विचार पर भी प्रकाश डालती है कि किसी भी आत्मा को पीछे नहीं छोड़ा जाता है या उसे शाश्वत दण्ड की सजा नहीं दी जाती है, बल्कि प्रत्येक आत्मा को आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्ति का अधिकारी बनने के लिए अनन्त अवसर दिए जाते हैं।

अधिकारी का अर्थ है– शास्त्र अथवा ग्रन्थ के अध्ययन के लिये अपेक्षित योग्यता से सम्पन्न व्यक्ति। वेदान्तसार ग्रन्थ में 'अधिकारी' कौन हो इस विषय में निम्नलिखित परिभाषा प्राप्त होती है–

> "अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन्
> जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं
> नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया
> नितान्तनिर्मलस्वन्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता।।"

अनुवाद– अधिकारी तो वस्तुतः (वह) जिज्ञासु (प्रमाता) है, जिसने वेद–वेदाङ्गों का विधिपूर्वक अध्ययन करके सम्पूर्णवेदों के अभिप्राय को भली प्रकार जान लिया है। इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में, कामनाओं को पूर्ण करने वाले काम्यकर्म तथा शास्त्रों द्वारा निषेध किए गए कर्मों को छोड़ने के साथ–साथ, नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त और उपासनाकमों के अनुष्ठान से, सम्पूर्णपापों (कल्मषता) से मुक्त, अत्यधिक निर्मल अन्तःकरण वाला होकर साधन–चतुष्टय को अपना लिया है। ऐसा प्रमाता (प्रमाणों के द्वारा व्यवहार करने में समर्थ) ही इस (ग्रन्थ के प्रतिपाद्य) ब्रह्मविद्या का अधिकारी है।

भावार्थ– अधिकारी का अर्थ है वह व्यक्ति जो शास्त्रों का अध्ययन करने के योग्य हो। अधिकारी शब्द के लिए हम सामान्य बोलचाल की भाषा में कई शब्दों का प्रयोग करते हैं यथा– विज्ञ, पात्र, योग्य, हकदार, सामार्थ्यवान इत्यादि। अधिकारी शब्द की व्याख्या में टीकाकार लिखते हैं कि– "प्रमाता तु अधिकारी"। अर्थात् प्रमाता ही अधिकारी है। प्रमाता का अर्थ है– प्रमाणों के द्वारा व्यवहार करने में समर्थ। अर्थात् वह (जिज्ञासु) व्यक्ति जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वेदान्त ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति सामान्य व्यक्ति से भिन्न एवं विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होते हैं। सरल शब्दों में यह गद्यांश यह कह रहा है कि जिसने वेदों और वेदांगों का अध्ययन किया है और वेदान्त का अर्थ समझ लिया है, वह ज्ञानी माना जाता है। ऐसा ज्ञानी जिसने विभिन्न शास्त्रों में वर्णित कर्मों के निष्पादन से आध्यात्मिक विकास प्राप्त किया है और जिसका अन्तःकरण शुद्ध है। उसे ही इस ब्रह्मविद्या अर्थात परमात्म–तत्त्व के ज्ञान का अधिकार है।

प्रत्येक जीव जो इस नश्वर सृष्टि में आया है, उन सभीका गन्तव्य वह परब्रह्म ही है। इस यात्रा के लिए उन सभी को किसी न किसी साधन का उपयोग करना पड़ता है। इसे हम यों समझने के प्रयास करते हैं कि किसी भी पथिक को अपने इप्सित गन्तव्य तक पहुँचने हेतु एक निश्चित मार्ग पर चल कर अपने गन्तव्य तक की दूरी तय करनी होती है, उस यात्रा को पूर्ण करने के लिए किसी साधन की आवश्यकता होती है उदाहरणार्थ– बस, ट्रेन, हवाईजहाज आदि। इनमें से किसी भी साधन का उपयोग करने के लिए आपको साधन के उपयोग करने की योग्यता अर्थात् निर्धारित धनराशि

दे कर टिकट लेना होगा। आध्यात्मिक क्षेत्र की इस यात्रा हेतु यह योग्यता कैसे प्राप्त हो इस पर वेदान्त हमें बताता है कि ऐसा व्यक्ति जिसने इस जन्म में अथवा अपने पूर्वजन्मों में वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) और वेदांगों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त) का विधि पूर्वक अध्ययन के द्वारा समस्त वेदान्त के अर्थ को समझ लिया है। जिसने शास्त्रोक्त काम्य और निषिद्ध कर्मों के परित्याग तथा 'नित्य', 'नैमित्तिक', 'प्रायश्चित' और 'उपासना' कर्मों का अनुष्ठान कर, अपने समस्त कल्मषों (दोषों) को दूर कर अपने अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल बना लिया है और जो साधन–चतुष्टय से सम्पन्न है अर्थात् जिसने प्राप्त कर लिया है। विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क एवं मुमुक्षत्व ये चार ही साधन चतुष्टय कहलाते हैं। साधन–चतुष्टय के विषय में आप विस्तार से अन्य ईकाई में पढ़ सकेंगे। केवल और केवल ऐसा प्रमाता पुरुष ही (इस ब्रह्मविद्या का) अधिकारी है।

संक्षेप में, अधिकारी एक ऐसा असाधारण व्यक्तित्व होता है जो ज्ञान, पवित्रता और आध्यात्मिक उन्नति के आदर्शों का प्रतीक है। वेदों के अध्ययन, शास्त्रविहित कर्मों को करने से, नैतिक सिद्धान्तों के पालन, मन की शुद्धि और उपासना को अपनाने के माध्यम से, व्यक्ति आध्यात्मिक जागरूकता की एक उन्नत स्थिति तक पहुंच जाता है और आत्मज्ञान के मार्ग पर दूसरों के लिए अनुकरणीय बन जाता हैं।

उपरोक्त वर्णित 'आधिकार' को जिन शास्त्रोक्त कर्मों की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है उन छः प्रकार के कर्मों का अध्ययन हम इस ईकाई में करेंगे।

2.3 षड्कर्म

'कर्म' शब्द का प्रयोग स्वयं क्रिया और उसके द्वारा उत्पन्न परिणाम दोनों का वर्णन करने के लिए किया जाता है। आम बोलचाल की भाषा में, कर्म का तात्पर्य 'किसी प्रकार की क्रिया' से समझा जाता है। जबकि कर्म का व्याकरणसम्मत अर्थ वह परिणाम है जो किसी क्रिया से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, यदि हम वाक्य 'मोहन घर जाता है' पर विचार करें, तो 'घर' शब्द चलने की क्रिया के गन्तव्य या परिणाम को दर्शाता है, और यह 'जाने' की क्रिया के उद्देश्य के रूप में कार्य करता है। किन्तु जब हम हिन्दू धर्म के दार्शनिक पक्ष पर दृष्टिपात करते हैं तो 'कर्म' शब्द एक वृहद् आकार ले लेता है। हिन्दू धर्म में कर्म की अवधारणा एक विशिष्ट और आवश्यक तत्त्व है जो इसे अन्य समाजों से अलग करती है। कर्म हिन्दू धर्म की एक मौलिक अवधारणा है। हिन्दू धर्म में, कर्म एक आदर्श है जिसमें 'कारण और प्रभाव' एक–दूसरे से नैतिक क्षेत्र में अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं जैसा कि विज्ञान द्वारा भौतिक क्षेत्र में कल्पित है।

हम चार प्रकार से कर्म करते हैं–

1. विचारों के माध्यम से
2. शब्दों के माध्यम से
3. क्रियाओं के माध्यम से (जो हम स्वयं करते हैं)।
4. क्रियाओं के माध्यम से (जो हमारे निर्देश पर दूसरे करते हैं)।

एक अच्छे कर्म के लिए पुरस्कार है और वहीं बुरे कर्म के लिए दण्ड का विधान है। अगर इन अच्छे–बुरे कर्म का फल इस जीवन में प्राप्त नहीं होता है तो आत्मा अन्य अस्तित्व का आरम्भ करती है और उस नए जीवन में अपने पूर्वकृत कर्म का फल भोगना पड़ता है। यहाँ यह समझना जरुरी है कि कर्म कहीं जाता नहीं है, व्यक्ति को

अपने पूर्व में किये कर्मों के परिणाम के सुख या दुःख भोगने ही पड़ते हैं। इस अवधारणा में पलकें झपकाने जैसी प्राकृतिक शारीरिक क्रियाएँ शामिल नहीं हैं, क्योंकि ये जानबूझकर की जाने वाली क्रियाएँ नहीं हैं। केवल मन से प्रेरित कार्य, जैसे जानबूझकर दान देना या हानि पहुँचाना ही सार्थक माने जाते हैं। अब आपके मन में आ सकता है कि क्या अनजाने में किसी की मदद करना या उसे नुकसान पहुंचाना कर्म की अवधारणा के अन्तर्गत आता है। कानून या किसी के कार्यों के परिणामों की अज्ञानता किसी व्यक्ति को परिणामों का सामना करने से नहीं रोक सकती है। विभिन्न शास्त्र भी कहते हैं कि व्यक्ति को अपने कार्यों के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणामों को स्वीकार करना चाहिए। किसी कार्य में शामिल होने से पहले उसके निहितार्थों को अच्छी तरह से समझना महत्त्वपूर्ण है। अज्ञानता में किए गए कार्यों और प्राकृतिक कार्यों के बीच एकमात्र अन्तर यह है कि पहले वाले कार्यों में मन की भागीदारी की आवश्यकता होती है। कर्म एक विशेष शक्ति की तरह है जो, हमारे द्वारा कुछ भी सोचे हुए, कहे हुए, किये हुए पर नज़र रखता है और यह सुनिश्चित करता है कि हमारे विचारों, शब्दों और कार्यों के परिणाम हमारे जीवन में प्रतिबिम्बित होते रहें। कर्म हमारे विचारों, शब्दों, कर्मों और उनके अनुरूप परिणामों के धागों को आपस में जोड़ते हुए, हमारे अस्तित्व की जटिल रूपरेखा को एक साथ बुनता है और हमारे जीवन की दिशा निर्धारित करता है।

अर्थात् कर्म वह सार्वभौमिक नियम है जो यह निर्देश देता है कि हम जो कुछ भी करते हैं, कहते हैं या सोचते हैं उसका परिणाम हमारे जीवन पर पड़ता है। यह बताता है कि अतीत और वर्तमान में स्वचयनित विकल्प हमारे भविष्य के अनुभवों को आकार देते हैं और यह निर्धारित करते हैं कि हमारा जीवन कैसे विकसित होगा। यह एक गहन समझ है जो सभी चीजों के अन्तर्सम्बन्ध पर जोर देती है और हमारे अपने कार्यों के लिए हमारी जवाबदेही पर प्रकाश डालती है।

'वेदान्तसार' के अनुसार कुल छः प्रकार के कर्म कुछ इस प्रकार बताए गए हैं–

"काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यानि अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि।"

अनुवाद– स्वर्गादि अभीष्ट (लोकों की प्राति) के साधनभूत ज्योतिष्टोम आदि (यज्ञ) 'काम्य' अर्थात् सकाम कर्म है। नरकादि अनिष्ट (लोकों की प्राप्ति) के साधनभूत ब्रह्म–हत्या आदि 'निषिद्ध' अर्थात् वर्जित कर्म हैं न करने पर 'प्रत्यवाय' अर्थात् पाप के साधन बनने वाले सन्ध्या–वन्दन और (पञ्च महायज्ञ) आदि कर्म 'नित्य' अर्थात् अवश्य–करणीय कर्म हैं। पुत्र–जन्म आदि निमित्त–विशेष से सम्बंद्ध जातेष्टि आदि कर्म 'नैमित्तिक' है। पापों के क्षय के साधन–भूत चान्द्रायण आदि व्रत 'प्रायश्चित्त' कर्म है। सगुण ब्रह्म को विषय बनाने वाले मानसिक व्यापार अर्थात् ध्यान (शाण्डिल्य–विद्या) इत्यादि 'उपासना' कर्म कहे जाते हैं।

वेदान्त में वर्णित षड्कर्म निम्नवत हैं–

1. काम्य कर्म,
2. निषिद्ध कर्म,
3. नित्य कर्म,

4. नैमित्तिक कर्म,
5. प्रायश्चित्त एवं
6. उपासना।

इनको सरलता से समझने हेतु हम दो प्रकार के कर्मों में बाट सकते हैं– त्याज्य कर्म एवं विहित अथवा करणीय कर्म। वेदान्तसार में वर्णित प्रथम दो प्रकार के कर्म– काम्य एवं निषिद्ध सर्वथा त्याज्य हैं। शेष चार प्रकार के कर्म– नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त एवं उपासना वेदोक्त करणीय कर्म हैं, जिन्हें वेदान्तसार में 'अनुष्ठान' कह कर सम्बोधित किया गया है। आइए अब हम इन षड्कर्मों के विषय में विस्तार से जानने का प्रयास करते हैं।

2.3.1 काम्य कर्म

काम्य शब्द का शाब्दिक अर्थ है– कामना से युक्त। मोह, इच्छा, क्रोध, लोभ, भय, आलस्य और अहंकार ऐसे कारक हैं जो कर्म बंधन के निर्माण का कारण बनते हैं। जब भी किसी कार्य का निष्पादन इनमें से किसी भी तत्त्व से प्रभावित हो कर किया जाता है, ऐसी क्रियाएँ काम्य कर्म की श्रेणी में आती हैं, फिर चाहे वह कर्म पूजा सम्बन्धित ही क्यों न हो।

"फलोद्देश्येन क्रियमागनि कर्माणि काम्यानि।"

– विद्वन्मनोरञ्जनी टीका

अनुवाद– विद्वन्मनोरञ्जनी टीका बताती है कि, किसी फल की प्राप्ति की आकांक्षा से जो कर्म किए जाते हैं, वे कर्म 'काम्य कर्म' कहलाते हैं।

"काम्यानि स्वर्गदीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि।"

– विद्वन्मनोरञ्जनी टीका

अनुवाद– स्वर्गादि अभीष्ट (लोकों की प्राति) के साधनभूत ज्योतिष्टोम आदि (यज्ञ) 'काम्य' अर्थात् सकाम कर्म है।

काम्य कर्म दो प्रकार के होते है –

1. सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति हेतु किये जाने वाले विधि विधान।
2. आध्यात्मिक उन्नति के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान, व्रत, दान, मन्त्र ध्यान इत्यादि।

व्यक्ति भौतिक क्षेत्र में सफलता और उत्कृष्टता प्राप्त करने के उद्देश्य से जिन कर्मों को करते हैं, उन्हें आमतौर पर काम्य कर्म कहा जाता है। विशिष्ट फल की प्राप्ति के उद्देश्य से सत्यनारायण की पूजा करना भी इसी श्रेणी में आता है। स्वर्ग प्राप्ति हेतु किया जाने वाला अनुष्ठान या वर्षा के लिए किया जाने वाला यज्ञ–वर्षेष्टि, ज्योतिष्टोम आदि भी काम्य कर्म है। काम्य कर्म का तात्पर्य कर्म के विशिष्ट फल की प्रत्याशा में किये जाने वाले अनुष्ठानों से है, जैसे सन्तान प्राप्ति हेतु दशरथ का 'पुत्रकामेष्टि यज्ञ'। वाल्मीकि रामायण के अनुसार दशरथ ने श्रृंगी ऋषि के द्वारा पुत्रोष्टि यज्ञ कराया था। श्रृंगी ऋषि बहुत ही सिद्ध ऋषि थे और उन्होंने अपने अर्जित समस्त पुण्यों की आहुति दे कर यह यज्ञ सम्पन्न कराया था, जिससे राजा दशरथ का यज्ञ सफल हुआ और

उन्हें चार पुत्रो की प्राप्ति हुई थी।

व्यक्ति इन अनुष्ठानों को अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने और अपने व्यक्तिगत जीवन में सांसारिक उपलब्धियों को पूरा करने या अपने विशिष्ट लक्ष्यों और उद्देश्यों को पूरा करने के साधन के रूप में अपनाते हैं। इस तरह के अनुष्ठान इच्छाओं को पूरा करने और जीवन के विभिन्न पहलुओं में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से आयोजित किए जाते हैं, चाहे वह करियर, रिश्ते, समृद्धि, या कोई अन्य क्षेत्र हो जहाँ भौतिक उपलब्धियों की कामना की जाती है। इन अनुष्ठानों के माध्यम से व्यक्ति अनुकूल परिणाम पाने और अपनी इच्छाओं को पूरा करने की उम्मीद करते हैं, जिससे अन्ततः उनकी भौतिक गतिविधियों में उपलब्धि और सन्तुष्टि की भावना पैदा होती है।

कामना से युक्त व्यक्ति को अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए शास्त्रविहित कर्म करने का विधान भी श्रुतियों में ही प्राप्त होता है फिर भी वेद–वेदांग और वेदान्त सभी उनके त्याग को ही श्रेयस्कर मानते है। ये दोनों परस्पर विरोधाभाषी बातें शंका पैदा कर सकती हैं किन्तु स्पष्ट कर दें कि शास्त्र काम्य कर्मों की वर्जना उन व्यक्तियों के लिए बताते हैं जो मोक्ष प्राप्त करना चाहते हों। इसका कारण यह है कि यदि कामनायुक्त व्यक्ति, वेदोक्त जिन काम्य कर्मों का विधान किया गया है, को करता है तो उन कर्मों के फलों को भोगने के लिए उसकी प्रतिबद्धता होगी और वह तब तक मुक्त नहीं हो सकेगा जब तक कि उसके कर्मों का फल शेष है।

जीव द्वारा किए गए पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों और उनके बाद के परिणामों के बीच अन्तर्सम्बन्ध आत्मा के पुनर्जन्म के चक्र को चलायमान रखता है। जिसमें आत्मा कई जन्मों से गुजरती है और प्रत्येक जन्म उसके पिछले कर्मों के परिणामों से प्रभावित होता है। अन्ततः, आत्मा मोक्ष, मुक्ति की स्थिति और सांसारिक अस्तित्व से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा करती है। इस शाश्वत चक्र से मुक्ति का अन्तिम पड़ाव, जिसे मोक्ष कहा जाता है, केवल मानव योनि में ही प्राप्त किया जा सकता है।

इसे हम इस प्रकार से समझें– वर्तमान जीवन में वह सबकुछ जो हम करते हैं क्रियमाण कर्म की श्रेणी में आते हैं। काम्य और निषिद्ध कर्मों को करने तथा नित्य नैमित्तिक कर्मों के न करने से जो फल बन जाते हैं सम्भव है कि आत्मा उन सभी फलों को एक ही जन्म में न भोग पाए। इस स्थिति में जो शेष रह जाते हैं वे संचित कर्म की श्रेणी में आते हैं तथा इन संचित कर्मों के फलस्वरूप ही प्रारब्ध की निर्मिती होती है। संचित कर्म के इसी भण्डार से जीव के जीवन में कर्मफल यथा समय प्रकट होता रहता है जिसे जीव भोगता है और उस फलभोग के बाद वह समाप्त हो जाता है और पुनः उसके समक्ष प्रस्तुत नहीं होता। इसे ही प्रारब्ध कहा जाता है जो जीव के भविष्य का निर्माता होता है। यहाँ जानने हेतु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि समस्त 84 लाख योनियों में से केवल मानव अपने भविष्य को बदल सकते हैं। क्योंकि मृत्यु के बाद जीव की क्रिया–शक्ति (काम करने की क्षमता) समाप्त हो जाती है और तब तक स्थगित रहती है जब तक कि दोबारा मानव देह में जन्म नहीं होता। इसलिए मोक्ष प्राप्ति हेतु ही इन काम्य कर्मों के त्याग को श्रेयस्कर कहा गया है।

ज्योतिष्टोमयाग– 'ज्योतिष्टोमश्स्तोम' शब्द सामवेद के मन्त्रों के पाठ के माध्यम से स्तुति करने की क्रिया को सन्दर्भित करता है। इन स्तोत्रों में चार विशिष्ट स्तोत्र हैं जिन्हें 'त्रिवृत', 'पंचदश', 'सप्तदश' और 'एकविंश' के नाम से जाना जाता है, जिन्हें सामूहिक रूप से 'ज्योतिष' कहा जाता है। इन स्तोमों से जुड़े सोमयाग समारोह को 'ज्योतिष्टोम' कहा जाता है। इस अनुष्ठान के दौरान, साधक 'सोम' नामक लता के

रस से बने तरल पदार्थ का सेवन करते हैं। यदि सोम लता न मिल सके तो उसका विकल्प 'पुतिक' नामक लता का रस है। मुख्यतय साधक द्वारा सेवन किए जाने वाले तरल पदार्थों में सोम रस की 'सोमयाग' नाम के पीछे का कारण है।

2.3.2 निषिद्ध कर्म

'निषिद्ध' एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है– जिसका निषेध किया गया हो अथवा जिसे करने की मनाही हो। निषिद्ध कर्म ऐसे कर्म होते हैं जो शास्त्र, धर्म अथवा सामाज के मानकों का उल्लंघन करते हैं।

"निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मण हननादीनि।"

– (विद्वन्मनोरञ्जनी)

अनुवाद– नरकादि अनिष्ट (स्थानों की प्राप्ति) के साधन भूत ब्राह्मणहत्या आदि निषिद्ध कर्म हैं।

"भ्रमावगतैष्टसाधनतानिषेधकनव्पदयोगिवाक्यगम्पानि निषिद्धानि।"

– (विद्वन्मनोरञ्जनी)

अनुवाद– भ्रम के कारण मनुष्य जिन कर्मों को अपने अभीष्ट का साधक समझ बैठता है, परन्तु वस्तुतः जो अनिष्ट कारक हैं तथा वेदों में जिन कर्मों का निषेध है, वे निषिद्ध कर्म हैं।

निषिद्ध कर्म की परिभाषा किसी समाज के युग, स्थान और सांस्कृतिक सन्दर्भ के आधार पर भिन्न हो सकती है। इन निषिद्ध व्यवहारों को न केवल धार्मिक ग्रन्थों द्वारा बल्कि किसी विशेष देश या समुदाय के भीतर प्रचलित सामाजिक मानदण्डों द्वारा भी अस्वीकार्य माना जाता है। इस तथ्य की पुष्टि पातक एवं उसके लिए दण्ड निर्धारण के प्रसंग में मनुस्मृतिकार के इन वचनों से भी (मनु.– 8/126) होती है–

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्डयेषु पातयेत्।।

अर्थात् अपराध और दण्ड सहने की शक्ति तथा देशकाल आदि का विचार करके ही अपराधियों को दण्ड देना चाहिए। इसे ऐसे भी समझा जा सकता है कि यदि सामान्य जीवन में कोई व्यक्ति क्रोधादि अथवा बदले की भावना से किसी की हत्या कर दे तो उसे अपराधी एवं हत्यारा माना जाएगा, किन्तु आत्मरक्षा में तथा सेना का जवान देश–रक्षा में अगर ऐसा करता है तो इस स्थिति में कोई उसे अपराधी नहीं मानेगा। निषिद्ध कर्मों का पालन करने से मनुष्य की आत्मिक और सामाजिक प्रगति रुक जाती है। निषिद्ध कार्यों में संलग्न होना, जैसे कि ब्रह्म अथवा गौ हत्या, किसी भी निर्दोष जीव के अकारण प्राण लेना, झूठ बोलना, चोरी करना, अखाद्य पदार्थों का सेवन करना, व्यभिचार में संलग्न होना, आदि का परिणाम पाप ही होगा और अन्ततः अवांछित गन्तव्य अर्थात् नरक की ओर ले जाएगा।

वैदिक ऋषियों, स्मृतियों और उपनिषदों ने पापों के विषय पर व्यापक विचार–विमर्श किया है तथा यथास्थान विभिन्न प्रकार के पातकों या अपराधों की चर्चा की है। सूत्रकारों में महापातकों, उपपातकों एवं अन्य पापों की कोटियों की संख्या एवं उनके विशिष्ट स्वरूपों के श्रेणी–विभाजन में मतभेद रहा है। 'ऋग्वेद' में मोटे तौर पर सात

पाप बताए गये हैं, वसिष्ठधर्मसूत्र (1/19–23), बौधायनधर्मसूत्र (2/1) एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र (2/5/12/22) ने पाप की तीन कोटियाँ बताई हैं। छान्दोग्योपनिषद्, कात्यायन, भविष्य पुराण, मनुस्मृति तथा वृद्धहारीत में दुष्कृत्यों को पाँच कोटियों में विभक्त किया है। इसी प्रकार, 'बृहदारण्यक' और 'आपस्तम्बधर्म सूत्र' दो प्रमुख पापों को स्वीकार करते हैं। वहीं निरुक्त (6/27) में सात प्रकार के पापों का उल्लेख प्राप्त होता है जबकि विष्णुधर्मसूत्र (33/3–5) ने नौ प्रकार के पाप बताए हैं। विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र जैसे विभिन्न सामाजिक समूहों पर लागू होने वाले विशिष्ट पापों का भी वर्णन किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में, चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है, अर्थात् 'महापातक', 'उपमहापातक', 'अनुपातक', और 'उपपातक'। वहीं दूसरी ओर, मनुस्मृति में पाँच प्रकार के पातक का वर्णन किया गया है, जिनमें 'महापातक', 'अतिपातक', 'अनुपातक', 'उपपातक' और 'जातिभ्रंशकरण पातक' शामिल हैं। इसके अतिरिक्त, दो और प्रकार भी हैं जिन्हें 'मालिनीकरण पातक' और 'अपात्रीकरण पातक' के नाम से जाना जाता है। हालाँकि, प्रचलित मान्यताएँ मुख्य रूप से पाँच प्रमुख पापों की अवधारणा पर केन्द्रित हैं– 'महापातक', 'अतिपातक', 'पातक', 'प्रासंगिक पातक' और 'उपपातक' में वर्गीकृत किया गया है। विभिन्न युग एवं देशकाल के ग्रन्थों में पातकों की श्रेणियाँ तत्कालीन देशकाल एवं वातावरण के अनुसार विभाजित होती रही हैं। समझने की सहायता के लिए हम इन्हें तीन मुख्य श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं जो इस प्रकार से हैं–

महापातक– इस श्रेणी में गम्भीर श्रेणी के पाप परिगणित होते हैं।

उपपातक– इस श्रेणी में महापातकों से अपेक्षाकृत कम गम्भीर पापों की गणना की जाती है।

प्रकीर्णक अथवा अपात्रीकरण पातक– ऐसे पाप जिनसे उतना दोष नहीं लगता जितना कि महापातक एवं उपपातक से लगता है जबकि व्यक्ति में मात्र शुचिता सम्बन्धी दोष उत्पन्न होता है उन्हें प्रकीर्णक अथवा अपात्रीकरण पातक कहा जाता है।

हिन्दू धर्मग्रन्थों में निषिद्ध कर्म बताए गए हैं जिनसे पापोत्पत्ति होती है। इनसे कुछ की सूची अधोलिखित है–

1. ब्रह्महत्या, सुरापान, स्वर्णस्तेय (सोने की चोरी), गुरुतल्पगमन (गुरुपत्नी से यौनाचार में लिप्त होना) एवं इन कर्मों में लिप्त पातकी से संसर्ग रखना ये पाँच महापातक हैं। कुछ ग्रन्थों में भ्रूणहत्या को भी महापाप की ही श्रेणी में रखा गया है तथा इसे ब्रह्महत्या से भी बड़ा पाप माना गया है।
2. मातृगमन, भगिनीगमन आदि अतिपातक है।
3. शरणागत का वध, गुरु से द्वेष आदि अनुपातक हैं।
4. स्त्रीविक्रय, सुतविक्रय आदि उपपातक हैं।
5. मित्र से कपट करना, ब्राह्मण को पीड़ा देना आदि जातिभ्रंशकरण पातक हैं।
6. लकड़ी चुराना, पक्षी की हत्या करना आदि मालिनीकरण पातक हैं।
7. ब्याज से जीविका चलाना, असत्य बोलना आदि अपात्रीकरण पातक हैं। इत्यादि।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि ऐसे बहुत से निषिद्ध कर्म हैं जिनका निषेध केवल प्रथम दो वर्णों ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के लिए ही था जैसे– गाय चराना अथवा व्यापार करना आदि क्योंकि यह कर्म तो वैश्यों की विशिष्ट वृत्ति के लिए निर्धारित किए गये हैं। हम

पाएंगे कि यहाँ भी पातक निर्धारण हेतु विशिष्ट परिस्थितियों पर विचार किया गया है। इसका कारण सम्भवतः अशक्त लोगों की रक्षा करना रहा होगा।

निषिद्ध कर्मों में लिप्त होना सर्वथा वर्जित है क्योंकि इससे नरक में जाने जैसे प्रतिकूल परिणाम प्राप्त होते हैं और मुक्ति प्राप्ति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न होता है। ऐसे कार्य, व्यक्ति को उसकी विकृत धारणाओं के कारण वांछनीय या लाभकारी लग सकते हैं, किन्तु वास्तव में वे हानिकारक हैं और वेदों की शिक्षाओं के विरुद्ध हैं। हमारे प्राचीन ऋषियों मुनियों द्वारा साझा किए गए शास्त्रों का ज्ञान स्पष्ट रूप से ऐसे कृत्यों कार्यों के निषेध पर दृढ़ता से जोर देता है। अब मन में यह शंका हो सकती है कि अबोध बालक अथावा मानवेतर जीव तो ऐसे कई कार्य करते हैं जिनका निषेध किया गया है। नैतिक रूप से सही और गलत के बीच अन्तर करने की संज्ञानात्मक क्षमता के अभाव के कारण ही जानवर और छोटे बच्चे नए कर्म की रचना नहीं करते हैं और इसीलिए वे अपनी भावी नियति को प्रभावित नहीं कर सकते हैं। पूर्ण जागरूकता और सचेत विचार के साथ किए जाने वाले कर्म, जानबूझकर अथवा विचार किए बिना किए गए कार्यों की तुलना में अधिक गम्भीरता और महत्त्व रखते हैं। यह वैसा ही है जैसे कोई अपराधी अगर कोई अपराध अकेले करता है, तो केवल उसी को सजा मिलती है। किन्तु यदि कोई जाने–अनजाने उस अपराधी का साथ देता है तो वह भी दण्ड का पात्र बन जाता है।

इस बिन्दु तक, आपने देखा है कि 'प्रमाता' के लिए दो प्रमुख पहलुओं का बहुत महत्त्व है। सर्वप्रथम, गुरु के सानिध्य में वेदों और वेदांगों का गहन अध्ययन करने पर जोर दिया जाता है। यह व्यवस्थित दृष्टिकोण इन पवित्र ग्रन्थों की गहरी समझ और महारत हासिल करने की अनुमति देता है। दूसरे, 'प्रमाता' से आशा की जाती है कि वह स्वार्थपूर्ण इच्छाओं (काम्य) और निषिद्ध समझे जाने वाले कार्यों दोनों के त्याग कर दे है। ऐसे कार्यों से दूर रहने से साधक का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और किसी भी गलत कार्य से मुक्त हो जाता है। अब आगे बढ़ते हुए, 'प्रमाता' के लिए करणीय चार कर्म बताए जा रहे हैं जिन्हें व्यक्ति स्वयं को शुद्ध करने और आध्यात्मिक विकास के लिए अपना सकते हैं। इन क्रियाओं को 'नित्य', 'नैमित्तिक', 'प्रायश्चित्त' और 'उपासना' के नाम से जाना जाता है। इनमें से प्रत्येक कार्य एक अद्वितीय उद्देश्य पूरा करता है और आकांक्षी की पवित्रता और मुक्ति की यात्रा में योगदान देता है।

2.3.3 नित्य कर्म

नित्य कर्म का अर्थ है– प्रतिदिन किये जाने वाले कर्म। इनके करने से भले ही विशेष पुण्य की प्राप्ति न हो, किन्तु न करने से हानि अवश्य होती हो। इन गतिविधियों में दन्तधावन, स्नान करने या घर में झाड़ू लगाने जैसे सांसारिक कार्य भी शामिल हैं।

"नित्यान्यकरणे प्रत्यवाससाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनी।"

– (विद्वन्मनोरञ्जनी)

अनुवाद– जिन कर्मों के आचरण से अत्यधिक पुण्य तो नहीं मिलता है पर न करने से पाप होता है, ऐसे कर्म नित्यकर्म है। अर्थात् न करने पर प्रत्यवाय (आगामी दुःख) के साधन बनने वाले सध्यावन्दन (और पञ्चमहायज्ञ) आदि नित्यकर्म है। इनके न करने पर 'प्रत्यवाय' अर्थात् पाप की निर्मिती होती है।

नित्य कर्मों के सम्पादन से कोई विशेष आध्यात्मिक लाभ तो नहीं होता है, लेकिन उनकी उपेक्षा करने से निश्चित रूप से हानिकारक परिणाम हो सकते हैं। इनके न

करने से घर में कूड़ा–कचरा बढ़ेगा, शरीर पर मैल जमा होने से निःस्संदेह स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ हो सकती हैं। इसीप्रकार व्यक्ति दिनभर जाने–अनजाने अनेक पापकर्म करता है, वे एकत्रित होकर हानिकर न हों, और आत्मा के परमलक्ष्य म्ाुक्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करेंगे। इन्हीं की निवृत्ति के लिए किए गए सन्ध्यावन्दन, पंचमहायज्ञ आदि कर्म भी नित्यकर्मों की श्रेणी में ही परिगणित किये जाते हैं और ये अवश्य–करणीय कर्म हैं। अवश्य करणीय ये कर्म वस्तुतः प्रतिदिन की चर्या में अनजाने में होने वाले पापों के विनाश के लिए किये जाने चाहिए। स्मृतिग्रन्थ (बृ. प. स्मृ.–1/39) में मानव द्वारा प्रतिदिन किये जाने वाले छः नित्यकर्म इस प्रकार बताए गए हैं–

"संध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनम्।
वैश्वदेवं तथाऽऽतिथ्यं षट् कर्माणि दिने दिने।।"

1. संध्या, 2. स्नान, 3. जप, 4. देव पूजन, 5. वैश्वदेव, 6. आतिथ्य सत्कार।

शुद्ध अन्तःकरण की प्राप्ति के साधन बनने वाले सन्ध्या–वन्दन और पंच महायज्ञ आदि कर्म 'नित्य' कर्मों की श्रेणी में आते हैं। गृहस्थी में नित्य होने वाले पाप कर्मों को सन्तुलित करने के कारण ही नित्य कर्म करने से पुण्य नहीं होता है क्योंकि यह प्रतिदिन हो रहे पापों को तटस्थ करता है। किन्तु यदि यह पञ्च महायज्ञ ना किये जाये तो इन पापों का परिहार नहीं होता है और पाप एकत्र होते जाते है। इसके फलस्वरूप मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से नीचे गिर जाता है। इसलिए नित्यकर्म अवश्यकरणीय हैं। मनुस्मृति (03/68) में गृहस्थी में हिंसा होने के पाँच स्थान बताये हैं और इन्हें 'सूना' अर्थात् वध–स्थान कहा गया है। वस्तुतः इन्हीं स्थानों पर होने वाले इन वधादि पापकर्मों के विनाश हेतु नित्यकर्म का विधान किया गया हैं–

"पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्।।"

अर्थात् "चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और पानी का घड़ा– इन पाँच स्थानों में गृहस्थों के द्वारा अनजाने में हिंसा होती रहती है। इस हिंसा के कारण इन वस्तुओं को अपने लिए उपयोग में लाते समय मनुष्य पाप से सम्बद्ध होता है।"

पंचमहायज्ञ

अब विचार किया जाय तो यह ऐसे कर्म हैं जिनका न तो परित्याग ही किया जा सकता है और न ही इनसे होने वाली हिंसा को रोका जा सकता है। इस स्थिति में क्या किया जाय कि इन पापकर्मों से निवृत्ति हो सके। इस सम्बन्ध में मनुस्मृतिकार (03/69 –71) का कथन इस प्रकार है–

"तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्।।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।

पञ्चैतान्यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।।"

अर्थात् "क्रम से इन पाँच वधस्थानों में होनेवाले पापों से छुटकारा पाने के लिए गृहस्थों के लिए प्रतिदिन पाँच महायज्ञों की व्यवस्था महर्षियों के द्वारा की गई है। अध्ययन और अध्यापन को ब्रह्मयज्ञ, तर्पण को पितृयज्ञ, अग्नि में किए जानेवाले होम को देवयज्ञ, प्राणियों के लिए दी जानेवाली बलि (बलिवैश्वदेव) को भूतयज्ञ और अतिथिसत्कार को नृयज्ञ अर्थात् मनुष्ययज्ञ कहते हैं। जो गृहस्थ यथासम्भव दृढ़तापूर्वक इन पंच महायज्ञों का पालन करता है और पूरी श्रद्धा और सच्ची लगन से अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा किए बिना उनका पालन करता है, वह गृहस्थी में होने वाली हिंसाओं के पाप से भी मुक्त रहता है।"

नित्य कर्म के महत्त्व को कम करके नहीं आंका जा सकता, क्योंकि यह प्रारब्ध कर्म के प्रभाव को कम करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नित्य कर्म का नियमित अभ्यास प्रारब्ध कर्म के प्रतिकूल प्रभावों के खिलाफ एक सुरक्षात्मक कवच के रूप में कार्य करता है। इन दैनिक अनुष्ठानों की उपेक्षा करने पर प्रतिकूल परिणाम अत्यधिक तीव्रता के साथ सामने आएंगे। किसी के पूर्व निर्धारित भाग्य की इस पूर्ण अभिव्यक्ति को आमतौर पर 'प्रत्यय' कहा जाता है, जिसे सामान्य बोलचाल की भाषा में नैतिक अपराध या पाप कहा जाता है। 'नित्य कर्म', निर्धारित कर्त्तव्यों के सुसंगत और नियमित आचरण को सन्दर्भित करता है। इन कर्त्तव्यों का अनुशासित ढंग से पालन करके व्यक्ति अपने जीवन में व्यवस्था और संरचना की भावना स्थापित करते हैं। इससे आध्यात्मिक प्रगति के लिए एक मजबूत नींव तैयार करने में मदद मिलती है।

2.3.4 नैमित्तिक कर्म

नैमित्तिक का शाब्दिक अर्थ है 'सामयिक'। अर्थात् वह कर्म, जो विशेष अवसर आने पर किए जाते हैं, नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं। ये क्रियाएं किसी विशेष घटना या स्थिति के लिए की जाती हैं अतः इन्हें विशिष्ट कारण–आधारित कर्म भी कहा जा सकता है।

निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्त्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि।

– (विद्वन्मनोरञ्जनी)

अनुवाद– किसी निमित्त को प्राप्त करके अवश्यकरणीय रूप से जो कर्म वेदों में विहित किए गए हैं, उन्हें निमित्तकाम्य होने के कारण नैमित्तिक कर्म कहते हैं।

नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्टयादीनि।

– (विद्वन्मनोरञ्जनी)

अनुवाद– पुत्रजन्म इत्यादि (किसी निमित्त) से सम्बन्ध रखने वाले जातेष्टि (यज्ञ) आदि नैमित्तिक कर्म हैं।

उदाहरणार्थ– जातेष्टियज्ञ (पुत्र आदि के उत्पन्न होने पर किया जाने वाला एक अनुष्ठान), षोडश (सोलह) संस्कार, ग्रहण–पूर्णिमा–अमावस्या आदि अवसरों पर किये जाने वाले औपचारिक स्नान, अनिष्ट ग्रहों की शान्ति हेतु विशेष अवसरों की पूजा आदि अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म की श्रेणी में आते हैं। रोग अथवा व्यक्तिगत जीवन या कार्य व्यवसाय इत्यादि की समस्याओं के समाधान के लिए ग्रहों के आधार पर किया जाता है तो यह ग्रह शान्ति कर्म भी नैमित्तिक कर्म की श्रेणी में ही आता है। इसमें नवग्रहों से सम्बन्धित वस्तुओं का दान, रत्न धारण और मन्त्र–जप आदि द्वारा ग्रह शान्ति की जाती है। 'नैमित्तिक कर्म', जीवन में किये जाने वाले कर्त्तव्यों के पालन से

सम्बन्धित हैं। इन कर्मों में सक्रिय रूप से भाग लेने से, व्यक्ति परमात्मा के साथ अपना सम्बन्ध दृढ़ करते हैं और अपनी आध्यात्मिक विकास को दृढ़ करते हैं।

हिन्दू धर्म में, 'संस्कार' की अवधारणा; सर्वोपरि महत्त्व रखती है और अनुयायियों के विश्वासों, मूल्यों और व्यवहारों को मार्गदर्शन देने और गढ़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन संस्कारों में, व्यक्ति और सामाज की आध्यात्मिकता का विकास, नैतिकता का विकास और सामाजिक सद्भाव को बढ़ावा देने के उद्देश्य से, जन्म से मृत्युपर्यन्त, व्यक्ति के पूरे जीवनकाल में किए जाने वाले अनुष्ठानों, समारोहों और रीति–रिवाजों की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है। ये 'संस्कार' ये केवल सतही अभ्यास मात्र नहीं हैं, बल्कि गहरे अर्थ और प्रतीकात्मकता रखते हैं, जो ब्रह्मतत्त्व और मानव अस्तित्व के बीच सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे व्यक्तियों में सद्‌गुण, अनुशासन और धार्मिकता पैदा करने के साधन के रूप में काम करते हैं, जिससे यह सुनिश्चित होता है कि वे हिन्दू धर्मग्रन्थों और परम्पराओं की शिक्षाओं के अनुसार एक धार्मिक और उद्देश्यपूर्ण जीवन जी सकें। इसके अतिरिक्त, 'संस्कार' व्यक्तियों को उनके पूर्वजों और विरासत से जोड़ने के साधन के रूप में भी कार्य करता है, क्योंकि इन्हें पीढ़ियों से चले आ रहे सदियों पुराने रीति–रिवाजों के अनुपालन में किया जाता है। अतः, संस्कार हिन्दू धार्मिक और सांस्कृतिक ताने–बाने का एक अभिन्न अंग हैं, जो हिन्दू धर्म के सार का प्रतीक हैं और आध्यात्मिक विकास और नैतिक मार्गदर्शन के लिए एक रूपरेखा प्रदान करते हैं।

षोडश संस्कार

जिस प्रकार खाद्यान्न को उपभोग योग्य बनने के लिए विभिन्न चरणों से गुजरना पड़ता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक ऊर्जा को भी स्वीकार्य बनने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है। इन प्रक्रियाओं का मुख्य लक्ष्य मानवीय ऊर्जा को शुद्ध करना है। ऋषियों द्वारा हमारे कर्मों को संयमित करने के पीछे पूर्णतः वैज्ञानिक सोच है, जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति है। नैमित्तिक कर्मों में वर्णित षोडश कर्मों का उद्देश्य इसी आध्यात्मिक उन्नति और शुद्धता को प्राप्त करना है। जन्म से मृत्युपर्यन्त विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं में षोडश संस्कारों की विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से सकारात्मक ऊर्जा का संचार किया जाता है। हमारे ऋषि–मुनियों ने मानव जीवन को पवित्र एवं मर्यादित बनाने के लिये वेदोक्तत संस्कारों का उल्लेख बार–बार किया है। धार्मिक ही नहीं वैज्ञानिक दृष्टि से भी ये संस्कार व्यक्ति की जीवन यात्रा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य (1/1/4) के अनुसार व्यक्ति में गुणों का आरोपण करने के लिए जो कर्म किया जाता है, उसे संस्कार कहते हैं–

"संस्कारों हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्योषाप नयनेन वा।।"

हिन्दू धर्मग्रन्थों में सोलह प्रकार के संस्कार प्रलेखित किये गए हैं। स्मृतिचन्द्रिका द्वारा जातुकर्ण में उद्‌धृत षोडष संस्कार इस प्रकार हैं–

"आधान–पुंस–सीमन्त–जात–नामान्न चौलकाः
मौञ्जी वृतानि गोदान–समावर्त–विवाहकाः।
अन्त्यं चौतानि कर्माणि प्रोच्यन्ते षोडशैव तु।।"

1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमन्तोन्नयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. अन्नप्राशन, 7. चूडाकरण, 8. उपनयन, 9. वेदारम्भ, 10. ब्रह्मव्रत 11. वेदव्रत, 12 गोदान, 13. समावर्तन 14. विवाह, 15. ब्राह्मव्रत और 16. अन्त्यकर्म, ये षोडश संस्कार हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन संस्कारों से कैसे कोई अपने लक्ष्य अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति तक पहुँच सकता है? तन्त्रवार्तिक के अनुसार "योग्यता चोदधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते", अर्थात् संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। यह योग्यता दो प्रकार की होती है; पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता तथा नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता। मनुस्मृति (2/27–28) संस्कारों के उद्देश्य को बताते हुए कहती है कि, "द्विजातियों में माता–पिता के वीर्य एवं गर्भाशय के दोषों को 'गर्भाधान'–समय के होम तथा 'जातकर्म' (जन्म के समय के संस्कार) से, 'चौल' (मुण्डन संस्कार) से तथा मूंज की मेखला पहनने (उपनयन) से दूर किया जाता है। तदुपरान्त 'वेदाध्ययन', 'व्रत', 'होम', 'विद्याध्ययन', 'पूजा', 'सन्तानोत्पत्ति', 'पंचमहायज्ञों' तथा 'वैदिक यज्ञों' से आत्मा को ब्रह्म–प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है।"

हिन्दू संस्कार व्यक्तियों में बाह्य परिष्कार और नैतिक विकास दोनों को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न वैचारिक और धार्मिक विधियों को शामिल करते हैं। सविधि संस्कार अनुष्ठानों से संस्कृत व्यक्तियों में विलक्षण तथा अद्वितीय गुणों का विकास होता है। संस्कारों से हमारा जीवन बहुत प्रभावित होता है। संस्कार के लिए किए जाने वाले कार्यक्रमों में जो पूजा, यज्ञ, मन्त्रोच्चारण आदि होता है, उसका वैज्ञानिक महत्त्व भी होता है।

2.3.5 प्रायश्चित्त

संस्कृत में प्रायश्चित्त की व्याख्या कुछ इस प्रकार की गयी है– "प्रायः तुष्टं चित्तं यत्र तत् प्रायश्चित्तम्"। अर्थात् जिसके द्वारा चित्त सन्तुष्ट हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। प्रायश्चित्त की भावना में मुख्यतः ग्लानि अथवा अपराधबोध की भावना क्षमा मांगने और संशोधन करने की प्रक्रिया को शुरू करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, जो प्रायश्चित के लिए एक शक्तिशाली उत्प्रेरक के रूप में कार्य करती है। प्रायश्चित्त, शास्त्रानुसार विहित वह कृत्य है, जिसके करने से मनुष्य के पाप नष्ट हो जाते हैं।

मनुस्मृति (11/44) के अनुसार–

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः।।

याज्ञवल्क्य के अनुसार–

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति।
तस्मात् तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चितं विशुद्धये।।

प्रायश्चित्त के लिए दोनों की परिभाषाएँ एक समान हैं– "नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म आदि शास्त्रों द्वारा निर्देशित कार्यों को न करना, शास्त्रों द्वारा निन्दित या निषिद्ध कर्मों अथवा पदार्थों यथा– मांस, शराब, धूम्रपान, अशुद्ध भोजन, निषिद्ध महिलाओं के साथ संगति के सेवन करने, इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति का दमन न करना अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में लगने देने से मनुष्य पतित हो जाता है अर्थात् अधोगति को प्राप्त होता है। इन्द्रियार्थों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध आते हैं, जो सुख या दुःख का कारण बनते हैं। इसलिए व्यक्ति को स्वयं की शुद्धि के लिए, अपने पापों का नाश करने के लिए शास्त्रों द्वारा बताए गए प्रायश्चित्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।"

सरल शब्दों में, जिन शास्त्रोक्त अनुष्ठानों के द्वारा, जीव द्वारा बन पड़े पाप का निश्चित रूप से शोधन हो उसे 'प्रायश्चित्त' कहते हैं। जिस प्रकार क्षार में वस्त्रों को शुद्ध करने की क्षमता होती है, उसी प्रकार पश्चाताप में भी एक पथभ्रष्ट पापी की आत्मा को शुद्ध करने की शक्ति होती है।

विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि।

– (विद्वन्मनोरञ्जनी)

अनुवाद– विहित कर्म को न करने से और निषिद्ध कर्म को करने से जो पाप उत्पन्न होता है, उस पाप का विनाश करने की विशेष निमित्त से किए जाने वाले कर्मों को प्रायश्चित कर्म कहते हैं।

प्रायश्चितानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि।

– (विद्वन्मनोरञ्जनी)

अनुवाद– पापों का क्षय करने के लिए साधन बनने वाले चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित कर्म हैं।

संचित कर्म रुके हुए पानी की तरह हैं, जो प्रदूषित हो सकते हैं और पर्यावरण को दूषित कर सकते हैं। अच्छे से अच्छे परिवेश में सड़े हुए पानी की उपस्थिति एक अप्रिय गन्ध पैदा करती है और पर्यावरण के आनन्द में बाधा उत्पन्न करती है। कर्मों का प्रायश्चित वर्षा जल के समान है, जो संचित कर्मों को गति प्रदान करता है और आत्मा के आध्यात्मिक स्थिति की भूमि तैयार करता है। स्वयं द्वारा जाने अथवा अनजाने में बन पड़े किसी भी गलत काम या अपराध को सुधारने के लिए प्रायश्चित किया जाता है। प्रायश्चित्त कर्म काम्य एवं नैमित्तिक दोनों में परिगणित किए जा सकते हैं क्योंकि इनके पीछे मुक्ति की कामना भी होती है और किसी अपराध के बन पड़ने पर इनका सम्पादन किया जाता है।

मिमांसा के अनुसार प्रायश्चित्त या तो चत्वर्य है अथवा पुरुषार्थ। प्रथम प्रकार के प्रयश्चित्त का वर्णन श्रौतसूत्रों में प्राप्त होता है जबकि दूसरे प्रकार का स्मृतियों में। वैदिक साहित्य में 'प्रायश्चिति' और 'प्रायश्चित' ये दो शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। तैत्तिरीय संहिता में प्रायशचिति शब्द बार–बार आता है, जहाँ इसका अर्थ, कोई ऐसा कार्य करना है जिससे किसी अचानक घटित घटना या अनर्थ (अनिष्ट) का मार्जन हो जाए, यथा– उखा (उबालने या पकाने का पात्र) का टूट जाना या सूर्य की दीप्ति का घट जाना।

ग्रन्थों में वर्णित प्रयश्चित्त

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रायश्चित्त योग्य पातकों के लिए प्रायश्चित्त निर्धारिण हेतु विद्वानों की परिषद् होती थी। परिषद प्रायश्चित्तों के लिए शास्त्रसम्मत अपने नियम निर्धारित करती थी, और राजा दण्ड देता था। पराशर (8/28–29) के अनुसार– "राजा की अनुमति लेने के उपरान्त परिषद को उचित प्रायश्चित्त का निर्देश करना चाहिए, बिना राजा को बतलाये निर्देश स्वयं नहीं करना चाहिए, किन्तु हलके प्रायश्चित्त बिना राजा को सूचित किये भी कराये जा सकते हैं। राजा को भी परिषद की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और न अपनी ओर से प्रायश्चित्त–व्यवस्था करनी चाहिए।" धीरे–धीरे व्यवस्था परिवर्तन के साथ आज के समय में परिषद को हम

न्यायपालिका कह सकते हैं जिसका काम है संविधान की भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) के अनुरूप अपराधियों को सजा सुनाना है, जबकि राजतन्त्र की समाप्ति के बाद आज पुलिस अपराधियों का पकड़ती है तथा न्यायाधीश द्वारा दी गयी सजा का अनुपालन कराती है।

अंगिराकृत प्रायश्चित्तप्रकाश के अनुसार–

"उपस्थान व्रतादेशश्चर्या शुद्धिप्रकाशनम्।
प्रायश्चित्त चतुष्पाद विहित धर्मकर्तृभिः।।"

प्रायश्चित के चार मुख्य स्तर हैं– (1) परिषद में जाना, (2) परिषद द्वारा उचित प्रायश्चित की घोषणा, (3) प्रायश्चित का निष्पादन, और (4) पापी के पाप की मुक्ति प्रकाशन।

याज्ञवल्क्य (3/300) एवं पाराशर (8/12) के अनुसार "पापी को, चाहे वह स्वय विद्वान् क्यों न हो, परिषद् के पास जाना चाहिए, और कोई वस्तु भेंट देने के उपरान्त (गौ आदि देकर) अपने पाप का उद्घोष कर उसके प्रायश्चित्त के विषय में सम्मति लेनी चाहिए।" मिताक्षरा, पराशरमाधवीय, प्रायश्चित्तसार और अन्य ग्रन्थों में अंगिरा के कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं जिनमें कहा गया है– "एक पापी को अपना 'पाप' नहीं छिपाना चाहिए और न ही समय बर्बाद करना चाहिए; उसे वस्त्रों सहित स्नान करना चाहिए, गीले वस्त्रों के साथ ही सभा में जाना चाहिए और भूमि पर साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। स्वीकारोक्ति के पश्चात् परिषद के सदस्य उससे (पापी से) थोड़ा अलग हटने को कहते हैं और परिषद के सदस्य उचित कार्रवाई का निर्धारण करने से पहले अपराध की परिस्थितियों, स्थान, अपराध की गम्भीरता और सम्बन्धित व्यक्ति की आयु तथा अन्य प्रासंगिक कारकों पर ध्यानपूर्वक विचार करते हुए एक–दूसरे के साथ चर्चा कर निर्णय लेते हैं। कोई एक परिषद सदस्य, परिषद के प्रतिनिधि के रूप में, स्मृति–वचन उच्चारित करके सार्वजनिक रूप से इस व्यवस्था की घोषणा करता है। यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि परिषद स्वायत्त रूप से संचालित होती है तथा यह कार्य निष्पक्ष रूप से राजकीय अनुशासन के अधीन करती है और उसके निर्णयों पर राजा का कोई नियन्त्रण नहीं होता।

प्राचीन ग्रन्थ किसी के पापों को स्वीकार करने, मार्गदर्शन प्राप्त करने और प्रायश्चित की दिशा में सक्रिय रूप से काम करने के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं। पापी को प्रायश्चित के लिए उचित उपायों के सम्बन्ध में परिषद से सलाह लेने की सलाह दी जाती है। पश्चाताप करने वाले व्यक्ति को मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करने की जिम्मेदारी, परिषद की होती थी। स्वीकारोक्ति, स्वीकार करने वाले की मुक्ति के प्रति उसकी निष्ठा को दर्शाता है। पश्चाताप करने वाला व्यक्ति अपने पश्चाताप और निष्ठा के प्रतीक के रूप में एक भेंट प्रस्तुत करता था। यह भेंट गाय जैसी मूल्यवान वस्तु अथवा कोई अन्य सार्थक वस्तु होती थी। ऐसा करके, वे प्रायश्चित्त करने की अपनी इच्छा प्रदर्शित करते हैं और परिषद के प्रति सम्मान दिखाते हैं, उनका ज्ञान और मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार, वे न केवल स्वयं की जवाबदेही प्रदर्शित करते हैं बल्कि अपनी गलतियों से सीखने और आवश्यक परिवर्तन करने की इच्छा भी व्यक्त करते हैं। यह इस तथ्य को भी उद्घाटित करता है कि व्यक्ति की शिक्षा का स्तर चाहे जो हो अथवा सामाजिक रूप से उच्चपदस्थ एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति से भी गलती हो सकती है। हालाँकि, स्वीकारोक्ति, सच्चे पश्चात्ताप, सलाह लेने और उचित कार्रवाई करने से कोई व्यक्ति आध्यात्मिक और नैतिक विकास की ओर अग्रसर हो सकता है। याज्ञवल्क्य और

पाराशर द्वारा उल्लिखित प्रायश्चित्त की यह विधि, बुद्धिमान से सलाह लेने, विनम्रतापूर्वक अपने कृत्यों की जिम्मेदारी लेने के महत्त्व को उद्‌घाटित करती है।

प्रायश्चित्त निर्धारण के अन्य महत्त्वपूर्ण घटक

प्रायश्चित्त निर्धारण के लिए कई महत्त्वपूर्ण कारकों पर भी विचार किया जाता था। प्रायश्चित्तों एव वैधानिक दण्डों हेतु पापी का वर्ण–विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। विभिन्न ग्रन्थों और विद्वानों ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के लिए आवश्यक प्रायश्चित के अनुपात प्रदान किए हैं। विष्णु (प्रायश्चित्त विवेक, प्रायश्चित्त प्रकरण, अग्निपुराण, एवं पराशरमावधीवयम् के मत से क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को क्रम से ब्राह्मण पापी के प्रायश्चित्त का 3/4, 1/2 एवं 1/4 लगता है। बृहद्यम (4/13–14) ने गोहत्या में लिए चारो वर्णों में क्रम से 4, 3, 2 एवं 1 का अनुपात दिया है। जबकि मिताक्षरा (याज्ञ. 2/250) ने कहा है कि हत्या करने पर ब्राह्मण को जो प्रायश्चित्त करना पड़ता है उसका दूना क्षत्रिय को तथा तिगुना वैश्य को करना पडता है। आरम्भिक काल के प्रायश्चित्त–सम्बन्धी वर्ण–भेद बारहवीं शताब्दी के उपरान्त समाप्त हो गये। आगे चल कर कठिन प्रायश्चित्तों की परम्पराएँ समाप्त–सी होती चली गयी और उनके स्थान पर गोदान एव अर्थदण्ड की व्यवस्था बढ़ती चली गयी और धीरे–धीर क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की हत्या के लिए किये जानेवाले प्रायश्चित्त अप्रचलित हो गये थे।

प्रायश्चित्त निर्धारण हेतु आश्रम–भेद का भी विचार किया जाता था। गृहस्थों की तुलना में अन्य आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों को अधिक मात्रा में प्रायश्चित करना पड़ता था। गृहस्थों के विपरीत, ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों और संन्यासियों को क्रमशः दो, तीन और चार गुना प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता होती थी।

विभिन्न क्षेत्रों के रीति–रिवाजों और नियमों के आधार पर प्रायश्चित निष्पादन में भिन्नताएँ थीं। यथा–दक्षिण की कुछ जातियों में मातुल–कन्या (ममेरी बहिन) से विवाह अनुमन्य हैं, किन्तु मनु, बौधायन धर्मसूत्र एव अन्य स्मृतियों ने इस प्रथा को निन्द्य एव घृणित माना है। हालाँकि, बृहस्पति ने दक्षिण में इस प्रथा के लिए किसी प्रकार की सजा या प्रायश्चित का उल्लेख नहीं किया।

प्रायश्चित्तों की कठोरता एवं अवधि व्यक्ति के प्रथम बार अपराध करने या उसकी पुनारावृत्ति पर भी निर्भर थे। यदि कोई ब्राह्मण अपनी ही जाति की किसी विवाहित महिला के साथ प्रथम बार व्यभिचार करता है, तो उसका प्रायश्चित एक शूद्र के स्वयं से उच्च तीनों वर्णों की महिलाओं के साथ व्यभिचार करने पर भुगतने वाले प्रायश्चित का आधा होता था। इस पाप के दुहराने पर चौथाई और बढ़ जाता है, किन्तु चौथी बार पाप करने पर, व्यक्ति को पूरी अवधि के लिए प्रायश्चित करना होगा, जो कि 12 वर्ष है। हारीत, व्यास एव यम आदि विद्वानों के मत से प्रायश्चित्त अवधि के बीच में ही निधन की स्थिति में, दिवंगत व्यक्ति, इस पाप से दोनों लोकों (इह लोक एव परलोक) में मुक्त हो जाता है। यह एक दया सम्बन्धी छूट यह दया सम्बन्धी छूट वास्तव में परोपकार की भावना का प्रतीक है।

जब कोई व्यक्ति जानबूझकर कोई पाप करता है तो अनजाने में किए गए पाप की अपेक्षा उसे दोगुना प्रायश्चित्त करना पड़ता है। किन्तु कोई वही पाप बार–बार दोहराता रहे, तो अज्ञानता से उत्पन्न अपराध के लिए प्रायश्चित का चार गुना हो जाएगा।

अपनी गलतियों को स्वीकार करने और क्षमा माँगने से व्यक्ति अपने विवेक को शुद्ध कर सकता है और इससे उसकी आत्मा की भी शुद्धि होती है। आत्म–चिन्तन और

पश्चाताप का यह कार्य आध्यात्मिक विकास और व्यक्तिगत परिवर्तन की दिशा में एक आवश्यक कदम है। वेदों में वर्णित धार्मिक अनुष्ठानों को करने से संचित कर्मों के नकारात्मक परिणामों को समाप्त किया जा सकता है। विशेष अनुष्ठान, जैसे कथावाचन, भक्ति गीत, तीर्थयात्रा, उपवास और मन्त्र पाठ, जब पूरी भक्ति और दृढ़ संकल्प के साथ किए जाते हैं, तो पाप कर्मों के परिणामों से मुक्ति मिलती है। ईसाई मत में भी इसका विधान है जिसे 'कन्फेशन' (Confession) कहा जाता है जिसका अर्थ होता है 'स्वीकारोक्ति'। उनके अनुसार यदि किसी से कोई अनुचित कार्य हो जाए और वह व्यक्ति चर्च में जाकर प्रीस्ट अर्थात् फादर के सामने अपने किए हुए को स्वीकार (कन्फेस) कर ले तो उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है। बहुत से भारतीय मनीषियों ने भी अपने ग्रन्थों में यह बात कही है। यही भाव मनुस्मृतिकार (3/227) के वचनों से भी प्रकट होता है– "आत्मापराध स्वीकार, पश्चात्ताप, तप, वैदिक मन्त्रो (गायत्री आदि) के जप से पापी अपराध (पाप) से मुक्त हो जाता है और कठिनाई पड जाने पर (अर्थात यदि वह जप, तप आदि न कर सके तो) दान से मुक्त हो जाता है।" किन्तु कतिपय ग्रन्थों से इस तथ्य का विरोध भी प्रकट होता है। प्रायश्चित्तप्रकाश के रचनाकार प्रद्योतनभट्टाचार्य का मानना है कि केवल पश्चाताप की अभिव्यक्ति ही किसी के अपराध को क्षमा करने के लिए अपर्याप्त है; इसके बजाय वे बताते हैं कि, यह एक परिवर्तनकारी प्रक्रिया है जो पापी को प्रायश्चित के मार्ग पर चलने में सक्षम बनाती है। ठीक उसी तरह जैसे एक वैदिक यज्ञार्थी पवित्र व्रत लेने के बाद पवित्र यज्ञ अनुष्ठान में दीक्षा के लिए पात्रता प्राप्त करता है। 'अपरार्क' (पृ.– 1231) द्वारा उल्लिखित 'यम' का वचन एक गहन अन्तर्दृष्टि व्यक्त करता है। प्रायश्चित में केवल पश्चाताप और पापपूर्ण कार्यों से दूर रहना ही शामिल नहीं है। प्रायश्चित के ये घटक, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, प्रायश्चित की वांछित स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

भारतीय धर्मग्रन्थों यथा– वेदों, अरण्यक, उपनिषदों, पुराणों, धर्मसूत्रों, आदि के अनुसार– आत्मापराध स्वीकृति, अनुताप (पश्चाताप), प्राणायाम, तप, होम, जप, दान, उपवास एवं तीर्थयात्रा जैसे कार्य प्रयाश्चित्त के अंग हैं। विभिन्न ग्रन्थ प्रायश्चित के लिए विस्तृत दिशानिर्देश प्रदान करते हैं, तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें सभी पातको एव दुष्कृत्यो का समावेश हो गया है।

विभिन्न हिन्दू धर्मग्रन्थों में वर्णित पातकों एवं प्रायश्चित्त के प्रकार, प्रयश्चित्त सम्पादन आदि की जो चर्चाएँ की गई है उनमें भिन्नताएँ हैं। विभिन्न ग्रन्थों ने पातकों को अलग–अलग श्रेणियों में वर्गीकृत किया है और उनके अनुसार प्रायश्चित्त का विधान किया है। इन श्रेणियों की संख्या में अन्तर आने से उनके लिए किए जाने वाले प्रायश्चित्त भी अलग होंगे। उन सभी का विस्तारपूर्वक अध्ययन यहाँ सम्भव नहीं है। इसलिए पाण्डुरंग वमन काणे लिखित 'धर्मशास्त्र का इतिहास' से प्राप्त होने वाले प्रायश्चित्त कर्मों की सूची यहाँ दी जा रही है–

1.	अधमर्पण	21.	धनदकृच्छ	41.	मैत्रकृच्छ
2.	अतिकृच्छ	22.	नित्योपवासकृच्छ	42.	यज्ञकृच्छ
3.	अतिसान्तपन	23.	पंचगव्य	43.	यतिचान्द्रायण
4.	अर्धकृच्छ	24.	पत्रकृच्छ	44.	यतिसान्तपन
5.	अश्वमेधावभृयस्नान	25.	पराक	45.	याम्य
6.	आग्नेय कृच्छ	26.	पर्णकूर्च	46.	पावक

7.	ऋषिचान्द्रायण	27.	पादकृच्छ	47.	वज्र
8.	एकभक्त	28.	पादेनकृच्छ	48.	वायव्य कृच्छ
9.	कृच्छ	29.	पुष्पकृच्छ	49.	बुद्धकृच्छ या वृद्धिकृच्छ
10.	ब्रह्मसम्वत्सर	30.	प्रसृतपावक या प्रसूतिपावक	50.	व्यासकृच्छ
11.	कृच्छानिकृच्छ	31.	प्राजापत्य	51.	शिशुकृच्छ
12.	गोमूत्रकृच्छ	32.	फलकृच्छ	52.	शिशु चान्द्रायण
13.	गोव्रत	33.	बालकृच्छ	53.	शीतकृच्छ
14.	चान्द्रायण	34.	बृहद् पावक	54.	श्रीकृच्छ
15.	जलकृच्छ	35.	ब्रह्मकूर्च	55.	सान्तपन
16.	तप्तकृच्छ	36.	ब्रह्मकृच्छ	56.	सुर चान्द्रायण
17.	तुलापुरुषकृच्छ	37.	महातप्तकृच्छ	57.	सुवर्णकृच्छ
18.	तोयकृच्छ	38.	महासान्तवन	58.	सोमायन
19.	दधिकृच्छ	39.	माहेश्वरकृच्छ	59.	सौम्यकृच्छ
20.	देवकृच्छ	40.	मूलकृच्छ		

उपरोल्खित सभी प्रायश्चित्तों का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है फिर भी प्रायश्चित्तों में से एक प्रमुख 'चान्द्रायण व्रत' के विषय में हम संक्षेप में जानेगें।

चान्द्रायण

यह एक प्राचीन भारतीय तप, व्रत अथवा अनुष्ठान है, जिसका उल्लेख वेद, धर्मसूत्र, स्मृति और निबन्धग्रन्थों में मिलता है। धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में इसके विषय में कहा गया है कि यह सभी पापों के नाश में समर्थ है। यदि किसी पाप का कोई प्रायश्चित नहीं प्रतिपादित हुआ हो, तब चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। इस व्रत का उद्देश्य शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि, आरोग्य, तेज, बल और आध्यात्मिक उन्नति है। इस व्रत को करने से सभी पापों का नाश होता है और देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त होता है।

'चन्द्रयाण' में मासिक उपवास किया जाता है, जिसमें व्यक्ति चन्द्रमा की बढ़ती और घटती कलाओं के अनुसार भोजन का एक निवाला जोड़कर या घटाकर अपना भोजन ग्रहण करता है। मनु (मनु.–11/217) ने इसका वर्णन इस प्रकार से किया है–

"एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुल्के च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्।।"

इस व्रत में पूर्णिमा को पूर्ण 15 ग्रास (निवाला) ग्रहण करके कृष्ण–प्रतिपदा से एक–एक ग्रास कम करते–करते चतुर्दशी को एक ही ग्रास ग्रहण करना चाहिए। फिर अमावस्या को निराहार रहकर शुक्ल प्रतिपदा से एक–एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पूरे 15 ग्रास ग्रहण करना चाहिए। प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल में तीन बार स्नान भी विधेय है। इस व्रत के दौरान व्रती को ब्रह्मचर्य, मौन, शुचि, तप, जप, हवन, सूर्योपासना, भिक्षाटन आदि का भी पालन करना होता है।

इस व्रत का 'चान्द्रायण' नाम 'चान्द्रमयनं यस्य' अर्थात् चन्द्रमा की गति इस अर्थ में पड़ा है। अयन एक हिन्दू समय मापन इकाई है। खगोल विज्ञान में, खगोलीय पिण्ड

के किसी घूर्णीय या कक्षीय प्राचल (पैरामीटर) का धीरे–धीरे बदलना अयन कहलाता है। एक अयन छह महीने के बराबर होता है। चन्द्रमा का घटना–बढ़ना हमेशा एक क्रम में चलता रहता है। पृथ्वी से देखने पर चन्द्रमा की जो 'राशि' दिखाई देती है, वह एक चक्र में बदलती है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाने के कारण प्रतिदिन अपना आकार बदलता है। चन्द्रमा, सूर्य और पृथ्वी की सापेक्ष स्थितियों में बदलाव के कारण चन्द्रमा के प्रकाशमान भाग का आकार, एक पक्ष (15 दिन) में, अमावस्या से पूर्णिमा तक बढ़ता है और पूर्णिमा के बाद अमावस्या तक घटता जाता है।

इस व्रत के दो प्रमुख भेद हैं – 'यवमध्य' और 'पिपीलिकामध्य'। 'यवमध्य' में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णिमा तक आहार की मात्रा को बढ़ाते जाते हैं और कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से अमावस्या तक घटाते जाते हैं। 'पिपीलिकामध्य' में उल्टा होता है, अर्थात कृष्ण पक्ष में बढ़ाते हैं और शुक्ल पक्ष में घटाते हैं। कुछ ग्रन्थों में चान्द्रायण के पाँच भेद बताए गए हैं– यवमध्य, पिपीलिकामध्य, यतिचान्द्रायण, सर्वतोमुख और शिशुचान्द्रायण।

मानसिक शुद्धता एक ऐसी अवस्था है जिसे कठिन प्रक्रिया से गुजर कर प्राप्त किया जा सकती है। किन्तु अतीत में किये गए कर्मों का प्रायश्चित करके इसे शीघ्रता से प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ विचारणीय है कि क्या हत्या, चोरी या ऐसे किसी भी अपराध के लिए प्रायश्चित्त मात्र से ही मुक्ति मिल जाएगी? मन में विचार उत्पन्न हो सकता है कि जब स्वीकारोक्ति मात्र अथवा किसी अनुष्ठान के कर देने मात्र से, आत्मा शुद्ध हो जाती है तो फिर उसके लिए दण्ड विधान आवश्यकता ही नहीं है। इसका उत्तर है– नहीं। प्रायश्चित्त में मात्र शारीरिक उपस्थिति का कोई लाभ नहीं। पाप प्रक्षालन हेतु प्रायश्चित्त में मन का शामिल होना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा पापमुक्ति असम्भव है। मन सहित दसों इन्द्रियों द्वारा ही प्रायश्चित्त करना श्रेयस्कर है। मन को शुद्ध करने से भविष्य में पाप कर्मों की संभावना कम हो जाती है। इसकी सफलता सुनिश्चित करने के लिए प्रायश्चित करने के बाद दोबारा पाप कर्मों में लिप्त होने से बचना आवश्यक है।

2.3.6 उपासना

'उपासना' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। साधारणतया लोग उपासना को पूजा से जोड़ कर देखते हैं जबकि उपासना उस सर्वोच्च शक्ति से जुड़ने और उसे प्राप्त करने का एक अनोखा और महत्त्वपूर्ण तरीका है, जिसे ब्रह्म कहा जाता है। उपासना, किसी देवता या आध्यात्मिक इकाई के प्रति श्रद्धा, भक्ति और कृतज्ञता व्यक्त करने, व्यक्तियों को उनकी आध्यात्मिक यात्रा में मार्गदर्शन करने और जरूरत के समय शक्ति और प्रेरणा का स्रोत प्रदान करने के साधन के रूप में कार्य करती है। इसमें ब्रह्म के प्रति श्रद्धा, समर्पण और प्रेम की गहरी भावना विकसित करना शामिल है। नियमित ध्यान, प्रार्थना और चिन्तन के माध्यम से, व्यक्ति परमात्मा के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित करते हैं और एकता और उत्कृष्टता की भावना का अनुभव करते हैं। विद्वन्मनोरञ्जनी की परिभाषा के अनुसार–

उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्य विद्यादीनि।

अनुवाद– सगुणब्रह्म को विषय बनाने वाला मानसिक व्यापार (ध्यान) ही जिसका स्वरूप है, उन शाण्डिल्यविद्या (और दहरविद्या) आदि उपासना कर्म कहते हैं।

"उप समीपे आस्यते स्थीयते अनेन इति उपसनम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपसनम्

का अर्थ है उपास्य (देवता) के समीप बैठकर उनकी आराधना करना। इस शब्द का प्रयोग वेदों में बहुत होता है। उपासना में उपासक का चित्त निरन्तर उपास्य में ही लगा रहता है। यहाँ यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि उपासना केवल एक धार्मिक अनुष्ठान नहीं है, बल्कि ज्ञान प्राप्ति रूपी यज्ञ है।

वेदान्त में वर्णित उपासना कर्म विद्यारूप है। यहाँ विद्या का अर्थ है ''**विद्यते लक्ष्यते उपास्ये चित्तस्थैर्य यया क्रियया सा विद्या।**'' अर्थात् जिस क्रिया के द्वारा उपास्य गुणसप्ति ब्रह्म में उपासक का चित्त स्थिर होता है वह क्रिया 'विद्या' है। संस्कृत में विद्या शब्द को, ज्ञान प्राप्ति की उस प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है जिसके माध्यम से मन को उपासना की वस्तु के गुणों और विशेषताओं, विशेष रूप से दिव्य और सर्वव्यापी ब्राह्म की ओर निर्देशित किया जाता है। मन को ब्रह्म के दिव्य गुणों पर स्थिर करने की इस क्रिया को 'विद्या' कहा जाता है।

जगद्गुरु शंकराचार्य की व्याख्या उपासना को स्पष्ट करते हुए कहती है "उपास्य को, शास्त्रोक्त विधि से अपने मन में लाकर, उसके निकट बैठकर अथात् पहुँचकर, उसके साथ एकता का अनुभव करने के लिए अपने विचारों को लगातार उसी पर केन्द्रित करना, और उसी के ध्यान में लम्बे समय तक लीन रहना, ही उपासना कहलाती है।" नित्यादि कर्मों का व्यक्ति पर परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ता है। इससे व्यक्ति का मन शुद्ध तथा अशुद्धियों से मुक्त हो जाता है। इस शुद्ध मन की शक्ति को बढ़ाने, एकाग्रता को विकसित करने और मजबूत करने के साधन के रूप में उपासना सहायक होती है।

पुरुषाधीन उपासना और भौतिक सम्पत्ति में निहित ज्ञान के बीच अन्तर को स्पष्ट करने के लिए, एक शब्द गढ़ा गया– मानस व्यापार। ज्ञान, वस्तु–उन्मुख होने के कारण, इसका अध्ययन करने वाले व्यक्ति से प्रभावित होता है, जबकि पूजा, एक मानसिक या सक्रिय अभ्यास के रूप में, एक उच्च शक्ति की ओर निर्देशित होती है। मानसिक व्यापार में ध्यान देना या भावनाओं को व्यक्त करना शामिल है, और इसे विशिष्ट दिशानिर्देशों के अनुसार संचालित किया जाना चाहिए जिनका पालन करने या उपेक्षा करने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है। उदाहरण के लिए, पाँच लोकों– द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री में अग्नि की पूजा करने के लिए एक विशिष्ट विधि की आवश्यकता होती है जिसे पंचाग्नि–पूजा के रूप में जाना जाता है, जबकि सामान्य अग्नि में, किसी को अग्नि की पूजा करने की आवश्यकता नहीं होती है। चूँकि अग्नि में स्वाभाविक रूप से अग्नि का ज्ञान होता है, इसलिए उसकी पूजा करना अनावश्यक है। भौतिक रूप से अमूर्त वस्तु में विशिष्ट प्रयोजन से उसका ध्यान किया जाता है जो अस्तित्व में नहीं है।

वैष्णव आचार्य रामानुज ने 'वेदान्तसूत्र' के 'श्रीभाष्य' (1/1/1) में वर्णित उपासना पाँच प्रकार की बताई है– अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग। इनके विषय में बताते हुए वे लिखते हैं–

अभिगमनं च तद्विषयकश्रवणादिलक्षणं, उपादानं च पूजादिकार्यार्थं द्रव्यसंग्रहः, इज्या च पूजादिकार्यं, स्वाध्यायश्च वेदादिशास्त्राध्ययनं, योगश्च अष्टाङ्गयोगः। एतानि पञ्चाङ्गानि उपासनानाम्।

1. **अभिगमन** का अर्थ है, भगवान के प्रति अभिमुख होना। इसमें उनके नाम, रूप, गुण, लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि शामिल हैं।
2. **उपादान** अर्थात् पूजा और अन्य कार्यों के लिए आवश्यक द्रव्यों का संग्रह करना।

3. **इज्या** का मतलब है, पूजा एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्यों को शास्त्रोक्त विधि से करना।
4. **स्वाध्याय** का अर्थ हुआ, वेद और अन्य शास्त्रों का अध्ययन करना।
5. **योग** अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि जैसे आठ अंगों का अनुष्ठान करना। उपासना के ये ही पाँच अंग हैं।

ब्रह्म विषयक उपासना के दो भेद हैं – सगुण और निर्गुण।

1. **सगुण उपासना** में हम ब्रह्म को किसी रूप, गुण, नाम या क्रिया से सम्बन्धित करके उसकी आराधना करते हैं। इसमें हम शास्त्रों में बताए गए बाहर के साधनों का उपयोग करते हैं। जैसे यज्ञ, याग, पूजा, जप, तप, व्रत, दान आदि। या फिर परंपरा के अनुसार किए जाने वाले साधनों का उपयोग करते हैं। जैसे गायत्री, ओंकार, प्रणव, महामृत्युंजय, श्रीराम, श्रीकृष्ण, शिव, दुर्गा, गणेश, हनुमान आदि की उपासना। सगुण उपासना का लक्ष्य है मन को एकाग्र करना और ब्रह्म के साथ एकता का अनुभव करना।
2. **निर्गुण उपासना** में हम ब्रह्म को किसी रूप, गुण, नाम या क्रिया से रहित मानकर उसकी आराधना करते हैं। इसमें हम केवल अन्तर्मुखी साधन ही करते हैं। जैसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन। श्रवण का अर्थ है गुरु या शास्त्रों से ब्रह्म के बारे में सुनना। मनन का अर्थ है ब्रह्म के बारे में विचार करना। निदिध्यासन का अर्थ है ब्रह्म के बारे में ध्यान करना। निर्गुण उपासना का लक्ष्य है ब्रह्मविद्या को जागृत करना और ब्रह्म का साक्षात्कार करना।

प्रश्न उठता है कि जब उपासना दो प्रकार की होती है तो क्या मात्र सगुण उपासना से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। इस शंका का समाधान गीता में प्राप्त होता है। दोनों ही उपासनाओं से ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है, परन्तु निर्गुण उपासना करना बहुत कठिन और दुर्लभ है। इस विषय में गीता (12/5) कहती है–

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।

अर्थात् जिन लोगों का मन भगवान के अव्यक्त (निर्गुण) रूप पर आसक्त होता है उनके लिए भगवान की अनुभूति का मार्ग अतिदुष्कर और कष्टों से भरा होता है। अव्यक्त रूप की उपासना देहधारी जीवों के लिए अत्यन्त दुष्कर होती है।

इसको कल्पतरु (1/1/7/20) में इस प्रकार से प्रतिपादित किया है–

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।।

वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्।।

"जो मन्द दुर्वासना वासित अन्तः करण वाले होते हैं वे वैराग्य के अभाव से श्रवणादिसाधनों से हीन होने पर निर्विशेष पर ब्रह्म का साक्षात्कार करने में अक्षम होते है। फिर वे सविशेष निरुपण सगुणब्रह्म की उपासना करके उनकी अनुकम्पा प्राप्त करते हैं। सगुणोपसाना रूपी फल सगुण ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होता है। सगुणब्रह्म की उपासना के अभ्यास से मन उसी ब्रह्म में एकाग्र होने पर वह उसमें

उपाधि कल्पना करने पर वह निरुपाधिक ब्रह्म भी सोपाधिक होकर प्रकट हो जाता है।"

एक जन्म में उपासना करके मोक्ष नहीं मिलता, क्योंकि दुर्वासनाओं ने मन को अशुद्ध किया है। इसलिए सगुण उपासना करनी चाहिए, जिससे मन को शुद्ध करके ब्रह्मलोक तक पहुँचा जा सकता है और ब्रह्मलोक में श्रवणादि द्वारा ही ब्रह्म का अनुभव होता है और मुक्ति प्राप्त होती है। अतः इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल सगुण की ही उपासना करनी चाहिए।

अन्तःकरण को शुद्ध करके ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिए उपासना ध्यान योग तथा भक्ति योग के द्वारा की जाती है। ध्यान मन को केंद्रित करने और विकर्षणों को कम करने में मदद करता है। जबकि भक्ति योग में हम उस ब्रह्म के के किसी रूप के साथ पुत्रत्व, मित्रत्व, दासत्व आदि लौकिक सम्बन्धों की कल्पना कर लेते हैं। जैसे–जैसे हृदयस्थ वह सम्बन्ध दृढता को प्राप्त होता जाता है वैसे–वैसे ही चित्त ईश्वर के चिन्तन में लग्न होता जाता है और अन्ततः दोनों का एकाकार हो जाता है।

अब मन में जिज्ञासा हो रही होगी कि 'शाण्डिल्य विद्या' क्या है? इसके निराकरण हेतु हम संक्षेप में शाण्डिल्य विद्या का अध्ययन करेंगे जो कि छान्दोग्योपनिषद् (3/14/1–4) वर्णित है।

शाण्डिल्य विद्या

'शाण्डिल्य विद्या' का आचार्य शाण्डिल्य के द्वारा छान्दोग्योपनिषद् में उपदेश किया गया है इसीलिए इसका यह नाम पड़ा है। आचार्य शाण्डिल्य द्वारा स्पष्ट किया गया है कि, अनुशासन में रहते हुए सांसारिक गतिविधियों में लगे हुए भी भक्त अपने विचारों को विभिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा अपने इष्ट देवता की ओर निर्देशित करते हैं। शाडिल्य विद्या का ज्ञान हमें सिखाता है कि हम ब्रह्माण्ड की विशालता में लक्ष्यहीन रूप से भटकने वाली अलग–अलग संस्थाएं नहीं हैं, बल्कि सृष्टिरूपी बुने हुए वस्त्र के परस्पर जुड़े हुए धागे हैं। इस गूढ़ तत्त्व को अपनाकर और इसे अपने दैनिक जीवन में लागू करके, हम आत्म–प्राप्ति, मुक्ति और परमात्मा के साथ अन्तिम मिलन की दिशा में एक परिवर्तनकारी यात्रा शुरू करते हैं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।।1।।

अनुवाद– यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसीसे उत्पन्न होनेवाला, उसीमें लीन होनेवाला और उसीमें चेष्टा करनेवाला है– इस प्रकार शान्त (रागद्वेषरहित) होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही क्रतुमय–निश्चयात्मक है; इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यहाँसे मरकर जानेपर होता है। अतः उस पुरुषको निश्चय करना चाहिये ।।1।।

अथात् सम्पूर्ण विश्व दिव्य निर्माता ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। हम सभी उसी से उत्पन्न हुए हैं, उसी में विद्यमान हैं और अन्ततः उसी में विलीन हो जाते हैं। मानवमात्र के लिए, सांसारिक इच्छाओं से मुक्त होकर, आन्तरिक शान्ति और पवित्रता की भावना के साथ अपनी उपासना करना महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार इस जीवन में हमारे कर्म और हमारी चेष्टाएँ हमारे भाग्य का निर्धारण करते हैं, उसी प्रकार वे मृत्यु के बाद की हमारी यात्रा को भी प्रभावित करेंगे। यह समझ से हमें यह बोध कराती है कि हमारे हाथों में कितनी बड़ी ज़िम्मेदारी है और हमें अपने जीवन के सभी पहलुओं में विवेक और

सावधानी बरतने की अनिवार्य आवश्यकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हम जीवन के भव्य रंगमंच में केवल निष्क्रिय दर्शक नहीं हैं, बल्कि अपनी वास्तविकता को आकार देने की शक्ति वाले सक्रिय भागीदार हैं। हमारी सचेष्ट क्रियाएँ या तो हमें आध्यात्मिक विकास और ज्ञानोदय की ओर ले जाने या हमें नकारात्मक कर्म और पीड़ा के जाल में फंसा देंगे। इसलिए, हमारे लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि हम प्रत्येक क्षण मे जागरूक रहते हुए, सोच–समझकर ऐसे विकल्प चुनें जो हमारे उच्च स्व के साथ संरेखित हों और सभी प्राणियों की बेहतरी में सकारात्मक योगदान दें।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः।।2।।

अनुवाद – (वह ब्रह्म) मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशशरीर, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सम्पूर्ण जगत को सब ओर से व्याप्त करनेवाला, वाकरहित और सम्भ्रमशून्य है।।2।।

उस बह्म का और परिचय देते हुए आचार्य शाण्डिल्य कहते हैं कि वह ब्रह्म मनोमय है, अर्थात् वह मन के रूप में व्यक्त होता है। वह मन के भावों, विचारों, ज्ञान, भक्ति और समाधि का कारण है। वह मन को शुद्ध, शान्त और एकाग्र बनाता है। वह प्राणशरीर है, अर्थात् वह प्राण के रूप में व्यक्त होता है। वह प्राण के पंच वायुओं का नियन्ता है। वह प्राण को जीवन, शक्ति, स्वास्थ्य और आनन्द का आधार बनाता है। वह प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् वह प्रकाश के रूप में व्यक्त होता है। वह प्रकाश के सभी रूपों का स्रष्टा, पालक और संहारक है। वह प्रकाश को ज्ञान, विवेक, दृष्टि और दर्शन का साधन बनाता है। वह सत्यसंकल्प है, अर्थात् वह सत्य के रूप में व्यक्त होता है। वह सत्य के सभी तत्त्वों का निर्माता, रक्षक और विधाता है। वह सत्य को धर्म, न्याय, श्रद्धा और निष्ठा का लक्ष्य बनाता है। वह आकाशशरीर है, अर्थात् वह आकाश के रूप में व्यक्त होता है। वह आकाश के सभी गुणों का धारक, विकारक और विश्रामक है। वह आकाश को शून्यता, अनन्तता, अवकाश और शान्ति का प्रतीक बनाता है। वह सर्वकर्मा है, अर्थात् वह कर्म के रूप में व्यक्त होता है। वह कर्म के सभी प्रकारों का उद्भव, संचालन और फलदाता है। वह कर्म को योग, त्याग, सेवा और भक्ति का मार्ग बनाता है। वह सर्वकाम है, अर्थात् वह काम के रूप में व्यक्त होता है। वह काम के सभी विषयों का आकर्षक, आनन्दकारी और विमोचक है। वह काम को प्रेम, सौन्दर्य, कला और साहित्य का स्रोत बनाता है। वह सर्वगन्ध है, अर्थात् वह गन्ध के रूप में व्यक्त होता है। वह गन्ध के सभी प्रकारों का उत्पादक, वितरक और आकर्षक है। वह गन्ध को स्वास्थ्य, शुद्धि, पूजा और भोग का साधन बनाता है। वह सर्वरस है, अर्थात् वह रस के रूप में व्यक्त होता है। वह रस के सभी प्रकारों का उत्पादक, वितरक और आनन्दकारी है। वह रस को भोजन, पान, रसायन और रसिकता का कारण बनाता है। वह इस सम्पूर्ण जगत् को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला है, अर्थात् वह इस सृष्टि के सभी पदार्थों, जीवों, गुणों, क्रियाओं, अवस्थाओं और परिणामों को समाहित करता है और उन्हें परस्पर जोड़ता है।

अब उसके आकार के विषय में बताते हुए वे कहते हैं कि ब्रह्म का अस्तित्व–विस्तार, सूक्ष्मतम और विशालतम दोनों सीमाओं से परे है –

एष म आत्मान्तहृदयेऽणीयान्त्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वैष म आत्मान्तहृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।।3।।

अनुवाद – हृदयकमल के भीतर यह मेरी आत्मा मेरे हृदय में अणीयान् (बहुत छोटा),

व्रीहेर्वा (तीन रोमावली घान से), यवाद्वा (एक जौ के बराबर), सर्षपाद्वा (एक सरसों के बराबर), श्यामाकाद्वा (एक श्यामाक के बराबर), श्यामाकतण्डुलाद्वा (अथवा एक श्यामाक के दाने के बराबर) है तथा हृदयकमलके भीतर यह यह आत्मा मेरे हृदय में ज्यायान् (बहुत बड़ा), पृथिव्या ज्यायान् (पृथ्वी से बड़ा), अन्तरिक्षाज्ज्यायान् (अन्तरिक्ष से बड़ा), दिवो ज्यायान् (स्वर्ग से बड़ा), एभ्यो लोकेभ्यः ज्यायान् (इन सभी लोकों से बड़ा) है।।3।।

भावार्थ – अब उसके आकार के विषय में बताते हुए वे कहते हैं कि ब्रह्म का अस्तित्व–विस्तार, सूक्ष्मतम और विशालतम दोनों सीमाओं से परे है। यह मेरे अस्तित्व के मूल में सबसे गहरा बिन्दु है और वे अपनी आत्मा का अत्यन्त सूक्ष्म और विशाल दोनों ही रूपों में वर्णन करते हैं। वह बताते हैं कि आत्मा हृदय के भीतर बहुत सूक्ष्म आकार में स्थित है। आत्मा धान से, जौ से, सरसों से, श्यामाक (साँवा) चावल के दाने से भी सूक्ष्म है। ये सभी उदाहरण आत्मा की अतिसूक्ष्मता को दर्शाते हैं। आत्मा इतना छोटा है कि उसे देखना या स्पर्श करना असम्भव है। फिर वे कहते हैं कि यह आत्मा मेरे हृदय में पृथ्वी से बड़ा, अन्तरिक्ष से बड़ा, स्वर्ग से भी बड़ा तथा इन सभी लोकों से बड़ा है। ये सभी उदाहरण आत्मा की अनन्तता को दर्शाते हैं। आत्मा इतना बड़ा है कि उसे मापना या सीमित करना असम्भव है। इस प्रकार, शाण्डिल्य ऋषि आत्मा के दोनों परस्पर विरोधी गुणों वाला बताते हुए कहना चाहते हैं कि, आत्मा एक ही है, परन्तु उसका अनुभव भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में भिन्न–भिन्न होता है। जब आत्मा शरीर, मन और बुद्धि के साथ तादात्म्य करती है, तब वह अपने को अल्प, परिच्छिन्न और दुःखी मानती है किन्तु जब वही आत्मा इन सबसे विलग होकर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करता है, तब वह अपने को अनन्त, अविकारी और आनन्दमय मानता है।

यह मन्त्र हमें बताता है आत्मा का स्वरूप न तो अत्यन्त सूक्ष्म है, न ही अत्यन्त विशाल है। आत्मा का स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य है, जो न तो किसी आकार का है, न ही किसी सीमा का है। आत्मा को जानने के लिए हमें अपने हृदय में ध्यान करना होगा, जहाँ वह निहित है। आत्मा को जानने के लिए हमें अपने अहंकार, ममता, राग, द्वेष, भय, शोक, आसक्ति आदि से मुक्त होना होगा, जो हमारे आत्मा के ज्ञान को आवरण करते हैं। आत्मा को जानने के लिए हमें अपने शुद्ध, निर्मल और निर्विकार भाव को जागृत करना होगा, जो हमारे आत्मा के साथ एक है।

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तहृदय एतद्ब्रहमैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचि कित्सास्तोति ह स्माइ शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।।4।।

अनुवाद – जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सबको सब ओर से व्याप्त करनेवाला, वाहित और सम्भ्रमशून्य है वह मेरा आत्मा हृदयकमलके मध्य में स्थित है । यही ब्रह्म है, इस शरीर से मरकर जानेपर में इसीको प्राप्त होऊँगा। ऐसा जिसका निश्चय है और जिसे इस विषय में कोई संदेह भी नहीं है (उसे ईश्वरभाव की ही प्राप्ति होती है) ऐसा शाण्डिल्य ने कहा है, शाण्डिल्य ने कहा है।।4।।

भावार्थ – शण्डिल्य विद्या के उपसंहार में वे बताते हैं कि हृदयस्थित ब्रह्म और परब्रह्म दोनों एक ही हैं। यह ब्रह्म सब कुछ करने वाला, सब कुछ चाहने वाला, सब कुछ सुगंधित करने वाला, सब कुछ स्वादिष्ट करने वाला है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सब प्रकार की शक्तियों, इच्छाओं, गुणों और रसों का स्रोत है। ब्रह्म ने ही सब कुछ

रचा है, ब्रह्म ही सब कुछ चाहता है, ब्रह्म ही सब कुछ को सुंदर और सुखद बनाता है। यही ब्रह्म सब कुछ को अपने में समाहित करने वाला, अवाक्य (अकथनीय) और अनादर (अविशेष) है। अर्थात् ब्रह्म सब कुछ का आधार है, परन्तु ब्रह्म को किसी भी शब्द, वाक्य, नाम, रूप, गुण, कर्म आदि से व्यक्त नहीं किया जा सकता है। ब्रह्म अपरिच्छिन्न, अव्यक्त, अविभाज्य, अविनाशी, अविकारी, अविनाशी, अविनाशी है। यह ब्रह्म ही मेरी आत्मा है, जो मेरे हृदय में विद्यमान है। ब्रह्म और जीव का कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही सत्ता के अभिन्न अंश हैं। ब्रह्म का आविर्भाव ही जीव है, जीव का निर्विकल्प रूप ही ब्रह्म है। ब्रह्म को जानने का उपाय है अपने आत्मा को जानना, अपने हृदय में ब्रह्म का अनुभव करना। यह ब्रह्म है और मैं मरने के बाद इसी को प्राप्त होऊँगा, ऐसा मुझे विश्वास है यह ज्ञान हो जाने पर अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान होने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है, जीव को संसार के बन्धनों से मुक्ति मिलती है। जब जीव को अपनी असली पहचान का बोध होता है, जो कि ब्रह्म ही है तब जीव को अपने आत्मा के साथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, जो कि सत्य, ज्ञान और आनन्द का स्वरूप है।

उपासनाओं से न केवल आध्यात्मिक विकास होता है बल्कि इसके कुछ निश्चित फल भी प्राप्त होते हैं। उन फलों में कामनाओं का परित्याग करके चित्त की निर्मलता के लिए उपासना की जाती है और इसी से ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

उपरोक्त कर्मों में संलग्न होकर, 'प्रमाता' अपने मन, शरीर और आत्मा को शुद्ध करता है। ये कर्म, जब ईमानदारी और भक्ति के साथ किए जाते हैं, आध्यात्मिक परिवर्तन और आन्तरिक शुद्धता और ज्ञान की प्राप्ति के लिए शक्तिशाली उपकरण के रूप में काम करते हैं।

2.10 कर्मफल विमर्श

जीवन एक गतिशील यात्रा है, जिसमें मृत्यु हमारे सभी कार्यों की परिणति को दर्शाती है। जीवन की सक्रिय गतिविधियों में संलग्न होकर ही हम उत्थान और पतन दोनों का अनुभव करते हैं। जीवन के अस्तित्व के लिए स्वाभाविक रूप से कर्म की उपस्थिति आवश्यक है, क्योंकि जीवनी शक्ति अथावा प्राण के रहते हुए कोई भी व्यक्ति कर्मों में संलग्न हुए बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता। निरन्तर मानवीय संलग्नता की इस अन्तर्निहित आवश्यकता को देखते हुए, हमारे पूर्वज प्राचीन मनीषियों ने अस्तित्व के हर सम्भव कर्मों का शोधपरक अध्ययन किया, उनका उद्देश्य जीवन की सम्पूर्णता का व्यापक मूल्यांकन करना था।

हिन्दू धर्म के क्षेत्र में, विशेष रूप से धर्मशास्त्र में, कर्म एक गहन अवधारणा है जो नैतिक क्षेत्र में 'कारण और प्रभाव' की धारणाओं को आपस में जोड़ती है, ठीक उसी तरह जैसे विज्ञान भौतिक दुनिया में इन सिद्धान्तों की खोज करता है। इस मान्यता का तात्पर्य यह है कि अच्छे कार्य करने पर पुरस्कार मिलता है, जबकि गलत कार्य करने पर दण्ड मिलता है। यदि किसी के वर्तमान जीवनकाल में नकारात्मक कर्मों का परिणाम प्रकट नहीं होता है, तो आत्मा एक नए अस्तित्व की ओर अग्रसर होती है, जिसमें उसे अपने पिछले कार्यों के परिणामों को सहन करना होगा। इस प्रकार, यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि कर्म नष्ट नहीं होता है; बल्कि, व्यक्ति को अपने पूर्व में किये कर्मों के परिणाम के सुख–दुःख भोगने ही पड़ते हैं।

प्रश्न उठता है कि जब सभी क्रियाओं का फल भोगना पड़ता है तो उन क्रियाओं का

क्या होगा जिनका फल भोगने के पहले ही कर्त्ता मर जाता है? मृत्यु शरीर की आनुषंगिक स्वाभाविक क्रिया है जिसका कर्म पर कोई प्रभाव नहीं होता। कर्त्ता नहीं मरता, वह केवल शरीर को बदल देता है। भोक्ता अलग है और वह कर्मफल का भोग करने के लिए दूसरा शरीर धारण करता है। फल के क्षय का एकमात्र उपाय है उसको भोग लेना।

कर्मों का अनुष्ठान करने से 'परमफल' और 'अवान्तरफल' की प्राप्ति होती है। 'नित्य', 'नैमित्तिक' और 'प्रायश्चित' कर्म के अभ्यास में संलग्न होने का मूल उद्देश्य मन को शुद्ध करना है, जबकि 'उपासना' का अन्तिम उद्देश्य मन की केन्द्रित एकाग्रता प्राप्त करना है। श्रुतियों के अनुसार, ब्राह्मण उपनिषदों तथा वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ (दान और निष्काम तप) के माध्यम से आत्मा के सार को समझने की इच्छा रखते हैं।

वेदान्त के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नैकर्म्य सिद्धि' में सुरेश्वराचार्य ने कर्म स्तर से प्राप्ति स्तर तक की प्रगति का बहुत सुंदर ढंग से वर्णन करते हुए नित्य कर्मों के महत्त्व को संरेखित किया है– "नित्य कर्म का अनुशासन धर्म का निर्माण करेगा, धर्म पापों (बुरे कर्मों के फल) को नष्ट कर देता है, इससे संसार की असहायता को समझने में मदद मिलती है, इससे वैराग्य या संसार के प्रति वैराग्य पैदा होता है, वैराग्य से मुक्ति की तीव्र इच्छा होती है, जिससे इसे प्राप्त करने के तरीके सामने आते हैं। इसके बाद कर्म का त्याग और उसके बाद योग का अनुशासन, फिर श्रुतियों का आन्तरिककरण, जिससे 'तत् त्वम् असि' जैसे कथनों की समझ पैदा होती है;–तुम वह हो। इस प्रकार साधक अज्ञानता को त्याग देता है और आत्मा में दृढ़ता से स्थित रहता है।"

'काम्य कर्म' अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं। इनके करने से उस समय की इच्छापूर्ति अवश्य हो जाती है किन्तु दीर्घकालिक परिणाम उस कर्म के अन्तर्निहित भावनाओं से निर्धारित होते हैं। इस परिणाम पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं होता है। 'नित्य कर्म' करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इनके नहीं करने से नित्य हो रहे पापों के कारण उर्जा का क्षय होता है जिसके कारण पतन की सम्भावना बढ़ जाती है। 'नैमित्तिक कर्म' नहीं करने से ऊर्जा की हानि नहीं होती है। वरन इनके करने से उर्जा के स्तर में वृद्धि होती है। इनको करने से कार्य सम्पादन शीघ्रता से होता है और परिणाम शुभ होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती है।

मनुस्मृति के अनुसार तपस्चर्या के माध्यम से, ब्राह्मणों द्वारा पापों को नष्ट किया जाता है। शास्त्र हमें बताते हैं कि दैनिक कार्यों में संलग्न होने के परिणामस्वरूप पैतृक लोक की प्राप्ति होती है, जिसे पितृलोक के रूप में जाना जाता है, जबकि 'उपासना' के अभ्यास से दिव्य निवास, सत्यलोक की प्राप्ति होती है। दूसरे शब्दों में, 'पितृलोक' को धार्मिक कर्मों के निष्पादन के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है, जबकि सत्यलोक को आध्यात्मिक ज्ञान की खोज के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार फल देने की इच्छा से लगाया गया आम का पेड़ ताजगी भरी छाया और मनमोहक सुगन्ध भी प्रदान करता है, उसी प्रकार दैनिक कार्यों में संलग्न होने का प्राथमिक परिणाम मन की शुद्धि है, और द्वितीयक परिणाम पैतृक लोक की प्राप्ति है। इसी प्रकार, उपासना का प्राथमिक परिणाम मानसिक शान्ति की प्राप्ति है, जिसे चित्तसमाधि के रूप में जाना जाता है, जबकि द्वितीयक परिणाम दिव्य क्षेत्र, सत्यलोक की प्राप्ति है। 'अवान्तर' शब्द का तात्पर्य परिणामी या आकस्मिक पहलुओं, यानी, द्वितीयक परिणामों से है। 'नित्य', 'नैमित्तिक', 'प्रायश्चित' और 'उपासना' के अभ्यास के माध्यम से, एक शुद्ध मन आध्यात्मिक खोज में संलग्न होने में सक्षम हो जाता है, जिसे 'साधन चतुष्टय' के रूप में जाना जाता है।

'नित्य', 'नैमित्तिक' और 'प्रायश्चित्त कर्मों' में संलग्न होने का प्रमुख लाभ यह है कि इससे गहरी मानसिक शुद्धता प्राप्त होती है। इन अनुष्ठानों का निष्पादन कर, व्यक्ति अपने विचारों, भावनाओं और इरादों को शुद्ध करने, और उन अशुद्धियों से छुटकारा पाने में सक्षम होते हैं जो उनके समग्र कल्याण और आध्यात्मिक विकास में बाधा बन सकती हैं। तत्पश्चात्, 'उपासना इस प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि यह शुद्ध मन को ध्यान की वान्छित वस्तु की ओर ध्यान केन्दित करने और निर्देशित करने में सहायता करता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि जब हम उत्तेजना या व्याकुलता का अनुभव करते हैं, तो किसी भी कार्य या गतिविधि पर ध्यान केन्दित करने की हमारी क्षमता काफी हद तक प्रभावित हो जाती है। 'उपासना' के अभ्यास से बढ़ी हुई एकाग्रता व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास और आत्म–तत्त्व बोध प्रदान करते हुए, अपने आन्तरिक आत्म में उतरने की अनुमति देती है। मन को शुद्ध और व्यवस्थित करके, व्यक्ति उन विकर्षणों पार पा सकते हैं जो उनकी मुक्ति की यात्रा में बाधा डालते हैं।

2.11 सारांश

'कर्म' का विचार कारण और प्रभाव की एक ऐसी प्रणाली है जो हमारी चेतना के सभी पहलुओं को प्रभावित करती है। यह कोई पूर्वनिर्धारित भाग्य नहीं है, बल्कि यह विश्वास है कि हमारे कार्य हमारे भविष्य को आकार देते हैं। प्राचीन वेदों के अनुसार, यदि हम अच्छा करेंगे तो हमारे साथ अच्छा होगा और यदि हम बुरा करेंगे तो हमें उसके परिणाम भुगतने होंगे। हमारे सामूहिक कार्य, उनके परिणाम और हमारे पिछले जीवन का प्रभाव सभी हमारे भविष्य को निर्धारित करने में भूमिका निभाते हैं। कर्म का असली सार सोच–समझकर चुनाव करने और संयम बरतने में निहित है। यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि सभी कर्मों का तत्काल प्रतिफल नहीं मिलता; कुछ एकत्रित हो जाते हैं और इस या अगले जीवन में अप्रत्याशित रूप से पुनः प्रकट हो सकते हैं।

मनुष्य के रूप में हमारे पूरे अस्तित्व में, हमें विभिन्न आध्यात्मिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से संलग्न होकर अपने आध्यात्मिक विकास में तेजी लाने और उस परमफल 'मोक्ष' की प्राप्ति के असाधारण अवसर दिए गए हैं। किन्तु हमारी सीमित समझ और अविवेक के कारण, हम अक्सर अनजाने में नकारात्मक कर्म करते हैं, जो आध्यात्मिक पथ पर हमारी प्रगति में बाधा डालते हैं। जीवन और मृत्यु का अहर्निश चलायमान चक्र एक अत्यधिक जटिल और बहुआयामी प्रक्रिया है जिसमें 84 लाख अद्वितीय प्रजातियों की आश्चर्यजनक विविधता शामिल है। जीवन रूपों की इस विशाल श्रृंखला के बीच, केवल एक ही प्रजाति सबसे अलग है और उसे सर्वाधिक सम्मान दिया जाता है– मानव प्रजाति। सही समय पर सही चुनाव करके अपने भाग्य को आकार देने की असाधारण क्षमता रखने का मानवीय, जन्मजात स्वभाव ही हमें इस जीव–श्रृंखला के शिखर पर स्थापित करता है। सकारात्मक कार्यों में संलग्न होकर, शुद्ध और सात्विक विचार बनाए रखते हुए, प्रार्थना का अभ्यास, मन्त्रों का जाप करते हुए और ध्यानादि की संलग्नता से, हम अपने पिछले कार्यों (कर्म) के प्रभावों को कम करने तथा एक अधिक अनुकूल भविष्य बनाने की शक्ति रखते हैं।

दूसरे शब्दों में, कारण और प्रभाव का लौकिक नियम यह निर्देश देता है कि हमारी प्रत्येक मानसिक चेष्टा, मौखिक अभिव्यक्ति और शारीरिक उपक्रम के गहरे परिणाम होते हैं। और यही परिणाम हमारे जीवन और हमारे आस–पास की दुनिया को आकार देते हैं।

2.12 पारिभाषिक शब्दावली

प्रमाता – प्रमाणों के द्वारा व्यवहार करने में समर्थ। वह जिज्ञासु व्यक्ति जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

साधन–चतुष्टय – विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क एवं मुमुक्षत्व ये चार ही साधन चतुष्टय कहलाते हैं।

पुत्रकामेष्टि यज्ञ – पुत्रप्राप्ति हेतु कराया जाने वाला यज्ञ।

ज्योतिष्टोमयाग – यह शब्द सामवेद के मन्त्रों के पाठ के माध्यम से स्तुति करने की क्रिया को सन्दर्भित करता है।

पातक – शास्त्राज्ञा के विरुद्ध निषिद्ध कर्मों को करने वाला।

स्तेय – चोरी करना।

गुरुतल्पगमन – गुरुपत्नी से यौनाचार में लिप्त होना।

पंचमहायज्ञ – ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), देवयज्ञ (होम), पितृयज्ञ (पिण्डक्रिया), भूतयज्ञ (बलि वैश्वेदेव), अतिथियज्ञ।

शोडषसंस्कार – हिन्दू धर्मग्रन्थों में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के सोलह संस्कार बताए गए हैं।

प्रायश्चित्त – शास्त्रों में वर्णित चान्द्रायण–कृच्छादि प्रायश्चित्त कर्म जिनको करने से जीव स्वयं द्वारा किये हुए पापों का पक्षालन किया जाता है।

उपासना – वह कर्म जिसमें साधक अपने आराध्य के समीप बैठ कर सगुण ब्रह्म का ध्यान करता है।

शाण्डिल्य विद्या – उपासना अर्थात् ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान जिसे आचार्य शाण्डिल्य ने छान्दोग्योपनिषद् में बताया है। इसका सार है कि जीव यह जान ले कि ब्रह्म और उसमें कोई भेद नहीं है।

2.13 सन्दर्भ–ग्रन्थ

1. सदानन्द प्रणीत वेदान्तसार, डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ. पी. वी. काणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ
3. छान्दोग्योपनिषद, गीताप्रेस, गोरखपुर
4. मनुस्मृति, अनु.– पण्डित गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ
5. नीलकण्ठ विरचित प्रायश्चित्त मयूखः, विद्यालंकार अनन्त यज्ञेश्वर धुपाकर (संसोधित), गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बाम्बे
6. शूलपाणि प्रणीत प्रायश्चित्त विवेक, जीवानन्दसागर भट्टाचार्य (सम्पा), सिंहेश्वर प्रेस, कलकत्ता
7. भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी

2.14 बोध प्रश्न

1. वेदान्त के अनुसार 'मोक्ष के अधिकारी' से आप क्या समझते है?
2. वेदान्त के अनुसार मोक्ष प्राप्ति में कर्म की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
3. वेदान्त द्वारा प्रतिपादित षड्कर्म (छः प्रकार के कर्म) की सविस्तार विवेचन करें?
4. क्या बिना छः प्रकार के कर्मानुसाशन के मोक्ष सम्भव है?

इकाई 3 कर्म में अधिकार भेद तथा फलैक्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से विद्यार्थी निम्नलिखित विषयों से परिचित हो सकेंगे—

- भारतीय परम्परा में कर्म सम्बन्धी अवधारणा।
- दार्शनिक सम्प्रदायो में स्वीकृत कर्म के भेद।
- सांख्य—योग दर्शन में कर्म का स्वरूप तथा अवधारणा।
- वर्णाश्रम धर्म के अनुसार रक्षा, व्यापार तथा सेवाकर्म क्या है, एवं किसका धर्म हैं?
- तप के सात्विक, राजस एवं तामस भेद बतलाइये।
- यज्ञ क्या है तथा यज्ञ का क्या फल है ?

3.1 प्रस्तावना

संस्कृत भाषा में लिखित भारतीय दार्शनिक परम्परा में कर्मवाद को एक अत्यन्त मौलिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका साक्षात् सम्बन्ध जीव के मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म प्राप्त करने की अवधारणा तथा आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने कर्मवाद स्वीकार किया गया है। यद्यपि बौद्ध एवं जैन मतावलम्बी आत्मा की अमरता को स्वीकार नहीं करते, तथापि वे कर्मवाद को स्वीकार करते हैं।

संसारविषयक एक प्रश्न प्रायः सभी विचारशील व्यक्तियों में उठता है की मृत्यु (शरीरनाश) के उपरान्त मनुष्य का क्या होता है? मनुष्य पुनः शरीर धारण करता है या नहीं?

मृत्यु के उपरान्त पुनः शरीर धारण करने की मान्यता उपनिषदों के काल से अस्तित्व में आ चुकी थी। इसके उपरान्त अनेक दार्शनिक एवं पाश्चात्य विचारकों ने भी मृत्यु के उपरान्त पुनः शरीर धारण की मान्यता को स्वीकार किया, परन्तु यह शरीरधारण तभी सम्भव है जब पांचभौतिक देह में रहने वाले आत्मतत्त्व को अमर माना जाए। इसके अतिरिक्त मृत्यु के उपरान्त उसे ही कर्मों के संस्कारों का भोक्ता व कर्ता माना जाए। आत्मा की अमरता का सिद्धान्त ही कर्मों की अनश्वरता सिद्ध करता है, क्योंकि कर्म आत्मनिष्ठ होते हैं। इस मान्यता ने ही मनुष्यों को प्रेरित किया है, सत्कर्मों के अनुष्ठान के प्रति। उनको उत्साहित किया अपने जीवन में सत्कर्मों के निरन्तर सम्पादन द्वारा अपने ऐहलौकिक व पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाने के प्रति।

यदि आत्मतत्त्व को नित्य या अमर न स्वीकार किया जाए, तो फिर यह सन्देह होता है कि सभी प्राणी को एक जैसे परिवार में उत्पन्न होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता है। कोई अमीर परिवार में जन्म लेता है, तो कोई गरीब। कोई अल्प प्रयास से ही सफलता प्राप्त कर लेता है, तो किसी को अत्यधिक परिश्रम करने पर भी सफलता नहीं मिलती। जन्म तथा मृत्यु इत्यादि व्यवस्थाओं से यह सिद्ध होता है कि यह आत्मतत्त्व अजर, अमर, नित्य एवं विभु है।

न्यायदर्शन के प्रवर्तक आचार्य गौतम के मत में आत्मा विभु है। विभु से तात्पर्य है कि आत्मा सर्वत्र व्याप्त है – **सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्** – सभी मूर्त द्रव्यों के साथ जिसका संयोग हो वही विभु होता है।

लेकिन शरीर से घिर कर आत्मतत्त्व सुख या दुःख या दोनों का, अनुभव करता है। सुख एवं दुःख का कारण है सांसारिक विषयों के साक्षात् उपभोग की जीव या आत्मतत्त्व की भावना– **सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः।**

धर्म तथा अधर्म के विषय में न्यायदर्शन में आचार्य के द्वारा कहा गया है –

सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते।

अधर्मजन्यं दुःखं स्यात्प्रतिकूलं सचेतसाम्।। न्या.मु. 145

अर्थात् सुख के प्रति धर्म कारण है, एवं दुःख के प्रति अधर्म।

पुनः इसी सन्दर्भ में धर्म तथा अधर्म का लक्षण करते हुए आचार्य विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में कहा है कि धर्म स्वर्ग का कारण है और उसका गंगा स्नान, यागादि धार्मिक अनुष्ठानों के विधिवत् सम्पादन से सम्भव है। इसके विपरीत कर्मनाशा नदी के जल के स्पर्श तथा निन्दित कर्मों को करने से अधर्म की उत्पत्ति होती है। अधर्म जीव के नरक मे जाने का कारण बनता है –

धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिकारणं।
गंगास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः।।

कर्मनाशा जलस्पर्शादिना नाश्यस्त्वसौ मतः।
अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः।। न्या.मु. 161–162

योग दर्शन के प्रणेता आचार्य पतंजलि सुख एवं दुःख का कारण राग एवं द्वेष को बतलाते हैं। इनमें राग सुख का जनक होता है और द्वेष दुःखकारक। उन्होंने योगसूत्र में कहा है –

'सुखानुशयी रागः' (योगसूत्र 2.7)
'दुःखानुशयी द्वेषः' (योगसूत्र 2.8)

आचार्य कपिल मुनि के सांख्य दर्शन के अनुसार आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक– पूर्णतः तथा ऐकान्तिक– हमेशा के लिए निवृत्ति को ही मोक्ष कहा है। सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण सांख्य दर्शन के प्रवर्तन में इसी मोक्ष सिद्धि की भावना को प्रधान मानते हुए कहते हैं –

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।। कारिका 1।।

दुःख निवृत्ति के सांसारिक उपाय निश्चित रूप से हमेशा के लिए दुःख को समाप्त करने में समर्थ नहीं होते। ऐसी स्थिति में दुःखों के सर्वथा अभाव के साधक साधन की इच्छा बलवती होती है। सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के अनुपालन से यह सम्भव होता है। अतः दुःख निवृत्ति के सांसारिक उपायों की अपेक्षा सांख्य सम्मत उपाय श्रेष्ठ हैं।

3.2 कर्मभेद

शास्त्रों का पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि सुख एवं दुःख का कारण पूर्व जन्म के सत् कर्म तथा असत् कर्म होते हैं। सत् कर्म से सुख की प्राप्ति होती है और असत् कर्म से दुःख की। इस प्रकार से कर्मों का विभाजन दो प्रकार से होता है । लेकिन जब मोक्ष के विषय में विचार करते हैं तब कर्मो का विभाजन **'सकाम'** एवं **'निष्काम'** इन दो रूपों में किया जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्व जन्म कृत संचितकर्म, इस जन्म के नियामक प्रारब्धकर्म तथा इस जन्म में किए जाने वाले क्रियमाण (संचीयमान) कर्म इन तीन कोटियों में भी जीव के कर्मों का विभाजन किया जाता है। इनके स्वरूप का विवेचन इसी पाठ की इकाई तीन **'कर्म सम्बन्धी दृष्टान्त'** में किया जाएगा।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार **'सांख्ययोग एवं कर्म–योग'** के विषय में विचार करने पर योगेश्वर श्रीकृष्ण के अर्जुन को सम्बोधित कर कहे गए वचन प्राप्त होते हैं–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। गीता 3.3।।

हे निष्पाप! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमें से सांख्ययोगियों की निष्ठा तो ज्ञानयोग से है एवं कर्मयोगियों की निष्ठा कर्मयोग के प्रति होती है। यहाँ पर साधन की परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठा का नाम 'निष्ठा' है।

3.2.1 सांख्ययोग

माया से उत्पन्न त्रिविध गुण– सत्व, रजस् तथा तमस् प्रकृति के उपादान कारण हैं। तीनों गुणों को ही प्रकृति कहा जाता है। अतः प्रकृति और गुणों में तादात्म्य है। मन इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्द परमात्मा में एकीभाव से स्थित होकर रहने का नाम 'ज्ञानयोग' है इसी का 'संन्यास' ही **'सांख्ययोग– कर्म'** के नाम से जाना जाता है।

3.2.2 कर्मयोग

फल और आसक्ति को त्याग कर भगवान् की आज्ञा के अनुसार केवल भगवान् के निमित्त समत्त्व बुद्धि से कर्म करने का नाम **'कर्मयोग'** है । इसी को 'समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है।

मनुष्य कर्मों के सम्पादन के बिना नहीं रह सकता। नैष्कर्म्य की सिद्धि कर्म सम्पादन पूर्वक ही सम्भव है–

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। गीता. 34।।

मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किये बिना निष्कर्मता (योगनिष्ठा) को प्राप्त होता है और न कर्मों के केवल त्यागमात्र से सांख्यनिष्ठा या सिद्धि को प्राप्त होता है। योगनिष्ठा हो या सांख्यनिष्ठा इन दोनों ही अवस्थाओं में कर्म तो अवश्य करना पड़ता है। कर्म के बिना मनुष्य क्षणमात्र भी नहीं रह सकता है– **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।।**

जो प्राणी अपने मन से इन्द्रियों को वश में करके आसक्तिरहित होकर कर्म करता है वह प्राणी सर्वश्रेष्ठ माना जाता है–

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।

मन से इन्द्रियों को वश में करने से तात्पर्य है मन का इन्द्रियों के विषयों के प्रति आकृष्ट न होना। इसी को योग दर्शन में प्रत्याहार कहा है। इस अवस्था में योगी अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से अलग करके आत्मकेन्द्रित कर लेता है।

3.3 शास्त्रविहित कर्म

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। –

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेकर्मणः।।

सभी मनुष्य शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म करें, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, तथा कर्म न करने से शरीर (जीवन) का निर्वाह असम्भव है। इसलिए शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

वैदिक काल से ही मनुष्य के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए शास्त्रों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्मों का निर्धारण किया गया है। समाज में रहने वाले व्यक्तियों के जीवन को व्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिए वर्णाश्रम धर्म का विधान किया गया। इसके निर्धारण का आधार हमारे निगम– वेद, आगम– शास्त्रग्रन्थ, धर्मशास्त्र स्मृत्यादि ग्रन्थ माने जाते हैं। इनके द्वारा बोधित कर्म 'शास्त्रविहित' कर्म कहा जाता है। शास्त्रविहित कर्मों को स्वाभाविक कर्म भी कहा गया है। इन स्वाभाविक कर्मों को करने वाला सामाजिक प्राणी सात्विक भाव से जीवन निर्वाह करता हुआ 'ब्रह्मसाक्षात्कार' का अधिकारी होता है। जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान करता है उसको परम पद की प्राप्ति होती है–

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिंलभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्त्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। (गीता 18.45–48)

भगवान् श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं कि– अपने–अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य भगवान् की प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार से कर्म करके परम सिद्धि को प्राप्त होता है उस विधि को हे अर्जुन! तुम सुनो।

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। दूसरे के धर्म का अच्छी प्रकार आचरण किये जाने की अपेक्षा गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म रूपी कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता है। अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धुएँ से अग्नि की भाँति सभी कर्म किसी न किसी दोष से युक्त होते हैं।

प्रकृति के अनुसार शास्त्रविधि से नियत किये हुए जो वर्णाश्रम के धर्म हैं और जो सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं, उनको 'स्वधर्म' सहजधर्म, स्वकर्म, नियमकर्म, स्वभावजकर्म, स्वभाव–नियतकर्म इत्यादि नामों से कहा जाता है। इसी लिए इन कर्मों के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं–

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। (गीता 18.41)

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गए हैं। इससे प्रतीत होता है कि वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं कर्म से नियमित होती रही। व्यक्ति का स्वभाव और उसके संस्कार उसके वर्ण के निर्धारक होते हैं, न कि उसका जन्म। इसलिए उच्च संस्कारों से युक्त सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भारतीय समाज में हमेशा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा। आज भी इसका अनुपालन समाज में होता है, अधिकांशतः। कहा भी गया है कि गुण पूजनीय होते हैं न कि लिंग और न हि उम्र– **गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न वयः।**

इसी प्रकार सामाजिक व्यवहार में गुणी व्यक्ति के वचन और कर्म दोनों प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा मान्य होते हैं, सम्मान के पात्र बनते हैं। इनको अनुकरणीय माना गया।

3.3.1 वर्णानुसार कर्म

1. ब्राह्मण के कर्म–

वर्णाश्रम व्यवस्था में सर्वप्रथम **ब्राह्मण** के कर्मों का निर्धारण किया गया है। **ब्राह्म**विद्या के उपासक सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए समर्पित वैराग्यसम्पन्न उपासक को समाज में **ब्राह्मण** कहा जाता है। जन्म शुद्धि के साथ संस्कारों की शुद्धि व्यक्ति के **ब्राह्मण** होने की परिचायक है। इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा है–

> **शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।**
> **ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।** (गीता 18.42)

शम– अन्तःकरण मन, बुद्धि और अहंकार का नियन्त्रण या निग्रह, **दम**– इन्द्रियों की अपने विषयों के प्रति स्वाभाविक उन्मुखता को समाप्त कर आत्मकेन्द्रित करना, **तपश्चर्या**– कर्मसिद्धि हेतु योजनाबद्ध विधि से सामर्थ्य के अनुरूप तप करना, बाह्य **शुद्धि** या स्नान आदि के माध्यम से शरीर की शुद्धि के साथ अन्तःकरण की काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन षडरियों से रहित मुक्त होकर शुद्धि, स्वाभाविक सरलता, ज्ञान– मोक्ष सम्बन्धी प्रवृत्ति– **मोक्षे धीर्ज्ञानमुच्यते, विज्ञान**– शिल्प शास्त्रादि के सन्दर्भों के प्रति रूचि सम्पन्न होना, वेद, शास्त्र– **विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः**, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद शास्त्रों का अध्ययन–अध्यापन करना और परमात्मा तत्त्व का अनुभव करना ये **'ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म'** हैं।

धर्मशास्त्र के ग्रन्थ मनुस्मृति में वर्णाश्रम धर्म और कर्म पर विस्तार से विवेचन किया गया है। उसके अनुसार –

> **अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।**
> **दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।।** (मनुस्मृति 1.88)

ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया है कि वह विभिन्न वर्गों के सामाजिक व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करे। शिक्षा का विषय हो सदाचार पूर्ण जीवन पद्धति का उपदेश। शिक्षक का धर्म है समाज के सभी वर्गों– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को आदर्श जीवनपद्धति का उपदेश प्रदान करे। ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया कि वह सृष्टि के समुचित संचालन के लिए यज्ञकर्म का विधिवत सम्पादन करे और समाज में निवास करने वाले व्यक्तियों को यज्ञानुष्ठान की प्रेरणा दें, उनसे यज्ञकर्म सम्पन्न कराए। स्वाध्याय में निरत रहते हुए अध्यापन करना और यज्ञकर्म सम्पादन करने के साथ ब्राह्मण को समाज में लोककल्याण के लिए दान देने तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप दान लेने का भी अधिकार होता है। इन षट् कर्मों को प्रमुख रूप से ब्राह्मण के लिए निर्धारित कर सामाजिक प्राणियों में आन्तरिक अनुशासन की प्रतिष्ठा करने के साथ प्रकृति में उनकी रक्षा के विधान को भी सुनिश्चित करने का दायित्व ब्राह्मण वृत्ति के अनुपालक निभाते आ रहे हैं।

2. क्षत्रिय के कर्म

वर्णव्यवस्था के अनुरूप क्षत्रिय वर्ग के लिए श्रीमदभगवद्गीता में निम्न कर्मों का निर्धारण करते हैं योगेश्वर श्रीकृष्ण–

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। (गीता 18.43)

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध से न भागना, दान देना, स्वामिभाव, ये सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं। शौर्य आत्मा का गुण है। उसका शरीर से सम्बन्ध नहीं होता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी आवश्यकता होती है, सफलता प्राप्ति के लिए। तेज है व्यक्ति के अन्दर विद्यमान स्वाभाविक गुण जिससे वह समाज में अपना विशिष्ट स्थान बनाता है। तेजस्वी व्यक्ति न अन्याय को सहता है और न अन्याय होने देता। विपरीत आचरण का प्रखर विरोध कर नीति की स्थापना उसका स्वभाव होता है। धैर्य की आवश्यकता व परीक्षा मनुष्य के मनोनुकूल परिस्थिति के न उपस्थित होने पर होती है। विपरीत परिस्थिति के उपस्थित होने पर धैर्य ही व्यक्ति को बल प्रदान करता है। उपस्थित अवसर या परिस्थिति के अनुसार कार्यसिद्धि हेतु नीतिपूर्ण विधि से कार्यशैली में किया गया परिवर्तन दक्षता या चतुरता का परिचायक है। जीवन के संघर्ष से न भागना व्यक्ति के सर्वविध कल्याण का कारक होता है। युद्ध में शत्रु का शमन क्षत्रिय का धर्म है। प्राणहानि के भय से उससे पलायन सम्भव ही नहीं। दान देना और परमपिता परमेश्वर के प्रति श्रद्धावान् होकर समर्पित होना क्षत्रिय के अनिवार्य धर्म है।

इसी तथ्य को मनुस्मृति में महात्मा मनु ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है –

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। (मनुस्मृति 1.89)

सैन्यबल देश की सीमाओं के साथ आन्तरिक व्यवस्था का जैसे वर्तमान में नियामक है वैसे ही समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से अन्तरिक और बाह्य उभयविध सुरक्षा प्रदान करना क्षत्रियों का कर्म निर्धारित किया गया है। सामाजिक प्राणियों की रक्षा के लिए सामर्थ्य के अनुरूप दान देना, शास्त्रों का अध्ययन करना, सृष्टि के कल्याणार्थ यज्ञ करना, सांसारिक विषयों में जरूरत से ज्यादा आसक्त न होना इत्यादि क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म निर्धारि किए गए हैं।

3. वैश्य कर्म–

चारों वर्णों की समान उन्नति का दायित्व समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय के साथ वैश्य वर्ग के सदस्यों पर भी रहा–

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।(गीता 18.44)

खेती करना, गोपालन, क्रय–विक्रय करना और सत्य व्यवहार करना इत्यादि वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। सम्पूर्ण कृषि कर्म वैश्यों के अधीन रहा।

पशूनां रक्षणं दानामिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। (मनु.स्मृति 1.90)

पशुओं की रक्षा करना, अध्ययन करना, यज्ञ करना, दान देना, व्यापार करना, ब्याज लेना, कृषि करना इत्यादि वैश्यों के स्वाभाविक कर्म थे।

4. शूद्र कर्म–

सेवाकर्म के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण का वचन है–

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।। (गीता 18.44)

सत्य बोलना, सेवा करना सभी वर्णों का ध्यान रखना ये शूद्रों के स्वाभाविक कर्म थे। यज्ञकर्म, रक्षाकर्म और कृषिकर्म से जुड़े समस्त उपकरणों या संसाधनों को उपलब्ध कराना भी इनका समान दायित्व रहा। दूसरे शब्दों में कहें तो समस्त कारुकर्म इस वर्ग के अधीन रहा। कलाओं की प्रतिष्ठा का आधार इनको माना जाता था।

यज्ञ का विधिवत सम्पादन एक सामाजिक कार्य माना गया। इसमें समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों का समान सहयोग होता था। ब्राह्मण यदि मन्त्रपाठ और आहुति प्रदान करने के लिए अपेक्षित थे तो यज्ञशाला के निर्माण के लिए और यज्ञवेदिका के निर्माण के लिए अपेक्षित सामग्री की उपलब्धता का दायित्व अन्य वर्गों पर होता था। इसी प्रकार कृषि कर्म के लिए यदि हल का निर्माण नहीं होगा तो कृषिकर्म सम्भव ही नहीं होगा। शस्त्र का निर्माण नहीं होगा तो युद्ध से देश की रक्षा और आन्तरिक विप्लव से समाज की रक्षा सम्भव नहीं। वाहन का निर्माण नहीं होगा तो दूर देश गमन पूर्वक व्यापार सम्भव नहीं। इस प्रकार समाज के प्रत्येक वर्ग अपने दायित्वों के निर्वहण पूर्वक देश की उन्नति में समान सहयोग प्रदान करते रहे। इन सबका सहायक बनता है शूद्र वर्ग अपनी कलात्मक गुणवत्ता के आधार पर। कलाओं का यदि संरक्षण इस देश में हुआ तो उसका श्रेय इन्हें जाता है।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।। (मनुस्मृति 1.91)

तीनों वर्णों के अपने अपने कार्यों के सम्पादन के लिए अपेक्षित संसाधनों को उपलब्ध कराकर सेवा करते हुए, अध्ययन, दान, यज्ञकार्य में सहयोग प्रदान करते हुए, शूद्रों द्वारा अपने स्वाभाविक कर्म का सम्पादन किया जाता रहा है।

'एकमेव' शब्द का कारिका में प्रयोग किया जाना अपने स्वाभाविक कर्म के प्रति प्रधानता का द्योतक है न कि अन्य कर्मों का निषेध। क्योंकि इसमें अन्य कर्मों का भी विधान होता है। कहा भी गया है – **एकमेवेति प्राधान्यप्रदर्शनार्थं दानादेरपि तस्य विहितत्त्वात्।**

इन सभी कर्मों के सम्पादन द्वारा समाजिक व्यक्ति वर्ण व्यवस्था के अनुसार व्यवहार करता दिखाई देता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कर्म करता था, और जिस कोटि का कर्म करता था, वह उस वर्ग के लिए निर्धारित वर्ण में उपस्थित माना जाता था।

मनुस्मृति में कहा गया है 'गाधिजाः' अर्थात् विश्वामित्र अपने कर्म के बल पर ब्राह्मणत्त्व को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार से परम्परा में अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार अपना वर्ण समाज में सुनिश्चित कर लेता है। कहा भी गया है मनुस्मृति में –

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः।। मनु. 7.42

विनय के कारण पृथु और मनु ने राज्य, कुबेर ने धन, ऐश्वर्य और विश्वामित्र ने (क्षत्रिय होकर भी) ब्राह्मणत्त्व को प्राप्त किया।

श्रीमद्भागवत महापुराण के अनुसार पृथु के पिता का नाम था वेन। वे अत्यन्त अधर्मी थे। सम्पूर्ण सात्विक कर्मों को बाधित कर देने के कारण उनका ऋषियों ने वध किया और उनके ही शरीर को मथ कर पृथु का निर्माण किया। पिता के स्वभाव के विपरीत पृथु अत्यन्त धार्मिक और कर्मनिष्ठ थे और आज पृथ्वी उन्हीं के नाम से जानी जाती है। मनु ने शासन प्राप्त किया अपने विनयी स्वभाव के आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त करते हुए।

प्रत्येक वर्ण के शास्त्रविहित कर्त्तव्यों का सर्वोच्च संरक्षक राजा होता है –

स्वे–स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रणामां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता।। मनुस्मृति 7.35

अपने–अपने धर्म में संलग्न सभी वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने वाले राजा को ब्रह्माजी ने बनाया है। चारों वर्णों में प्रमुख रूप से 'यज्ञ, दान एवं अध्ययन (तप)' का उल्लेख किया गया है उसके साथ–साथ 'अध्यापन, रक्षण, कृषि, सेवा इत्यादि अन्य कर्मों का विधान शास्त्रों में किया गया है।

3.3.2 अध्ययन कर्म

उपनिषद् ग्रन्थों में कहा गया है– '**सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यं, धर्मान्न प्रमदितव्यं, कुशलान्न प्रमदितव्यं**– इत्यादि उपदेशात्मक वचन (तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली 1.11)। ऋषि दीक्षान्त उपदेश के माध्यम से अपने शिष्य को निर्देश देते हैं कि– सत्य बोलें, धर्म का पालन करें, स्वाध्याय– अपने निर्धारित कर्तव्य कर्म से विचलित न हों, सत्य के आचरण में प्रमाद न करें, धर्म के आचरण में आलस्य न करें, और समाज की कुशलता हेतु समर्पित रहें, उसमें प्रमाद नही करना चाहिए।

यद्यपि शिक्षा– अध्ययन, अध्यापन सम्पूर्ण जीवन का अंग है, इसको जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। यह तभी सम्भव है जब अध्ययन के महत्वपूर्ण समय– ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति स्वस्थ रह कर उसके नियमों का पूर्णतः अनुपालन करे। ब्रह्मचर्य की आयु है जीवन का प्रथम चतुर्थांश अर्थात् 25 वर्ष तक। जीवन की इस अवस्था तक विद्यार्थी को निर्धारित जीवन शैली का पालन करते हुए विद्यार्जन करना चाहिए, तत्पश्चात् गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके समाज की सेवा में निरत होना चाहिए। इस कम से ब्रह्मचर्य में अर्जित विद्या का गृहस्थाश्रम में प्रवचन कर समाज के कल्याण में व्यक्ति समर्पित हो सकता है। शास्त्रों में कहा गया है– सृष्टि की सम्पूर्ण शाश्वत व्यवस्था का नियामक तत्त्व ऋत और जीवन की वास्तविकता का परिचायक सत्य दोनों का सम्यक् अनुपालन समाज के प्रत्येक व्यक्ति को स्वाध्याय और प्रवचन के माध्यम से करना चाहिए–

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।

3.3.3 तपः कर्म

श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तिम अध्याय 18वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण से अर्जुन कहते हैं–

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।। गीता. 18.1।।

हे महाबाहो! हे हृषीकेश मुझे त्यागपूर्वक संन्यास तत्त्व को पृथक् रूप से बतलाने की कृपा कीजिए। संन्यास की अवस्था में साधक सम्पूर्ण सांसारिक मोहमाया का सर्वथा परित्याग कर देता है। संन्यास में त्याग ही प्रधान होता है। ऐसी स्थिति में संन्यासी सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की कामना से विचार कर प्रवृत्त होता है। उसमें उसका स्वार्थ विगलित हो जाता है।

अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे।। गीता. 18.2,3।।

कितने ही पण्डितजन काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचार कुशल पुरुष सभी कर्मों के फल के त्याग को 'त्याग' या त्यागमूलक संन्यास कहते हैं।

कई विद्वान् 'कर्ममात्र को दोषयुक्त' मानते हुए सभी प्रकार के कर्मों के परित्याग पर बल देते हैं परन्तु कुछ विद्वान् 'यज्ञ, दान एवं तप रूपी कर्म' को संन्यास की त्यागपूर्ण अवस्था में भी सर्वथा त्यागने योग्य नहीं मानते।

त्याग कर्म को भी सत्व, रजस्, तमस् के भेद से तीन प्रकार का बतलाया गया है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तमः।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।। गीता. 18.4।।

हे पुरुष श्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि, त्याग सात्विक, राजस एवं तामस के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है।

यज्ञ, दान और तप इन कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, बल्कि वे तो अवश्य करणीय हैं, क्योंकि 'यज्ञ, दान और तप' ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले होते हैं–

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।। गीता 18.5–10

इसलिए, हे पार्थ! इन 'यज्ञ, दान और तप' रूपी कर्मों को तथा और भी अन्य सभी कर्तव्य कर्मों को आसक्ति और फलों का त्याग करके अवश्य करना चाहिए। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। निषिद्ध और काम्य कर्मों का तो स्वरूप से त्याग करना उचित है, परन्तु नियत कर्म का स्वरूप से त्याग करना उचित नहीं है। इसलिए मोह के कारण उसका त्याग कर देना **'तामस त्याग'** कहा गया है।

जो कुछ कर्म है वह सब दुःख रूप ही है ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेश के भय से कर्तव्य कर्मों का त्याग कर दे, तो वह **'राजस त्याग'** करके त्याग के फल को किसी प्रकार भी नहीं पा सकता है।

हे अर्जुन! जो व्यक्ति शास्त्रविहित कर्म के सम्पादन को अपना कर्तव्य समझ कर पूरा करता है और इसी भाव से आसक्ति और फल का त्याग करके उनको सम्पादित करता है उसका यह त्याग **'सात्विक त्याग'** माना गया है।

जो मनुष्य अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता वह शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरूष संशयरहित बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है।

परमात्मा ने संकल्परूपी तप के माध्यम से हिरण्यगर्भ पुरुष को उत्पन्न करके उसके अंगों और उपांगों का निर्माण कर उसको मूर्त रूप दिया। इस प्रकार परम पिता परमेश्वर ने संकल्प रूपी तप के माध्यम से सृष्टि की रचना की–

'तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं भिरभिघत' (ऐतेरेयोपनिषद् 1.1.4)

महर्षि पत_जलि ने योगसूत्र में तप को क्रियायोग कहा है–

'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (योगसूत्र 2.1)

अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो शारीरिक या मानसिक परिश्रमजन्य कष्ट प्राप्त हो उसे सहर्ष सहन करना, इसका नाम तप है। किसी पर्व या अनुष्ठान विशेष को लक्ष्य कर किए गए व्रत, उपवास इत्यादि इसी में ग्रहण हो जाते हैं।

निष्काम भाव से तप करने से मनुष्य का अन्तःकरण अनायास ही शुद्ध हो जाता है।

यदि समग्रता में कहा जाय तो 5 यम और 5 नियम का पालन ही मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा तप है। महार्षि पतंजलि ने योगदर्शन में पांच यमों का उल्लेख करते हुए कहा है – **'अंहिसा–सत्य–अस्तेय–ब्रह्मचर्य–अपरिग्रहाः यमाः'** (योगसूत्र 2.30)

1. **अंहिसा**– मन, वाणी और शरीर से किसी प्राणी को कभी भी किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी दुःख न देना एवं दूसरे के दोषों के दर्शन का सर्वथा त्याग, अंहिसा है।

2. **सत्य**– इन्द्रिय और मन से प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर या अनुमान करके जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा का वैसा ही भाव प्रकट करने के लिए प्रिय और हितकर तथा दूसरे को उद्वेग उत्पन्न न करने वाले जो वचन बोले जाते हैं, उसका नाम 'सत्य' है। इसी प्रकार कपट और छलरहित व्यवहार का नाम सत्यव्यवहार समझना चाहिए।

3. अस्तेय– दूसरे के स्वत्व का अपहरण करना, छल से या अन्य किसी उपाय से अन्यायपूर्वक उसको अपना बना लेना 'स्तेय' (चोरी) है। ऐसा न करना 'अस्तेय' है।

4. ब्रह्मचर्य– मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सभी अवस्थाओं में सदा त्याग करके सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' है।

5. अपरिग्रह– अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति और भोग सामग्री का संचय करना 'परिग्रह' है इसके अभाव का नाम 'अपरिग्रह' है।

शौच–सन्तोष–तपः–स्वाध्याय–ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योगसूत्र 2.32)

कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के माने गए हैं। इनका स्वरूप है –

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। गीता 17.14–16।।

देवता, ब्राह्मण, गुरु, माता–पिता और ज्ञानी जनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा इत्यादि को शरीरिक तप कहा जाता है।

जो उद्वेग न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद शास्त्रों का पठन–पाठन एवं परमेश्वर के नाम, जप का अभ्यास है, वही वाचिक (वाणी–सम्बन्धी) तप कहा जाता है।

मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण के भावों की भलीभाँति पवित्रता इत्यादि को ही मानसिक (मन सम्बन्धी) तप कहा जाता है।

तप के इन स्वरूपों में पुनः सात्त्विक, राजसी एवं तामसी प्रवृत्ति होने के कारण तीन भेद हो जाते हैं–

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। गीता. 17.17–19

फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस पूर्वोक्त तीनों प्रकार के तप को सात्त्विक तप कहते हैं।

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए भी स्वभाव से

या पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप, यहाँ राजस कहा गया है।

जो तप मूढ़ता पूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये किया जाता है वह 'तामस तप' कहा जाता है।

3.3.4 दानकर्म

मनुस्मृति में धर्म के चार स्तम्भ बतलाये गये हैं। उन चारों स्तम्भों में एकमात्र 'दान' नामक स्तम्भ कलियुग में विद्यमान है–

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।। मनु. स्मृति

अर्थात् सत्ययुग का परम श्रेष्ठ धर्म तप या तपस्या माना गया है, जिससे मानव अपने सभी श्रेय एवं प्रेय वस्तुओं को प्राप्त कर सकता था। त्रेता मे 'ज्ञान' प्राप्त करना एवं द्वापर में 'यज्ञ' करना परम धर्म मान्य था और कलियुग का श्रेष्ठ धर्म 'दान' को ही कहा गया है।

दान भी प्रवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का होता है–

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।। (गीता. 17.20–22)

दान देना ही कर्त्तव्य है– ऐसे भाव से जो दान, देश तथा काल और पात्र के प्राप्त होने पर उपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है वह दान सात्त्विक कहा गया है।

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में रखकर दिया जाता है वह दान राजस कहा गया है।

जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश काल में और कुपात्र के प्रति दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है–

श्रद्धया देयम्, अश्रद्धयादेयम्, श्रिया देयम्,
ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्। तै.उ. 1.11।।

अपने सामर्थ्य के अनुसार उदारतापूर्वक दान देने में तत्पर रहना चाहिए। जो कुछ भी दान दिया जाए, वह श्रद्धापूर्वक दिया जाए। अश्रद्धापूर्वक दान नहीं देना चाहिए। लज्जापूर्वक देना चाहिए अर्थात् सारा धन भगवान् का है, मैं जो कुछ भी दे रहा हूँ वह भी कम है, इस प्रकार से लज्जापूर्वक दान देना चाहिए।

उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दिया हुआ स्वीकार कर रहे हैं। यह विचारकर भगवान् से

भय मानते हुए दान देना चाहिए। हम किसी का उपकार कर रहे हैं, ऐसी भावना मन में लाकर अभिमान या अविनय नहीं प्रकट करना चाहिए। परन्तु जो कुछ दिया जाय– वह विवेकपूर्वक उसके परिणामों को समझकर निष्काम भाव से कर्त्तव्य समझकर देना चाहिए। इस प्रकार दिया हुआ दान ही भगवान् की प्रीति का कल्याण का साधन हो सकता है। वही अक्षय फल देने वाला है।

3.3.5 यज्ञकर्म

यज् धातु से नङ् प्रत्यय होकर यज्ञ शब्द की निष्पत्ति हुई है। इसकी व्युत्पत्ति है– **इज्यते हविर्दीयते अत्र, इज्यन्ते देवता अत्र वा इति यज्ञः** – जिसमें देवताओं के निमित्त हविष्य की आहुति दी जाती है उसको यज्ञ कहते हैं। देवता जिसमें प्रसन्न होते हैं उसको यज्ञ कहते हैं। दूसरे शब्दों में – **देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः द्रव्यः** (पूर्वमीमांसा)– देवता को लक्ष्य करके यज्ञाग्नि में प्रदान की गयी आहुति यज्ञ कही जाती है। **द्रव्यं देवता त्यागः यज्ञः** (कात्यायन श्रौतसूत्र 1.2.2)। श्रुति या वेदविहित संहिता व ब्राह्मण भागों द्वारा जिन यज्ञों का विधान किया जाता है उनको श्रौतयज्ञ कहते हैं। जिनका विधान गृह्यसूत्रों व धर्मसूत्रों में मिलता है उनको स्मार्तयज्ञ कहते हैं। गृह्यसूत्रग्रन्थों में प्रधान रूप से संस्कार और गृहस्थ सम्बन्धी कर्मों का विधान है। धर्मसूत्रग्रन्थों में मानव समाज का विभाग पूर्वक विभिन्न कर्तव्यकर्मों को विधान किया जाता है। इनका साक्षात् श्रुति में उल्लेख न होने और इनका स्मरण कर ऋषियों द्वारा विधान करने के कारण इनको स्मार्त कहा जाता है। श्रुति और स्मृति में विरोध में श्रुति का प्रामाण्य माना जाता है।

यज्ञ शब्द के 'याग, अध्वर, मख, क्रतु' इत्यादि पर्यायवाची शब्द परम्परा में प्रयुक्त होते हैं–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।

श्रोत्रादीनि–इन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोग्राग्रौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सवेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। (गीता 4.24–30)

जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म हैं, और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म हैं तथा ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देने रूपी क्रिया भी ब्रह्म है, उस ब्रह्म कर्म में स्थित रहने वाले यागों द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही हैं।

एक प्रकार के योगीजन देवताओं के पूजन रूप यज्ञ का ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं, और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में अभेद दर्शन रूप यज्ञ के द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं।

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को संयमरूपी अग्नियों में एवं दूसरे लोग शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नियों में हवन किया करते हैं।

कुछ योगीजन इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं को और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयम योग रूपी अग्नि में हवन किया करते हैं।

कई पुरुष द्रव्य सम्बन्धी यज्ञ करने वाले है। कितने ही तपस्यारूपी यज्ञ करने वाले हैं, तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करने वाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष, स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ करने वाले हैं।

दूसरे कितने ही योगीजन अपान वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायु में अपानवायु का हवन करते हैं, तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणों को प्राणों में हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले होते हैं।

द्रव्यमय की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं–

श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञांज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। गीता. 4.33

हे परन्तप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, तथा सम्पूर्ण कर्म, ज्ञान में को प्राप्त करते हैं।

यज्ञों की प्रवृत्ति के अनुसार 'सात्त्विक, राजस, एवं तामस' भेद माने जाते हैं –

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।। (गीता. 17.11–13)

जो शास्त्रविधि से नियत, यज्ञ, करना ही अपना कर्त्तव्य मानता है, और इस प्रकार अपने मन का समाधान करके, निष्काम भाव से यज्ञादि क्रियाओं का निष्पादन करता है, वह सात्त्विक यज्ञ कहलाता है। परन्तु हे अर्जुन! केवल दम्भाचरण के लिये अथवा फल को भी दृष्टि में रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को तुम राजस यज्ञ समझो। शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मन्त्रों के एवं बिना दक्षिणा के,

बिना श्रद्धा के किये जाने वाले यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं।

यदि तप, दान, यज्ञ को श्रद्धापूर्वक किया जाए तो उसे 'सत्कर्म' कहते हैं–

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।। (गीता 17.27)

यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार से सद्यज्ञ, सत्तप, सद्दान कहे जाते हैं और उस परमात्मा के लिए किया हुआ कर्म निश्चय ही 'सत्कर्म' कहा जाता है।

यज्ञ, दान, तप अश्रद्धापूर्वक किया जाता है तो उसे 'असत्' कहा जाता है–

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ! न च तत्प्रेत्य नो इह।। (गीता 17.28)

हे पार्थ! श्रद्धा के विना यज्ञ, दान या तप के रूप में साधक द्वारा जो भी कर्म किया जाता है उसको असत् यज्ञ, दान और तप कहते हैं। ऐसा अश्रद्धापूर्वक किया गया कर्म इस जन्म तो व्यर्थ सिद्ध होता है अगले जन्म में भी उसकी व्यर्थता सिद्ध होती है।

यज्ञकर्म के भेद– यज्ञ कर्म के याजक की भावना के अनुरूप तीन भेद माने जाते हैं 1. नित्यकर्म – नित्य कर्म वे हैं जिनका प्रतिदिन सम्पादन करना चाहिए। 2. नैमित्तिक कर्म– अतिवृष्टि आदि किसी निमित्त विशेष के शमन हेतु सम्पादित किए जाने वाले कर्म। 3. काम्य कर्म – यशःप्राप्ति आदि किसी कामना की पूर्ति के लिए किए जाने वाले कर्म।

3.4 फलैक्य

समस्त कर्मों का फल है निःश्रेयस की सिद्धि। भारतीय परम्परा में सात्विक वृत्ति से किया गया कर्म उत्कृष्ट परिणाम की प्राप्ति कराता है। वह कर्म किसी देश, स्थान और व्यक्ति का भेद नहीं करता। ईश्वर सभी प्राणियों में समान रूप से विराजमान है। उसकी प्रेरणा से पूर्वजन्म के कर्मो फलोन्मुखी परिणाम है कर्मानुष्ठान।

पुरुषार्थ की सिद्धि मनुष्य के अधीन है। उसके परिणाम पर प्रारब्ध का यत्किंचित् प्रभाव पड़ता है। परन्तु पुरुषार्थ का यथाविधि निष्ठापूर्वक सेवन प्रारब्ध की गति भी बदल सकता है। कर्माधीन मनुष्य के द्वारा समर्पण भाव से किया गया अपना कर्तव्य कर्म उत्तम फलदायक होता है। सभी तरफ से उत्तम विचारों का ग्रहण और तदनुसार अपने कर्तव्य कर्म का समर्पण पूर्वक सम्पादन व्यक्ति के जीवन को सफल बनाता है। कर्म में भेद हो सकता है परन्तु कर्मफल में नहीं। ऐसा नहीं है कि यज्ञकर्ता को उत्तम परिणाम मिलता है और रक्षा करने वाले को निम्न। व्यापार करने वाले का परिणाम श्रेष्ठ होता है और सेवा करने वाले का न्यून। भारतीय परम्परा में सभी के समान कल्याण की कामना की गयी है। तुरीय पुरुषार्थ की सिद्धि में किसी एक का अधिकार नहीं। सभी का समान अधिकार है। ईश्वर परिणाम में भेद नहीं करता। भेद करते हैं व्यक्ति के कर्म और उनके सम्पादन की विधि। विशेषकर उन कर्मों के सम्पादन में निहित भावना महत्व रखती है। इसीलिए भारतीय परम्परा में ज्ञान के साथ कर्म और उसके साथ भक्ति को जोड़ा जाता है। भक्ति में निहित है प्रपत्तियोग। इसके अनुपालन से साधक समस्त अहंकार का परित्याग करके ईश्वर के प्रति समर्पित होकर शरणागत होकर निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्य कर्म का सम्पादन करता है और सफल होता है।

मनुस्मृति में माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र पैदा होता है। संस्कार से उसमें द्विजता आती है – **जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।।** 2.155।।

शास्त्रकारों में मत में सदाचार का सेवन व सत्कर्मों का सम्पादन करने से शूद्र भी द्विज, और दुराचार एवं निषिद्ध कर्मों को करने से द्विज भी शूद्र बन जाता है –

> **शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्रह्मणो भवेत्।**
> **ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरों भवेत्** ।। महाभारत वनपर्व, 180।।

वैष्णवतन्त्र में कहा गया है कि जैसे कांसे पर रस का प्रयोग करने से वह सोना हो जाता है वैसे ही दीक्षा के द्वारा प्रत्येक मनुष्य द्विजत्व को प्राप्त हो जाता है –

> **यथा कांचनतां याति कांस्यं रसविधानतः।**
> **तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्** ।।

स्कन्दपुराण के अनुसार समाज में रहने वाला सामान्य से सामान्य व्यक्ति ही क्यों न हो, बड़े से बड़ा पापकर्मा ही क्यों न हो, शिवदीक्षा से युक्त होकर भक्तिपूर्वक यदि एक पुष्प शिवजी पर षडक्षर मन्त्र के जप पूर्वक अर्पित करता है तो वह उस परम गति को प्राप्त होता है जिस गति को विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले प्राप्त होते हैं –

> **शूद्रो वा यदि वा विप्रो म्लेच्छो वा पापकृन्नरः ।**
> **शिवदीक्षा समोपेतः पुष्पमेकं तु यो न्यसेत्** ।।

> **षडक्षरेण मन्त्रेण लिंगस्योपरि भक्तितः**
> **स तां गतिमवाप्नोति यां यान्तीह हि यज्विनः।।**

इसीलिए भारतीय परम्परा में सभी के कल्याण की कामना की गयी है। इस कामना में मनुष्य मात्र ही नहीं अपितु सम्पूर्ण चराचरात्मिका प्रकृति के सर्वविध रक्षण और उन्नयन की भावना सन्निहित है। कहा गया है –

> सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

> सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
> सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ।। कालिदास विक्रमोर्वशीयम् 5.25।।

सभी कठिन से कठिन परिस्थितियों से निकलकर सफलतापूर्वक लक्ष्य तक पहुँचें। सभी का समान रूप से कल्याण हो। सभी की कामनाएँ या इच्छाएँ पूर्ण हों और सभी सर्वत्र प्रसन्न रहें ।

3.5 सारांश

संसार में प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। कर्म की गति अबाध है। कर्म ही संसार के सभी पदार्थों के सर्ग, स्थिति और प्रलय का आधार है। पूर्व जन्म में किए गए संचित कर्मो का परिणाम है वर्तमान जन्म और वर्तमान जन्म में किए गए कर्मो परिपाक माना जाता है भावी जीवन को। अतः कर्मबन्धन से मुक्ति ही जन्म और मृत्यु के शाश्वत चक्र से मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है।

लोकव्यहार की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्य कर्म का निर्धारण है। उसका सर्वोत्तम विधि से निष्ठापूर्वक समर्पण भाव से सम्पादन सर्वथा कल्याण का साधक माना गया है। पुरुषार्थों में धर्म पूर्वक अर्थ और काम की सिद्धि तुरीय पुरुषार्थ मोक्ष की साधक होती है। समाज को कर्मों के आधार पर निर्धारित होने वाली उनकी प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए चार वर्गो में बाटा गया है– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। दार्शनिक सम्प्रदायों में ज्ञानयोग और कर्मयोग पर विचार किया जाता है। भक्ति ईश्वरार्पण बुद्धि से किए गए कर्म से सिद्ध होती है।

शास्त्रविहित कर्मो में तप, ज्ञान, यज्ञ और दान को प्रधान माना गया है। चारों युगों के अनुसार इनकी प्रधानता क्रमशः मानी गयी है। यज्ञकर्म भी नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से विभक्त है। अनेक प्रकार के कर्मो के होने पर भी सभी का एक ही लक्ष्य है मुक्ति की सिद्धि। अतः फलैक्य की दृष्टि से विचार करने पर भेद उपस्थित नहीं होता। फल में भेद में कारण बनता है जीव या साधक का अपनी भावना के अनुरूप कर्म के सम्पादन का प्रकार। प्रत्येक साधक स्वतन्त्र है अपने कर्तव्य कर्म के सम्पादन में। प्रारब्ध या भाग्य को दोषी मान कर निराशा ग्रस्त होना सच्चे साधक का लक्षण नहीं है। कर्मप्रधान विश्व को मान कर अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप सर्वोत्तम परिणाम देने का प्रयास करना चाहिए।

3.6 शब्दसूची

उपनिषद् – उप और नि उपसर्ग पूर्वक सद्लृ धातु से क्विप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न उपनिषद् शब्द का अर्थ है गुरु के समीप बैठ कर अर्जित किया हुआ ज्ञान।

सांख्ययोग – प्रकृति के उपादान कारण सत्व, रजस् एवं तमस् त्रिगुण ही सभी कार्यों का सम्पादन करते हैं इस प्रकार जानकर कर्तापन के अभिमान से रहित होना सांख्ययोग है। इसको ज्ञानयोग भी कहते हैं।

कर्मयोग – फलासक्ति रहित होकर स्वयं कर्तव्यकर्म का पालन कर्मयोग है। इसको मदर्थ कर्म या मत्कर्म के नाम से भी जाना जाता है।

सात्विक – सत्व शब्द से प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है सात्विक शब्द। इसका अर्थ है सत्व गुणों से उत्पन्न होने वाला।

राजस – रजस् शब्द से अण् प्रत्यय के योग से राजस शब्द बनता है। इसका अर्थ है रजो गुण से उत्पन्न होने वाला कर्म।

तामस – तमस् शब्द से अण् प्रत्यय का विधान करने पर तामस शब्द बनता है। इसका अर्थ है तमोगुण से उत्पन्न होने वाला कर्मविशेष।

कायिक – काय शब्द से ठक् प्रत्यय के योग से निष्पन्न कायिक का अर्थ है शरीर या काया से सम्पादित या निष्पन्न होने वाला कर्म।

वाचिक – वाक् शब्द से ठक् प्रत्यय के योग से निष्पन्न वाचिक का अर्थ है वाणी से सम्पादित कर्म ।

मानसिक – मानस शब्द से प्रत्यय होकर निष्पन्न मानसिक शब्द का अर्थ है मन से निष्पन्न होने वाले कर्म।

अहिंसा – मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी को कभी भी किसी प्रकार का दुःख न देना और दूसरें के दोषों का सर्वथा त्याग हैं अहिंसा।

अपरिग्रह – धन, सम्पत्ति तथा भोग्य वस्तुओं का जरूरत से ज्यादा संचय न करना ही है अपरिग्रह।

3.7 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. सांख्ययोग क्या है?
2. सर्वश्रेष्ठ प्राणी कौन है?
3. वर्णानुसार कर्मों को सुस्पष्ट कीजिए?
4. अध्ययन कर्मविषयक अवधारणा का निरूपण कीजिए?
5. प्रवृत्ति के अनुसार यज्ञ के भेदों का उल्लेख कीजिए?
6. 'तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' सूत्र की व्याख्या कीजिए।
7. शारीरिक तप क्या है?
8. सात्त्विक ज्ञानविषयक अवधारणा को सुस्पष्ट कीजिए।
9. त्रिविध तापों का निरूपण कीजिए।
10. शास्त्रविहित कर्मों की व्याख्या कीजिए।

3.8 ग्रन्थसूची

- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पं. श्रीकृष्णवल्लभाचार्य, चौखम्भा संस्कृत संस्थान।
- योगसूत्र, महर्षि पतंजलि, दर्शन हिन्दी व्याख्या सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- श्रीमद्भागवद्गीता, शांकरभाष्य तथा हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- मनुस्मृति, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- तैत्तिरीयोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर

इकाई 4 कर्म सम्बन्धी दृष्टान्त

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

भारतीय परम्परा में कर्म सम्बन्धी दृष्टान्त विषयक इस इकाई के अध्ययन से विद्यार्थी निम्न विषयों से परिचित होंगे–

- भारतीय परम्परा में कर्म क्या है एवं प्रत्येक मनुष्य को कर्म क्यों करना चाहिए?
- भारतीय दर्शन में कर्म की उत्पत्ति विषयक अवधारणा का आधार क्या है?

- कर्मविषयक श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण का उपदेश।
- सकाम कर्म विषयक सिद्धान्त एवं सकाम कर्म में फल की सम्भावना।
- निष्काम कर्म विषयक सुनिश्चित अवधारणा ।
- निष्काम कर्म में कर्तृत्व की निरभिमानता।
- निष्काम कर्म में फल प्राप्ति की सम्भावना।
- कर्म के विषय में दार्शनिको के विभिन्न अभिमत ।
- कर्म के विभिन्न प्रकार–काम्यकर्म, निषिद्धकर्म, नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म, प्रायश्चित्तकर्म, उपासनाकर्म।
- पुनर्जन्म के नियामक – सचितकर्म, प्रारब्धकर्म, क्रियमाणकर्म के विषय में सुनिश्चित अवधारणा।
- जीवन्मुक्त साधक का स्वरूप।
- विदेहमुक्त साधक का स्वरूप।

4.1 प्रस्तावना

परब्रह्म की शक्ति स्वरूपिणी माया शक्ति के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आने वाले चराचरात्मक विश्व में मनुष्य जीवन कर्म के बिना एक पल भी सम्भव नही हैं। प्रत्येक प्राणी प्रतिक्षण कोई न कोई क्रिया करता ही रहता है, वह कुछ भी हो सकती है। उसके अनेक प्रकार होते हैं। उनको सम्पादित करने से ही मनुष्य या प्राणिवर्ग का अस्तित्व सम्भव है। कर्म हमारे विकास का आधार है। शरीर रक्षा का साधन। जीवन के साध्य रूपी चारों मूल्यों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का मूल कारण है। ऐसी स्थिति में कर्म विषयक अवधारणा से परिचित होना अनिवार्य है और उसके सम्पादन और प्रकार की विधियों को भी प्रत्येक विवेकशील मनुष्य को परिचित होना चाहिए।

'कृ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय के योग से होकर 'कर्म' शब्द निष्पन्न होता है। इसकी निरुक्ति है– 'यत् क्रियते तत् 'कर्म'– अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए मनुष्य के द्वारा जिसको सम्पादित किया जाता है उसको कर्म कहते हैं।

भारतीय आगम परम्परा में तथा अन्य संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थों में कर्मवाद अत्यन्त मौलिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। कर्मवाद का साक्षात् सम्बन्ध मृत्यु के उपरान्त जीव के पुनर्जन्म के निर्धारण तथा कर्म के संस्कार रूप से उपस्थित रहने के जिए आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों– सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा–वेदान्त इत्यादि दार्शनिक सम्प्रदायों तथा शाक्त, वैष्णव, शैव, गाणपत्य आदि तन्त्रों में इनके प्रवर्तकों ने कर्मवाद स्वीकार किया है, क्योंकि वे आत्मा को अजर एवं अमर मानते हैं। आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन मतावलम्बी आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करते परन्तु वे कर्मवाद के मनुष्य के वैविध्य के नियामक सिद्धान्त को मानते हैं।

वेदों का सारभूत तत्त्व है उपनिषद् एवं उपनिषदों का सारभूत तत्त्व है श्रीमद्भगवद्गीता। उसी गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। गीता 3.5

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, क्योंकि सभी मनुष्य प्रकृतिजनित गुणों द्वारा परवश होते हुए कर्म करने के लिए बाध्य किये जाते हैं।

4.2 कर्म की उत्पत्ति

कर्म वेदविहित हैं और वेद हैं साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर की वाणी। इसका निरूपण योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए किया है–

> अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
> यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।
>
> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
> तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। गीता 3.14–15

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि प्राणियों द्वारा ग्रहण किया गया अन्न शरीर में पाचन के उपरान्त रस बनता है, रस ही शरीर में रक्त में परिवर्तित होता है। वही रस अपनी परिणति में स्त्रियों में रज एवं पुरुषों में वीर्य बनता है। यही रज एवं वीर्य सन्तानोत्पत्ति में हेतु बनते हैं।

जहां तक अन्न की उपलब्धता का प्रश्न है योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार अन्न की उत्पत्ति पर्जन्य से होती है। पर्जन्य से तात्पर्य है आकाश से होने वाली जल की वृष्टि, जिसको प्रकृति के यज्ञ के रूप में माना जाता है। जो अनन्त काल से प्रवर्तमान है। पर्जन्य का निर्माण यज्ञों के अनुष्ठान से होता है, और यज्ञ विहित कर्मों के सम्पादन से पूर्ण होता है। यज्ञीय अनुष्ठान मे अग्नि में प्रदत्त औषधियो की आहुति से निर्मित धूम से पर्जन्य की निर्माण होता है। इस यज्ञीय कर्म समुदाय का नियामक है वेद जिसको अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर का निश्वास माना गया है। इस सम्बन्ध में ऋषि अन्यत्र कहते हैं–

> यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
> निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थंमहेश्वरम्।। ऋ.भा.भू. 1.2

वैदिक ऋषि मानते हैं कि समस्त विद्याओं के आश्रयभूत उन महेश्वर की हम वन्दना करते हैं, जिनका निःश्वास है वेद। सम्पूर्ण सृष्टि तदनुसार ही बनायी गयी है।

भारतीय परम्परा के अनुसार विवेकपूर्ण कर्मों के सम्पादन का अधिकार प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त है। वह उचित कर्म करता है या अनुचित, इस विषय में उसका पूर्ण स्वातन्त्र्य है। सृष्टि में प्राप्त होने वाले जन्मविषयक वैविध्य से प्रमाणित होता है, या पुनः साक्षात् दृष्ट ही है, कि विहित कर्मों के सम्पादन से मनुष्य को सुख की प्राप्ति होती है एवं अविहित या प्रतिबन्धित कर्मों का अनुष्ठान दुःख का जनक होता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सुख की प्राप्ति की कामना, यदि वह रखता है तो, जीवन में नीतिपूर्ण उचित कर्म करना चाहिए। उसको उन सम्पादित किए जाने वाले कर्मफल की चिन्ता नहीं करना चाहिए। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी तथ्य का प्रकाशन कर्मयोग का उपदेश देने के क्रम में श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार किया है–

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। गीता 2.47।।

कर्मफल के विषय में उपदेश देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि– हे अर्जुन! तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है। उसके फलों की उपलब्धि की इच्छा करने में नहीं। इसलिए कर्मों के फल का हेतु मत हो। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं की कर्म को करने से विरत हो जाए। अतः कर्म न करने (अकर्म) में भी प्रवृत्त नहीं होना है।

इस पद्य से स्पष्ट है कि पूर्ण समर्पण भाव से किया गया कर्म सदा बलवान होता है। उसका फल कर्ता के अधीन नहीं होता। फलप्राप्ति की आकांक्षा रखने वाला व्यक्ति कर्म सम्पादन के प्रति कमजोर सिद्ध होता है। जिसका असर कर्मसम्पादन की विधि पर पड़ता है और कर्म का फल अपेक्षित परिणाम नहीं दे पाता। अतः निष्काम भाव से अपने कर्तव्यकर्म का निर्वहण ज्ञानी लोग यदि करें तो उनको उचित परिणाम की सिद्धि के साथ प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

4.3 कर्म के भेद

पूर्व में कहा गया कि मनुष्य इस संसार में कर्म के बिना जीवित नहीं रह सकता इसलिए कर्म तो अवश्य ही करना है। फल को लेकर उस कर्म में भेद दिखाई देते हैं।

यदि मनुष्य फल की इच्छा को लक्ष्य करके कर्म का विधान करता है तो वह 'सकाम' कर्म कहलाता है। जैसे परीक्षा को उत्तीर्ण करने रूपी फल की इच्छा से अध्ययन करने रूपी कर्म का विधान 'सकाम' कर्म है।

फल की इच्छा किए बिना ही कर्म का सम्पादन 'निष्काम' कर्म कहलाता है। अर्थात् कर्तव्य का पूर्ण तत्परता के साथ सम्पादन का भाव प्रधान होता है 'निष्काम कर्म' में।

महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके द्वारा किए गए कर्म का फल अवश्य मिलता है–

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति।।

जिस प्रकार हजारों गायों के बीच में बछड़ा अपनी माँ को ढूँढ लेता है, उसी प्रकार से हजारों जन्मों पूर्व किये गए कर्मों का फल भी कर्ता को ढूँढ ही लेता है।

4.3.1 सकाम कर्म

सकाम कर्म बन्धन का जनक है। साधक का बन्धन, अर्थात् जन्म–मृत्यु के अनवतर प्रवर्तमान सृष्टि के चक्र में फंसना। प्रत्येक साधक किसी भी कामना या इच्छा से प्रेरित होकर ही शारीरिक, मानसिक या वाचिक कर्म करते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में 'सकाम कर्म' कहते हैं। इसका व्युत्पित्ति लभ्य अर्थ है– 'कामेन सह वर्तते इति सकामम्। सकामम् च तत् कर्म इति सकामकर्म – फल की कामना के साथ कर्म करना ही सकाम कर्म कहलाता है। उदाहरणार्थ तीन प्रकार की एषणाएं मानी जाती हैं– वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन एवं ऐश्वर्य इत्यादि की लोक में निवास करने वाले प्राणियों की उत्कट अभिलाषा। इनकी पूर्ति के लिए किए गए कर्म 'सकाम कर्म' कहलाते हैं। जो प्राणी इन कामनाओं से प्रेरित होकर या वशीभूत होकर कर्म करते हैं वे उनके शुभाशुभ फल भोगते हैं। इस कर्म बन्धन के कारण ही जीव नाना योनियों में भ्रमण करते रहते हैं।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् में ऋषि ने इसी सकाम कर्म को नाना योनियों में भ्रमण करने का

मूल कारण बतलाया गया है–

संकल्पसंस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्पद्यते।। श्वे.उ. 5.11

सङ्कल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह से तथा भोजन जलपान और वर्षा के द्वारा सजीव शरीर की वृद्धि और जन्म होता है यह जीवात्मा भिन्न–भिन्न लोकों में कर्मानुसार मिलने वाले भिन्न–भिन्न शरीरों को अनुक्रम से बार–बार प्राप्त होता रहता है।

ईशावस्योपनिषद् में कर्म को अविद्या कहा गया है।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः।। ईशा.उप. 1.9

जो मनुष्य अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे अज्ञानस्वरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो मनुष्य विद्या (ज्ञान) में रत हैं, अर्थात् ज्ञान के मिथ्याभिमान से मत्त हैं, वे उससे भी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

ईशावस्योपनिषद् ग्रन्थ में सकाम कर्मों का वर्णन भी प्राप्त होता है–

कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे।। ई.उ. 1.2

इस जगत् में शास्त्रों द्वारा निर्धारित कर्मों को करते हुए साधक को कम से कम सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। उपनिषद् के इस मन्त्र में निष्काम कर्म का भी वर्णन प्राप्त होता है। त्यागभाव से किए जाने वाले शास्त्रविहित कर्म और परमेश्वर के लिए किए जाने वाले कर्म, मनुष्य के बन्धन के कारण नहीं होते। इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है जिससे कि मनुष्य कर्म बन्धनों से मुक्त हो सके।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों एवं आचरणों के माध्यम से ही अपने भविष्य का निर्माण करता है।

'यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन। अयो खल्वाहु, काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।। बृ.उ.4.4.5 ।।

मनुष्य वस्तुतः काममय है जैसी उसकी कामना होती है, वैसी उसकी इच्छाशक्ति होती है, और जैसी इच्छाशक्ति होती है, वैसा ही उसका संकल्प होता है, वैसा ही वह कर्म करता है और जैसा कर्म करता है वैसा ही फल उसको कालक्रम से जीवन में सदैव प्राप्त करता है।

मनुष्य जैसे आचरणवाला होता है वैसा ही हो जाता है, शुभकर्म करने वाले शुभ की प्राप्ति करते हैं, और अशुभ कर्म करने वाले अशुभ की प्राप्ति। प्राणी पुण्यकर्म से पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म करने से पापात्मा होता है।

उपनिषदों के अनन्तर मनुस्मृति में वैदिक कर्म एवं लौकिक कर्म, उभयविध प्रत्येक कर्म को सङ्कल्पयुक्त एवं सकाम कहा गया है–

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।।

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः।।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्ततत्कामस्य चेष्टितम्।।

तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते।। मनुस्मृति 2.2–5।।

कर्म–फल की इच्छा करना श्रेष्ठ नहीं, किन्तु इच्छा का अभाव भी नहीं है क्योंकि वेद का ज्ञान एवं वदोक्त कर्म करना भी इच्छा से ही सम्पन्न होता है।

इच्छा सङ्कल्प मूलक है यज्ञ सङ्कल्प से होता है एवं सभी व्रत और यम, नियम इत्यादि का पालन भी सङ्कल्प से ही होता है।

इस संसार में इच्छा के बिना किसी मनुष्य का कोई काम कभी भी नही देखा जाता है मनुष्य जो कुछ भी करता है वह सब इच्छा की चेष्टा है।

शास्त्रोक्त कर्मों का अच्छी प्रकार से सम्पादन करता हुआ मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। ऐसा मनुष्य इस संसार में इच्छानुसार सब कर्मों का फल प्राप्त करता है।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं– हे पार्थ! जो मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है वह व्यर्थ ही जीता है –

एवं प्रवर्तितं चक्र नानुवर्तयतीह यः।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। गीता 3.16।।

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र वे अनुकूल व्यवहार नहीं बरतता, अर्थात् अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता है, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

जो पुरुष आत्मा में ही परमात्मतत्त्व बुद्धि रखता है उसी में रमण करता है उसके लिए कोई कार्य नही है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।। गीता. 3.17

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्त्तव्य नही है। आत्मरमण का तात्पर्य है अपने मात्र में सीमित रहना तथा निष्क्रिय होना।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।। गीता 3.18–20

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका कि_चन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नही रहता है।

इसलिये तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्त्तव्य कर्म को भली–भाँति करता रह, क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रह को देखते हुए भी तू कर्म करने के ही योग्य है अर्थात् प्राणी को कर्म करना ही उचित है।

योगवाशिष्ठ में इन्हीं तथ्यों को महर्षि ने अन्य दृष्टि से प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि ज्ञान एवं कर्म के माध्यम से ही परमपद की प्राप्ति होती है–

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।

तथैव ज्ञानकर्माभ्यां जायते परमं पदम्।। (योगवाः 1.1.7)

जैसे पक्षी दोनों पंखों के सहारे आकाश में उड़ता है, वैसे ही ज्ञान तथा निष्काम कर्म के माध्यम से शब्द एवं परब्रह्म के अनुष्ठान द्वारा साधक परब्रह्म–परमात्मा के पद को प्राप्त कर सकता है।

<u>दैवपौरुषविचाररूभिश्चेदमाचरितमात्मपौरुषम्।</u>

नित्यमेव जयतीति भावितैः कार्यमार्यजनसेवयोधमः।। योगवा 2.6.42

पुरुषार्थ दैव से श्रेष्ठ होता है यह विचारकर सत्संगादि के सहारे मोक्ष प्राप्ति के लिये यथाशक्ति श्रेष्ठ कर्मानुष्ठान (निष्कामकर्म) करना चाहिए।

कठोपनिषद् में अपने पिता उद्दालक द्वारा यमलोक भेजे गए भक्त नचिकेता ने यमलोक में यमराज से कामनाओं से बंध कर कार्य करने और उनसे मुक्त होने के विषय में स्वयं पूछा तो यमराज ने उत्तर देते हुए कहा –

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। कठ.उप. 2.3.14।।

मनुष्य का हृदय नित्य–निरन्तर विभिन्न प्रकार की ऐहलौकिक और पारलौकिक कामनाओं से भरा रहता है, इसी कारण न तो वह कभी यह विचार ही करता है कि परम आनन्द स्वरूप परमेश्वर को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और न काम्यविषयों की आसक्ति के कारण वह परमात्मा को पाने की अभिलाषा ही करता है। ये सारी कामनाएँ साधक पुरुष के हृदय से जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह जो सदा से मरणधर्मा था– सर्वदा के लिये अमर हो जाता है और यहीं इस मनुष्य–शरीर में ही उस परब्रह्म परमेश्वर का भली–भाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है।

कामना रहित होकर किए गए कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। सकाम कर्म बन्धन के कारण बनते हैं। यह तथ्य इस वचन से प्रमाणित होता है।

वेदान्त दर्शन में कर्ममार्ग की अपेक्षा समुचित रूप से ज्ञानमार्ग के अनुपालन की बात कही गयी है। सुरेश्वराचार्य के अनुसार यद्यपि यह प्रमाणित है कि कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और इस लोक में अभ्युदय और निःश्रेयस मिलते हैं। किन्तु, कर्म मोक्ष का साधक नहीं बन सकता हैं। भगवत्पाद शङ्कराचार्य कहते हैं कि कर्म और ज्ञान में महान् अन्तर है। कर्म का फल अभ्युदय और ज्ञान का फल निःश्रेयस है कर्म पुरुष व्यापार तन्त्र है और ज्ञान वस्तु तन्त्र है। कर्म का विषय भव्य है, पर वह ज्ञानकाल में नहीं रहता है। कर्म को अनुष्ठान की अपेक्षा है। ज्ञान अनुष्ठान से निरपेक्ष है। कर्म विकल्पज है और ज्ञान स्वप्रकाश है। कर्म का फल उत्पाद्य, सत्कार्य, आप्य तथा विकार्य है और ज्ञान का फल ऐसा नहीं है–

उत्पाद्यमाप्य सत्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।

नैव मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम्।। नैष्कर्म्यसिद्धि 1.56।।

कर्म और ज्ञान की इस भिन्नता के कारण कर्म से ज्ञान का फल नहीं मिल सकता और कर्म तथा ज्ञान का यहाँ समुच्चय या युगपत् मेल भी नहीं हो सकता। किन्तु कर्म सर्वथा व्यर्थ नहीं जाता है। लोकसंग्रह के लिए कर्म आवश्यक है। व्यावहारिक जीवन में कर्म का मूल्य सबसे अधिक है। परमार्थ में भी वह चित्त शुद्धि के द्वारा ज्ञान में हेतु है। अतः यह पारमार्थिक ज्ञान का कारण है।

गीता के परम साधक अध्येता प्रखर विचारक लोकमान्य तिलक के मत में निष्काम कर्म साक्षात् निःश्रेयसकर है। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्णजी कहते हैं–

त्रैविध्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्टा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान्।। गीता 9.20

तीनों वेदों में विधान किये हुए सकामकर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले, पापरहित पुरुष, मुझको यज्ञों के द्वारा पूजकर स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में दिव्य देवताओं के भोगों को भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशान्ति।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना, गतागतं कामकामा लभन्ते।।

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं इस प्रकार स्वर्ग के साधनरूप तीनों वेदों में कहे हुए, 'सकाम–कर्म' का आश्रय लेनेवाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बार–बार आवागमन को प्राप्त होते हैं। अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आते हैं। कहा भी गया है– क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। पुण्य के प्रभाव के कमजोर होने पर अर्थात् स्वर्ग में निवास करने योग्य पुण्य के प्रभाव के कम हो जाने पर साधक पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेता है।

इस विचार से स्पष्ट है कि सकाम कर्म जन्म और मृत्यु के अनवधि चक्र से मुक्ति दिलाने में समर्थ नहीं है।

4.3.2 निष्काम कर्म

जन्म और मृत्यु के बन्धन का मूल कारण 'कामना' का अभाव होने के कारण इसको 'निष्काम' कर्म कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं– जो भक्त निष्काम भाव से भजन करते हैं मैं स्वयं उनको योगक्षेम प्राप्त करा देता हूँ–

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
>
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। गीता 9.22

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भाव से मुझे भजते हैं, उन नित्य निरन्तर मेरा चिन्तन करने वाले का योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त करा देता हूँ। गीता में कर्मयोग का तात्पर्य निष्काम भाव से कर्म सम्पादन से है। निष्काम से तात्पर्य है तृष्णा रहित कर्म है।

निष्काम कर्म के दो अंग है–

1. कर्त्तापन या कर्म के प्रति ममता का त्याग।
2. आसक्ति या कर्म के प्रति तृष्णा का त्याग।

कोई भी कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म में कर्तृत्त्व (मैं इस कार्य का कर्त्ता हूँ) का अभाव और कामना का अभाव (निस्पृहभाव से कर्म करना) यदि रहे तो वह कर्म निष्काम या अनासक्ति योग से सम्पादित किया गया कर्म होता है। यह कर्मबन्धन का साधक नही, बाधक है। जिस प्रकार भूँजे हुए बीज में वपन शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार रागद्वेष से रहित कर्म में पुनर्जन्म के बीज तृष्णा की शक्ति नहीं होती है। इस प्रकार के कर्म को करता हुआ भी मनुष्य अकर्त्ता है, क्योंकि इन कर्मों में फलोत्पादिका शक्ति नहीं होती है।

प्रश्न यह है कि कर्म के लिए तो प्रेरणा की आवश्यकता है?

मनुष्य निष्प्रयोजन कर्म तो नहीं कर सकते **'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'** अर्थात् प्रयोजन को अनुद्देश्य करके मन्द से मन्द मनुष्य भी किसी कर्म के सम्पादन में प्रवृत्त नहीं होता। अतः निष्काम या निष्प्रयोजन कर्म तो असम्भव है।

इसका समाधान योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में स्वयं देते है।

> प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
> अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।। गीता 3.27
> तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
> गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।। गीता 3.28

वास्तव में सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकार से मोहित हो रहा है ऐसा 'अज्ञानी' 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मानता है। परन्तु, हे महाबाहो। गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण गुणों में ही बरत रहे हैं, ऐसा समझ कर उनमें आसक्त नहीं होता।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। तीन गुण हैं – सत्व, रजस् और तमस्। तीनों प्रकृति के उपादान हैं। प्रकृति और त्रिगुण में तादात्म्य है। अर्थात् जो प्रकृति है वही है त्रिगुण

और जो त्रिगुण है वही है प्रकृति। इन गुणों के प्रति कर्ता का भाव रखने वाला व्यक्ति इनके परिणाम के प्रति आसक्त होता है। यही आसक्ति बीज बनती है जीव के जन्म और मृत्यु के चक्र में बंधने की। इसका परित्याग है निष्काम कर्मयोग।

4.4 गुणविभाग एवं कर्मविभाग

त्रिगुणात्मक माया के कार्य रूप 'पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच विषय' इन सबके समुदाय का नाम गुणविभाग है। अर्थात् ज्ञानी (पुरुष) मनुष्य यह जानता है कि गुणों के कारण ही अन्तःकरण और इन्द्रियों का विषय ग्रहण करना आदि कार्य होते है। बुद्धि विषय का निश्चय करती है। मन, संकल्प/विकल्प करता है। कान सुनता है, चक्षु देखता है इत्यादि सभी कार्य गुणों के द्वारा ही सम्पादित किए जाते हैं।

निष्काम–कर्म का अर्थ कुछ लोग काम्य कर्मों का त्याग समझते हैं एवं कुछ लोग निषिद्ध कर्मों के त्याग को ही निष्काम कर्म समझते हैं। जैसे स्त्री, पुत्र, धन आदि के लिए यज्ञ, दान, तप आदि काम्य कर्म हैं, इनका त्याग ही काम्य–कर्म का त्याग है एवं चोरी, झूठ बोलना इत्यादि का त्याग सदाचारपूर्ण सामािजिक जीवन के लिए अनिवार्य है।

विचार किया जाए तो निष्काम–कर्म का सही तात्पर्य है कि साधक कर्म करते हुए भी अकर्त्ता एवं फल की प्राप्ति के प्रति आशारहित, आसक्तिरहित भाव को धारण करे। यही निष्काम कर्म कहलाता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य्ध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। गीता 3.30

संसार के सभी कर्मों में साधक द्वारा जो कर्म 'ममतारहित, कर्त्तारहित आसक्तिरहित और सर्वोपरि फलाकांक्षारहित' होकर ईश्वर को अर्पित करने की बुद्धि से किया जाता है, वह कर्तव्य कर्म निष्काम कर्म है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। गीता 5.10

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग–करके कर्म करता है वह प्राणी जल में कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता है।

ईशावास्योपनिषद् में भी कहा गया है कि त्यागपूर्वक पदार्थों का उपभोग करो–

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यात्किंच जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। ई. 1.1

अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जडचेतनात्मक जगत् है, यह सब ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को भजते हुए त्यागपूर्वक उपभोग करो, उसमें आसक्त मत हो, क्योंकि धन या संसार के सभी भोग्य पदार्थ किसी के भी नहीं हैं।

4.5 कर्म सम्बन्धी दार्शनिक विमर्श

सृष्टि की संरचना में संलग्न विभिन्न दृश्यमान पदार्थों के विषय में अपनी अपनी दृष्टि

से विचार करते हुए विसि

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में 5 प्रकार के कर्मों का उल्लेख प्राप्त होता है– उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन।

योगदर्शन के इस सूत्र में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करने के प्रसंग में कर्म का उल्लेख प्राप्त होता है– **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**' (योगसूत्र 1. 24)– क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से जो अपरामृष्ट है वह पुरुष विशेष ईश्वर है। इस सूत्र में कर्म और विपाक दोनों कर्म से सम्बधित हैं। कर्म का अर्थ है निष्काम या सकाम कर्म। इसके अतिरिक्त पुण्यदायी शुभ कर्म तथा अपुण्य के जनक अशुभ कर्म दोनों का ग्रहण होता है। जीवात्मा इस प्रकार के कर्मों से लिप्त होता है परन्तु परमात्मा इन सबसे परे है। वह केवल निष्काम कर्म करता है।

विपाक कहते हैं कर्मफल या कर्म के परिणाम को। पापकर्मा दुखी होता है तो पुण्यकर्मा सुखी। ईश्वर इस प्रकार की भावना से परे होता है। वह न सुखी होता न दुखी। इसके अतिरिक्त उसमें कर्म फल को भोगने से उत्पन्न होने वाले संस्कार नहीं बनते, जैसे की सकाम कर्म में प्रवृत्त जीवात्मा में बनते हैं।

योगदर्शन के इस सूत्र में कर्म और विपाक इनका सम्बन्ध कर्म के सिद्धान्त से है।

वेदान्त दर्शन में दो प्रकार से कर्मों का उल्लेख किया गया है। उनमें से प्रथम जो है उसके 6 भेद माने गए हैं–

1. काम्यकर्म, 2. निषिद्धकर्म, 3. नित्यकर्म, 4. नैमित्तिक, 5. प्रायश्चित्त और

6. उपासनाकर्म।

4.5.1 काम्य कर्म– काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि

स्वर्गादि को उद्देश्य कर किए जाने वाले कर्म को 'काम्यकर्म' कहते हैं। अर्थात् किसी विशेष कामना की पूर्ति के लिए किये जाने वाले कर्म को 'काम्य कर्म' कहते हैं। जिससे हमारी लौकिक या पारलौकिक इच्छाएँ जुड़ी रहती हैं जैसे– स्वर्ग के साधनभूत ज्योतिष्टोम यज्ञ आदि।

4.5.2 निषिद्ध कर्म– निषिद्धारकन्यकरणे अनिष्टसाधनानि

शास्त्रों ने जिन कर्मों को वर्जित किया है या जो नरकादि विघ्नों के साधन हैं, जिन्हें करने से मनुष्य विनाश की ओर अग्रसर होता है, उसे निषिद्ध कर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ– जीवहत्या इत्यादि।

4.5.3 नित्यकर्म– नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि

जिस कर्म को प्रतिदिन न किए जाने पर दोष लगता है और किए जाने पर कोई प्रत्यक्ष फल भी उपलब्ध नहीं होता है, ऐसे कर्म को नित्य कर्म कहते हैं जैसे सन्ध्यावन्दन, स्नान इत्यादि।

4.5.4 नैमित्तिककर्म– नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि ज्योतिष्टोमादीनि

किसी विशेष कारण से किये जाने वाले कर्म को नैमित्तिक कर्म कहते हैं। जैसे पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ (पुत्रेष्टि यज्ञ), एवं षोडश संस्कार आदि।

4.5.5 प्रायश्चित्तकर्म– प्रायश्चित्तानि पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि

प्रतिदिन बहुत से हिंसा कर्म ऐसे हो जाते हैं जिनके बारे में हमे जानकारी नहीं रहती है, उस हिंसा के दोष की निवृत्ति के लिए किये जाने वाले कर्म को 'प्रायश्चित्तकर्म' कहते हैं। जैसे– व्रत, चान्द्रायणव्रत इत्यादि।

4.5.6 उपासनाकर्म– सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि

सगुण ब्रह्म के विषय में मानसिक रूप से उपासना करना, शाण्डिल्यविद्या इत्यादि का अनुष्ठान करना उपासना कर्म कहलाता है।

4.6 पुनर्जन्म के कारणभूत कर्म

भारतीय दर्शन के अनुसार साधक के पुनर्जन्म के नियामक कर्मों के तीन भेद हैं–

1. संचित, 2. प्रारब्ध और 3. क्रियमाण –

4.6.1 संचितकर्म– अनन्तकोटिजन्मनां बीजभूतं सद् यत्कर्मजातं पूर्वार्जितं तिष्ठति तत् संचितकर्म

वे कर्म हैं जो हमने अपने पिछले कई जन्मों में किए हैं, पर उनका फल (अच्छा या बुरा दोनों ही) अभी तक हमने नहीं भोगा है, और अभी उन कर्मों का फल भोगना शेष है उन्हें 'संचित–कर्म' कहते हैं।

4.6.2 प्रारब्धकर्म

इदं शरीरमुत्पाद्य इह लोके एवं सुखदुःखादिप्रदं यत्कर्म तत्प्रारब्धं भोगेन नष्टं भवति। प्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षय इति – प्रारब्धकर्म वे संचित कर्म हैं जिनमें से ग्रहों और गोचर के अनुसार कुछ का हमें इस जन्म में शुभ या अशुभ फल भोगना पड़ता है। अच्छा ग्रह गोचर होगा, तो अच्छे कर्मों का अच्छा फल भोगने को मिलता है, यदि अच्छा ग्रह गोचर नहीं है, तो अच्छे कर्मों का भी बुरा फल भोगने को मिलता है।

यहाँ पर प्रारब्ध और पुरुषार्थ को समझना अनिवार्य है। प्रारब्ध या भाग्य तो जातक के जन्म से पहले ही शुरू हो जाता है। जबकि पुरुषार्थ, जातक जन्म लेने के बाद ही कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि जातक का पुरुषार्थ उसके प्रारब्ध या भाग्य की डोरी से बंधा हुआ है। जैसे आपका जन्म किसी अमीर या गरीब परिवार में हुआ, ये सब प्रारब्ध कर्म के ही फल हैं।

4.6.3 क्रियमाणकर्म

क्रियमाण वे कर्म हैं जो व्यक्ति इस जन्म में करता है और उनका फल भी साथ ही साथ भोगता जाता है यदि कुछ कर्मों का फल इस जीवन में नहीं प्राप्त होता है तो वह संचित कर्म में जमा हो जाता है।

अधिकतर देखा गया है कि कोई व्यक्ति पूरी तरह से तन, मन और धन लगाकर एक कार्य को लम्बे समय तक करते रहते हैं, पर उनको उसका पूर्ण फल नहीं प्राप्त होता क्योंकि उनकी ग्रहदशा और गोचर उनके अनुकूल नहीं होते। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस कर्म का कोई फल नहीं है, उस कर्म को संचित कर्मों के फल के अन्तर्गत आता है।

4.7 जीवन्मुक्त की अवधारणा

'जीवन्मुक्त' उस ब्रह्मनिष्ठ योगी को कहते हैं जो अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार करने के अनन्तर अज्ञान एवं उसके समस्त कार्यों, संचित कर्म, संशय, विपर्यय आदि के बाधित हो जाने पर जन्म मृत्यु के क्रम के सभी प्रकार के बन्धनों से रहित हो जाता है–

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। मुण्डकोपनिषद् 2.2.8।।

सृष्टि के कार्य और कारणस्वरूप उन परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तम को तत्त्व से जान लेने पर इस जीव के हृदय की अविद्यारूप गाँठ खुल जाती है, जिसके कारण इसने अपने जड शरीर को ही सत्य मान रखा था। इतना ही नहीं, इसके समस्त संशय, सर्वथा कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् यह जीव सभी प्रकार के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है।

उपनिषद्–संचयनम् के तेजोबिन्दूपनिषद् में जीवन्मुक्त के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है।–

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते।।

देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम्।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते।।

आनन्दघनरूपोऽस्मि परानन्दघनोऽस्म्यहम्।
यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः।

परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते।।
यस्य किंचिदहं नास्ति चिन्मात्रेणावतिष्ठते।
चैतन्यमात्रो यस्यान्तश्चिन्मात्रैकस्वरूपवान्।। (उ.स.तेज. उप. 4.1–4)

'मैं चिदात्मा हूँ मैं परमात्मा हूँ, मैं निर्गुण हूँ, मैं पर से भी परे हूँ, इस प्रकार से जो मनुष्य केवल आत्मा में ही अवस्थित रहता है, उसको जीवन्मुक्त कहा जाता है।

मैं 'स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण' इन तीनों शरीरों से भिन्न हूँ, मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार का चिन्तन, जिसके अन्तःकरण में होता रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

मैं आनन्द स्वरूप हूँ मैं परमानन्दघन हूँ– ऐसे विचार से, जिसका देह आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा जिसको निश्चय हो चुका हो और जो परमानन्द से पूर्ण हो, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार का 'अहं भाव' नही है जो केवल चिन्मात्र भाव में अवस्थित रहता है जिसके अन्तःकरण में केवल चैतन्य ही रमण करने वाला हो, वह चिन्मात्रस्वरूप वाला साधक जीवन्मुक्त कहलाता है।

न मे कालो न मे देशो न मे वस्तु न मे मतिः।
न मे स्नानं न मे सन्ध्या न मे दैवं न मे स्थलम्।।

न मे तीर्थं न मे सेवा न मे ज्ञानं न मे पदम्।
न मे बन्धो न मे जन्म न मे वाक्यं न मे रविः।।

न मे पुण्यं न मे पापं न मे कायं न मे शुभम्।
न मे जीव इति स्वात्मा न मे किंचिज्जगत्त्रयम्।।

न मे मोक्षो न मे द्वैतं न मे वेदो न मे विधिः।
न मेऽन्तिकं न मे दूरं न मे बोधो न मे रहः।। (उ.स. तेज. उप. 4.12–15)

जिस साधक को भँली प्रकार से यह ज्ञात हो जाता है कि काल मेरा नहीं है, देश मेरा नहीं है, वस्तु मेरी नहीं है, बुद्धि मेरी नहीं है, स्नान मेरा नहीं, सन्ध्या मेरी नहीं, दैव मेरा नहीं, स्थल मेरा नहीं है। मेरा तीर्थ नहीं, मेरी सेवा नहीं, मेरा ज्ञान नहीं, मेरा स्थान नहीं, मेरा बन्ध नहीं, मेरा जन्म नहीं, मेरा वाक्य नहीं, मेरा सूर्य नहीं है, मेरा पुण्य नहीं, मेरा पाप नहीं, मेरा कार्य नहीं, मेरा शुभ नहीं, मेरा जीव नहीं, मैं स्वयं आत्मा हूँ, ये तीनों जगत् में मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा मोक्ष नहीं है, द्वैत मेरा नहीं है, वेद मेरा नहीं, विधि मेरी नहीं, मेरे लिए कोई नजदीकी या दूरी भी नहीं है, मेरा कोई ज्ञान नहीं, मेरा कोई एकान्त नहीं है। वही साधक जीवन्मुक्त कहलाता है।

योगवासिष्ठ में महर्षि वाल्मीकि ने मुनि भरद्वाज द्वारा जीवन्मुक्त के स्वरूप की जिज्ञासा करने पर उनको जीवन्मुक्त के स्वरूप से परिचित कराते हुए कहा–

वासना दो प्रकार की बतलाई गई है। एक शुद्ध वासना और दूसरी मलिन वासना। मलिन वासना जन्म की हेतुभूत है। उसके द्वारा जीव जन्म मृत्यु के चक्र में पड़ता है। इसके विपरीत शुद्ध वासना जन्म का नाश कराने वाली मोक्ष की साधिका है। विद्वानों ने मलिन वासना को पुनर्जन्म की प्राप्ति कराने वाली बताया है। अज्ञान ही उसकी घनीभूत आकृति है तथा वह बढ़े हुए अहंकार से सुशोभित होती है जो भुने हुए बीज के समान पुनर्जन्म रूपी अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति को त्याग कर केवल शरीर धारण मात्र के लिए स्थित रहती है। वह वासना शुद्ध कही गयी है। जो लोग शुद्ध वासना से युक्त हैं वे फिर जन्म रूप अनर्थ के भाजन नहीं होते। जानने योग्य परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले वे परम बुद्धिमान पुरुष जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

भगवत्पाद शंकराचार्य उपदेशसाहस्री में जीवन्मुक्त के लक्षण को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं –

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।। 5।।

जीवन्मुक्त की अवस्था में साधक द्वारा यद्यपि अपने शरीर को धारण किया जाता है परन्तु देह धारण करते हुए भी वह साधक वास्तव में देह के अभिमान का परित्याग कर देता है। वह सभी प्रकार के सांसारिक विरोधों और द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। उसके लिए शत्रु–मित्र, मानापमान, लाभ–हानि, सुख दुःखादि भावानाओं का कोई महत्व नहीं होता। वह इनसे प्रभावित नहीं होता। सामान्य लोगों के व्यवहार से विलक्षण होता है इसका व्यवहार।

शंकराचार्य जी के अनुसार यम–नियमों के अनुष्ठान द्वारा वह शुभ अशुभ कर्मों का परित्याग कर शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहता है। अष्टांगयोग का अनुष्ठान साधक के लिए पुण्य संचय का कार्य करता है। शुभ कर्मों के प्रति प्रवृत्ति उसके ब्रह्म साक्षात्कार का

मार्ग प्रशस्त करती है। वह साधक प्रारब्ध कर्म फलों को भोगने तक ही शरीर धारण करता है। प्रारब्ध कर्मों के समाप्त हो जाने पर उसका देहावसान हो जाता है। ऐसा साधक पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काम हो जाता है। अन्ततः सभी प्रकार की इच्छाओं से मुक्त होने पर वह ब्रह्म ही बन जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में अग्नि द्वारा ईंधन को भस्मसात् करने का उदाहरण देते हुए ज्ञान रूपी अग्नि से साधक के भौतिक कर्मों को जला दिया जाता है। ऐसा साधक समस्त कर्मफल से हटकर जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा –

यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात् कुरुतेर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।। 4.37।।

इस प्रकार जीवन्मुक्त की अवस्था में साधक समस्त कर्मबन्धनो से मुक्त होकर प्रारब्ध मात्र के भोग के लिए जीवित रहता है, परन्तु अनासक्त भाव से कर्म करते हुए। इससे उसके पुनर्जन्म के संस्कार की समाप्ति हो जाती है।

4.8 विदेहमुक्त की अवधारणा

विदेहमुक्त जानने के पूर्व में 'कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर' को जानना अत्यावश्यक है। इन तीन शरीरों का निरूपण आचार्य सदानन्द प्रणीत वेदान्तदर्शन के 'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

4.8.1 स्थूलशरीर

षाट्कौशिक (रुधिर–मांस–स्नायु–शुक्र–अस्थि–मज्जा) तत्त्वों से निर्मित शरीर को स्थूलशरीर कहते हैं।

4.8.2 सूक्ष्मशरीर– सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिंगशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपंचकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपंचकं वायुपंचकं चेति

'पंच ज्ञानेन्द्रियाँ– चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, त्वक्, नासिका; पंच कर्मेन्द्रियाँ– वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ; पंच वायु– प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान; बुद्धि एवं मन' ये सप्तदश अवयव सूक्ष्मशरीर के हैं। इस सूक्ष्मशरीर के द्वारा ही स्थूलशरीर की उत्पत्ति होती है।

इसी तथ्य को सांख्यकारिका में आचार्य ईश्वरकृष्ण ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है।

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिंग।। सांख्यकारिका 41।।

जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र का, वृक्ष आदि के बिना छाया का रहना सर्वथा असम्भव है, उसी प्रकार सूक्ष्मशरीरों के बिना बुद्धि आदि त्रयोदश प्रकार की इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) का निराश्रय होकर रहना नितान्त अशक्य है। क्योंकि इन त्रयोदशों का आश्रय एकमात्र सूक्ष्मशरीर ही है, अतः सूक्ष्मशरीर अत्यधिक आवश्यक है।

4.8.3 कारणशरीर

'अहांरादिकारणत्वात्कारणशरीरं' एवं च स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपंचलयस्थानमिति चोच्यते– अहंकार, मद, मोह इत्यादि वासनाओं से लिप्त होने के कारण इसको कारणशरीर कहते हैं। इसी में स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का उपरम होने से, यह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के प्रपंच (सृष्टि) का 'लय–स्थान' भी कहलाता है।

वासना इत्यादि एवं प्रारब्धकर्मों का भोग करने के पश्चात् जो जीवन्मुक्त व्यक्ति है, वह इन तीनों शरीरों का अतिक्रमण करके सदा सर्वदा के लिए चिरकालपर्यन्त ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। उसी को विदेहमुक्ति कहते हैं।

जीवन्मुक्ति के पश्चात् (देहान्त हो जाने पर) विदेहमुक्ति होती है। देह में अनात्मबुद्धि होने से विदेह अवस्था की प्राप्ति होती है। ऐसा यदि कहें तो 'जीवन्मुक्ति' और 'विदेहमुक्ति' इन दोनों के मध्य कोई विशेषता नहीं रह जाएगी।

देह का विस्मरण हो जाना ही विदेह की विशेषता मानी जाय तो यह अर्थवाद की प्रतीति है, क्योंकि विदेहता की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती। श्रीरामगीता में श्रीहनुमान जी का प्रत्युत्तर देते हुए श्रीराम जी कहते हैं–

> प्रारब्धकार्यभूतेस्मिन्देहे सत्यपि मारुते।
> विदेहमुक्त एवासौ येन देहोऽत्र विस्मृतः।। (श्रीरामगीता, विदेहमुक्ति– 8 श्लोक)
>
> अत्यन्तदेहपाते तत्प्रसिद्धिरविचारतः।
> बन्धमोक्षविदूरस्य विरूपस्येव वस्तुनः।।
>
> सरूपनष्टचित्तासुरखण्डाकार वृत्तिमान्।
> जीवन्मुक्त इति प्रोक्तस्सर्वमिथ्यात्वनिश्चयात्।।
>
> अरूपनष्टचित्तासुरखण्डैकरसात्मवान्।
> विदेहमुक्तस्सम्प्रोक्तः सर्वविस्मृतिमत्त्वतः।। (श्रीरामगीता, विदेहमुक्ति– 10–12)

हे वायुपुत्र! प्रारब्ध कर्मस्वरूप इस देह के रहते जिसको देह का विस्मरण हो जाता है, वह विदेहमुक्त ही है। बन्ध–मोक्ष से परे स्थित रूप–शून्य वस्तु के समान, देह के अत्यन्त रूप से नाश होने पर, जो विदेहमुक्ति की प्रसिद्धि है वह विचार पूर्वक की गयी नहीं मानी जा सकती।

जिसने सरूप अर्थात् शरीर का भान रहते हुए अपने चित्त और प्राणों की चंचलता को निरुद्ध कर दिया है, जिसकी वृत्ति अखण्डाकार है, जिसके लिए सब कुछ मिथ्या है, ऐसा निश्चय हो जाने के कारण वह साधक जीवन्मुक्त कहा गया है।

इसके अतिरिक्त जिसने अरूप अर्थात् शरीर के भान से रहित होकर चित्त और प्राणों की चंचलता को निरुद्ध कर दिया हो, वह विदेहमुक्त होता है।

विदेहमुक्त के अन्य लक्षण हैं–

> विदेहमुक्त्यतीतान्तां देहपातोत्तरोद्भवाम्।
> नावस्थां विद्धि मुक्तिन्त्वमवाङ्मनसगोचराम्।।

यस्य वर्णाश्रमाचारः सुप्तहस्तस्थपुष्पवत्।
गलितस्वयमेवात्र विदेहो मुक्त एव सः।।

सज्जनैः पूजिते देहे दुर्जनैः पीडितेऽपि वा।
सुखदुःखे न यस्योस्तो विदेहो मुक्त एव सः।।
(श्रीरामगीता,विदेहमुक्ति– 14–16)

विदेहमुक्ति से परे जो मुक्ति देहान्त के पश्चात् उत्पन्न होती है, वह कोई अवस्था नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह वाणी और मन से अगोचर है। सोते हुए मनुष्य के हाथ के पुष्प के सदृश जिसके वर्ण एवं आश्रम के आचार एवं अहंकारता इत्यादि छूट जाते हैं, वही विदेहमुक्त है। जिसको सज्जनों के द्वारा देहपूजन होने पर सुख नहीं होता और दुर्जनों के द्वारा देह को पीड़ा देने पर दुःख नहीं होता है, वही विदेहमुक्त है। अर्थात् सुख एवं दुःख इन दोनों परिस्थितियों में जो समान आचरण एवं व्यवहार करता है, वही विदेहमुक्त है।

श्रीमद्भगवद्गीता में विदेहमुक्त के स्वरूप को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है–

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। (श्रीमद्भगवद्गीता)

तेजबिन्दूपनिषद् में विदेहमुक्त के स्वरूप की इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है–

ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी।
स्वच्छभूतो महामौनी वैदेही मुक्त एवं सः।।

सर्वात्मा समरूपात्मा शुद्धात्मा त्वहमुत्थितः।
एकवर्जित एकात्मा सर्वात्मा स्वात्ममात्रकः।।

अजात्मा ललितात्माहं तूष्णीमात्मस्वरूपवान्।।
आनन्दात्मा प्रियो ह्यात्मा मोक्षात्मा बन्धवर्जितः।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वाऽपि न चिन्त्यते।। (तेजोबिन्दूपनिषत् 4.33–36)

जो ब्रह्मरूप हो गया हो, अत्यन्त शान्त मनवाला हो, ब्रह्मानन्दमय होते हुए जो सुखी, निर्मल, बड़ा मौनव्रती हो, वह विदेहमुक्त ही है। जो सबका आत्मरूप हो, समान रूप सभी के प्रति रखता हो, 'मैं शुद्धात्मा हूँ' इस प्रकार से उत्थान प्राप्त करने वाला हो, वह विदेहमुक्त ही है। एक संख्या से रहित होते हुए भी एकस्वरूप हो, सर्वस्वरूप हो, आत्माराम हो, वह अजन्मा, अमर, अव्यय है। जो आत्मा को ही लक्ष्य में रखे हुए हो और स्वयं को उसी का स्वरूप मानता हो, जो आत्मस्वभावस्थ हो, जो आनन्दस्वरूप हो, प्रिय आत्मा मोक्षात्मा हो, बन्धन से मुक्त हो वह विदेहमुक्त साधक होता है। इसके द्वारा 'मैं ब्रह्म ही हूँ' 'मैं चिद्रूप ही हूँ' ऐसा विचार तक नहीं किया जाता (विचार भी छोड़ दिया जाता) है। जो इस तरह चिन्मात्र में ही अवस्थित रहता है वह विदेहमुक्त ही है।

विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त दोनों ही प्रकार के साधकों में समानता पायी जाती है। विदेहमुक्त की अवस्था में शरीरत्याग की सम्भावना बनी रहती है। पुनर्जन्म का बन्धन दोनों में ही समाप्त हो जाता है।

4.9 सारांश

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में निहित कर्मविषयक अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके भेद–प्रभेदों को विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। सकाम और निष्काम के अतिरिक्त नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासना इन कर्म के प्रकारों का विवेचन किया गया है। काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर इन कर्मों का अनुष्ठान करने से साधक के अन्तःकरण की शुद्धि होती है। मनुष्य के पुनर्जन्म का कारण बनते हैं त्रिविध कर्म – संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त साधक की दो प्रधान अवस्थाएं हैं। इनमें से जीवन्मुक्त अवस्था में साधक ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर आसक्ति रहित होकर कर्मों को सम्पादित करता है। परन्तु तभी तक जब तक की उसके प्रारब्ध कर्मों का विनाश नहीं हो जाता। इस अवस्था में किए जाने वाले कर्म आसक्ति समाप्त हो जाने पर जन्म मृत्यु के बन्धन के कारण नहीं बनते। विदेहमुक्त साधक में शरीर त्याग का परिणाम उपस्थित होता है। दोनों ही प्रकार के साधकों के स्वरूप में लगभग समानता होती है।

4.10 पारिभाषिक शब्दावली

सकाम – किसी कामना विशेष से युक्त होना।

निष्काम – सभी प्रकार की कामनाओं से रहित।

आसक्ति– सांसारिक विषयों के प्रति आकर्षण या उनको पाने की चाह।

संचित कर्म – पूर्व जन्म में किए गए कर्मों का संचय।

गुण विभाग– सत्व, रजस् तमस् इन त्रिगुणों का समुदाय।

पंचमहाभूत – आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी।

जीवन्मुक्त – जीवित रहते हुए मुक्त। आसक्ति रहित हो कर्म करने वाला साधक।

विपाक– आसक्ति युक्त होकर सम्पादित किए जाने वाले कर्मों का परिणाम।

होती है।

4.11 सन्दर्भग्रन्थ सूची

- श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- श्वेताश्वेतरोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- ईशावास्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- बृहदारण्यकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, शाङ्करभाष्यसहित ।
- मनुस्मृति, सं पं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
- योगवासिष्ठ, वाल्मीकि, सन्त श्रीकृष्णपन्त शास्त्री अच्युत, ग्रन्थमाला कार्यालय, वाराणसी, 2033 सं.।
- कठोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- नैष्कर्म्यसिद्धि, सुरेश्वराचार्य, सं. श्रीकृष्णपन्तशास्त्री, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं. 2007।

- योगसूत्र, दर्शन हिन्दी व्याख्या सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- पातंजलयोगसूत्र, तत्त्ववैशारदी टीका संवलित व्यासभाष्य युक्त, व्याख्याकार सम्पादक अनुवादक रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, पंचगंगा घाट, वाराणसी।
- वेदान्तसार शक्तिवाच्यार्थबोधिनीटीका, चौखम्भासंस्कृतपुस्तकालय।
- मुण्डकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।

3.12 बोधप्रश्न

1. भारतीय दर्शन में निरूपित कर्मविषयक अवधारणा को स्पष्ट कीजिए?
2. कर्म के भेदों को सुस्पष्ट कीजिए?
3. सकाम कर्म किसे कहा जाता है।
4. गुण–विभाग एवं कर्म–विभाग के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए करो?
5. जीवन्मुक्त विषयक अवधारणा को सुस्पष्ट कीजिए?
6. प्रारब्ध कर्म क्या हैं? स्पष्ट कीजिए।
7. क्रियमाण कर्म से क्या तात्पर्य है?
8. काम्यकर्म को सुस्पष्ट रूप से निरूपण करो?
9. विदेहमुक्त के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।

इकाई 5 जड़भरत चरित

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में चक्रवर्ती सम्राट राजा भरत के मृग बनने की कथा के साथ मनुष्य के कर्म एवं उसके विभिन्न सिद्धांतों पर चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- राजा जड़भरत के कथानक को जान सकेंगे।
- कथा के माध्यम से कर्म सिद्धांत सम्बन्धी बोध प्राप्त कर सकेंगे।
- कर्म सिद्धांत के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- जड़भरत के कथानक से जुड़े प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाईयों में आप कर्म सिद्धांत से जुड़े विभिन्न पक्षों पर विचार कर चुके हैं। इस इकाई में आप एक कथा के माध्यम से यह समझेंगे कि यदि किसी विशेष चीज़ के प्रति आपकी गहरी आसक्ति या मोह हो गया तो वह आपका पीछा अगले जन्म तक नहीं छोड़ेगा। कथा अखण्ड भारत के चक्रवर्ती सम्राट राजर्षि भरत के तीन जन्मों की है जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। राजा भरत के पिता ने जब उन्हे राजकाज सौंपा तो इस उद्देश्य से सौंपा कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक समान शासन व्यवस्था रहेगी राजा–प्रजा में सामन्जस्य रहेगा। समाज का प्रत्येक व्यक्ति सदाचारी रहते हुए भगवद् आराधना में लीन होकर अपना जीवन पूर्ण करेगा। लेकिन कुछ ही समय बाद राजा भरत को राज्य से मोहभंग हो गया। उन्होने पैत्रिक सम्पत्ति को नियमानुसार अपने पुत्रों में बांटा और सम्पूर्ण राज्य तथा वैभव छोड़कर गंडकी नदी पर स्थित हरिहर आश्रम जाकर रहने लगे। राजा भरत अब अपना अध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ करते हैं। वे नियमपूर्वक नदी स्नान, व्रत, पूजा आदि करने लगे। लेकिन अचानक एकदिन नदी में स्नान करते हुए उनका सामना एक मृग शावक से होता है

जिसके मोह में वे इस प्रकार उलझ जाते हैं कि उससे मुक्त नहीं हो पाते तथा पुर्नजन्म में वे मृगशावक के रूप में जन्म लेते हैं।इस घटना को वे एक अपराध के रूप में देखते हैं। जिसके प्रायश्चित एवं मोह से निकलने में उन्हें तीन जन्म लेने पड़े। वे संदेश देते हैं कि जब तक मनुष्य अपने ज्ञानोदय के द्वारा माया का तिरस्कार करके, सबका संग त्याग तथा काम क्रोधादि छहो शत्रुओं को तथा सारे आत्मतत्त्व को नहीं जान लेता और जब तक वह आत्मा की उपाधिस्वरूप मन को सारे संसार के दुःख का क्षेत्र नहीं समझ लेता, तब तक वह संसार में उसी तरह भटकता रहता है, क्योंकि यह चित्त उसे मोह, रोग, राग लोभ और वैर आदि बन्धन से बांधे रहता है तथा उसकी ममता को बढ़ाता रहता है।

5.2 जड़ भरत की संक्षिप्त कथा

इस पृथ्वी पर सर्वप्रथम राजा बने स्वयंभू मनु जिन्होनें सात द्वीपों **जम्बू,प्लक्ष ,शाल्मली, कुश, क्रोंच,शाह एवं पुष्कर** का निर्माण किया। सातो द्वीपों में सबसे अधिक आबादी जम्बू द्वीप पर रहती थी जो भारतीय परिक्षेत्र से जुड़ा था। इसीलिए भारतीय संदर्भ में जम्बू द्वीप का उल्लेख किया जाता है। मनु के पुत्र हुए राजा प्रियव्रत,प्रियव्रत के पुत्र हुए आग्नीघ्र,आग्नीघ्र के पुत्र थे नाभि जिन्हे अजनाभ भी कहा जाता है तथा जिनके नाम पर इस भारतभूमि का पूर्व नाम अजनाभवर्ष या अजनाभखण्ड था। राजा नाभि के पुत्र थे ऋषभदेव। सत्कर्मों में ऋषभदेव अपने पिता के समान गुणी थे। उन्होनें अपने देश अजनाभखण्ड को ही कर्मभूमि मानकर लोकसंग्रहार्थ कुछ दिनों तक गुरूकुल में रहे। तदनन्तर गुरूदक्षिणा देकर और गुरूदेव की आज्ञा पाकर गृहस्थों को धर्माचरण की शिक्षा देने के निमित्त इन्द्र के द्वारा दी हुई उसकी कन्या जयन्ती के साथ विवाह करके वैदिक औश्र स्मार्त दोनों ही प्रकार के कर्मों का आचरण करते हुए उन्होनें जयन्ती में अपने ही सदृश गुणवान सौ पुत्र पैदा किये। उनमें महायोगी भरतजी सबसे बड़े तथा बड़े ही गुणी थे जो माता–पिता के अत्यंत प्रिय थे। महाराज भरत के नाम पर ही इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। अनेक स्थानों पर दुष्यंत पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ यह भी संदर्भ प्राप्त होता है, जिसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। अत्यंत प्रतिभावान, भक्तवत्सल तथा सम्पूर्ण पृथ्वी की रक्षा में समर्थ भरत जी का घर पर ही राज्याभिषेक कर स्वयं भगवान् ऋषभदेव महामुनियों को भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य का उपदेश देते हुए दिगम्बर वृत्ति के अनुसार केश खोले हुए विरक्त भाव से ब्रह्मावर्त देश के बाहर चले गए। कुछ समय बाद पिता की आज्ञानुसार भरत जी ने विश्वरूप की कन्या पंचजनी के साथ विवाह किया जिनके गर्भ से परम तेजस्वी पांच पुत्र पैदा हुए जो बिल्कुल पिता की तरह थे। उनके नाम थे– सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, अवरण तथा धूम्रकेतु। सभी शास्त्रों के मर्मज्ञ महाराज भरत स्वयं धर्म आदि कार्यों में पिता की तरह स्थित रहकर बड़े ही वात्सल्य भाव से अपनी प्रजा का पालन करने लगे। समय–समय पर होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा इन चार ऋत्विजों द्वारा कराये जाने वाले अग्नि होत्र, पूर्णमास, चार्तुमास्य, सोमयाग आदि का यजन करते हुए लगभग दस हजार वर्ष के बाद अपने राज्यभोग का समय समाप्त कर महाराज भरत ने भी अपनी भोगी हुई पैत्रिक सम्पत्ति को शास्त्रविधि से बांटकर अपने पुत्रों को सौंप दिया तथा स्वयं अपना सर्वसम्पत्तिपूर्ण भवन त्यागकर पुलहाश्रम अर्थात् हरिहर क्षेत्र को चले गए जहाँ भगवान कृष्ण अपने भक्तों के वात्सल्यवश निवास करते हैं तथा जहाँ गण्डकी नाम की प्रसिद्ध नदी चक्राकार शालग्राम की शिलाओं से ऋषियों के आश्रमों को सर्वतोभाव से पवित्र करती रहती है।

एक बार राजा भरत महानदी गण्डकी में स्नान करके नित्य नैमित्तिक तथा अन्य

आवश्यक कर्मों से निवृत्त होकर ओंकार का जाप करते हुए काफी लम्बे समय तक जल के भीतर ही बैठे थे। अचानक एक हरिणी प्यास से व्याकुल हो जलाशय के पास आती है। वह अभी जल पी ही रही थी कि एक सिंह की भयंकर आवाज उसके कानों में पड़ी। हरिणी चकित भाव से डरी सहमी अत्यंत भयभीत रूप में सहसा नदी के दूसरी ओर उछली लेकिन यह क्या? हरिणी गर्भवती थी! वह जैसे ही उछली शरीर के भार, भय एवं झटके के कारण उसका गर्भ खिसक गया तथा योनिद्वार से निकलकर नदी के प्रवाह में जा गिया। कृष्णसार तथा अपने झुण्ड से बिछड़ी हुई मृगी गर्भस्राव के कारण पूरी तरह थक गई थी लेकिन उसने हार नही मानी। शेर के भय से उसने एक बार पुनः छलांग लगाई और एक पर्वत की गुफ़ा में गिर कर मर गई। यह पूरी घटना देख राजर्षि भरत अत्यंत द्रवित हो गए नदी के प्रवाह में बहते हुए उस दीन–हीन तथा मातृहीन बच्चे को अपने आश्रम में उठा लाए। भरत जी का प्रेम मृगशावक पर निरन्तर बढ़ने लगा। वे निरन्तर उसकी देखरेख, खाने पीने का प्रबंध, जंगली हिंसक जानवरों से उसकी रक्षा आदि में व्यस्त रहने लगे। स्थिति यह होने लगी की इस व्यस्तता के कारण उनका यम, नियम, व्रत, पूजा आदि की प्रभावित हुए बिना नही रह सका। वे दिनरात बस यही सोच रहे थे कि– अहो। यह कैसे खेद की बात है कि इस बेचारे दीन मृगशावक को कालचक्र के वेग ने अपने समूह, सुहृद और बंधुओं से दूर करके मेरी शरण में ला पहुँचाया है। यह मुझको ही अपना माता–पिता–भाई–जाति बन्धु तथा अपने झुण्ड का मृग समझकर मेरी शरण में आया है। मेरे सिवा यह और किसी को कुछ नहीं समझता। इसका मुझमें बड़ा विश्वास है। अतः इस आश्रित मृगशावक का सावधानी पूर्वक भली–भाँति भरण–पोषण करना मेरा परम कर्त्तव्य है। कहते हैं कि शान्त स्वभाव तथा दीन दुखियों के रक्षक भद्रजन ऐसे शरणागत प्राणियों की रक्षा के लिए अपने बड़े–बड़े स्वार्थों को भी त्याग दिया करते हैं, ठीक उसी प्रकार राजर्षि भरत ने अपनी विविध व्यस्तताओं और नियमों को अनदेखा कर सभी स्वार्थों को त्यागकर स्वयं को उस मृगशावक को समर्पित कर दिया।

उनका चित्त उस मृगशावक में आसक्त हो कर ऐसा बंध गया कि दैनिक क्रियाओं तथा भोजन इत्यादि में वह उसके बिना नही रह पाते। कुशा, पत्र, फूल, फल, जल आदि जो कुछ भी लेने जाना हो भरत जी उस मृगशावक को साथ लेकर ही जाते थे। राह चलते हुए वे उसे कभी सीने से लगा लेते तो कभी कंधे पर बिठा लेते। यह सब करते हुए महाराज भरत परम आनंदित होते थे। कभी–कभी उसे देख और स्वस्थचित्त होकर उसके लिए मंगल कामना करते हुए कह उठते थे– पुत्र! तेरा सब तरह से कल्याण हो। कुछ दिनों के बाद अचानक एक दिन वह मृगशावक कहीं चला गया, काफी देर तक जब वह उन्हें दिखाई नहीं पड़ा तो बहुत परेशान हो उठे। फिर सोचने लगे कि क्या वह फिर लौट कर आएगा। क्या मैं उसको फिर अपने आश्रम के उपवन में भगवान की कृपा से सुरक्षित रहते तथा कुशलपूर्वक हरी दूब चरते देख पाऊँगा? उनके मन में नाना प्रकार के दुर्विचार आने लगे, कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि कोई भेड़िया, कुत्ता या जंगली जानवर उसे खा गया हो। भरत जी उसकी बाल सुलभ क्रीड़ाओं चंचलता आदि को याद कर निरंतर दुःखी हो रहे थे और कह रहे थे कि जब कभी कुशासन पर रखी हवन सामग्री को दूषित करने लग जाता और मैं उसे डॉट देता तो वह अतिशय भयभीत होकर तत्काल अपनी सारी चंचलता त्यागकर किसी ऋषि कुमार की भाँति अपनी सब इंन्द्रियों का निग्रह करके चुपचाप मेरे पास बैठ जाता था। अचानक चंन्द्रमा में मृग का स्वरूप देखकर भरत जी उसे अपना ही खोया हुआ मृग समझकर कहने लगे कि जिसकी माता सिंह के डर से मर गई थी, उस दीन मृगशावक अपने आश्रम से भटका देखकर क्या ये दीनवत्सल चन्द्रदेव दयावश उसकी

रक्षा कर रहे हैं? फिर चन्द्रमा की शीतल किरणों से आनंदित होकर बोले– अपने पुत्रों के वियोग जनित दुःखमय दावानल द्वारा हृदयकमल के दग्ध हो जाने से जिसने मृगी कुमार का आश्रय लिया था, ऐसे मुझको क्या ये अपनी शीतल शान्त, स्नेहमयी और वदन सलिस स्वरूप अमृतमयी किरणों से शांति पहुँचा रहे हैं? इस प्रकार उस मृगशावक को यादकर लगभग आत्मचेतना खो चुके परम तपस्वी राजा भरत मृगशावक रूपी अपने प्रारब्ध कर्म के कारण ही भगवदाराधन स्वरूप कर्म एवं योग मार्ग से भ्रष्ट हो गए।

वे नाना प्रकार के विघ्नों के वशीभूत इस प्रकार पथ भ्रष्ट हुए कि अपना आत्मस्वरूप ही भूल गए तथा जड़वत हो गए। उनकी बुद्धि लगभग शून्य सी हो गई और फिर एक वह भी समय आया जब प्रबल वेगवान काल उनके पास आ पहुँचा। उस समय भी भरत जी ने अपने समीप बैठे पुत्र के समान शोक करने वाले उस मृग को देखते देखते उसी में आसक्तचित्त होकर अपना शरीर त्याग दिया। पुनर्जन्म हुआ तो मृगशरीर पाया फिर भी पूर्वजन्म की स्मृति नष्ट नही हो पाई। अतः इस योनि में भी पूर्वजन्म की स्मृतियों को याद कर बहुत पछताते हुए इस तरह कहने लगे। अहो–बड़े दुःख की बात है कि मैं ज्ञानी पुरुषों के मार्ग से भ्रष्ट हो गया। मैंने सब प्रकार की आसक्ति त्यागकर एक पवित्र वन का आश्रय लेकर आत्मज्ञान प्राप्त किया। अपना चित्त भगवान वासुदेव के कीर्तन, मनन, आराधन तथा स्मरण में लगाया लेकिन दुःख! मुझ मूर्ख का मन दैव वश एक मृगशावक के संग से भ्रष्ट हो गया इस प्रकार वैराग्य भाव को छिपाए हुए उस मृगशावक रूपी भरत जी ने अपनी इस योनि से मुक्ति हेतु माता मृगी का परित्याग किया तथा पुलत्स्य या हरिहर आश्रम चले आये तथा वही रहकर काल की प्रतीक्षा करने लगे। अकेले विचरते हुए, सूखे पत्ते खाकर, हरी, घास और झाड़ियों को खाते हुए वह मृगयोनि से मुक्ति की बाट जोहते हुए अन्त में उसी तीर्थ अर्थात् गण्डकी नदी के जल में भीगा हुआ अपना शरीर त्याग दिया।

5.2.1 जन्मान्तर में महाराज भरत जी का ब्राह्मण कुल में जन्म तथा भद्रकाली से रक्षण

पुनर्जन्म में राजर्षि भरत का जन्म अंगिरसगोत्र में उत्पन्न हुए अत्यंत स्वाध्यायी, संतोषी, विनयशील, आत्मज्ञानी तथा प्रसन्नता आदि गुणों से युक्त एक श्रेष्ठ ब्रह्मण के घर में हुआ। ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी पूर्वजन्म के वृत्तान्तों का स्मरण होने के कारण भरत जी भगवद् भक्ति में बाधा न पड़ जाय इस डर से पारिवारिक जनों से दूर रहने लगे तथा भगवान का स्मरण ही हृदय में धारण कर स्वतंत्र रूप से विचरने लगे। ऐसा कर वे लोगों की दृष्टि में स्वयं की उन्मत, पागल तथा अन्धे बहरे के रूप में प्रकट कर रहे थे फिर भी उस ब्राह्मण ने पुत्र स्नेह से अभिभूत हो शास्त्रोक्त विधि से उपनयन संस्कार किया साथ ही पुत्र पिता से उपदेश ग्रहण करे इस शास्त्र की आज्ञानुसार उससे अपेक्षा न रहते हुए भी शौच, आचमन आदि कर्मों तथा नियमों की शिक्षा दी। लेकिन भरत जी ने अपने पिता समक्ष ही उन्हीं के दिये सभी उपदेशों के विरूद्ध आचरण करने लगे, स्थिति यह हुई कि वेदाध्ययन के निमित्त पिता द्वारा किये गए सारे प्रयास निष्फल हो गए। पिता श्रावण मास से प्रारम्भ कर आषाढ़ तक व्याहति, प्रणव तथा शिरो मंत्र सहित त्रिपदा गायत्री का निरन्तर अध्ययन कराते हुए भी मंत्र स्वरादि नहीं सिखा पाए। इस प्रकार आत्मा के समान अपने पुत्र में प्रेम रखने वाला वह ब्राह्मण, भरत जी की प्रवृत्ति न बदल सका और अंततः अचानक अपना मनोरथ पूर्ण होने के पहले ही जबकि वह घर के धन्धों में आसक्त होकर भगवत्सेवा रूपी अपने मुख्य कर्त्तव्य से असावधान था, तभी कभी न चूकने वाले काल ने उसे धर

दबोचा। ब्राह्मण परलोक सिधार गया, उधर उसकी छोटी पत्नी ने अपने दोनों बच्चों को अपनी सौत को सौंप स्वयं पति के साथ सती हो गई।

पिता के परलोक चले जाने के बाद भरत जी के अन्य भाइयों ने भरत जी को नहीं पढ़ाया लिखाया क्योंकि वे उनकी मूल स्थिति से परिचित नहीं थे और उन्हें मूर्ख भी समझते थे। भरत जी की स्थिति यह थी कि बेगारी में भी कोई काम चाहे तो उनसे करा लेता था। बदले में उन्हे अच्छा बुरा जो भी अन्न मिलता था वे पूरे 'मन से उसी को ग्रहण करते थे क्योंकि उनके लिए स्वाद नहीं जीवन निर्वाह जरूरी था। उनके लिए, सुख–दुःख देहाभिमान का कोई अर्थ नहीं था। सभी 'ऋतुओं में' वे नंगे बदन रहते थे। उनके सब अंग स्थूल और परिपुष्ट थे पृथ्वी पर लेटने, स्नान न करने के कारण धूल से उनका ब्रह्मतेज महामूल्य मणि के समान छिपा हुआ था। उनके कमर में एक मैला कुचैला वस्त्र तथा कंधे पर अतिशय मलिन यज्ञोपवीत पड़ा था। अज्ञानी लोग उन्हें अधम ब्राह्मण और 'द्विज' कहकर अपमानित करते थे लेकिन भरत जी पर इन बातों का कोई असर नहीं होता था। दूसरों की मजदूरी करके पेट भरते देख भाइयों ने खेती क्यारी का काम दिया और बदले में चावल की कनकी, भूसी कुछ भी मिल जाता था वे सहज भाव से ग्रहण करते और खाते थे।

एक बार की बात है, शूद्रों के राजा ने पुत्र की कामनावश देवी भद्रकाली को मनुष्य की बलि देने का विचार किया लेकिन जिस पशु को उसने मंगाया था, वह फंदे से निकल कर भाग गया। अनुचरों ने काफी ढूढ़ा लेकिन वे उसका पता नहीं लगा सके तभी अचानक उनके सामने अंगीरस गोत्रिय ब्राह्मण कुमार 'जड़ भरत' जी दिखाई पड़े। उस समय वे वीरासन में बैठकर मृग वराह आदि जानवरों से अपनी खेती की रखवाली कर रहे थे। राजा के अनुचरों को लगा कि इससे बेहतर पुरुष पशु कोई हो ही नहीं सकता। अतः उन्होंने जड़ भरत को रस्सियों से बांधकर चण्डिका देवी के मंदिर में उपस्थित कर दिया। वहाँ पहुँचने पर दस्युओं ने उन्हें विधिवत नहलाया, साफ–सुथरे वस्त्र पहनाएं तथा विविध प्रकार के आभूषण, चंदन माला तथा तिलक आदि से विभूषित कर उन्हें भली प्रकार से भोजन कराया, फिर धूप, दीप, माला, खील, फल, नैवेद्य सहित बलि की विधि से गान तथा मृदंग, पणव आदि का घोष करते हुए उस पुरुषपशु को भद्रकाली के सामने ले जाकर बैठाया। लेकिन जैसे ही दस्यु पुरोहित ने पुरुष पशु के रुधिर से भद्रकाली को तृप्त करने हेतु अभिमंत्रित खड्ग उठाया, वैरहीन तथा सम्पूर्ण प्राणियों के सुहृद एक ब्रह्मर्षि कुमार का वध रूपी भयानक कुकर्म होने जा रहा है ऐसा देख तथा उस ब्रह्मकुमार के तेज से शरीर में एक दाह उत्पन्न होने के कारण देवी भद्रकाली एकाएक अपनी प्रस्तरमूर्ति को फोड़कर प्रत्यक्ष प्रकट हो गईं। उस समय देवी का स्वरूप भयानक और रौद्र था। क्रोधवश चढ़ी हुई भृकुटियां, चंचल लाल नेत्रों के कारण उनका मुखमण्डल भयानक प्रतीत हो रहा था। ऐसा लगा जैसे भद्रकाली सम्पूर्ण संसार का संहार कर डालेगी। अचानक क्रोध से उछली और बड़ा सा अट्टहास करते हुए उसी अभिमंत्रित खड्ग से पापी दुष्टों का मष्तक काटकर अपने गणों सहित उनके गले से बहता गर्म–गर्म रूधिर रूपी मदिरा पीकर अतिशय उन्मत्त हो ऊँचे स्वर से गाती तथा नाचती हुई उनके सिररूपी गेंदों से खेलने लगी। इसलिए कहा गया है कि सत्पुरुषों के प्रति किया गया अभिचार या मन्त्रोच्चार विधि से किए जाने वाले प्राणान्त रूपी अपराध ज्यों का त्यों अपने ही ऊपर आ पड़ता है। इस प्रकार जड़भरत की रक्षा भद्रकाली ने स्वयं उपस्थित होकर की।

5.2.2 महाराज भरत तथा राजा रहूगण का साक्षात्कार

एक बार की बात है। सिन्धु तथा सौवीर देश के स्वामी 'राजा रहूगण' पालकी पर चढ़कर कहीं जा रहे थे। जब वे इक्षुमति नदी के तट पर पहुँचे तो उनकी पालकी ढोने वाले कहारों के मुखिया को एक और कहार की आवश्यकता महसूस हुई। ढूंढना प्रारम्भ किया तो भाग्यवश द्विज श्रेष्ठ भरत जी मिल गए। भरत जी को देखकर कहारों ने सोचा कि यह मनुष्य बेहद मोटा, ताजा, पुष्ट और जवान दिख रहा है इसलिये यह बैल और गधे के समान कोई भी भारी बोझ ढोने में सवर्था समर्थ दिखाई पड़ता है और भरत जी को उन्होंने पालकी के साथ जोत दिया। भरत जी भी क्या करते! पालकी उठाई और चल पड़े। चलते समय भरत जी के मन यह भाव भी चल रहा था कि मेरे पैरों से दब कर किसी जीव की मृत्यु न हो जाय, अतः वे जमीन पर अपना पैर बहुत बचाकर चल रहे थे लेकिन ऐसा करने से अन्य कहारों की गति से उनकी गति मेल नही खा रही थी। अतः पालकी बार–बार तेजी से हिलने लगी। ऊपर नीचे होने लगी। अचानक ऐसी स्थिति के बीच राजा रहूगण की आवाज आती है– अरे ओ कहारों! अच्छी तरह चलो! पालकी को ऐसे ऊपर नीचे क्यों लेकर चल रहे हो! कहार डर गए कि अब तो दण्ड मिलेगा। उन्होंने भयभीत होकर राजा रहूगण से कहा कि हे महाराज! हम लोग असावधान नहीं है बल्कि यह जो नया कहार पालकी में जोड़ा गया है वही असावधानी से चल रहा है, इसलिए पालकी हिल रही है। वह बहुत जल्दी–जल्दी भी चल रहा है, इसलिये समस्या है, हम लोग इसके साथ पालकी नहीं ले जा सकेंगे।

दीन कहारों के इन वचनों को सुनकर राजा रहूगण ने विचार कि 'संसर्ग से जायमान दोष एक व्यक्ति में होने पर भी, उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य सभी पुरुषों में हो सकता है। यही विचार कर राजा रहूगण को क्रोध आ गया। उसकी बुद्धि रजोगुण से भर गई तथा ब्रह्मतेज से भरे लेकिन अस्पष्ट भरत जी से बोला कि भाई! तू बहुत थका हुआ मालूम होता है राजा ने व्यंग्य भी किया और कहा कि– इतनी दूर से तू अकेले पालकी लादकर चला आ रहा है, तू बहुत ह्रष्ट–पुष्ट भी नहीं है। तुम्हे तो बुढ़ापे ने अलग से दबा रखा है। लगता है तेरे इन साथियों ने तो अभी पालकी में हाथ भी नही लगाया है। भरत जी राजा को चुपचाप सुन रहे थे और पालकी उठाए चले जा रहे थे। थोड़ी ही देर में पालकी और भी तेज गति से हिलने लगी। राजा रहूगण ने जब पालकी को फिर से हिलते देखा तो वह अतिशय क्रोधित हो गया और बोला कि– अरे! क्या बात है? तू जीते जी मृत्यु का आवाहन करता है? जिस तरह तू अपने स्वामी की अवज्ञा कर रहा है उस तरह तो बड़ा उन्मत्त और उदण्ड दीखता है। मैं अभी तेरी उद्दण्डता की दवा करता हूँ। भरत जी ये सब अत्यंत शांत भाव से सुनते रहे और अंत में कुछ भी क्रोध न करके मन्द स्मित के साथ कहा कि– हे राजन! तुम्हारा कथन यथार्थ है। मैं इसे उलाहना नहीं समझता, यदि बोझ ढोने तथा मार्ग में चलने वाला शरीर ही ''मैं' होता तो मुझे इस भार का क्लेश तथा मार्ग का श्रम अवश्य होता। इसके अतिरिक्त तुम्हारा यह कहना भी उचित ही है कि 'तू बहुत हृष्ट–पुष्ट भी नहीं हैं क्योंकि हृष्ट–पुष्ट होना आदि भी धर्म शरीर के ही होते हैं, आत्मा के नहीं। तत्त्वज्ञानियों का यह वचन है।

स्थूलता, कृशता, आधि–व्याधि, क्षुधा, तृषा, भय, कलह इच्छा, जरा, निद्रा, प्रेम, क्रोध अभिमान एवं शोक ये सारे धर्म देहाभिमान से उत्पन्न होने वाले व्यक्ति में ही रहा करते हैं। मुझमें तो यह तनिक भी नहीं है। हे राजन! रह गई जीने मरने की बात, वे जितने भी आदि अन्त युक्त परिणामशील पदार्थ हैं, उन सबमें नियमित रूप से ये दोनों

बातें विद्यमान देखी जाती हैं। हे स्तुत्य! जहाँ कहीं स्वामी सेवक भाव निश्चित रहता है, वही पर आज्ञापालन आदि का नियम लागू हो सकता है, अन्यत्र नहीं। राजा–प्रजा का भेद बुद्धि के लिए व्यवहार को छोड़ और कही कुछ अवकाश नहीं दीखता। परमार्थिक रूप से विचारणीय है कि कौन किसका स्वामी और कौन किसका सेवक है? वैसे मेरे जैसे जड़ और उन्मत व्यक्ति को दण्ड देने से तुम्हारा कौन सा मतलब निकलेगा? यदि मैं सचमुच मूर्ख हूँ तो फिर तुम्हारा इस प्रकार शिक्षा देना पिष्ट पेषण ही है। ऐसे तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण शब्दों को सुनकर सिन्धु तथा सौवीर देश का नरेश राजा रहूगण पालकी से नीचे उत्तर पड़ा तथा सम्पूर्ण राजमद को त्यागकर जड़भरत जी के चरणों में अपना माथा रखकर अपराध क्षमा मांगते हुए कहने लगा कि– हे भगवन! द्विजों के चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत धारण कर गुप्त भाव से विचरने वाले आप कौन हैं? आप दत्तात्रेय आदि अवधूतों आदि में से तो कोई नहीं? आप किसके पुत्र हैं? आपका जन्म स्थान कहाँ हैं? आप कहाँ से आए हैं? हमारे कल्याण के लिए पधारे आप भगवान कपिल मुनि तो नही है? मैं इन्द्र के वज्र, महादेव के त्रिशूल यमराज के दण्ड, अग्नि सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेर के शस्त्रों से भी नहीं डरता, बस एक ही बात से डरता हूँ कि मुझसे किसी ब्राह्मण कुल का अपमान न हो जाए, इससे बहुत डरता हूँ। अतः आप बताइये कि इतने गम्भीर और अपनी महिमा को छुपाकर यूँ असंग भाव से मूर्खों की भांति विचरने वाले आप कौन हैं? हे साधो आपके योगग्रन्थ वाक्यों को समझने में मेरी बुद्धि तनिक भी समर्थ नहीं दिखती। मैं तो आत्मतत्त्व के ज्ञाता कपिलमुनि के आश्रम केवल यही जानने के लिए जा रहा था कि इस संसार में एक मात्र शरण लेने योग्य कौन है? कहीं आप कपिल मुनि ही तो नहीं जो सम्पूर्ण लोकों की दशा देखने के लिए अपना रूप छिपाकर इस तरह विचर रहे हैं। मेरे जैसा घर में आसक्त एवं विवेकहीन पुरुष– योगीश्वरों की गति को भला कैसे जान पायेगा। मैंने सांसारिक कार्यों से अपने को थकते देखा है, इसलिए अनुमान करता हूँ कि बोझा ढोने तथा मार्ग में चलने से आपको भी श्रम अवश्य हो रहा होगा।

मुझे यह बात नहीं समझ आई कि 'मुझे कोई श्रम नहीं होता' ये कैसे सम्भव है? इसके अतिरिक्त आपने कहा कि हमारा और तुम्हारा स्वामी सेवक का भाव केवल व्यवहार मात्र है, वह व्यवहार मार्ग भी तो अपने मूल कारण के साथ सत्य ही माना जाता है। जैसे चूल्हे पर रखी बटलोही अग्नि से गर्म होती है, उसका पानी खौलने लगता है, फिर चावल का भीतरी भाग सींझ जाता है, ठीक वैसे ही देह, इन्द्रिय तथा मन के द्वारा जीव को विषयों का ज्ञान होता है। इस प्रकार राजा प्रजा को शासित तथा पालन करने के लिए नियुक्त एक सेवक होता है, अतएव उन्मत्त प्राणियों को दण्ड देना भी राजा द्वारा पिष्ट–पेषण ही है। क्योंकि अपने धर्म का आचरण करना ही भगवान की सच्ची सेवा होती है। राजा रहूगण भरत जी से क्षमा मांगता है, फिर कहता है कि हे दीनबन्धु! राजत्व के अभिमान वश उन्मत्त होकर मैंने आप सरीखे साधु श्रेष्ठ का अपमान किया है। आप मुझपर कृपा करें, जिससे साधु के अवज्ञाजनित पाप से मुक्त हो जाऊँ। मैं जानता हूँ कि आप जैसे जगत् हितकारी तथा देहाभिमान रहित महापुरुष को, ऐसे मानापमान से कोई विकार नही होगा फिर भी महापुरुषों का अपमान करने के कारण मेरे जैसा मनुष्य साक्षात शिव की तरह समर्थ होते हुए भी नष्ट हुए बिना नहीं रह सकेगा।

5.2.3 भरत जी का राजा रहूगण को उपदेश

भरत जी राजा रहूगण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि– राजन! जब तक कि मनुष्य अपने ज्ञानोदय के द्वारा माया का तिरस्कार करके, सबका संग त्याग तथा काम

क्रोधादि छहो शत्रुओं को तथा सारे आत्मतत्त्व को नहीं जान लेता और जब तक वह आत्मा की उपाधिस्वरूप मन को सारे संसार के दुःख का क्षेत्र नहीं समझ लेता, तब तक वह संसार में उसी तरह भटकता रहता है, क्योंकि यह चित्त उसे मोह, रोग, राग लोभ और वैर आदि बन्धन से बांधे रहता है तथा उसकी ममता को बढ़ाता रहता है। अतएव, जो उपेक्षा करते रहने के कारण बहुत बलवान हो गया है, वह अपने आत्मा को आच्छादित करने वाले उस मन रूपी प्रबल कपटी शत्रु को तुम श्री गुरू तथा श्रीहरि के चरणों के सेवा रूपी शस्त्र से मार डालो।

5.3 कथा का नैतिक पक्ष

सम्पूर्ण कथा का नैतिक पक्ष यह है कि इस मृत्यु लोक में मानव शरीर पाकर व्यक्ति के लिए यह उचित नहीं है कि वह भोजन करते हुए दुखःमय विषयभोगों में लिप्त रहे। प्रत्येक मनुष्य को तप का आचरण करना चाहिए जिससे उसका अंतःकरण शुद्ध हो तथा वह परमतत्व की प्राप्ति कर सके। मानव के लिए महापुरूषों की सेवा ही मुक्ति का द्वार है और कामी पुरूषों का संग नरक का द्वार होता है। महापुरूष वे ही कहे जाते हैं जो समानचित्त, शान्तस्वभाव, क्रोधहीन, सबके प्रिय तथा सदाचार सम्पन्न होते हैं। जब तक तक जीव को परमतत्त्व की जिज्ञासा नहीं होती, तभी तक वह अज्ञानवश उसका स्वरूप देहादि द्वारा छिपा रहता है।इस तरह अविद्यावश आत्मस्वरूप के आच्छादित हो जाने के कारण कर्मवासनाओं के वशीभूत चित्त मनुष्य को फिर से कर्मों में लगा देता है।भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब तक जीव की मुझ भगवान में प्रीति नहीं होती ,तब तक वह देहबन्धन से नहीं छूट पाता। उपर्युक्त के अतिरिक्त यहां कुल निहितार्थ यह है कि मनुष्य को किसी भी चीज़ के प्रति हुई आसक्ति बहुत दुःख देती है तथा जन्म–मरण के चक्र में फँसा देती है अर्थात् मन की आसक्तियाँ ही बार–बार जन्म मरण में लाती हैं। इसलिए किसी भी प्रकार की आसक्ति से बचिए। गुरु या ईश्वर का सानिध्य, ज्ञान तथा भक्ति ही इस आसक्ति को काट सकते हैं। जड़भरत का चरित हमें यह शिक्षा देता है कि मजबूत, कमजोर, क्रोध, घृणा, शोक, खुशी जैसी अवधारणाएं उन लोगों पर लागू होती हैं जो खुद को शरीर के साथ पहचानते हैं अर्थात जिस दिन यह लगेगा कि यह शरीर ईश्वर प्रदत्त है इसमें ईश्वर का वास है उसी दिन ऐसी तमाम अवधारणाएं आपके मन से स्वतः समाप्त हो जाएंगी। मनुष्य को हर समय भगवान नारायण की स्तुति करनी चाहिए। शरीर हर समय रूपांतरित होता है और जो कुछ भी रूपांतरित होता है उसका आरंभ और अंत होता है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को हमेशा ऐसी चीज की तलाश करनी चाहिए जो शाश्वत और अपरिवर्तनीय हो। कथा हमें यह भी संदेश देती है कि सत्पुरूषों के प्रति किया गया अपराध ज्यों का त्यों अपने उपर आ पड़ता है अतः साधु जनों का सदैव सम्मान तथा आदर करें।

5.4 सारांश

जड़भरत की यह कथा हमें बताती है कि इस जगत में सब मोह माया है। यहां न कोई राजा है न प्रजा, न कोई अमीर है, न कोई गरीब, न कोई कृषकाय है, न कोई स्थूलकाय, न कोई मनुष्य है, न कोई पशु। सब आत्मा ही आत्मा हैं। ब्रह्म ही ब्रह्म हैं। मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। यही मानव–जीवन की सार्थकता है। यही श्रेष्ठ ज्ञान है, और यही श्रेष्ठ धर्म है। राजा रहूगण को उत्तर देते हुए जड़भरत ने कहा कि ,राजन जो मैं हूं, वही आप हैं। न कोई गुरु है, न कोई शिष्य। सब आत्मा है, ब्रह्म हैं। आप जब तक संसार में रहें, अपने आचरण और व्यवहार से अपने ज्ञान को प्रकट करते रहें। यह प्रसंग हमें शिक्षा देता है कि यह सारा

जगत् ब्रह्म से निकला है और ब्रह्म में ही समा जाता है। ब्रह्म की इस लीला को जो समझ पाता है, उसी को जगत् में सुख और शांति प्राप्त होती है।

5.5 पारिभाषिक शब्दावली

तीर्थंकर : जो तीर्थ का निर्माता होता है

दिगम्बर : जो वस्त्र धारण नहीं करते

चातुर्मास : वर्षा ऋतु के चार माह जब साधु सन्यासी एक ही स्थान पर प्रवास करते हैं

अग्निहोत्र : यज्ञ की एक विधि

मृगशावक : हिरण का बच्चा

अंगिरस : हिन्दू धर्म में एक गोत्र का नाम

अनीश्वरवादी : जो ईश्वर को नहीं मानते

जड़ : स्थिर बुद्धि/विवेक शून्य

कनकी : चावल की उपरी परत

दस्यु : डकैत

प्रस्तर मूर्ति : पत्थर की मूर्ति

5.6 सन्दर्भग्रन्थ

- श्रीमद्भागवत– पंचम स्कंध, अष्टमोध्याय, महापुराणम्, व्याख्याकार– पण्डित रामतेज पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली
- जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन, डॉ. शिवप्रसाद, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, करौंदी, वाराणसी

5.8 बोधप्रश्न

- मनुष्य अपने सत्कर्मों से ही बड़ा होता है, इस कथन की पुष्टि कीजिए।
- जड़भरत कथा के आधार पर कर्म के सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
- राजा भरत के अनुसार इस संसार में दुखः का कारण क्या है?
- राजा भरत के सभी जन्मों की कथा संक्षेप में लिखिए।
- राजा भरत कर्म के किस स्वरूप के कारण योग और भक्ति मार्ग से भ्रष्ट हो गए?

खण्ड 4
बन्धन

चतुर्थ खण्ड का परिचय

चौथे खण्ड का नाम बन्धन है। इसमें भी वर्णन के लिए चार शीर्षक हैं। कर्म के अनुसार ही जीव की उत्पत्ति होती है फिर वह उसी अनुसार बन्धन में पडता है। पुन: उसका जन्म होने लगता है। ऐसी स्थिति तब तक होती है जब तक मोक्ष नहीं हो जाता। अत: इसी आलोक में आप चतुर्थ खण्ड में बन्धन को जानेगें। हिन्दू सनातन में पुनर्जन्म के मूल में बन्धन भी है। मुक्त न होना बन्धन कहलाता है। इसको समझने के लिए हमें सबसे पहले जीव को जानना होता है। इसी कारण प्रथम इकाई में जीव की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। जीव ही बन्धन में आता है। बन्धन चार प्रकार का होता है। चारों प्रकारों को दूसरी इकाई की विषयवस्तु के रूप में रखा गया है। भगवद्गीता भी बन्धन की व्याख्या करती है। इस ग्रन्थ के अनुसार तीसरी इकाई में बन्धन के कारणऔर उसकी प्रक्रिया को बताया गया है। दर्शन के आधार पर बन्धन के विभिन्न सिद्धान्तों को स्पष्ट करने हेतु चतुर्थ इकाई में दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अत: इस खण्ड की चार इकाइयों के अध्ययन से आप जीव और बन्धन की व्याख्या करने में सफल होंगें।

इकाई 2 बन्धन का स्वरूप : परिभाषा, प्राकृत, वैकृत, दाक्षणिक

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप,

- जीव के अस्तित्त्व के लिए बंधन की आवश्यकता को समझ सकेंगे।
- बंधन के स्वरूप एवं परिभाषा को जान सकेंगे।
- सांख्य योग–दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्राकृत, वैकृत तथा दाक्षणिक बंधन का अर्थ एवं स्वरूप जान पाएंगे।
- बंधन के पारमार्थिक व्याख्या से परिचित हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों आपने अभी पढ़ा कि जीव इस जगत् में बन्धनों के कारण ही दुःख को प्राप्त करता है। जीव को दुःख प्राप्त होना एक नियमबद्ध प्रक्रिया है। इस नियम को जानकर हम उसके परिहार का उपाय कर उन दुःखों से मुक्त हो सकते हैं। जीव का जीवत्म उसके गुण धर्मों में व्यावहारिक चेष्टाएँ तभी तक है जब तक वह बंधन ग्रस्त है। सांख्य तथा योगदर्शन में बन्धन के तीन प्रकारों का वर्णन किया है। जिसे प्राकृत, वैकृत तथा दाक्षणिक बन्धन कहा गया है। वाचस्पति मिश्र नामक दार्शनिक ने अपने ग्रंथ सांख्य तत्त्व कौमुदी में इन विषयों पर पर्याप्त विचार किया है।

2.2 पुरूष और प्रकृति का बन्धन

'प्रकृति' जड़ और नित्य है। ''पुरुष'' के साथ–साथ 'प्रकृति' का अस्तित्व अनादिकाल से चला आ रहा है। ''पुरुष'' का बिम्ब ''प्रकृति'' पर पड़ता है जिससे ''प्रकृति'' या ''बुद्धि'' चेतन की तरह अपने को समझने लगती है व्युत्क्रम रूप से बुद्धि के स्वरूप का आभास पुरुष पर भी पड़ता है जिसके कारण निष्क्रिय, निर्लिप्त, निस्त्रैगुण्य ''पुरुष'' भी कर्ता, भोक्ता, आसक्त मालूम होने लगता है। पुरुष और प्रकृति के इसी कल्पित

तथा आरोपित सम्बन्ध को बन्धन कहते है इसी बन्धन को दूर करना पुरुष का अपने आपको पहचानना प्रकृति को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही ''विवेक बुद्धि'' है यही मुक्ति है।

ईश्वर कृष्ण का कथन है कि महत् से लेकर भूतों तक की सृष्टि प्रकृति ही करती है और यह सृष्टि वस्तुतः प्रत्येक ''पुरुष'' को मुक्त करने के लिए ही होती है।

सृष्टि करने के लिए प्रकृति किसी की साहाय्य नहीं लेती पुरुष का बिम्ब जो प्रकृति पर पड़ता है वह भी किसी के प्रयत्न से नही। सब स्वभाव से ही होता है।

प्रकृति अचेतना होकर सृष्टि किस प्रकार कर सकती है इस प्रश्न का एकमात्र समाधान है– पुरुष की अध्यक्षता में विद्यमान ''प्रकृति का स्वभाव''। जिस प्रकार अचेतन दूध गाय के थन से निकल कर बछड़े की वृद्धि के लिए उसके मुँह में 'स्वभाव' ही से चला जाता है उसी प्रकार पुरुष की मुक्ति के लिए प्रकृति महत् आदि तत्वों की सृष्टि स्वभाव से ही करती है। इसमें प्रकृति का अपना स्वार्थ नही है वस्तुतः यह सभी परार्थ अर्थात् दूसरे के लिए ही है।

पुरुष को मुक्त करने के लिए प्रकृति नाना प्रकार के उपायों को रचती है। मुक्ति एक जन्म के प्रयत्न से मिलना संभव नहीं है। इसीलिए अपने प्रभुत्व के बल से तथा धर्म, अधर्म आदि बुद्धि के आठों साहाय्य से प्रकृति एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को धारण करती है। उसके भिन्न–भिन्न शरीर धारण करने का भी एकमात्र उद्देश्य है– पुरुष को बन्धन से छुड़ाना।

प्रकृति

सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है, अर्थात् प्रकृति में ये तीनों गुण विद्यमान रहते है। इसलिए प्रकृति के परिणामस्वरूप इस जगत् में तथा जागतिक पदार्थों में भी ये तीनों (सत्व, रज, तम) गुण विद्यमान रहते हैं। जगत के प्रत्येक पदार्थ की त्रिगुणात्मिकता इसी से सिद्ध है कि एक ही वस्तु किसी के हृदय में आनन्द, किसी के दुःख और किसी के चित्त में मोह पैदा करती है।

सांख्य में प्रकृति मूल तत्व है, वह नित्य है। चेतन के संयोग से प्रकृति के इन गुणों में जब वैषम्य आता है तब सृष्टि होती है। सृष्टि से पूर्व यह समस्त कार्यरूप जगत् प्रकृति में अव्यक्त रूप में रहता है, इसीलिए इसे अव्यक्त भी कहते हैं।

सूक्ष्म शरीर के द्वारा पुरुष जगत में विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। यह कभी मनुष्य बनता है तो कभी पशु और कभी वनस्पति आदि। इस प्रकार परशुराम, युधिष्ठिर, उदयन आदि अनेक पुरुषों का रूप धारण करने वाले नट की भाँति यह सूक्ष्म शरीर अनेक योनियों में उत्पन्न होकर अनेक शरीर धारण करता है।

वस्तुतः तो यह सूक्ष्म शरीर ही विभिन्न योनियों में संसरण करता है किन्तु अनादि अविद्या के कारण पुरुष या आत्मा उसके साथ अपना तादात्म्य या अभेद ग्रहण करने के कारण उस संसरण अर्थात् जन्म मरण को एवं उसके साथ होने वाले दुःख को अपना समझ लेता है। यही उसका बन्धन है और इसी से छुटकारा पाने के लिए सारी आध्यात्मिक साधना बताई गई है। यह छुटकारा अज्ञान मिटने पर ही मिल सकता है अथवा इसे और अच्छे ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि अज्ञान से मुक्ति ही जन्म मरण से मुक्ति है, दुःखों से मुक्ति है, अज्ञान से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान ही हो सकता है। ''तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित संसरति बध्यते मुच्यते च

नानाश्रया प्रकृतिः।।''

अर्थ इसलिए पुरुष न बँधता है, न मुक्त होता है, न ही संसरण करता है। अनेक (उपाधि) का आश्रय करने वाली प्रकृति बंधती है, मुक्त होती है और संसरण करती है।

अपरिणामित्व तथा निर्गुणत्व के किसी पुरुष का न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष होता है। अनेक पुरुषों के आश्रय में रहने वाली बुद्धि रूप प्रकृति का ही संसरण, बन्धन और मोक्ष होता है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार ''यह निश्चित है कि पुरुष का बन्धन, संसरण और मोक्ष आदि कुछ नहीं होता है। बन्ध और मोक्ष केवल प्रकृति अर्थात् लिंग शरीर के ही माने जाते हैं। पुरुष में केवल इनको आरोपित किया जाता है, जैसे कि विजय और पराजय सैनिक की ही होती है परन्तु राजा एवं स्वामी में आरोपित की जाती है जब तक प्रकृति और पुरुष का भेद, पुरुष को तत्व–बोध के रूप में नही होता तभी तक भोग और अपवर्ग पुरुष के ही होते हैं।

साक्षात् न कोई बद्ध होता है न छूटता है, न जन्मान्तर में घूमता है। प्रकृति ही नाना आश्रय (देव, मनुष्य योनि) वाली हुई घूमती बन्धती और छूटती है। अज्ञान जो बन्ध का कारण और ज्ञान जो मोक्ष का कारण है और धर्म अधर्म जो संसार के कारण है यह बुद्धि के धर्म है इनका साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि से है क्योंकि परिणाम बुद्धि में होता है, पुरुष अपरिणामी है। इसलिए इनका फल जो बन्ध मोक्ष और संसार है उनका भी साक्षात् सम्बन्ध बुद्धि से है पुरुष एक रस रहता है बन्ध में भी मोक्ष में भी और संसार में भी। हाँ, बुद्धि में भेद होता है अज्ञान में जो अवस्था बुद्धि की होती है, ज्ञान में उससे भिन्न हो जाती है।

इस प्रकार प्रकृति ही अपना बन्धन करती है और मुक्त भी होती है तथा संसरण भी करती है। सृष्टि के आदि में जो सूक्ष्म तन्मात्रिक शरीर है वही त्रयोदश विध इन्द्रियों से संयुक्त होकर त्रिविध बन्ध से बद्ध होकर संसरण करता है वह बन्ध–प्रकृति, वैकारिक एवं दक्षिणा बन्ध है।

गौड्पादभाष्य में कहा गया है–

> प्राकृतेन च बन्धेन तथा वैकारिकेण च
> दक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते।

बन्ध, मोक्ष तथा संसरण प्रकृति का ही होता है क्योंकि पुरुष तत्व निर्गुण, अपरिणामी निष्क्रिय तथा अकर्ता आदि है, जिसके फलस्वरूप वह न तो बन्धन को प्राप्त करता है, न हि उसकी मुक्ति होती है और न ही संसरण करता है।

> ''पुरुषों न बद्धयते, नापि मुच्यते, नापि संसरति''

प्रकृति किन गुणों से अपने को बांधती है? और किन गुणों से अपने को मुक्त करती है?

> रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
> सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण।।

प्रकृति अपने को सात भावों से बन्धन को प्राप्त करती है वे सात भाव–अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य। इन सात भावों से प्रकृति अपने आपको बंधन

में डालती है और वही फिर पुरुषार्थ के लिए (पुरुष का परम प्रयोजन मोक्ष सम्पादन करना है, इसके लिए) एकरूप (ज्ञान रूप) से अपने आप को छुड़ाती है। अर्थात् यह ज्ञान रूप से निवृत्ति ही मुक्ति कही गई है।

पञ्चशिखाचार्य

पञ्चशिखाचार्य के अनुसार अज्ञान बन्धन का मुख्य कारण है।

व्यक्तमव्यक्तं वा सत्वमात्मत्वेनामि प्रतीत्य तस्य सम्पदं मनुनन्दत्यात्म सम्पदं मन्वानस्तस्यव्यापदमनु शोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः।

चेतन या अचेतन वस्तु को आत्मा की तरह समझकर उसकी सम्पत्ति से आनन्दित होता है, अपनी सम्पत्ति समझता हुआ और उसकी विपत्ति से शोक में डूबता है अपनी विपत्ति समझता हुआ, ऐसा हर एक पुरुष मूढ़ है।

यहाँ बन्धन अर्थात् अविद्या और अज्ञान का स्वरूप दिखाया गया है। पुरुष का आत्मा जैसे उसके कमाए धन आदि या रहने के घर आदि या उसकी अन्य सम्पत्ति से अलग है। पुरुष का आत्मा पुरुष के शरीर से भी अलग है इनके घटने (सम्पत्ति) बढ़ने, मृत्यु आदि से आत्मा का कुछ नही घटता बढ़ता तथापि पुरुष अपने स्वरूप को न जानता हुआ वह इतना भूलता है कि न केवल शरीर को ही आत्मा मानकर शरीर के सुख–दुःख से सुखी दुःखी होता है, अपितु पुत्र, पत्नी पशु आदि चेतन और धन–धान्य आदि अचेतन वस्तुओं में ऐसा बन्धन बाँध लेता है कि मानो वह उसका आत्मा है अतएव उनकी सम्पदा देखकर अपने आपको सम्पदा वाला मान लेता है और उनकी विपदा देखकर अपने आपको विपदा वाला मान लेता है। पुत्र के मरने से कहता है 'मैं मर गया'। धन क्षीण होने से कहता है, ''मैं क्षीण हो गया''। यह सब उसके लिए अपने आपको भूलने का फल है। वस्तुतः आत्मा न उनकी सम्पदा से सम्पन्न हुआ, न विपत्ति से विपन्न हुआ। वस्तुतः इस बन्धन का मूल कारण अज्ञान है अर्थात् मूल बुद्धि और पुरुष का अविवेक है।

बुद्धितः परं पुरुषामाकार शीलविद्यादिभिर्विभक्तम पश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धि मोहेन।।

बुद्धि से परे पुरुष को स्वरूपशील और विद्या आदि से अलग न देखता हुआ मोह (भूल) से उसमें आत्म बुद्धि कर लेता है।

पुरुष और बुद्धि दोनों अलग–अलग है पुरुष का स्वरूप शुद्ध, शील–उदासीनता और विद्या, चेतनता का है, इसके विपरीत बुद्धि का स्वरूप त्रिगुणात्मिका होने से अशुद्ध, अनुदासीन और जड़ है। पुरुष बुद्धि से अलग है फिर भी उसे अलग न समझता हुआ भूल से बुद्धि को आत्मा समझ लेता है और बन्धन में रहता है।

2.3 बन्धन के प्रकार

कपिल मुनि प्रणीत तत्व समास में कहा गया है–

''त्रिविधो बन्धः'' ''त्रिविधो मोक्षः''

तीन प्रकार का बन्धन है– दाक्षिणक, वैकारिक और प्राकृतिक

दाक्षिणक

जो साक्षात्कार से शून्य रहकर फल कामना के अधीन होकर केवल इष्ट पूर्त कर्मों में रत है, वह दक्षिण मार्ग से चन्द्रलोक में फल भोगकर फिर आते हैं क्योंकि वह अभी

मुक्त नही हुए हैं। इष्ट का अर्थ है वेद में वर्णित विविध यज्ञ और पूर्त का अर्थ है पुराणों में वर्णित परोपकार के कार्य, जैसे– वाटिका, बावड़ी, कूप धर्मशाला आदि का निर्माण जो आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं जानता वह यज्ञ और परोपकार कार्यों की अभिलाषा से उन कार्यों में मनोयोगपूर्वक व्याप्त होता है और बन्धनों से आबद्ध होता है।

वैकारिक (वैकृतिक) बन्धन

जो इन्द्रिय और मन इन विकारों को ही उपासना द्वारा साक्षात् कर रहे हैं वह भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर फिर जन्म धारण करते हैं, यह वैकृतिक बन्धन है। जो प्रकृति के कार्यभूत–इन्द्रिय–अहंकार और बुद्धि तत्व को आत्मा समझकर उन्हीं की आत्मभाव से उपासना करते हैं उन्हें वैकारिक बन्ध होता है।

प्राकृतिक बन्धन

जो विकारों से आगे पहुँचकर आठ प्रकृतियों (अव्यक्त महत् अहंकार पंचतन्मात्रा (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) को ही साक्षात् कर रहे हैं, वही भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर डुबकी लगाए हुए पुरुष की तरह फिर उठते हैं उनका यह बन्ध प्राकृतिक कहलाता है। अर्थात् जो लोग प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी की आत्म रूप में उपासना करते हैं उन्हे प्राकृतिक बन्धन होता है और वे प्रकृति में आत्म चिन्तन करने के फलस्वरूप पूरे शतसहस्त्र (1,00,000) वर्ष तक प्रकृति में मुक्त कल्प होकर अवस्थित रहते हैं।

इन तीनों बन्धनों की दो कोटि होती है– पूर्वकोटि और उत्तर कोटि

उत्तर कोटि

वे योगी जो प्रकृति आदि में आत्मचिन्तन कर प्रकृति में लीन होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं उनको मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर संसार में पुनः आना पड़ता है।

पूर्व कोटि

जो संसारी जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करके मुक्त होते हैं उन्हें बन्धनों की पूर्व कोटि होती है क्योंकि मुक्ति के बाद उन्हें किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता।

ईश्वर में बन्धन की ये दोनों कोटियाँ नही होती इसलिए ईश्वर निर्बाध रूप से नित्य मुक्त होता है। जैसा कि पतंजलि ने अपने योग दर्शन में कहा है कि– ''जो पुरुष क्लेश– कर्म–विपाक और आशयों से कभी भी संयुक्त नहीं होता वह पुरुष विशेष ही ईश्वर है।''

2.4 प्राकृतिक, वैकृतिक, सांसिद्धिक पर्याय रूप में

''वाचस्पति मिश्र'' ने बुद्धि के ज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य अज्ञान आठों भावों को प्राकृतिक तथा वैकृतिक दो कोटियों में रखा है तथा मूल के ''सांसिद्धिक'' पद को प्राकृतिक पद का लक्षण माना है, उसकी परिभाषा माना है।

''नारायण तीर्थ'' ने भी वाचस्पति मिश्र का ही अनुसरण करते हुए ''सांख्य चन्द्रिका'' टीका में प्राकृतिक वैकृतिक दो ही कोटि माने हैं।

''गौड़पाद'' ने प्राकृतिक, वैकृतिक के अतिरिक्त सांसिद्धिक को तीसरी कोटि में रखा है अर्थात् सांसिद्धिक को अलग प्रकार मानते है।

''युक्तिदीपिकाकार'' ने भी सांसिद्धिक को प्राकृतिक से पृथक तीसरी कोटि माना है। कुछ स्थलों पर यह भी कहा गया है कि सांसिद्धिक और असांसिद्धिक ये दो भाव प्राकृतिक भाव सांसिद्धिक एवं वैकृतिक भाव असांसिद्धिक है।

माठर वृत्ति में कहा गया है कि धर्मादि भाव सांसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृतिक नाम वाले कहे जाते हैं।

माठर तथा गौडपाद के अनुसार भगवान कपिल के साथ उत्पन्न धर्मादि भाव सांसिद्धिक भाव तथा ब्रह्मा के सनकादि मानस पुत्रों के षोड़शवर्ष में अकस्मात् उत्पन्न धर्मादि भाव प्राकृतिक कहे गये हैं। जहाँ पर विकारी तत्वों को निमित्त मानकर धर्मादि भाव उत्पन्न होते हैं वे वैकृतिक भाव कहलाते हैं।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार सर्गादि में कपिल के साथ उत्पन्न हुए धर्मादि भाव प्राकृतिक हैं तथा जो उपायों के अनुष्ठान निमित्त होते हुए धर्मादि भाव उत्पन्न होते हैं वे वैकृतिक कहे जा सकते हैं।

त्रिविधो मोक्षः

दाक्षिणक, वैकारिक और प्राकृतिक यह तीनों बन्धन से छूटना तीन प्रकार का मोक्ष है। निष्काम होना दाक्षिणक बन्ध से मोक्ष है और विकृति और प्रकृति से चित्त के परे ले जाकर अपने स्वरूप में स्थिति लाभ करना वैकारिक और प्राकृतिक बन्ध से मोक्ष है।

2.5 सारांश

अभी तक आपने सांख्यदर्शन के अनुसार प्राकृत, वैकृत तथा दाक्षणिक बन्धन के बारे में विस्तृत अध्ययन किया। अब हम आपको संक्षेप में बतायेंगे।

जो साक्षात्कार से शून्य रहकर फल कामना के अधीन होकर केवल इष्ट पूर्त कर्मों में रत है, वह दक्षिण मार्ग से चन्द्रलोक में फल भोगकर फिर आते हैं क्योंकि वह अभी मुक्त नही हुए हैं। इष्ट का अर्थ है वेद में वर्णित विविध यज्ञ और पूर्त का अर्थ है पुराणों में वर्णित परोपकार के कार्य, जैसे– वाटिका, बावड़ी, कूप धर्मशाला आदि का निर्माण जो आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं जानता वह यज्ञ और परोपकार कार्यों की अभिलाषा से उन कार्यों में मनोयोगपूर्वक व्याप्त होता है और बन्धनों से आबद्ध होता है।

जो इन्द्रिय और मन इन विकारों को ही उपासना द्वारा साक्षात् कर रहे हैं वह भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर फिर जन्म धारण करते हैं, यह वैकृतिक बन्धन है। जो प्रकृति के कार्यभूत–इन्द्रिय–अहंकार और बुद्धि तत्व को आत्मा समझकर उन्हीं की आत्मभाव से उपासना करते हैं उन्हें वैकारिक बन्ध होता है।

जो विकारों से आगे पहुँचकर आठ प्रकृतियों (अव्यक्त महत् अहंकार पंचतन्मात्रा (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) को ही साक्षात् कर रहे हैं, वही भी अपनी वासना के अधीन इनमें लीन रहकर डुबकी लगाए हुए पुरुष की तरह फिर उठते हैं उनका यह बन्ध प्राकृतिक कहलाता है। अर्थात् जो लोग प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी की आत्म रूप में उपासना करते हैं उन्हे प्राकृतिक बन्धन होता है और वे प्रकृति में आत्म चिन्तन करने के फलस्वरूप पूरे शतसहस्त्र (1,00,000) वर्ष तक प्रकृति में मुक्त कल्प होकर

अवस्थित रहते हैं।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

एकात्म्यबुद्धि : जिसकी बुद्धि, आत्मा के साथ एकाकार कर लिया हो, उसे एकात्म्यबुद्धि कहा जाता है।

लोकसंग्रहार्थ–कर्म : भगवद्गीता में लोकसग्रह शब्द (पब्लिक वेलफेयर) के लिये आया है। जो कार्य सामान्यजन के हित के लिये किया जाता है, उस कर्म को भगवद्गीता 'लोकसंग्रहार्थ–कर्म' की संज्ञा दी गयी है।

इन्द्रिय–निग्रह : भारतीय परम्परा में व्यक्ति का व्यक्तित्व, शरीर और आत्मा का मिलन स्थल है। शरीर जड़ है, और आत्मा चेतन। जड़ पदार्थों का ज्ञान शरीर को जिस माध्यम से होता है, उसे इन्द्रीय कहा जाता है। पाँच स्थूल इन्द्रियां हैं और मन आन्तरिक इन्द्रीय है। इन्द्रीयों का स्वरूप है कि ये अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। अर्थात् वर्हिवती होती है। इनको जब वर्हिवती के स्थान पर अर्न्तवर्ती होने का अभ्यास डाला जाता है, तो उसे इन्द्रिय–निग्रह कहा जाता है। इन्द्रिय–निग्रह के माध्यम से जीव उस आत्मतत्व तक पहुंचता है, जहां पर जड़ और चेतन दोनों एक हो जाते हैं।

2.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2008
3. गीतारहस्य, बालगंगाधर तिलक, पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, 2017
4. सांख्यदर्शन का इतिहास, उदयवीर शास्त्री,

2.8 बोधप्रश्न

1. भगवद्गीता में वर्णित बन्धन की प्रक्रिया तथा उससे मुक्ति के साधनों की विवेचना कीजिए।
2. मन ही बन्धन का कारण है, इस कथन की विवेचना भगवद्गीता के आलोक में कीजिए।
3. बन्धन से सम्बन्धित भगवद्गीता में उल्लिखित महत्वपूर्ण श्लोकों का भावार्थ अपने शब्दों में लिखिए।
4. निष्काम कर्म से जीव को बन्धन नहीं प्राप्त होता, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

इकाई 3 श्रीमद्भगद्गीता के अनुसार बन्धन के कारण और प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

1. श्रीमद्भगवद्गीता जीवबन्धन के अर्थ एवं स्वरूप को समझ सकेंगे।
2. श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जीवबन्धन की प्रक्रिया पढ़ सकेंगे।
3. मन ही बन्धन का कारण है, इस तथ्य को जान सकेंगे।
4. मन और आत्मा के मध्य क्या सम्बन्ध है, इसे समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

पूर्व की ईकाई में आपने विभिन्न दर्शन में वर्णित बन्धन की अवधारणा को पढ़ चुके है। इस ईकाई में भगवद्गीता में वर्णित बन्धन की प्रक्रिया विषयक सिद्धान्त को आप पढ़ने जा रहे हैं। भगवद्गीता उपनिषदों का सार है। इसलिये वेदान्त का सर्वमान्य ग्रन्थ है। अल्प शब्दों में वेदान्त के समग्र सिद्धान्तों को प्राप्त करना है, तो आपको भगवद्गीता एक सर्वमान्य एवं उपयोगी ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। उपनिषदों की भाँति ही भगवद्गीता भी आत्मविद्या अर्थात् मोक्षशास्त्र है।

भगवद्गीता में मोक्ष के संभव सभी मार्गों को विवेचन सार रूप में प्राप्त होता है। मोक्ष, साधन तथा मोक्षावस्था के वर्णन के साथ–साथ हमें बन्धन के स्वरूप एवं प्रक्रिया सम्बन्धी विवेचना प्राप्त होता है। भगवद्गीता के अध्याय द्वितीय के श्लोक संख्या (गीता 2.62–67) तक बन्धन प्रक्रिया का वर्णन प्राप्त होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता सर्वमान्य आत्मविद्या का ग्रन्थ है, इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने उपदेश में बन्धन की प्रकृया को बताया है। मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए मन और इन्द्रियों का निग्रह करना आवश्यक है। इन्द्रियों का उसके विषयों में जुड़े रहने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है इसे प्रवृत्ति की आसक्ति कहते हैं। आसक्ति से काम–वासना उत्पन्न होती है। काम–वासना के पूरे नहीं हो सकने पर

क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह, मोह स्मृति का नाश और स्मृति नाश से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मनुष्य का पतन हो जाता है। बन्धन की इस प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन आप पढ़ने जा रहे हैं–

3.2 गीता में इच्छास्वातन्त्र्यवाद

गीता ने व्यवस्था दी है–

> उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः, आत्मैव रिपुरात्मनः।।

'व्यक्ति स्वयं अपने को ऊपर उठाये, वह अपने को नीचे न गिराये, क्योंकि केवल आत्मा ही उसका सच्चा मित्र है और केवल आत्मा ही उसका शत्रु है।' प्राचीन भारतीय सिद्धान्त के अनुसार दोनो, अर्थात् प्रारब्धवाद एवं इच्छास्वातन्त्र्यवाद को स्वीकार करना सम्भव है, प्रथम के अनुसार व्यक्ति किसी विशिष्ट वातावरण में जन्म लेता है और दूसरे के अनुसार व्यक्ति का इस जीवन के कर्मों से सम्बन्ध है। प्रारब्धवाद (देववाद) के अनुसार व्यक्ति का किसी विशिष्ट वातावरण मे जन्म लेना निश्चित रहता है और इच्छास्वातन्त्र्यवाद के अनुसार व्यक्ति अपने उपस्थित जीवन के कर्मों के प्रति स्वतन्त्र रहता है। भगवद्गीता तो पापी के लिये भी आशा बँधाती है कि सुधार करने के लिये देरी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए अर्थात् देरी हो जाने पर भी सुधार का आरम्भ किया जा सकता है और पुनः कहा है कि सदाचार का अल्पांश भी महान् भय से व्यक्ति की रक्षा करता है और व्यवसाय कभी नष्ट नहीं होता।

यद्यपि गीता का सामान्य झुकाव इच्छास्वातन्त्र्यवाद के सिद्धान्त की ओर ही है तथापि कुछ ऐसी उक्तियाँ भी हैं जिनमें पूर्वनिर्धारणवाद (प्रारबधवाद, अर्थात वह सिद्धान्त जिसके अनुसार सबकुछ पहले से ही निश्चित रहता है, इस जीवन में क्या होगा, यह पहले से ही निश्चित है) की झलक मिलती है। यथा, प्रकृतिजन्य गुणों के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को असहाय रूप से कर्म करने पड़ते हैं– 'हठवादिता के कारण तुम सोचते हो, 'मैं युद्ध नहीं करूँगा', तुम्हारी यह प्रतिज्ञा व्यर्थ है, तुम्हारा स्वभाव तुम्हें वैसा करने को बाध्य करेगा, तुम अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्मों से ही विवश होकर असहाय रूप में वह कार्य करोगे जिसे तुम करना नहीं चाहते हो। यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बचपन के वातावरण के विषय में इच्छा की स्वतन्त्रता की बात ही नहीं उठती।

3.3 गीतोक्त बन्धन का स्वरूप

भगवद्गीता का आविर्भाव महाभारत में श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद से माना जाता है। वस्तुतः यह महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है। गीता के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह सबसे अद्भुत, सुन्दर यथार्थता पर आधारित एक दार्शनिक काव्य है। जो शायद ही अन्य किसी भाषा में इस प्रकार का काव्य लिखा गया हो।

गीता का उपदेश वस्तुतः कर्म करने का पथ है। गीता द्वारा आदेश दिया गया है कि कर्म ही के द्वारा समस्त विश्व के साथ हमारा सम्बन्ध स्थिर रहता है। नैतिकता की समस्या केवल मानवीय जगत् से ही सम्बन्ध रखती है। जगत् के समस्त पदार्थों में केवल मनुष्य की ही आत्मा ऐसी है, जो अपनी जिम्मेदारी का विचार रखती है।

> विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निः स्पृहः।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।। –भगवद्गीता 2/71

अर्थात् जो पुरूष समस्त कामनाओं को छोड़कर स्पृहारहित, ममतारहित और अहंकाररहित होकर व्यवहार करता है, वह शान्ति प्राप्त करता है।

मनुष्य की महत्वाकांक्षा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए होती है, किन्तु वह जगत् के भौतिक तत्वों से इसे प्राप्त नहीं कर सकता।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते।। –भगवद्गीता 6/22

अर्थात् जहां पर स्थित होकर या जिस अवस्था को पाकर योगी उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नही मानता है, वह बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नही होता।

जिन सुखों की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है वे विभिन्न प्रकार के हैं। भ्रान्त मन एवं मिथ्या प्रकार की इच्छाओं से जिस सुख की प्राप्ति होती है उसमें तो अधिकतर तमाशा ही रहता है, और इन्द्रियों से जो सुख प्राप्त होता है उसमें रजोगुण अधिक रहता है और आत्मज्ञान का जो सुख है उसमें सत्त्वगुण का भाव अधिकांश में रहता है। सबसे उन्नत कोटि का सन्तोष तभी हो सकता है कि जब मनुष्य अपने को एक स्वतन्त्र कर्ता समझना छोड़कर यह अनुभव करने लगता है कि ईश्वर अपनी अनन्त कृपा से जगत् का मार्ग प्रदर्शन करता है। सत्कर्म वह है जो मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराने और आत्मा को पूर्णता प्राप्त कराने में सहायक होता है।

हमें कोई ना कोई कर्म करना ही पड़ता है। बिना कर्म किये कोई प्राणी नहीं रह सकता है। राधा कृष्णन् ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिससे हमारा ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के साथ यथार्थ ऐक्य भाव अभिव्यक्त हो सके वही शुद्ध आचरण है, और अशुद्ध आचरण वह है जो यथार्थता के इस अनिवार्य संगठन के सम्पादन में असमर्थ हो। किसी प्रकार की आपत्ति आने पर मनुष्य अपने धर्म से न डिगे और उसके कारण उसका मरण भी हो जाये तो वह मरण भी उसके लिए कल्याण करने वाला हो जाता है। आगे भगवान कृष्ण बोलते है–

काम् एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।।37।।

श्री भगवान् बोले– रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है। यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगों से कभी न अघाने वाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषय में वैरी जान।।37।।

इसको आगे इसे विस्तार या सरल में समझेंगे कि मनुष्य को बिना इच्छा पापों में नियुक्त करनेवाला न तो प्रारब्ध है और न ईश्वर ही है यह काम ही इस मनुष्य को नाना प्रकार के भोगों में आसक्त करके उसे बलपूर्वक पापों में प्रवृत्त करता है; इसलिए यह महान् पापी है।

उल्लिखित श्रुति का संक्षिप्त अर्थ यह है कि सृष्टि से पूर्व प्रथम एक ही आत्मा था, उसने इच्छा की कि मेरे स्त्री हो, उसकी कामना होते ही स्त्री हो गयी। फिर इसमें पुत्रादि सन्तान हो– इस प्रकार इच्छा होने पर सन्तान भी हो गयी। सन्तान होने पर द्रव्य की भी आवश्यकता हुई। इसलिए द्रव्य की कामना की, द्रव्य भी प्राप्त हुआ। द्रव्यलाभ का फल साधु कर्म करना है इसलिए उसने संकल्प किया कि साधु कर्म करें इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्नावस्था में पुरुष अकेला ही सोता है इस स्थिति में स्वप्न में कल्पना होती है कि रेलगाड़ी पर चढ़ें। रेलगाड़ी में सब पथिक उपस्थित

होते हैं। जहाज पर चढ़ने की इच्छा हुई तो जहाज, समुद्र सब स्वप्न में उपस्थित होते है। वास्तविक वे है नहीं, किन्तु उस समय कल्पना से सब दीख पड़ते हैं उनके उपयोग से सुख भी होता है।

उस समय उसको हम यथार्थ ही समझते हैं, परन्तु जागने पर वास्तविक तत्व ज्ञान होता है कि ये सब काल्पनिक थे, वास्तविक नहीं। एवं संसारदशा में जीव के कल्पनानुसार अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। पर इनकी वास्तविकता पर विचार करने से स्वाप्निक के समान ही ये भी सिद्ध होते हैं। इनका निवर्तक आत्मसाक्षात्कार और रेल का निवर्तक जागरण है, इत्यादि। श्री भगवन् कहते हैं कि अनर्थ मार्ग में बल से प्रवृत्त कराने वाले के विषय में जो तुमने पूछा है वह यह सर्वलोकानुभवसिद्ध महाशत्रु काम हैं, तन्निमित्तिक ही सब अनर्थों की प्राप्ति प्राणियों को होती है।

शंका– काम का ही नाम क्यों लेते हैं, क्रोध भी तो अनर्थ बहुल श्येनादि याग में प्रर्वतक है अतः उसका भी नाम कहना चाहिए?

समाधान– क्रोध भी तत्त्वतः काम ही है।

प्रश्न– कैसे?

उत्तर– किसी कामना से किसी कर्म में प्रवृत्त हुए पुरुष को उस कर्म में कोई विघ्न डालता है तो जब वह कर्म पूर्ण नहीं होता, तो वह क्रोध रूप से परिणत हो जाता है, अतः क्रोध भी काम ही है। इसी महाशत्रु काम का निवारण करने से सब पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। उसके निवारण के उपायज्ञान के लिए काम को कारण कहते हैं। **रजोगुणसमुद्भवः** रजो गुण से काम होता है। इसलिए इसका कारण रजोगुण है; क्योंकि कार्यकारण स्वाभावनुयायी होता है। इसलिए इस रजोगुण के जो स्वभाव दुःखप्रवृत्ति हैं तद्वत् काम भी है। इससे सात्त्विक प्रवृत्ति से रजोगुण के क्षीण होने पर काम भी क्षीण होता है जैसे बैल के क्षीण होने पर प्रदीपप्रकाश भी क्षीण होता है, यह उक्तप्राय ही है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।38।।

जिस प्रकार धूएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जरायु (उल्ब) से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है।

इस कथन से यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण–इन तीनों दोषों के रूप में परिणत होकर मनुष्य के ज्ञान को आच्छादित किये रहता है।

इस कथन से यह दिखलाया गया है कि यह काम ही मल, विक्षेप और आवरण– इन तीनों दोषों के रूप में परिणत होकर मनुष्य के ज्ञान को आच्छादित किये रहता है। यहाँ 'धूएँ' के स्थान में 'विक्षेप' को समझना चाहिये। जिस प्रकार धूआँ चंचल होते हुए भी अग्नि ज्ञान को ढक लेता है, उसी प्रकार 'विक्षेप' चंचल होते हुए भी ज्ञानको ढका रहता हैं, क्योंकि बिना एकाग्रताके अन्तःकरण में ज्ञानशक्ति प्रकाशित नहीं हो सकती, वह दबी रहती है। मैल के स्थान में 'मल' दोष को समझना चाहिये। जैसे दर्पण पर मैल जम जाने से उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार पापों के द्वारा अन्तःकरण के अत्यन्त मलिन हो जाने पर उसमें वस्तु या कर्त्तव्य का यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता। इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित नहीं होता। इस कारण मनुष्य उसका यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता एवं जेर के स्थान में 'आवरण' को

समझना चाहिए। जैसे जैर से गर्भ सर्वथा आच्छादित रहता है, उसका कोई अंश भी दिखलायी नहीं देता, वैसे ही आवरण से ज्ञान सर्वथा ढका रहता है। जिसका अन्तःकरण अज्ञान से मोहित रहता है वह मनुष्य निद्रा और आलस्यादि के सुख में फँसकर किसी प्रकार का विचार करने में प्रवृत्त ही नहीं होता।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तय दुष्पूरेणानलेन च।।39।।

और हे अर्जुन! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाले काम रूप ज्ञानियों के नित्य वैरी के द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढका हुआ है।

आगे भगवान् बोलते है— यहाँ 'ज्ञानी' शब्द यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधन करने वाले विवेकशील साधकों का वाचक है। यह कामरूप शत्रु उन साधकों के अन्तःकरण में विवेक, वैराग्य और निष्काम भाव को स्थिर होने नहीं देता, उनके साधन में बाधा उपस्थित करता रहता है। इस कारण इसको ज्ञानियों का 'नित्यवैरी' बतलाया गया है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।40।।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि— ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।

यह 'काम' मनुष्य के मन, बुद्धि और इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर उसकी विवेक शक्ति को नष्ट कर देता है और भागों में सुख दिलाकर उसे पापों में प्रवृत्त कर देता है, जिससे मनुष्य का अधः पतन हो जाता है। इसलिए शीघ्र ही सचेत हो जाना चाहिए।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।41।।

इसलिए हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान् पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।

भगवान के निर्गुण—निराकार तत्त्व के प्रभाव, महात्म्य और रहस्य से युक्त यथार्थ ज्ञान को 'ज्ञान' तथा सगुण—निराकार और दिव्य साकार तत्त्व के लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभाव से युक्त यथार्थ ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान और विज्ञान की यथार्थ प्राप्ति के लिए हृदय में जो आकांक्षा उत्पन्न होती है, उसको यह महान् वामरूप शत्रु अपनी मोहिनी शक्ति के द्वारा नित्य—निरन्तर दबाता रहता है अर्थात् उस आकांक्षा की जागृति से उत्पन्न ज्ञान—विज्ञान के साधनों में बाधा पहुँचाता रहता है, इसी कारण ये प्रकट नहीं हो पाते, इसलिए काम को उनका नाश करने वाला बतलाया गया है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।42।।

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर यानि श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते है; इन इन्द्रियों से पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है।

आत्मा सब का आधार, कारण, प्रकाशक और प्रेरक तथा सूक्ष्म, व्यापक, श्रेष्ठ, बलवान् और नित्य चेतन होने के कारण उसे 'अत्यन्त पर' कहा गया है।

एवं बुद्धेः परं बुदध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबहो कामरूपं दुरासदम्।।43।।

इस प्रकार बुद्धि से पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके हे महाबाहो! तु इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीव– इन सभी का वाचक आत्मा है। उनमें से सर्वप्रथम इन्द्रियों को वश में करने के लिए इकतालीसवें श्लोक में कहा जा चुका है। शरीर इन्द्रियों के अन्तर्गत आ ही गया, जीवात्मा स्वयं वश में करने वाला है। अब बचे मन और बुद्धि, बुद्धि को मनसे बलवान् कहा है; अतः इसके द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। इसलिए 'आत्मानम्' का अर्थ 'मन' और 'आत्मना' का अर्थ 'बुद्धि' किया गया है।

कामरूपी आसक्ति को छोड़कर स्वधर्म के अनुसार लोकसंग्रहार्थ समस्त कर्म करने के लिए इन्द्रियों पर अपनी सत्ता होनी चाहिए, वे अपने काबू में रहें; बस, यहाँ इतना ही इन्द्रिय–निग्रह विवक्षित है। यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों को ही जबरदस्ती से एकदम मार करके सारे कर्म छोड़ दे। गीतारहस्य (परि. पृ. 526) में दिखलाया गया है कि ''इन्द्रियाणि परारायत्हु'' इत्यादि 42वाँ श्लोक कठोपनिषद् का है और उसी उपनिषद् के अन्य चार–पाँच श्लोक भी गीता में लिये गये हैं। क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ विचार का यह तात्पर्य है कि बाह्य पदार्थों के संस्कार ग्रहण करना इन्द्रियों का काम है, मन का काम इनकी व्यवस्था करना है, और फिर बुद्धि इनको अलग–अलग छाँटती है, एवं आत्मा इन सब से परे है तथा सब से भिन्न है। इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार गीतारहस्य के छठे प्रकरण के अन्त (पृ. 131–148) में किया गया है। कर्म–विपाक के ऐसे गूढ़ प्रश्नों का विचार, गीतारहस्य के दसवें प्रकरण (पृ. 277–285) में किया गया है कि अपनी इच्छा न रहने पर भी मनुष्य काम–क्रोध आदि से प्रवृत्ति–धर्मों के कारण कोई काम करने में क्यों कर प्रवृत्त हो जाता है; और आत्मस्वतन्त्रता के कारण इन्द्रिय–निग्रह रूप साधन के द्वारा इससे छुटकारा पाने का मार्ग कैसे मिल जाता है। गीता के छठे अध्याय में विचार किया गया है कि इन्द्रिय–निग्रह कैसे करना चाहिये। गीता के तीसरे अध्याय के श्लोक– 37–43 में बन्धन के मूल कारण के विषय को हमने विस्तार से समझा।

3.4 बन्धन प्रक्रिया

भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में बन्धन प्रक्रिया इस प्रकार बतलायी गयी हैं–

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संचायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।62।।

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। इस सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का इन विषयों में सङ्ग बढ़ता जाता है। फिर इस सङ्ग से यह वासना उत्पन्न होती है, कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये। तथा इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है; जैसे ये मेरे अत्यन्त सुख हेतु हैं' 'इत्याकारक शोभनाध्यासलक्षण प्रीति सङ्ग है। सुखहेतुत्वज्ञानलक्षण सङ्ग से कामअभिलाषा उत्पन्न होता है। 'मेरे ये सदा रहें, इनका मुझसे वियोग किसी समय न हो'– यह तृष्णाविशेष काम अर्थात् अभिलाष कहलाता है। इसका मन से यदि उक्त कामनाविषयक पदार्थ से कोई विघात करने के लिए प्रवृत्त होता है, तो प्रतिधातक

विषय क्रोध चिन्ताभिज्वलनात्मक उत्पन्न होता है। क्रोध से चित्त गरम हो जाता है। क्रोध से सम्मोह = कार्याकार्यविवेकाभाव का (क्या करना, क्या न करना, इसका) परिज्ञान लुप्त हो जाता है। सम्मोह से स्मृतिविभ्रम होता है अर्थात् शास्त्राचार्य द्वारा उपदिष्ट अर्थ के स्मरण का नाश होता है। शास्त्र में क्या करने को लिखा है? आचार्य का कर्तव्याकर्तव्य विषय का उपदेश क्या हैं? इन दोनों का लोप हो जाता है। इस स्मृतिविंभ्रश से एकात्माकार बुद्धि का नाश होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।63।।

क्रोध से अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से व्यक्ति का सर्वस्व नाश हो जाता है।

बुद्धिनाश से प्रणाश होता है, फलभूत एकात्म्यबुद्धि के लोप से पुरुष का प्रणाश होता है। यद्यपि स्वरूप से पुरुष नष्ट नहीं होता, तथापि सब पुरुषार्थ के अयोग्य होता है। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमें कोई भी पुरुषार्थ नष्टबुद्धि पुरुष को नहीं होता। **पुरुषार्थायोग्यत्वेन औपरिक नाश** का प्रयोग प्रकृत में है, इसको स्पष्ट कहते हैं– जो पुरुष पुरुषार्थ के योग्य नहीं है उसको लोक में मृत ही कहते हैं, इस भाव से 'प्रणश्यति' कहा है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।64।।

परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरण वाला साधक अपने वश में की हुई, राग–द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है। परन्तु अपना आत्मा अर्थात् अन्तःकरण जिसके काबू में है। वह पुरुष प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव करके भी (चित्त) से प्रसन्ना रहता है।

साधरण मनुष्यों की इन्द्रियाँ स्वतन्त्र होती है, उनके वश में नहीं होती; उन इन्द्रियों में राग–द्वेष भरे रहते हैं। इस कारण उन इन्द्रियों के वश होकर भोगों को भोगने वाला मनुष्य उचित–अनुचित का विचार न करके जिस किसी प्रकार से भोग–सामग्रियों के संग्रह करने और भोगने की चेष्टा करता है और उन भोगों में राग–द्वेष करके सुखी–दुःखी होता रहता है; उसे आध्यात्मिक सुख का अनुभव नहीं होता; किन्तु उपरोक्त साधक की इन्द्रियाँ उसके वश में होती है और उनमें राग–द्वेष का अभाव होता है– इस कारण वह अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थिति के अनुसार योग्यता से प्राप्त हुए भोगों में बिना राग–द्वेष के विचरण करता है; उसका देखना–सुनना, खाना–पीना, उठना–बैठना, बोलना–बतलाना, चलना–फिरना और सोना–जागना आदि समस्त इन्द्रियों के व्यवहार नियमित और शास्त्रविहित होते हैं; उसकी सभी क्रियाओं में राग–द्वेष, काम–क्रोध और लोभ आदि विकारों का अभाव होता है। यही उसका अपने वश में की हुई राग–द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करना है। वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा बिना राग–द्वेष के व्यवहार करने से साधक का अन्तःकरण शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, इस कारण उसमें आध्यात्मिक सुख और शान्ति का अनुभव होता है

(18/37); उस सुख और शान्ति का वाचक यहाँ ''प्रसादम्'' पद है। इस सुख और शान्ति के हेतु रूप अन्तःकरण की पवित्रता को और भगवान् के अर्पण की हुई वस्तु अन्तःकरण को पवित्र करने वाली होती है, इस कारण उसको भी प्रसाद कहते हैं।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।65।।

अन्तःकरण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भली–भाँति स्थिर हो जाती है। अर्थात् चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश होता है, क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि भी तत्काल स्थिर होती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।66।।

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती तथा भावना हीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है? जो पुरुष उक्त रीति से युक्त अर्थात् योगयुक्त नहीं हुआ है, उसमें स्थिर बुद्धि और भावना अर्थात् दृढ़ बुद्धिरूप निष्ठा भी नहीं रहती। जिसे भावना नहीं, उसे शान्ति नहीं और जिसे शान्ति नहीं, उसे सुख मिलेगा ही कहाँ से?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।67।।

क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। विषयों में संचार अर्थात् व्यवहार करने वाली इन्द्रियों के पीछे–पीछे मन जो जाने लगता है, वही पुरुष की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है जैसे कि पानी में नौका का वायु खींचती है।

हमने उपरोक्त श्लोकों के अर्थ और विस्तार या सरलीकरण कर समझने का प्रयास करेंगे। इससे यह भाव दिखलाया गया है कि जिस मनुष्य की भोगों में सुख और रमणीय बुद्धि है जिसका मन वश में नहीं है और जो परमात्मा का चिन्तन नहीं करता, ऐसे मनुष्य का परमात्मा में प्रेम और उनका आश्रय न रहने के कारण उसके मन द्वारा इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन होता रहता है। इस प्रकार विषयों का चिन्तन करते–करते उन विषयों में उसकी अत्यन्त आसक्ति हो जाती है। तब फिर उसके हाथ की बात नहीं रहती, उसका मन विचलित हो जाता है। जिन पुरुषों की परमात्मा की प्राप्ति हो गयी है उनके लिए तो विषय चिन्तन से आसक्ति होने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। 'परं दृष्टवा निवर्तते' से भगवान् ऐसे पुरुषों में आसक्ति का अत्यन्ताभाव बतला चुके हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी के मनों में न्यूनाधिक रूप में आसक्ति उत्पन्न हो सकती है।

विषयों का चिन्तन करते–करते जब मनुष्य की उनमें अत्यन्त आसक्ति हो जाती है, उस समय उसके मन में नाना प्रकार के भोग प्राप्त करने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो उठती है; यही आसक्ति से कामना का उत्पन्न होता है तथा उस कामना में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित होने पर जो उस विघ्न के कारण में द्वेष बुद्धि होकर क्रोध

उत्पन्न हो जाता है यहि कामना से क्रोध का उत्पन्न होना है। जिस समय मनुष्य के अन्तःकरण में क्रोध की वृत्ति जागृत होती है, उस समय उसके अन्तःकरण में विवेक शक्ति का अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह कुछ भी आगा–पीछा नहीं सोच सकता; क्रोध के वश होकर जिस कार्य में प्रवृत्त होता है, उसके परिणाम का उसको कुछ भी ख्याल नहीं रहता। यहि क्रोध से उत्पन्न सम्मोह का अर्थात् अत्यन्त मूढ़भाव का स्वरूप है। जब क्रोध के कारण मनुष्य के अन्तःकरण में मूढ़भाव बढ़ जाता है तब उसकी स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृति विभ्रम होने से अन्तःकरण में किसी कर्तव्य–अकर्तव्य का निश्चय करने की शक्ति का न रहना ही बुद्धि का नष्ट हो जाना है। ऐसा होने से मनुष्य अपने कर्तव्य को त्यागकर अकर्तव्य में प्रवृत्त हो जाता है– उसके व्यवहार में कटुता, कठोरता, कायरता, हिंसा, प्रति–हिंसा, दीनता, जडता और मूढ़ता आदि दोष आ जाते हैं अतएव उसका पतन हो जाता है, वह शीघ्र ही अपनी पहले की स्थिति से नीचे गिर जाता है और मरने के बाद नाना प्रकार की नीच योनियों में या नरक में पड़ता है; यही बुद्धिनाश से उसका अपनी स्थिति से गिर जाना है।

पापों के कारण ही मनुष्यों को दुःख होता है, और कर्मयोग के साधन से पापों का नाश होकर अन्तःकरण विशुद्ध हो जाता है तथा शुद्ध अन्तःकरण में ही व्यक्ति में सात्त्विक प्रसन्नता होती है। इसलिए सात्त्विक प्रसन्नता से सारे दुःखों का अभाव हो जाता है। किसी भी वस्तु के संयोग–वियोग से किचिंतमात्र भी दुःख नहीं होता, वह सदा आनन्द में मग्न रहता है। यही सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाना है। जिसे ''सर्वदुःखनाम्'' कि संज्ञा दि गई है।

आगे भगवान् कहते है– ''जिसका मन और इन्द्रिय वश में किये हुए नहीं है, एवं जिसकी इन्द्रियों के भोगों में अत्यन्त आसक्ति है, ऐसा भाव होने पर चित्त में शान्ति का प्रादुर्भाव हुए बिना किसी भी उपाय से मनुष्य को सच्चा सुख नहीं मिल सकता। विषय और इन्द्रियों के संयोग में तथा निद्रा, आलस्य और प्रमाद में भ्रम से जो सुख की प्रतीति होती है, वह वास्तव में सुख नहीं है, वह तो दुःख का हेतु होने से वस्तुतः दुःख ही है।

(2.67) दृष्टान्त में नौका के स्थान में बुद्धि है, वायु के स्थान में जिसके साथ मन रहता है वह इन्द्रिय है, जलाशय के स्थान में संसार रूप समुद्र है और जल के स्थान में शब्दादि समस्त विषयों का समुदाय है। जल में अपने गन्तव्य स्थान की ओर जाती हुई नौका को प्रबल वायु दो प्रकार से विचलित करती है या तो उसे पथ भ्रष्ट करके जल की भीषण तरंगों से भटकाती है या अगाध जल में डुबो देती है; किन्तु यदि कोई चतुर मल्लाह उस वायु की क्रिया को अपने अनुकूल बना लेता है तो फिर वह वायु उस नौका को पथभ्रष्ट नहीं कर सकती, बल्कि उसे गन्तव्य स्थान पर पहुँचाने में सहायता करती है। इसी प्रकार जिसके मन–इन्द्रिय वश में नहीं है, ऐसा मनुष्य यदि अपनी बुद्धि को परमात्मा के स्वरूप में निश्चल करना चाहता है तो भी उसकी इन्द्रियाँ उसके मन को आकर्षित करके उसकी बुद्धि को दो प्रकार से विचलित करती हैं। इन्द्रियों का बुद्धि रूप नौका को परमात्मा से हटाकर नाना प्रकार के भोगों की प्राप्ति का उपाय सोचने में लगा देना, उसे भीषण तरंगों में भटकाना है और पापों में प्रवृत्त करके उसका अधः पतन करा देना, उसे डुबो देना है। परन्तु जिसके मन और इन्द्रिय वश में रहते हैं उसकी बुद्धि को वे विचलित नही करते वरं बुद्धिरूप नौका को परमात्मा के पास पहुँचाने में सहायता करते हैं।

भगवद्गीता में बन्धन की प्रक्रिया निम्नलिखित दो सिद्धान्तों पर आधारित हैं– 1. प्रकृति अपना कार्य अवश्य करेगी, उसका कोई अवदमन नहीं कर सकता। 2. मनुष्य में यथेष्ट शक्ति है कि वह एक ही समय में अपनी चेतना को अनेक भागों में बाँट सकता है। स्वामी विवेकानन्द ने सेंस फ्रेंसिस्कों में दिये हुए भाषण में कहा कि योगियों का कहना है एक वासना दूसरे वासना को जगाती है और पहली मर जाती है। यदि तुम क्रुध होते हो, और तब बाद में प्रसन्न, तो अगले क्षण क्रोध चला जाता है। उस क्रोध से दूसरी दशा का निर्माण हुआ, इसलिये मन की दशाएँ सदैव परिवर्तनशील है। किन्तु इस प्रक्रिया में जिनके आधार पर ये दशायें परिवर्तित होती है, वे आधार अपरिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशील के परिवर्तनशील होकर दिखने में एक नियमबद्धता है। उसी नियमबद्धता को भगवद्गीता ने स्पष्ट किया है।

3.5 सारांश

जीव का स्वरूप के विवेचन में आपने पढ़ा कि जीव का स्वरूप भौतिक अंश क्षरणशील है तथा चेतन अंश जन्म जन्मान्तर तक तब तक संचरणशील रहता है जब तक उसे पूर्ण मुक्ति न प्राप्त हो जाये। मुक्ति के पूर्व की अवस्था को बन्धनग्रस्त अवस्था कही जाती है। जीव बन्धन में पड़ता है– 'पूर्व कर्मों से कारण' इस सिद्धान्त को भारतीय–सभ्यता में विकसित सभी परम्परायें स्वीकार करती हैं।

गीता में निष्काम कर्म को महत्ता दी गई है। निष्काम कर्म ही बन्धन को काटता है जबकि सकाम कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं। गीता में कहा गया है कि पुरुष स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के साधन रूप तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्म का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष बार–बार आवागमन को प्राप्त होते हैं।

अब इस सकाम कर्म का मूल उद्गत स्थान मन है अतः गीता में मन के निग्रह की बात प्रमुखता से की गई है। अर्थात् मन का विग्रह न करने पर मनुष्य सकाम कर्मों में लीन हो जाता है तथा भवबन्धन को प्राप्त करता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं–

i. मन में उत्पन्न होने वाला काम ही मोह–रूपी बंधन का कारण है।

ii. निष्काम कर्म से मुक्ति एवं सकाम कर्म से बंधन होता है।

iii. निष्काम एवं सकाम कर्मों का उद्गम स्थल मन है।

iv. मन का निग्रह न होना बंधन का कारण है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

एकात्म्यबुद्धि : जिसकी बुद्धि, आत्मा के साथ एकाकार कर लिया हो, उसे एकात्म्यबुद्धि कहा जाता है।

लोकसंग्रहार्थ–कर्म : भगवद्गीता में लोकसग्रह शब्द (पब्लिक वेलफेयर) के लिये आया है। जो कार्य सामान्यजन के हित के लिये किया जाता है, उस कर्म को भगवद्गीता 'लोकसंग्रहार्थ–कर्म' की संज्ञा दी गयी है।

इन्द्रिय–निग्रह : भारतीय परम्परा में व्यक्ति का व्यक्तित्व, शरीर और आत्मा का मिलन स्थल है। शरीर जड़ है, और आत्मा चेतन। जड़ पदार्थों का ज्ञान शरीर को जिस माध्यम से होता है, उसे इन्द्रीय कहा जाता है। पाँच स्थूल इन्द्रियां हैं और मन

आन्तरिक इन्द्रीय है। इन्द्रीयों का स्वरूप है कि ये अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। अर्थात् वर्हिवती होती है। इनको जब वर्हिवती के स्थान पर अर्न्तवर्ती होने का अभ्यास डाला जाता है, तो उसे इन्द्रिय–निग्रह कहा जाता है। इन्द्रिय–निग्रह के माध्यम से जीव उस आत्मतत्व तक पहुंचता है, जहां पर जड़ और चेतन दोनों एक हो जाते हैं।

3.7 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2008
3. गीतारहस्य, बालगंगाधर तिलक, पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, 2017

3.8 बोधप्रश्न

1. भगवद्गीता में वर्णित बन्धन की प्रक्रिया तथा उससे मुक्ति के साधनों की विवेचना कीजिए।
2. मन ही बन्धन का कारण है, इस कथन की विवेचना भगवद्गीता के आलोक में कीजिए।
3. बन्धन से सम्बन्धित भगवद्गीता में उल्लिखित महत्वपूर्ण श्लोकों का भावार्थ अपने शब्दों में लिखिए।
4. निष्काम कर्म से जीव को बन्धन नहीं प्राप्त होता, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

इकाई 4 बन्धन सिद्धान्त की विविध दार्शनिक व्याख्याएँ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- बन्धन की अवधारणा को विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के आलोक में पढ़ सकेंगे।
- बन्धन की अवधारणा से जुड़े प्रश्नों का उत्तर लिख सकेंगे।
- बन्धन के सिद्धान्त का विश्लेषण कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

देहधारी के लिये स्वभावजन्य कर्म, कर्म के अनुसार पुर्नजन्म, पुर्नजन्म के साथ बन्धन परम्परा की पुनरावृत्ति, तदुपरांत अनेक जन्मसंसिद्धि के बीच मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयास, ये प्रत्येक जीवधारी के लिये प्रवर्त्तित भाग्यचक्र है। हर प्राणी को इस जन्म–मृत्यु या आवागमन की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, अतः प्रत्येक दर्शन एवं धार्मिक विचार के ये प्रमुख विषय स्वतः बन जाते हैं। यद्यपि कई धर्मों ने कर्मों को एक विराम–स्थल दिया है, जिसे हम कयामत या Dooms day कहते हैं, किन्तु भारतीय दर्शन के सभी शाखाओं में जन्म–कर्म से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक एक वृत के रूप में देखा है और जीवन, जीवन–सम्बन्ध और मोक्ष पर सविस्तार विवेचना प्रस्तुत किया है। जीवन की गतिशीलता मोक्ष पर समाप्त होती है।

4.2 सांख्य में बन्धन विचार

सांख्य दार्शनिक बौद्ध दार्शनिकों की भाँति देखते हैं कि जगत् में चारों ओर दुःख का साम्राज्य है। जरा (बुढ़ापा) मृत्यु, रोग, जन्म आदि जीवन को दुःखमय बना देते हैं।

बन्धन

सांख्य दर्शन दुःखों का विवेचन एवं वर्गीकरण करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार इस जगत् की समस्त वस्तुएँ तीनों गुणों के अधीन रहते हुए अस्तित्व में है। गुणों के कारण दुःखों की उत्पत्ति होती है इसीलिए जगत् दुःखमय है। संसार में तीन प्रकार के दुःख हैं–

1. आध्यात्मिक/मनोदैहिक/वैयक्तिक दुःख।
2. आधिभौतिक/वस्तुगत दुःख/वस्तुपरक/वस्तुनिष्ठ।
3. आधिदैविक/देवताओं से सम्बन्धित दुःख।

शारीरिक दुःख या मानसिक दुःख के जितने भी रूप हैं सब आध्यात्मिक दुःख के भीतर आते हैं। यह आत्मा संबंधी दुःख है। यह दो प्रकार का होता है। शारीरिक दुःख के अन्तर्गत वात्, पित्त, कफ इत्यादि आते हैं तथा मानसिक दुःख के अन्तर्गत काम, क्रोध आदि मनोविकार आते हैं।

आधिभौतिक दुःख शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का कारण है। जैसे– सिर दर्द, बीमारी, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या इत्यादि से होने वाले दुःख आध्यात्मिक दुःख हैं।

आधिभौतिक दुःख वाह्य जगत् के प्राणियों की क्रियाओं से यह दुःख हमें मिलता है। जैसे– चोर हमारी सम्पत्ति का हरण कर लेते हैं और हमें दुःख प्राप्त होता है। सर्प दंश से हमें दुःख मिलता है।

इस प्रकार का दुःख मनुष्य के शरीर से उत्पन्न न होकर बाहरी पदार्थों के प्रभाव से उत्पन्न होता है। शरीर से किसी पदार्थ के सम्पर्क पर कभी–कभी पीड़ा पहुँचती है।

आधिदैविक दुःख इस तरह के दुःख दैवी या अलौकिक सत्ता के प्रकोप से पैदा होते हैं। इसमें न तो शरीर कारण है और न संसार के बाहरी पदार्थ। इस तरह के दुःख के पीछे अदृष्ट सत्ता के हाथ रहते हैं। जैसे– भूत–प्रेत का प्रकोप, नक्षत्र का प्रकोप, प्रलयंकारी विनाश इत्यादि सभी आधिदैविक दुःख कहलाते हैं।

प्राकृतिक घटनाओं से हमें यह दुःख प्राप्त होता है। जैसे भूकम्प, बाढ़, भूत–प्रेत इत्यादि के कारण से प्राप्त दुःख।

इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य सदैव सचेष्ट रहता है और सभी चाहते हैं कि आनन्द की प्राप्ति करें। जीवन का लक्ष्य ही आनन्द की उपलब्धि है और इसी आनन्द की खोज में हमारा संपूर्ण जीवन समर्पित है अज्ञान ही दुःख का कारण है। संसार की वस्तुओं के यथार्थ रूप को न जाने के कारण ही दुःख उत्पन्न होता है जब उनके रूप को जान लेते हैं तब हमारे दुःख की निवृत्ति हो जाती है। इसलिए भारतीय दर्शन में तत्व ज्ञान से मोक्ष (दुःख निवृत्ति) का उदय माना जाता है। दुःखों का पूर्ण विनाश मोक्ष से सी संभव है। मोक्ष का अर्थ त्रिविध दुःखों का अभाव है। मोक्ष ही परम अपवर्ग या पुरुषार्थ है।

सैद्धान्तिक रूप से सांख्य दर्शन में पुरुष को त्रिगुणातीय माना गया है। वह नित्य तथा अविनाशी है। ऐसे में प्रश्न उठता है कि मुक्त पुरुष बंधनग्रस्त कैसे हो जाता है? इस विषय में सांख्य दर्शन का स्पष्टीकरण यह है कि पुरुष वास्तव में बंधनग्रस्त नहीं होता बल्कि पुरुष को बंधन का भ्रम हो जाता है। पुरूष स्वभावतया ही मुक्त है। बंधन का प्रादुर्भाव पुरुष तथा प्रकृति के आकस्मिक संबंध के स्थापित होने से होता है।

वास्तव में पुरुष, बुद्धि, अहंकार तथा मन से भिन्न है परन्तु अज्ञानवश वह अपने आप

को बुद्धि तथा मन के साथ जुड़ा हुआ मान लेता है। इससे ही दुःखों का अनुभव होने लगता है। इस तथ्य को सांख्यदर्शन में एक उपमा द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। यदि किसी लाल रंग के पुष्प के सफेद स्फटिक के निकट लाया जाये तो वह स्फटिक भी लाल रंग का प्रतीक होने लगता है।

इस प्रकार बुद्धि के सन्सर्ग के कारण मुक्त पुरुष भी बंधन–ग्रस्त प्रतीत होने लगता हैं। पुरुष भ्रमवश अपना तादात्म्य शरीर, बुद्धि, अहंकार, मन तथा इन्द्रियों के साथ कर लेता है तथा इनके दुःखों को अपना दुःख मानने लगता है। सांख्य दर्शन में बन्धन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है– आत्मा का अपने को बुद्धि से अभिन्न समझना ही बंधन है। बुद्धि वास्तव में अनात्मा है। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि पुरुष एवं प्रकृति में विद्यमान भेद या अंतर का ज्ञान न होना ही बंधन है। बंधन का कारण अज्ञान अर्थात् अविवेक है।

सांख्य दर्शन में स्पष्ट किया गया है कि वास्तव में बंधन तथा मोक्ष दोनों ही व्यावहारिक है। बंधन तथा मोक्ष दोनों प्रतीति मात्र है। पुरुष तो स्वभावतः ही मुक्त है। बंधन केवल प्रतीति मात्र है। विज्ञान–भिक्षु ने स्पष्ट किया है कि यदि बंधन वास्तव में होता तो सौ जन्मों में बंधन से मुक्ति संभव नहीं थी। बंधन तथा मोक्ष तो प्रकृति की अनुभूतियाँ हैं। प्रकृति ही बंधन ग्रस्त होती है। तथा प्रकृति ही मोक्ष प्राप्त करती है।

सांख्यकारिका में ईश्वर कृष्ण ने स्पष्ट किया है पुरुष न बंधन में पड़ता है, न मुक्त होता है और न उसका पुनर्जन्म ही होता है। बंधन, मोक्ष और पुनर्जन्म भिन्न–भिन्न रूपों में प्रकृति का होता है। प्रकृति स्वतः अपने को सात रूपों में बाँधती है। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष न तो बंधन ग्रस्त होता है और न ही उसे मोक्ष प्राप्त होता है। बंधन तथा मोक्ष उसके भ्रम के प्रतीक है।

सांख्यदर्शन में पुरुष न तो प्रकृति और न उसके विकारों से बंधता है और न ही मुक्त होता है पुरुष का बंधन एक मिथ्या विचार है।

पुरुष स्वभावतः नित्य, शुद्ध मुक्त, ज्ञान स्वरूप एवं बंधन रहित है। इसीलिए इसका न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष। प्रकृति ही लिंग शरीर के रूप में अनेक पुरुषों के साथ से बंधन ग्रस्त होता है, संसरण करती है और मुक्त होती है।

सांख्यदर्शन में पुरुष निर्गुण और निर्विकार है। वह कर्ता न होरक प्रकृति के क्रियाकलापों का केवल साक्षी है इसलिए मोक्षावस्था में प्रकृति से पुरुष के अलग होने या न होने का कोई प्रश्न नहीं है। बंधन और मोक्ष पुरुष के स्वरूप गुण नहीं हैं अपितु उस पर आरोपित हैं। प्रकृति ही स्वयं अपने को बांधती है और मुक्त करती है।

सांख्यदर्शन की बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा शांकर वेदान्त की बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा से पूर्णतः भिन्न है। इस भिन्नता का कारण इन दोनों की तत्व–मीमांसा है। सांख्य द्वैतवाद है। जबकि शांकर वेदान्त अद्वैतवाद है। सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के तादात्म्य के तादात्म्य का बोध बन्धन है। जबकि शांकर वेदान्त में जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का ज्ञान मोक्ष है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के द्वैत का बोध मोक्ष की अवस्था है जबकि शांकर वेदान्त जीव और ब्रह्म का पार्थक्य बोध बन्धन है।

सूक्ष्म शरीर वह होता है जिसमें ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि सब गुण होते हैं उसे ही सूक्ष्म शरीर कहते हैं। ये आत्मा को सृष्टि के आरंभ में प्राप्त होता है और

सृष्टि के अंत तक रहता है। अगर इस बीच में आत्मा उस सूक्ष्म शरीर से अलग हो जाए तो उसे मोक्ष कहते हैं।

सूक्ष्म शरीर के साथ ही पुरुष का संयोग बन्धन है और इस बन्धन का कारा अविवेक है। पुरुष स्वभावतः ज्ञाता मात्र है जो बुद्धि, अहंकार, मन, शरीर, इन्द्रिय आदि से भिन्न है किन्तु वह अविवेक (भेद ज्ञान का अभाव) के कारण अनात्म वस्तुओं में अपना तादात्म्य स्थापित करके अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है तथा अनात्म वस्तुओं (प्रकृति के विकारों) और उसके गुणों से अपना तादात्म्य स्थापित करके उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप समझ बैठता है। बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से जड़, बुद्धि, चैतन्य युक्त हो जाती है और अहंकार के आरोप के कारण वह उसके गुणों को अपना स्वरूप समझकर स्वयं को कर्ता स्वामी विषयों के संपर्क में लाकर सुख दुःखादि का अनुभव करता है।

इस प्रकार अविवेक के कारण पुरुष का शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और उसके विषयों के साथ मिथ्या सम्बन्ध ही बन्धन और दुःखानुभूति का कारण है। यद्यपि पुरुष का न बंधन है न मुक्ति ही है, न सृष्टि ही है। बंधन, मोक्षादि सब प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृति (बुद्धि) स्वयं अपने को सात रूपों द्वारा बाँधती है। ये रूप हैं– धर्म–अधर्म, वैराग्य–अवैराग्य, ऐश्वर्य– अनैश्वर्य तथा अज्ञान। वही प्रकृति अपने एक रूप 'ज्ञान' या सत्व पुरुष अन्यथाख्याति रूप तत्त्व ज्ञान द्वारा अपने को मुक्त करती है। इसलिए तत्त्व ज्ञान का अभ्यास निरन्तर करना चाहिए। 'अभ्यास' से 'मैं' 'मेरे' की प्रतीति नहीं रहती है।

सांख्य की बन्धन की अवधारणा में भी बन्धन का मूल कारण अज्ञान या अविद्या ही है। सांख्य दर्शन के कथानुसार–विपर्यय अर्थात् तत्त्व के अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है।

''विपर्ययात् अतत्त्वज्ञानात् इष्यते बन्धः।''

सांख्य कारिका में अज्ञान को बन्धन का कारण बताते हुए कहा गया है कि धर्म से उर्ध्वलोक की ओर गमन होता है, अधर्म से अधोलोक की ओर गमन होता है, ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है तथा विपर्यय अर्थात् अज्ञान से बन्ध होता है।

> ''धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
> ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।।''

सांख्य मतानुसार किसी पुरुष का न तो बन्धन और संसरण ही होता है और न मोक्ष ही। प्रकृति का ही संसरण, बन्धन एवं मोक्ष होता है। पुरुष में ये केवल आरोपित होते हैं– जैसे विजय और पराजय नौकर की होने पर भी स्वामी की ही विजय और पराजय कही जाती है। इस सम्बन्ध में सांख्य कारिका का तर्क है कि प्रकृति के निर्गुण तथा अपरिणामी होने से वस्तुतः कोई भी पुरुष संसरण नहीं करता है, 'बँधता' नहीं है और मुक्त भी नहीं होता है। प्रकृति ही विभिन्न योनि के चैतन्याधिष्ठित शरीरों का आश्रय प्राप्त करती हुई 'संसरण', 'बंधन' और 'मोक्ष' को प्राप्त करती है।

> 'तस्मान्न बन्ध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कञ्चित्।
> संसरति बध्यते मुच्यते न नानाश्रया प्रकृतिः।।''

इसी कथन को और स्पष्ट करते हुए सांख्य कारिका में अन्यत्र कहा गया है कि प्रकृति भोगरूप पुरुषार्थ के लिए अपने ही धर्मादि सात रूपों (धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य) के द्वारा स्वयं को बाँधती है और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ

के लिए अपने ही ज्ञान रूप एक भाव के द्वारा स्वयं को मुक्त करती है।

"रूपैः सप्तभिरेव तु बध्यात्यात्मानमात्मना प्रकृति।
सैव च पुरुषार्थ प्रति विमोचयत्येक रूपेण।।"

सांख्यकारिका में स्पष्टतः बन्धन के त्रिविध भेदों का उल्लेख नहीं है परन्तु इसके सभी टीकाकारों ने प्राकृतिक, वैकृतिक एवं दक्षिण भेद से बन्ध को तीन प्रकार का माना है।

आचार्य माठर एवं जयमंगलाकार के अनुसार प्राकृतिक बन्ध उनको प्राप्त होता है। जो प्रकृति को ही आत्मा समझते हुए उसी की उपासना करते हैं। प्रकृति की भावना करने वाले पूरे सौ सहस्त्र मन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं। ब्रह्मा आदि स्थानों में श्रेयो बुद्धि का उत्पन्न होना ही वैकारिक बन्ध कहलाता है। ऐसा आचार्य माठर का मत है।

"वैकारिक बन्धो नाम ब्रह्मादिस्थानेषु श्रेयो बुद्धिः।"

जय मंगलाकार के अनुसार जिनके मत में ऐश्वर्य लक्षण वाला पुरुषार्थ ही विकार है उन विकारवादियों के लिए वहीं पुरुषार्थ वैकारिक बन्धन कहलाता है।

"येषां विकार एवैश्वर्य लक्षणः पुरुषार्थ इति, तेषां
विकारत्ववादिनां वैकारिको बन्धः।"

वाचस्पति मिश्र के अनुसार, 'वैकृतिक बन्ध उन्हें प्राप्त होता है जो भूतों (पृथिवी आदि), इन्द्रियों, अहंकार और बुद्धि इत्यादि प्रकृति की विकृतियों का पुरुष भाव से उपासना करते हैं। इन्द्रियों के उपासक दश मन्वन्तरों तक, भूतों के उपासक सौ मन्वन्तरों तक, अहंकार के उपासक सहस्र मन्वन्तरों तक तथा बुद्धि के उपासक दस सहस्र मन्वन्तरों तक दुःख त्रय से रहित होकर उन–उन में स्थित रहते हैं, वे ही विदेह भी कहलाते हैं।"

भावागणेश के अनुसार काम के द्वारा उपहत चित्त वाले गृहस्थ आदि व्यक्तियों द्वारा दक्षिणा देना ही दाक्षिणक बन्धन है।

"गृहस्थादीनां कामोपहतचेतसां दक्षिणां ददतां दक्षिणाबन्धः।"

वाचस्पति मिश्र के अनुसार दाक्षिणक बन्धन उन्हें प्राप्त होता है जो पुरुष को नहीं जानते और स्वर्गादि की कामना से अग्निहोत्र, वापी, कूप आदि का निर्माण तथा यज्ञ में गायों एवं सुवर्ण आदि का दान करते हैं। स्वर्ग में जाने पर ऐसे लोग स्वर्गीय शरीरादि रूप बन्धन को प्राप्त करते हैं।"

बंधन और मोक्ष : हमारे जीवन में दो मार्ग हैं– 1. बंधन का मार्ग, 2. मोक्ष का मार्ग। अधिकांश लोग यह समझते हैं कि मृत्यु के बाद जब शरीर रूपी बंधन से मुक्ति मिलती है तब मोक्ष मिलता है।

महाभारत में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कर्म करते हुए और उन कर्मों को मन में परमसत्ता को अर्पण करते हुए यदि कोई पुरुषार्थ करता है, तो वह इसी जीवन में मोक्ष पा लेता है। वस्तुतः कर्म करते हुए व्यक्ति को अनेक बंधनों को काटना पड़ता है। जिनमें अहंकार, लोभ, मोह प्रमुख हैं। चूँकि बंधन हमेशा दुष्प्रवृत्तियों के ही होते हैं। इसलिए इनसे छुटकारा पा लेना ही मोक्ष है।

हमें मानव जीवन मिला ही इसलिए है कि हर व्यक्ति इस परम पुरुषार्थ के लिए कर्म करे और परमतत्व की प्राप्ति के लिए इस प्रयोग को सार्थक बनाए। बंधन और मोक्ष में

अन्तर सिर्फ इतना है कि जब आसुरी संपदा हमारे पास बढ़ेगी तो हम बंधन की ओर बढ़ेंगे लेकिन जब दैवीय संपदा हमारे पास बढ़ेगी तो हम मोक्ष की तरफ बढ़ जाएंगे।

बंधन का मकड़जाल हमें जकड़े रहता है लेकिन इससे छुटकारा पाना हर व्यक्ति के लिए जरूरी है क्योंकि हर व्यक्ति के लिए मोक्ष जरूरी है। व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसमें क्रोध, मोह नहीं होना चाहिए बल्कि उसका निर्णय समाज हित में होना चाहिए।

महाभारत का युद्ध हुआ लेकिन इसके लिए श्रीकृष्ण ने पांडवों के मन में द्वेष नहीं बल्कि अखण्ड भारत के कल्याण की भावना जगाई और एक संस्कारी राजा का आदर्श रखते हुए ईश्वर के लिए कर्म करने की भावना जगाकर युद्ध करने को कहा।

शास्त्रों और पुराणों में कहा गया है कि आत्मा तब तक एक शरीर में दूसरे शरीर में भटकती रहती है जब तक कि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कर्म को जीवन जीने की कला कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। मोक्ष प्राप्ति के लिए हमें अपनी वाणी पर संयम रखना चाहिए सुनने व मनन की क्षमता को बढ़ाना चाहिए और निरंतर अध्ययन करते रहना चाहिए। स्पष्ट है मोक्ष जीते जी भी पाया जा सकता है।

4.3 योगदर्शन में बन्धन विचार

योग दर्शन में बन्धन की अवधारणा को बहुत गहराई से अभिव्यक्त किया गया है। पातञ्जलयोगदर्शन की योगवार्तिक टीका में कहा गया है कि अपामार्ग (चिचिड़ा) की लता की तरह विरुद्ध फल देने वाला यह संसार अन्तर्दृष्टि वालों के मोक्ष और बहिर्दृष्टि वालों के बन्ध का कारण होता है।

''प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय निबन्धाय पराग्दृशाम्।
अपामार्गलतेवायं विरुद्ध फलदो भवः।।''

योग दर्शन के अनुसार पुरुष जब बुद्धि में प्रकाशित अपने प्रतिबिम्ब से तादात्म्य कर लेता है तो वह बद्ध जीव के रूप में प्रतीत होता है जो जन्म–मरण चक्र में संसरण करता है तथा नाना प्रकार के क्लेश भोगता है। क्लेशमूलक कर्मसंस्कारों का समुदाय वर्तमान और भविष्य में होने वाले दोनों प्रकार के ही जन्मों में भोगा जाने वाला है। मूल के विद्यमान रहने तक उसका परिणाम पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है। वे हर्ष और शोकरूप फल को देने वाले होते हैं क्योंकि उनके पुण्य कर्म और पापकर्म– दोनों ही कारण हैं।

''क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः।।
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।।
ते ह्लादपरिताप फलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात्।।''

इसके अनन्तर कहा गया है कि परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख सब में विद्यमान रहने के कारण और तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी के लिए सब के सब दुःखरूप ही हैं।

''परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाश्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।।''

प्रश्न उठता है कि क्लेश क्या हैं? इसके समाधान में कहा गया है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश– ये पाँचों क्लेश हैं। जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार– इन चार अवस्थाओं में रहने वाले हैं एवं जिनका वर्णन अविद्या के बाद किया गया है, उनका कारण अविद्या है।

''अविद्या स्मिताराग द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।।
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदाराणम्।।''

अतः सभी क्लेशों की मूल अविद्या है। जो बन्धन एवं संस्करण का कारण है। किन्तु अविद्या क्या है। इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव की अनुभूति 'अविद्या' है।

''अनित्याशुचिदुःखानात्सु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिरविद्या।''

योगवासिष्ठ में भी अविद्या को ही संसरण एवं बन्धन का कारण बताते हुए निम्नवत् उद्गार अभिव्यक्त है–

''अविद्या संसृतिर्बन्धो मायामोहो महत्तमः।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकल वेदिभिः।।''

योगवसिष्ठ ने ही अन्यत्र उल्लेख आया है कि बन्धन और मोक्ष और कुछ नहीं वरन् प्रबोध अर्थात् ज्ञान का न होना बन्धन है और प्रबोधमय स्थिति मोक्ष है।

''न बन्धोस्ति न मोक्षोस्ति ना बन्धोस्ति न बन्धनम्।
अप्रबोधादिदं दुःखं प्रबोधात्प्रविलीयते।।''

महाभारत में उल्लेख आया है कि कर्म से प्राणी बाँधा जाता है और विद्या से उसका छुटकारा हो जाता है।

''कर्मणा बध्यते जन्तु विद्यया तु प्रमुच्यते।''

4.4 न्यायवैशेषिक में बन्धन विचार

न्याय दर्शन आत्मा के विषय में एक वस्तुवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। आत्मा वह द्रव्य है जिसमें ज्ञान, सुख–दुःख, राग–द्वेष, इच्छ, कृति या प्रयत्न आदि उनके रूप में पाये जाते हैं। ये गुण बाह्य जगत् के गुण नहीं कहे जाते हैं। बाह्य जड़ द्रव्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय नहीं है। अतः ये गुण उस द्रव्य के हैं जो जड़ द्रव्यों से भिन्न हैं।

इस प्रकार न्याय दर्शन यह भी मानता है कि विभिन्न शरीरों में विभिन्न आत्माएँ हैं। यह अनेक आत्मा को स्वीकार करता है, क्योंकि इनकी यह मान्यता है कि हम स्पष्ट रूप से जानते हैं कि कुछ आत्माएँ बन्धन में है, कुछ मुक्त हैं।

इनका यह तर्क है कि यदि संसार में एक ही आत्मा होती तो एक आत्मा के मुक्त होने के साथ ही सभी आत्मा मुक्त हो जाती। किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। विभिन्न शरीरों में आत्मा के विभिन्न स्वभाव भी परिलक्षित होते हैं। जैसे– कोई सुखी है तो कोई दुःखी। अतः न्याय आत्मा की अनेकता को मानते हुए यह अवश्य मानता है कि यह एक, नित्य, विभु और असीम सत्ता है।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि न्याय दर्शन शरीर या इन्द्रिय को ही आत्मा मानता है। शरीर को आत्मा नहीं कह सकते क्योंकि इसमें चेतना नहीं आ सकती।

बाह्य इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं है क्योंकि इनमें कल्पना, स्मृति, विचार आदि मानसिक व्यापार नहीं पाया जाता है। मन भी आत्मा नहीं है क्योंकि यह अणु होने के कारण अप्रत्यक्ष है।

न्याय दर्शन, बौद्ध दर्शन की भाँति आत्मा को चेतना का प्रवाह भी नहीं कहता। यह वेदान्त दर्शन के स्वयं प्रकाश के चैतन्य आत्मा को भी नहीं मानता है। यह आत्मा को द्रव्य और चैतन्य को उसका गुण कहता है। किन्तु आत्मा में चेतना तभी आती है जब इसका सम्पर्क मन के साथ और मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का बाह्य वस्तुओं के साथ होता है। इसलिए न्याय दर्शन इस बात पर बल देता है कि चेतन आत्मा ही परम उपयोगी है।

न्याय दर्शन बद्ध आत्मा का कारण दुःख को मानता है। इसके अनुसार 21 प्रकार के दुःख हैं। एक शरीर छः इन्द्रियाँ, छः विषय और छः प्रकार के ज्ञान तथा सुख एवं दुःख।

इस प्रकार आत्मा का शरीर के साथ सम्पर्क ही दुःख है। शरीर ही आत्मा को दुःखित एवं सीमित बनाकर रखती है। न्याय दर्शन दुःखों की पूर्ण निरोध की अवस्था को अपवर्ग की संज्ञा देते हैं। इस दर्शन में यही मोक्ष की अवधारणा है। अपवर्ग का अर्थ है आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त होना।

न्याय–वैशेषिकों के अनुसार हमारे बन्धन का कारण अविद्या और कर्म है। जिसके परिणामस्वरूप नश्वर (अनात्म) पदार्थों को आत्म पदार्थ के रूप में देखता है। लौकिक संसार में अपनी विविध समस्याओं से उलझते हुए मनुष्य के लिए मोक्ष शब्द एक सुन्दर बहकावा है। किन्तु वास्तव में वह तो केवल एक यूटोपिया है।

न्याय–वैशेषिक तो मोक्ष को एक पवित्र संकल्प मानते हैं और इसका प्रत्यक्षीकरण या साक्षात्कार भी संभव मानते हैं। परन्तु यह तभी संभव है जब मनुष्य अपने तीनों ऋणों से अर्थात् (ऋषि ऋण, पितृ ऋण, देव ऋण) के ऋणानुबन्ध से मुक्त हो जाता है। क्लेषानुबन्ध– ये अप्रत्याशित दोष भी मोक्ष के मार्ग में दुष्कर काँटे हैं। इसी दोषों से मनुष्य की शुभ या अशुभ कार्य में प्रवृत्ति होती है और इसी क्रम में जीव राग–द्वेष आदि प्रवृत्तियों में आबद्ध हो जाता है। प्रवृत्यानुबन्ध– धर्म–अधर्म की प्रवृत्ति ही जन्म–मरण का कारण बनती है। मनुष्य उसके विरोधी गुणों पर निरन्तर ध्यान रखते हुए सांसारिक गुणों का त्याग कर दे तो मोक्ष प्राप्ति संभव है।

आपत्तियों के कारण जो मनुष्य बन्धन में पड़ता है वह अपने दोषों को रोककर, प्रवृत्तियों के चक्र को रोककर मोक्ष प्राप्ति को पूरा करता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा पर विचार करते समय अनेक प्रश्न सामने आते हैं। जैसे– क्या केवल कुछ ही व्यक्ति मोक्ष के अधिकारी हैं? वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति को किसी वर्ग–विशेष तक सीमित नहीं किय जा सकता। मनुष्यों की भाँति पशु को मोक्ष का पात्र माना जाना चाहिए जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में स्वीकार किया गया है कि–

''स्त्रियों वैश्यास्तया मुमद्रास्तेपियात्ति परां गतिम्'

भगवद्गीता का 9/32 श्लोक। अर्थात् स्त्री, वैश्या, शुद्र आदि परम् पुरुषार्थ के भागी हैं। हमारे शास्त्रों में गजेन्द्र, मोक्ष, जटायु, मोक्ष जैसे उदाहरण सभी मिलते हैं। अतः स्पष्ट है कि शास्त्र में मोक्ष का अधिकार सीमित नहीं किया गया है।

न्याय–वैशेषिक मानव बन्धन की संतोषजनक व्याख्या करने में असमर्थ है। आत्मा बन्धन में कैसे पड़ी इसका कोई युक्ति संगत उपाय वे प्रस्तुत नहीं करते हैं। इसीलिए नैयायिक मुक्ति का सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों के लिए विवादास्पद है।

मुक्तावस्था में समस्त अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में नित्य आनन्द मोक्ष को मानने वाले वेदान्ती श्री हर्ष ने नैषम् चरित में नैयायिकों के विचार को हास्यास्पद बताया है। उनका कथन है कि जिस सूत्रकार ने जागरूक पुरुषों के लिए अज्ञान, सुख आदि से मुक्त शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य बतलाकर उपदेश दिया है उसका गौतम अभिधान शब्दतः यथार्थ नहीं, अपितु अर्थतः भी है। वह केवल गौ (बैल) न होकर गौतम (अतिशयेनगौः गौतम) पक्का बैल है।

नैयायिकों के अनुसार आत्मा अचेतन है। आत्मा में चेतना का संचार एक विशेष परिस्थिति में होता है। चेतना का उदय आत्मा में तभी होता है जब आत्मा का सम्पर्क मन के साथ तथा मन का इन्द्रियों के साथ होता है। यदि आत्मा का ऐसा सम्पर्क नहीं हो तो आत्मा में चैतन्य का आविर्भाव नहीं हो सकता। इस प्रकार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है। न्याय का आत्म विचार सांख्य के आत्म विचार का विरोधी है। दोनों दर्शनों में चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण न होकर स्वाभाविक गुण है। न्याय ने आत्मा को विभु एवं काल तथा दिक् के द्वारा सीमित नहीं किया है। इसका अनुभव केवल शरीर में होता है न्याय ने आत्मा को अनेक माना है जबकि शंकर इसका निषेध करते हैं और आत्मा को एक मानते हैं। इस विचार में न्याय के विचार जैन और सांख्य से मिलते हैं।

नैयायिकों के मतानुसार मोक्ष की अवस्था में दुःखों का अन्त होने के साथ–साथ सुखों का भी अन्त हो जाता है। इसके अलावा ज्ञानेन्द्रियों का नाश हो जाता है। आत्मा की वासनाओं एवं प्रवृत्तियों पर विजय होती है, यही अपवर्ग है।

4.5 मीमांसादर्शन में बन्धन विचार

मीमांसा के अनुसार दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष की परम सीमा है। न्याय सूत्र 1/1/2 भाष्य करते हुए वात्स्यायन कहते हैं कि जब तत्व ज्ञान द्वारा मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है तो उसके सभी दोष दूर हो जाते। परिणामस्वरूप जीवन–मरण के चक्र के रूक जाने से दुःखों की आत्यन्तिक (शाश्वत) निवृत्ति हो जाती है। इसी स्थिति को 'मोक्ष' 'अपवर्ग' और 'निश्रेय' कहते हैं।

मीमांसा दर्शन आत्मा के बन्धन के विषय में न्याय वैशेषिक दर्शनों के विचारों के समान है। मीमांसा के अनुसार आत्मा नित्य और विभु होते हुए भी अपने को अनेक उपाधियों से युक्त करके बन्धन ग्रस्त कर लेता है। इसमें आत्मा के बन्धन के तीन प्रकार माने जाते हैं–

1. भौतिक शरीर
2. ज्ञानेन्द्रियाँ
3. बाह्य विषय।

ज्ञानेन्द्रियाँ, आत्मा को बाह्य विषयों से जोड़ती है। ज्ञानेन्द्रियों का आश्रय शरीर है जो आत्मा को सुख–दुःख आदि की अनुभूति कराता है। जगत् यह निर्धारित करता है कि आत्मा को किन–किन विषयों का अनुभव होगा। इस प्रकार आत्मा का शरीर, ज्ञानेन्द्रियों एवं बाह्य विषयों से सम्बन्धित होना ही उसका बन्धन है।

मीमांसकों के अनुसार आत्मा कर्मों के कारण शरीरादि उपाधियों से संयुक्त होकर बन्धनग्रस्त होता है। वह सकाम एवं प्रतिषिद्ध कर्मों के सम्पादन के फलस्वरूप धर्म (पुण्य) एवं अधर्म (पाप) के कारण बन्धन ग्रस्त होता है। इन कर्मों के सम्पादन का कारण मिथ्यादृष्टि (अज्ञान) है। अतः अज्ञान ही बन्धन का कारण है।

मीमांसकों ने मोक्ष की अवधारणा के सम्बन्ध में अपना स्वतंत्र मत प्रकट किया है। वेदान्ती मोक्ष का स्वरूप प्रपंच विलय बताते हैं लेकिन मीमांसक उनके लक्ष्य में संशोधन करते हुए कहते हैं कि मोक्ष का स्वरूप प्रपंच सम्बन्ध विलय है इस चराचर जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनाश होना ही मोक्ष है।

प्रपंच के तीन प्रकार के बन्धन होते हैं, जिनसे आत्मा बद्ध होता है। आत्मा शरीर स्थित होकर इन्द्रियों के बाह्य विषयों का अनुभव करता है। अर्थात् शरीर तो भोगायतन है, इन्द्रियाँ तो भोग साधन हैं और पदार्थ भोग विषय हैं। इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिक नाश को ही मोक्ष कह सकते हैं। अर्थात् उक्त तीन प्रकार के बन्धनों के साथ उनके उत्पादक धर्माधर्म का भी नाश होता है। पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय विषयों का नाश हो जाता है। तदुत्पादक धर्माधर्मादि कारणों के न रहने से नवीन शरीर इन्द्रिय और विषयों की उत्पत्ति नहीं होती। धर्माधर्म का उच्छेद उत्पन्न हुए धर्मों के फलोपभोग से और नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से होता है। आत्मज्ञान से दोनों का उच्छेद होता है।

इस प्रकार शरीरादि के आरम्भक हेतुओं के न रहने पर और पूर्व शरीर के नष्ट होने पर यह आत्मा और शरीर अर्थात् शरीर रहित अवस्था में रहता है। तभी उसे मुक्त कहते हैं।

प्रभाकर के अनुसार जीवात्मा को शरीरादि की प्राप्ति उसके धर्म और अधर्म के फलरूप में होती है। यह प्राप्ति जीव का बन्धन है। जीव को शरीरादि बन्धनों में मुक्ति तभी मिल सकती है जब उसके धर्म और अधर्म का आत्यन्तिक विनाश हो जाय। प्रभाकर मीमांसा में धर्म और अधर्म के निःश्रेयस विनाश के कारण देह का जो आत्यन्तिक नाश होता है उसे मोक्ष कहते हैं।

जीव की मुक्ति की प्राप्ति के सम्बन्ध में मीमांसकों का विश्वास है कि मनुष्य के कर्म ही उसे शरीरादि की प्राप्ति कराकर भव–पाश में बाँधते हैं। अतएव जीव के मोक्ष की प्रक्रिया उसके कर्मों के विचार की प्रक्रिया है। प्रभाकर के अनुसार बन्धन के साधन रूप निषिद्ध एवं सकाम कर्मों के परित्याग से, जीव के समस्त क्रियमाण कर्मों का विनाश होता है तथा पूर्व जन्म में किये हुए धर्म और अधर्म के फल का उपभोग करके उनकी शक्ति का विनाश करता हुआ जीव कर्म प्रभाव से मुक्त होता है तथा पूर्व जन्म में किये हुए धर्म और अधर्म के फल का उपभोग करके उनकी शक्ति का विनाश करता हुआ जीव कर्म प्रभाव से मुक्त होता है। लेकिन केवल इतने से ही धर्माधर्म रूप कर्मों का आत्यन्तिक विनाश संभव नहीं है क्योंकि कर्मों के संस्कार जीव से संलग्न रहते हैं। इन संस्कारों के विनाश के लिए प्रभाकर योग शास्त्र में प्रतिपादित शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि योगांगों के पालन द्वारा आत्मज्ञान का निर्देश करते हैं।

इस प्रकार सकाम एवं निषिद्ध कर्मों के परित्याग से, पूर्वजन्मार्जित कर्मफल के उपभोग से तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति द्वारा मनुष्य भव–बन्धन से मुक्त हो सकता है।

मोक्ष :

मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य से शून्य हो जाती है। जब धर्म और अधर्म का क्षय हो जाता है तो आत्मा का सम्पर्क शरीर से हमेशा के लिए छूट जाता है। मोक्ष दुःख के अभाव की अवस्था है। मोक्षावस्था में सांसारिक दुःखों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। मोक्ष को मीमांसकों ने आनन्द की अवस्था नहीं माना है। कुमारिल का विचार है कि यदि मोक्ष को आनन्द रूप माना जाय तो वह स्वर्ग के तुल्य होगा तथा नश्वर होगा। मोक्ष नित्य है क्योंकि वह अभाव रूप है।

अतः मोक्ष को आनन्ददायक अवस्था कहना भ्रामक है। मीमांसा का मोक्ष विचार न्याय–वैशेषिक के मोक्ष विचार से मिलता जुलता है। नैयायिकों ने मोक्ष को आनन्द की अवस्था नहीं माना है बल्कि मोक्ष को आत्मा के ज्ञान, सुख एवं दुःख से शून्य अवस्था कहा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मीमांसा से दुःखादि से मुक्त जीव के स्वाभाविक स्वरूप को ही मोक्ष माना गया। मीमांसा दर्शन में आत्मा का वास्तविक स्वरूप एक प्रकार से जुड़ है। इसके अनुसार आत्मा में चैतन्य गुण रूप में विद्यमान रहता है। आत्मा में चेतना तभी होती है, जब वह शरीर, इन्द्रिय और मन में संयुक्त होती है। परन्तु आत्मा का ऐसा सम्बन्ध ही बन्धन है। मोक्षावस्था में आत्मा के इन संबंधी कारकों का अभाव हो जाता है और जीव या आत्मा अपनी सहज जड़ता में अवस्थित हो जाती है। इस अवस्था में सुख एवं दुःख दोनों का आत्यन्तिक विनाश माना गया है। इस प्रकार मोक्ष एक अभावात्मक या निषेधात्मक अवस्था है।

मीमांसक जीवनमुक्ति में विश्वास नहीं करते हैं। उनका यह दृष्टिकोण रामानुज के विचारों से समानता रखता है। रामानुज जीवन्मुक्ति को इसलिए अस्वीकार करते हैं कि शरीर मात्र बन्धन का कारण है। रामानुज के अनुसार जीवन्मुक्त की अवधारणा में आत्म विधि है क्योंकि जब ज्ञान के पश्चात् जीव को शरीर के मिथ्यात्व का ज्ञान हो गया तब यह नहीं कहा जा सकता है कि उसमें शरीर में होते हुए मोक्ष प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार मीमांसक भी मानते हैं कि धर्म–अधर्म का विलोप हो जाने पर शरीर की समाप्ति ही मोक्ष है। अतः जीवन्मुक्ति की अवधारणा उचित नहीं है।श्वेताश्वतर उपनिषद् में जीवात्मा में इस जगत के विषयों का भोक्ता होने के कारा प्रकृति के अधीन हो इसके मोहजाल में फँसा होना बताते हुए निम्नवत् उल्लेख है।

> ''संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
> अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।''

गीता प्रकृति को ही मनुष्य के कर्मबन्धन का कारण मानती है। इसके अनुसार कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये रहता क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृतिजनित गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।

> ''न हि कश्चितक्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।''

विष्णु पुराण में ज्ञान को ही बन्धन का कारण मानते हुए जैसा उल्लेख आया है कि ज्ञान ही परब्रह्म है और (अविद्या की उपाधि से) वही बन्धन का कारण है। क्योंकि यह

सम्पूर्ण विश्व ज्ञानमय है। विद्या और अविद्या दोनों ज्ञान ही है।

''ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम्।।
विद्याविद्येति मैत्रेय ज्ञानमेवोपधारय।।''

जैन दर्शन में बन्धन की विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। तत्त्वार्थ सूत्र में बताया गया है कि मित्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग— ये पाँच बन्धन के हेतु हैं।

''मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्ध हेतवः।।''

तत्त्वार्थ सूत्र में यह भी उल्लेख है कि कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध है।

''सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।''

उपर्युक्त की व्याख्या करते हुए सर्वदर्शन संग्रह में कहा गया है कि जब मिथ्यादर्शन, अविरति (आसक्ति), प्रमाद (असावधानी) और कषाय (पाप) के कारण तथा योग के भी कारण आत्म उन पुद्गलों का आदान अर्थात् आलिंगन करती है, जो पुद्गल (शरीर, द्रव्य) अपने सूक्ष्म क्षेत्र (रूप) में प्रवेश करती हैं, अनन्त (सभी) स्थानों में निवास करते हैं तथा अपने पूर्वकृत) कर्मों के बन्धन में पकने लायक होते हैं— इसी क्रिया का नाम बन्ध है। यथा—

''मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषायवशाद्योगवशच्चात्मा सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्त प्रदेशानां पुदगलानां कर्मबन्ध योग्यतामादानमुपश्लेषणं यत्करोति स बन्धः।''

बन्धन की सविस्तार व्याख्या एवं विश्लेषण करते हुए श्री देवेन्द्र मुनि अपनी पुस्तक 'जैन दर्शन—स्वरूप और विश्लेषण' में निम्नवत् उल्लेख करते हैं—

''दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। बन्ध के दो प्रकार है— द्रव्य बन्ध और भावबन्ध। कर्म पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध है। जिन राग—द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्म का बन्धन होता है वे भाव भावबन्ध हैं। बन्ध चार प्रकार का है— प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध या अनुभाव बन्ध और प्रदेश बन्ध। प्रकृति कर्म का स्वभाव है, स्थिति कर्म की आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा है, अनुभाग कर्म का शुभाशुभ रस और प्रदेश कर्म के दलिकों का समूह। प्रकृति और प्रदेश बन्ध का कारण योग है, स्थिति और रस का कारण कषाय है। कषायों की तीव्रता और मन्दता के कारण कर्म पुद्गल में स्थिति और फल देने की शक्ति पड़ती है। यह स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषाय से होते हैं। बन्ध तत्त्व शुभ और अशुभ— दो प्रकार का होता है। शुभ बन्ध पुण्य और अशुभ बन्ध पाप है। कर्मों के फल देने से पूर्व स्थिति का नाम बन्ध है। कर्मों का अनुदय काल बन्ध है। उदय काल पुण्य—पाप है।''

4.6 जैनदर्शन में बन्धन विचार

जैन दर्शन के बन्ध तत्त्व की व्याख्या के क्रम में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन दर्शन में आठ प्रमुख प्रकार के कर्म बताए गए हैं, जो निम्नवत हैं— ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीय कर्म, वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अन्तराय कर्म। हम देख चुके हैं कि कर्म पुद्गलों का जीव को

जकड़ लेना ही बन्ध है। उपर्युक्त वर्णन में बन्धन में जो पाँच कारण बताए गये हैं उनमें मिथ्यात्व का अर्थ है– सदसदविवेक; अविरति का अर्थ है– वैराग्य का अभाव अर्थात् रागादि; प्रमाद का अर्थ है– असावधानी; कषाय का अर्थ है– क्रोध, लोभ, मान और माया; तथा योग का अर्थ है– मानसिक, वाचिक, कायिक, क्रिया।

जैन दर्शन के बन्ध तत्त्व की सविस्तार व्याख्या के उपरान्त अब हम बौद्ध दर्शन के बन्ध सम्बन्धी विचारों का अवलोकन करते हैं।

4.7 बौद्धदर्शन में बन्धन विचार

बौद्ध दर्शन अविद्या को ही सांसारिक दुःखों का मूल कारण मानता है। अविद्या, कर्म और क्लेश को बन्धन, संक्लेश, मल, अशुद्धि कहते हैं। बन्ध अविद्याजन्य सास्रव विज्ञानों का प्रवाह है। बन्धन की अवस्था में विज्ञान प्रवाह में वासना–वैचित्र्य के कारण विज्ञानों का वैचित्र्य और भेद सिद्ध किया जा सकता है। अविद्या संसार का मूल कारण भी नहीं कही जा सकती क्योंकि मज्झिम निकाय में कहा गया है कि अविद्या का कारण आस्रव है।

"आस्रवसमुदया अविज्जा सुमुदयोति।"

अर्थात् आस्रव से ही अविद्या उत्पन्न होती है और फिर संस्कार आदि समस्त भव दुःखों का उत्पाद होता है। अतः अविद्या के मूल में आस्रव है और आस्रव के मूल में अविद्या। इस तरह यह भव चक्र चलता रहता है।

बौद्ध दर्शन के प्रतीत्य समुत्पादवाद में अविद्या का उल्लेख आता है। प्रतीत्यसमुत्पाद को न जानने के कारण ही मनुष्य भव बन्धन में पड़ा रहता है। भगवान बुद्ध कहते हैं– आनन्द! इस सिद्धान्त को न समझने के कारण ही यह संसार का मानव इसके अन्तस्थल तक न जानने के कारण ही उलझे सूत सा, गाँठ पड़ी रस्सी सा या मूंजबब्बज घास सा उलझ कर अपाय एवं दुर्गति को प्राप्त हो इसी संसार में भटकता रहता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के निरूपण के कार्य के कारण की निष्पत्ति करते हुए हम जरा–मरण से अविद्या तक पहुँचते हैं। जो निम्नवत् है–

"हमें अप्रिय–संयोग, प्रिय–वियोग, आधि–व्याधि, शोक, जरा, मरण आदि दुःख क्यों होते हैं? क्योंकि हमने जन्म लिया है। हम जन्म क्यों लेते हैं? क्योंकि हमने जन्म लेने के लिए प्रेरित करने वाले कर्म किए हैं और हमें उनका भोग करने के लिए जन्म लेने की इच्छा है। ये कर्म और यह इच्छा क्यों होती है? क्योंकि हम भोगों में आसक्त होकर उनसे चिपक रहे हैं। यह आसक्ति क्यों होती है? क्योंकि हमें भोगों की तृष्णा है। यह तृष्णा क्यों होती हैं? क्योंकि भोगों से इन्द्रिय संवेदन जन्य सुख मिलता है। यह संवेदन क्यों होता है? क्योंकि इन्द्रिय और विषय का सम्पर्क होता है। यह सम्पर्क क्यों होता है? क्योंकि हमारे पास छः इन्द्रियाँ हैं जिनकी प्रवृत्ति विषयों से सम्पर्क करने की होती है। ये छह इन्द्रियाँ क्यों होती हैं? क्योंकि नामरूपात्मक मनोभौतिक संघात रूप देह है जिसमें ये उत्पन्न होती हैं। यह संघात क्यों होता है? क्योंकि वह विज्ञान से अनुप्रमाणित है। विज्ञान इसमें प्रविष्ट क्यों होता है? क्योंकि अविद्या कर्मों में प्रवृत्त करती है। अतः अविद्या ही इस संस्कार–चक्र रूपी दुःख का मूल कारण है।"

उक्त अविद्या जन्य संस्कार को ही बन्धन का एकमात्र कारण मानते हुए मूलमध्यम कारिका में निम्नवत् उल्लेख प्राप्त होता है–

''न बध्यते न मुच्यन्ते उदयव्ययधर्मिणः।
संस्काराः पूर्ववत् सत्त्वों बध्यते न न मुच्यते।।''

दर्शन की न्याय–वैशेषिक धारा में अविद्याजन्य कर्म को ही बन्धन का मूल कारण माना गया है।

''न्याय दर्शन के अनुसार जीव अपने पापमय कर्मों के अनुसार दुःख का उपयोग करता है। आत्मा जब तक शरीर से सम्बद्ध रहती है तब तक दुःखों का पूर्ण विनाश संभव नहीं है। इन्द्रिय और शरीर से सम्बद्ध रहने पर आत्मा का अप्रिय तथा अनुचित विषयों से सम्पर्क होता है और वह दुःखों से बच नहीं पाती।''

गौतम कृत न्याय दर्शन की टीका में आचार्य ढुंढिराज शास्त्री का कथन है कि शरीर सहित आत्मा का मन के साथ संयोग जो प्रारब्ध कर्म के सहित वर्तमान रहता है, उसे ही जीवन माना जाता है। यथा–

''सदेहस्यात्मनो मनसो संयोगो विपच्यमान कर्माशय सहितो जीवनमिष्यते।''

चन्द्रधर शर्मा वैशेषिक दर्शन की अवधारणा अभिव्यक्त करते हुए बन्धन के सम्बन्ध में वैशेषिक मन्तव्य को निम्नवत व्यक्त करते हैं–

''बन्धन अविद्या से होता है। आत्मा, अविद्यावश, कर्म करता है; कर्म से धर्माधर्मसंस्कार अदृष्ट में सञ्चित होते रहते हैं तथा फलोन्मुख होने पर आत्मा के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि उत्पन्न होती है। ईश्वर अदृष्ट से गति लेकर परमाणुओं में आद्यस्पन्दन के रूप में सञ्चरित कर देते हैं और सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। आत्मा जब तक कर्म–जाल में फँसा है तब तक उसका बन्धन बना रहता है।''

बौद्ध दर्शन में मन एवं इन्द्रियों के बाह्य जगत के सम्पर्क में आने के कारण ही दुःख की प्रवृत्ति बताई गई है। यही बंधन है जो दुखदायी है। दीघनिकाय में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि स्पर्श के कारण ही वेदना होती है। चक्षुसंस्पर्श, श्रोत्रसंस्पर्श, प्राणसंस्पर्श, जिह्वासंस्पर्श, कायसंस्पर्श एवं मनःसंस्पर्श– इन सब के स्पर्श न होने पर, स्पर्श का निरोध होने पर, क्या किसी वेदना की उत्पत्ति होती? नहीं।

''फस्सपच्चया वेदना...............चक्खुसम्फस्सो सोतसम्फस्सो धानसम्फस्सो जिव्हासम्फस्सो कायसम्फस्सो मनोसम्फस्सो, सब्बसो फस्से असति फस्सनिरोधा अपि न खो वेदना पञ्चायेथा, ति? नो हेतं, भन्ते।''

संयुक्तनिकाय में उल्लेख आया है कि ये चित्त विकार ही प्राणी को दुःख और संकट में डालते हैं।

''चित्तसंकिलेसा, भिक्खवे, सत्ता संकिलिस्सन्ति।''

इस प्रकार बौद्ध दर्शन में बन्धन की अवधारणा में चित्त की संलिप्तता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

4.8 वेदान्तदर्शन में बन्धन विचार

अद्वैत वेदान्त में बंधन को यथार्थ या वास्तविक नहीं माना जाता। सांख्य और वेदान्त दोनों में आत्मा का बन्धन वास्तविक नहीं है। वेदान्ती उसे अविद्यात्मक या अभ्यास रूप मानते हैं। आचार्य शंकर कृत 'शतश्लोकी' के अनुसार बन्धन और मोक्ष कल्पित हैं।

जैसे रात्रि और दिवस सूर्य में नहीं होता किन्तु यह दृष्टिदोष है। सृष्टि के पूर्व काल में शुद्ध, प्राणशून्य और एक अद्वैत तत्त्व ही था, तदन्तर में माया द्वारा कर्तृसंज्ञक ईश्वर हुआ, वह भी उससे भिन्न नहीं था किन्तु अविद्या द्वारा आच्छादित होकर जीव बन गया।

''बन्धोजन्मात्ययात्मा यदि न पुनरभूत् तर्हि मोक्षोऽपि नासीत्
यद्वद्रात्रिर्दिनं वा न भवति तरणौ किन्तु दृग्दोष एषः।
अप्राणं शुद्धमेकं समभवदथ तन्मायया कर्तृसंज्ञं
तस्मादन्यच्च नासीत् परिवृत्तभजया जीवभूतं तदेव।।''

शंकराचार्य कृत 'विवेक–चूड़ामणि' में आवरण और विक्षेप को बन्धन का कारण बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार किसी दुर्दिन में सघन मेघों के द्वारा सूर्यदेव के आच्छादित होने पर अति भयंकर और ठंडी–ठंडी आँधी सबको खिन्न कर देती है, उसी प्रकार बुद्धि के निरन्तर तमोगुण से आवृत्त होने पर मूढ़ पुरुष को विक्षेप शक्ति नाना प्रकार के दुःखों से सन्तप्त करती है। इन दोनों (आवरण और विक्षेप) शक्तियों से ही पुरुष को बन्धन की प्राप्ति हुई है और इन्हीं से मोहित होकर यह देह को आत्मा मानकर संसार–चक्र में भ्रमता रहता है।

''क्वलितादिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेधैर्व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्या वृते मूढ बुद्धिं क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः।।
एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम्।।''

'विवेक चूड़ामणि' में ही अन्यत्र उल्लेख है कि यह अज्ञानजनित अनात्म–बंधन स्वाभाविक तथा अनादि और अनन्त कहा गया है। यही जीव के जन्म, मरण, व्याधि और जरा आदि दुःखों का प्रवाह उत्पन्न कर देता है।

''अज्ञानमूलोऽयमात्मबन्धो नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः।
जन्माप्यय व्याधि जरादि दुःख प्रवाह पातं जनयत्यमुष्य।।''

इसी क्रम में– ''विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा शरीर धारण करती है और यही उसका बन्धन है। अज्ञान से कर्म की उत्पत्ति होती है अतः इस दर्शन में कर्म को बन्धन का साक्षात् कारण माना गया है। बन्धन की अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहचानती और शरीर को ही अपना रूप मान बैठती है। सांसारिक जीवन में आत्मा इन्द्रिय सुखों के प्रति लालयित तथा आसक्त हो जाती है और इसी आसक्ति के कारण वह बारम्बार जन्म ग्रहण करती है और तज्जन्य दुःखों को भोगती है।

मध्वाचार्य के अनुसार आत्मा स्वरूपतः चिद्रूप तथा आनन्दरूप है किन्तु शरीर, इन्द्रिय तथा मन से सम्बद्ध होने पर दुःख और अपूर्णता का विषय बन जाती है। ऐसी स्थिति में जीव में सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही उसका अज्ञान है।

निम्बार्काचार्य का मत है कि आत्मा यथार्थतः नित्य तत्त्व है तथापि अविद्या तथा कर्म के कारण जन्म–मृत्यु के चक्र में फँसकर दुःखी होती है।

शुद्धाद्वैत दर्शन में वल्लभाचार्य ने जीव का बन्धन अविद्या का परिणाम माना है।

बन्धनग्रस्त जीव अविद्या के पाँच पर्वों– देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तः करणाध्यास तथा स्वरूप विस्मृति– से बद्ध होकर संसार में अनेक कष्टों और दुःखों का अनुभव करता है।'

इस प्रकार हमने देखा कि विभिन्न दर्शनों में 'बन्धन' की अवधारणा क्या है। इसके उपरान्त हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि उक्त 'बन्धन' की अवधारणा में 'मन' की क्या भूमिका है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम 'विष्णु पुराण' का एक उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें मन को साधिकारपूर्ण बन्धन और मोक्ष का प्रबल कारण बताते हुए उल्लेख है कि मनुष्य के बंधन या मोक्ष पाने का मन ही कारण है। मन के विषयासक्त होने से बंधन और निष्काम या निर्विषय होने से मोक्ष प्राप्त होता है।

''मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
बंधाय विषया संगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्।''

मन को बन्धन एवं मोक्ष का मुख्य कारण मानते हुए उक्त मन्तव्य को ही 'विवेक चूड़ामणि' में आचार्य शंकर निम्नवत अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि इस जीव के बन्धन व मोक्ष के विधान में मन कारण है, रजोगुण से मलिन हुआ यह बन्धन का हेतु होता है तथा रज–तम से रहित शुद्ध सात्त्विक होने पर मोक्ष का कारण होता है।

''तस्मान्मनः कारणस्य जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने।
बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणैर्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम्।।''

जैसे–जैसे हम सांसारिक सुखों की प्राप्ति में अपना सुख मानने लगते हैं। वैसे–वैसे हमारी आसक्ति विषयों के प्रति बढ़ती जाती है और वही सुखकर प्रतीत होने वाली वस्तुएँ हमारे दुःख का कारण बन जाती हैं। अतः महोपनिषद् में कहा गया है कि भोग की इच्छा मात्र ही बन्धन है; उसका त्याग मोक्ष कहलाता है। मोक्ष का अभ्युदय मन के विनाश से है और मन का विनाश भाग्यवान का ही होता है। ज्ञानी का मन विनाश को प्राप्त होता है और अज्ञानी का मन उसके बन्धन का कारण है।

''भोगेच्छमात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते।
मनसोऽभ्युदतो नाशो मनोनाशो महोदयः।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि श्रृंखला।''

मन की ऐसी गति है कि वह सांसारिक भोगों एवं चिन्तनों में स्वयं अभिमुख रहती है जबकि मोक्ष प्राप्ति हेतु उसे उद्यम करना होता है। अन्नपूर्णोपनिषद् में उल्लेख है कि 'मेरा मोक्ष हो' इस विचार के अन्तर में उत्पन्न होने पर मन का उत्थान हो जाता है किन्तु अन्य प्रकार के विचार उत्पन्न होने पर और उसमें मन लगने पर संसार का बन्धन दृढ़ होता जाता है। आत्मा सबसे परे सर्व रूप औ सर्व व्यापक है तो बन्धन क्या है? मोक्ष क्या है? इसलिए मन को ही निर्मल बनाओ।

''मोक्षो मेऽस्त्विति चिंताऽन्तर्जाता के दुस्थितं मनः।
मननोत्थे मनस्येष बन्धः सांसारिको दृढः।।
आत्मन्यतीते सर्वस्मात्सर्वरुपेऽथ वा तते।
को बन्धः कश्च वा मोक्षो निमूलं मननं कुरुः।।''

जैसा कि 'Beyond the Mind' नामक पुस्तक में कहा गया है कि हमारे विचार ही हमें संचालित, नियंत्रित, शंकाग्रस्त, भ्रम में उलझा हुआ एवं दुःखों में सराबोर रखते हैं।

"As long as we are trying to manipulate our lives through thought, so long will we be driven, possed, confused, immersed in illusion and sorrow"

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस संसार की तुलना एक नदी से करते हुए और मन को इस नदी का मूल बताते हुए कहा गया है कि यह संसार एक ऐसी नदी है जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही पाँच स्रोत है। इस नदी का प्रवाह बड़ा ही भयंकर है। यह मन ही संसार रूपी नदी का मूल है। इन्द्रियों के विषय ही इस नदी के भँवर हैं। गर्भ, जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु का दुःख इस नदी के प्रवाह में वेगरूप हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युभय) रूप पंचक्लेश ही इस नदी के पाँच पर्व या विभाग हैं और अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ ही इस नदी के पचास भेद हैं।

"पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्धयादिमूलाम्।
पञ्चवर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चचाशब्द्भेदां पञ्चपर्वामधीमः।।"

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार मन में उत्पन्न होने वाला काम ही मोह रूपी बन्धन का कारण है। इसके अनुसार, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि– ये सब इसके (काम के) वास स्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है।

"इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।"

जैन दर्शन में बन्धन तत्त्व की विस्तृत रूपरेखा हम पहले ही देख चुके हैं। अब इसमें मन की क्या भूमिका है, यह निम्नवत् विश्लेषण से स्पष्ट किया जा सकता है। सर्वदर्शन संग्रह में उल्लेख है कि संसार में आने का कारण आस्रव है और मोक्ष का कारण संवर है। यही जैनों के सिद्धान्त का संक्षेप है, शेष बातें इसी का विस्तार (प्रपंच) मात्र है।

"आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्ष कारणम्।
इतीयमार्हती सृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।।"

अब हमें समझना होगा कि आस्रव क्या है। कर्म पुद्गल की आत्मा की ओर गति और उसमें प्रवेश आस्रव है। अब 'कर्मोपार्जन के दो कारण माने गये हैं– योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का नाम योग है और क्रोधादि मानसिक आवेगों की संज्ञा कषाय है। कषाययुक्त प्रवृत्तियाँ कर्मबन्धन के महत्त्वपूर्ण कारण मानी गयी है क्योंकि उनसे उत्पन्न होने वाले कर्मबन्ध कषायरहित क्रिया से होने वाले कर्मबन्ध की अपेक्षा बलवान होते हैं। जब प्राणी अपने मन, वचन और तन से किसी भी प्रकार की क्रिया करता है तो कर्म परमाणुओं का आकर्षण अनायास होने लगता है।'

पूर्व में वर्णित चारों कर्मबन्धों– प्रदेशबन्ध, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभावबन्ध में से प्रकृति बन्धन एवं प्रदेश बन्ध योग अर्थात् मन, वचन और काय के व्यापार के कारण अवधारणा में भी मन की स्पष्ट भूमिका दृष्टिगोचर होती है।

सांख्यदर्शन की बन्धन सम्बन्धी अवधारणा से हम पूर्व में ही परिचित हो चुके हैं। जिसके अनुसार पुरुष का न तो बन्धन होता है, न वह जन्म–मरण रूपी संसार चक्र में फँसता है और न वह मुक्त होता है, यह तो प्रकृति ही है जो लिंग शरीर के रूप में, नाना पुरुषों के आश्रय से बँधती है, संस्रण करती है और मुक्त होती है।

बुद्धि, अहंकार और मन प्रकृतिजन होने से अचेतन है तथा पुरुष के चैतन्य के प्रकाश

से चेतनवत् प्रतीत होते हैं। 'पुरुष का विशेष संपर्क बुद्धि से रहता है। मन और अहंकार सहित बुद्धि समस्त विषयों का अवगाहन करती है या ज्ञान कराती है। बुद्धि सबसे सूक्ष्म है और इसलिए पुरुष की छाया उसके चैतन्य के आवेश को ग्रहण करती है। जैसे स्फटिक पत्थर समीप रखे हुए जया कुसुम के रंग को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही बुद्धि पुरुष चैतन्य की छाया ग्रहण करके पुरुष जैसी बन जाती है। ऐसी बुद्धि पुरुष के भोग को उत्पन्न या दर्शित करती है, पुरुष के भोग को साधती है। पुरुष के बन्धन और मोक्ष दोनों ही अवास्तविक अर्थात् अविवेक रूप या अविवेक द्वारा कल्पित हैं। इस अविवेक को हटाना ही बुद्धि का कार्य है।'

आयुर्वेद दर्शन भी मन को बन्धन का कारण मानते हुए कहता है कि 'जन्म–मरण का यह चक्र अथवा लिंग शरीर युक्त जीवात्मा की एक योनि से दूसरी योनि में गति को ही संसरण या संसार कहते हैं। इसका मूल कारण रजस् और तमस् ये मानस दोष हैं। तमोगुण के आधिक्य से पुरूष (मन) में मोह (अज्ञान या मिथ्या ज्ञान) होता है, वह सृष्टि के पदार्थों को अपने सुख और दुःख का कारण समझता है तथा जिन वस्तुओं को अपने सुख का हेतु मानता है उन्हें प्राप्त करने की इच्छा तथा जिन्हें दुःख का हेतु मानता है उनके प्रति द्वेष उसके मन में उदित होता है। इस हेतु पुरुष प्रवृत्ति या कर्म करता है। ये प्रवृत्तियाँ शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है। शुभ प्रवृत्तियों का फल धर्म और अशुभ प्रवृत्तियों का फल अधर्म एवं धर्म का फल सुख और अधर्म का फल दुःख होता है। इन दोनों फलों के भोग के लिए पुरुष को बलात् शरीर धारण करना पड़ता है। जब तक पुरुष का मन तम एवं रजोगुण से अविष्ट रहता है तब तक मोह, इच्छा, द्वेष, प्रवृत्ति, धर्माधर्म और शरीर का क्रम अविच्छिन्न रहता है।'

योग दर्शन के अनुसार– चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। योग मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। किन्तु चित्त के विक्षेप और विघ्न इस मार्ग पर अग्रसर होने में बाधक हैं। चित्त के यही विकार मनुष्य को भव–बन्धन में ग्रसित रहने हेतु बाध्य करते हैं। पतञ्जलि कृत 'योग दर्शन' में उल्लेख है कि व्याधि (रोग), स्त्यान (अकर्मण्यता), संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व (साधन करने पर भी योग की भूमियों की स्थिति का न प्राप्त होना) और अनवस्थितत्व (किसी भूमि में चित्त की स्थिति होने पर भी उसका न ठहरना)– ये नौ, जो कि चित्त के विक्षेप है, वे ही अन्तराय (विघ्न) है।

''व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध–
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽनतरायाः।।''

इसके अतिरिक्त दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व (शरीर के अंगों में कम्पन होना), श्वास और प्रश्वास– ये पाँच विघ्न विक्षेपों के साथ–साथ होने वाले हैं।

''दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।।''

चन्द्रधर शर्मा योग दर्शनानुसार चित्त की पाँच भूमियों को निम्नवत् व्याख्यायित करते हैं। 'चित्त की पाँच भूमियाँ है– क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध। 'क्षिप्त' चित्त में रजोगुण का आधिक्य होता है जिससे वह अस्थिर, चञ्चल और विषयोन्मुख बनकर सुख–दुःख भोगता है। 'मूढ़' चित्त में तमोगुण का आधिक्य होता है जिससे वह विवेकशून्य, कर्तव्याकर्तव्यबोध रहित बनकर प्रमाद, आलस्य, निद्रा में पड़ा रहता है या विवेकहीन कार्यों में प्रवृत्त होता है। 'विक्षिप्त' चित्त में सत्त्व गुण की अधिकता रहती है। किन्तु कभी–कभी रजोगुण भी जोर मारता है। 'एकाग्र' चित्त में सत्त्व का अत्यन्त

उत्कर्ष रहता है। 'निरूद्ध' की अवस्था में वृत्तियों का कुछ काल तक निरोध हो जाता है, किन्तु उनके संस्कार बने रहते हैं।'

उक्त विवेचना में यह स्पष्ट हो जाता है कि चित्त की भूमियाँ क्रमशः उत्तरोत्तर विकास की अवस्था में हैं। प्रथम की दो भूमियाँ अत्यन्त बन्धनकारी जबकि बाद की भूमियाँ मोक्ष की ओर अग्रसर करने वाली है। अतः स्पष्ट है कि चित्त की वृत्तियाँ पुरुष के बन्धन की हेतु हैं।

योगवासिष्ठ भी मन को बन्धन का हेतु मानते हुए निम्नवत् उद्‌गार व्यक्त करती है–

> ''अविद्या संसृतिश्चित्तं मनो बन्धो मलस्तमः।
> इति पर्याय नामानि दृश्यस्य विदुरुत्तमाः।।''

इसके उपरान्त हम न्याय–वैशेषिक की दृष्टि में मन की बन्धन में क्या भूमिका है, इसका अनुशीलन करेंगे। न्याय वैशेषिकों के अनुसार हमारे बन्धन का कारण अविद्या और कर्म है। अविद्या और अज्ञान संसार के पदार्थों का मिथ्या ज्ञान है, जिसके परिणामस्वरूप जीव अनात्म पदार्थों को आत्म पदार्थ के रूप में देखता है। वात्स्यायन कहते हैं–

''तत्त्वज्ञान होने से मोह का नाश हो जाता है। मोह नष्ट हो जाने पर किसी कर्म की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। अर्थात् मनुष्य शरीर, मन या वचन से कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिसका फल भोगने के लिए उसे पुनः शरीर धारण करना पड़े।''

इसका तात्पर्य यह भी निकलता है कि शरीर, मन या वचन से किए गये कर्म ही बन्धन का कारण है जिन कर्मों का फल भोगने के लिए पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। 'आत्मा जब तक कर्म–जाल में फँसा है तब तक उसका बन्धन बना रहता है। आत्मा का बाह्य पदार्थों या मानस भावों से सम्पर्क मन और इन्द्रियों के द्वारा या केवल मन के द्वारा होता है। इन्द्रियाँ स्थूल शरीर में रहती हैं। अतः आत्मा शरीरेन्द्रियमनः संयुक्त होने पर ही बाह्य विषयों के सम्पर्क में आ सकता है।'

उक्त भाव कारिकावली के निम्न श्लोक का स्पष्टीकरण प्रतीत होते हैं। जिसके अनुसार सुख–दुःख, इच्छा, द्वेष आदि मन के ही कार्य हैं।

> ''द्रव्याध्यक्षे त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्।
> मनोग्राह्यं सुखं–दुःखमिच्छा द्वेषो मतिः कृतिः।।''

पूर्व मीमांसा भी न्याय–वैशेषिक के ही मत को मान्यता देती है। इसके अनुसार 'हमारे बन्धन और सशरीरी होने का कारण यह है कि हमें हमारे पाप और पुण्य कर्मों के फलों को भोगना पड़ता हैं।............ आत्मा के गुण केवल तभी प्रकट होते हैं जब उसका संयोग मन से होता है और मन की सत्ता शरीर से अलग नहीं रह सकती।' ऐसा प्रभाकर का मत है। इसके अनुसार यह स्पष्ट है कि हमारे पाप और पुण्य कर्म बन्धन का कारण हैं और ये कर्म मन के द्वारा प्रेरित एवं शरीर द्वारा आत्मा के माध्यम से संचालित होते हैं।

अद्वैत वेदान्त के स्तम्भ आचार्य शंकर कृत 'विवेक चूड़ामणि' में मन को ही अविद्या सिद्ध करते हुए कहा गया है कि अविद्या ही बन्धन का कारण है।

'विवेक चूड़ामणि' के अनुसार क्रिया रूपा विक्षेपशक्ति रजोगुण की है जिससे सनातन काल से समस्त क्रियायें होती आई हैं और जिससे रागादि और दुःखादि, जो मन के

विकार हैं, सदा उत्पन्न होते हैं।

''विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्ति प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः।।''

मन को ही अविद्या बताते हुए इस ग्रन्थ में यह उल्लेख है कि मन से अतिरिक्त अविद्या और कुछ नहीं है, मन ही भवबन्धन की हेतुभूता अविद्या है। उसके नष्ट होने पर सब नष्ट हो जाता है और उसी के जागृत होने पर सब कुछ प्रतीत होने लगता है।

''न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनोह्यविद्या भवबन्ध हेतुः।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते।।''

उक्त भाव को ही अन्य शब्दों में उपमापूर्ण ढंग से बताते हुए उल्लेख है कि तत्त्वदर्शी विद्वान मन को ही अविद्या कहते हैं जिसके द्वारा वायु से मेघमण्डल की भाँति यह सम्पूर्ण विश्व भ्रमाया जा रहा है।

''अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम्।।''

इस प्रकार मन को ही बन्धन का कारण बताते हुए आचार्य शंकर यह उद्घोष करते हैं कि मेघ वायु के द्वारा आता है और फिर उसी के द्वारा चला जाता है। इसी प्रकार मन से ही बन्धन की कल्पना होती है और उसी से मोक्ष की।

''वायुनानीयते मेघः पुनस्तैनैव नीयते।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते।''

शंकराचार्य कहते हैं कि बन्धन का मूल कारण जीव का स्वयं के स्वरूप के विषय में अज्ञान है। जीव स्वयं ब्रह्म है, परन्तु अनादि अविद्या (माया) के कारण वह उस तथ्य को भूल जाता है और स्वयं को मन, शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि समझने लगता है। यही उसका अज्ञान है और इसी कारण वह स्वयं को बन्धन में पड़ा समझता है। इस प्रकार जीव का बन्धन केवल उसकी कल्पना में ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के बन्धन का कारण स्वयं उसके मन में ही है, कहीं बाहर नहीं है। बन्धन मानसिक है, सत्तागत नहीं है। इसलिए यह बन्धन भी केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है। पारमार्थिक सत्य तो यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष प्राप्त करता है।'

किन्तु क्या अन्य अद्वैत वेदान्ती भी शंकराचार्य के उक्त मतों से सहमत हैं। इसके उत्तर में चन्द्रधर शर्मा निम्न तथ्यों का उल्लेख करते हैं–

''मण्डन मिश्र जीव को अविद्या का आश्रय और ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते हैं। अविद्या के आवरण और विक्षेप दो रूप हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार– एक अविद्या मानसिक है जिसे टीकाकार अमलानन्द ने 'पूर्वापूर्वभ्रम संस्कार' बताया है। दूसरी अविद्या वैषयिक है जो जीव और जगत् का उपादान कारण है। सुरेश्वराचार्य, पद्मापादाचार्य एवं अन्य अद्वैती मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र से इस विषय में सहमत नहीं हैं कि अविद्या का आश्रय जीव है या कि अविद्या मानसिक भ्रान्ति है। इनके अनुसार ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं अविद्याजन्य है। अविद्या मानसिक भ्रम नहीं हो

सकती क्योंकि वह जीव और जगत् दोनों का उपादान कारण है।'

मानव बन्धन की व्याख्या करते हुए शुद्धाद्वैत वेदान्त के प्रणेता वल्लभाचार्य केवल यही कहते हैं कि– 'जीव के बन्धन का कारण अिद्या हैं। परन्तु अविद्या का स्वरूप तथा वह जीव को किस प्रकार बाँधती है, इस पर वल्लभ मौन हैं। दूसरे, वल्लभ विश्वास करते हैं कि मानव बन्धन वस्तुतः सत्य है। वल्लभ केवल कुछ ही जीवों को मोक्ष के योग्य समझते हैं, शेष सभी की नियति या तो संसार चक्र में घूमते रहना है या नरक में सड़ते रहता है।'

उक्त के सम्बन्ध में एक अन्य स्पष्टीकरण पर हम दृष्टिपात करते हैं। जिसके अनुसार, 'यह जगत् का प्रपञ्च सच्चिदानन्द भगवान की इच्छा से उनके सदंश से आविर्भूत होने के कारण ब्रह्मरूप होने से सत्य तथा नित्य है। जगत् के विपरीत संसार या जीवन का जन्म मरण चक्र अविद्या कल्पित है। यह अविद्या पञ्चपर्वा है– 1. जीव का स्वरूपाध्यास, 2. देहाध्यास, 3. इन्द्रियाध्यास, 4. अन्तःकरणाध्यास। जब तक अविद्या है तब तक संसार है। ज्ञान के उदय होने पर अविद्या निवृत्ति के साथ ही संसार की भी निवृत्ति हो जाती है।'

इस प्रकार हम पाते हैं कि वल्लभ के शुद्धाद्वैत वेदान्त में अविद्या की अवधारणा में इन्द्रियाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास के रूप में मन की स्पष्ट भूमिका है।

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के अनुसार 'जीवों का बन्धन अविद्या और कर्म के कारण है। बन्धन और मोक्ष दोनों वास्तविक हैं। कर्म के कारण जीव का देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से सम्बन्ध होता है और यही उसका बन्धन है। शुद्ध चेतन जीव कर्म में क्यों फँसता है? इसका कोई उत्तर नहीं है सिवाय इसके कि कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध अनादि है।'

जैसा कि स्पष्ट होता है कि कारण जीव का मन आदि इन्द्रियों और अन्तःकरण से सम्बन्ध होता है जो मानव को बन्धन ग्रस्त बनाती है।

'मध्व के अनुसार जीव वास्तविक कर्त्ता और भोक्ता है। परन्तु उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वतन्त्र नहीं है, वे ईश्वर की इच्छा पर निर्भर हैं। मध्व का यह दृढ़ विश्वास है कि इस तथ्य को जानना ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है और इस तथ्य को न जानना ही अविद्या और परिणामस्वरूप बन्धन है। अविद्या, कर्म, प्रकृति इत्यादि बन्धन के कारण केवल गौण रूप से ही है। मुख्य रूप से वह ईश्वर की इच्छा ही है जो मानव बन्धन का एकमात्र कारण है। मध्व कहते हैं कि जीव का बन्धन सत्य है। यदि मानव बन्धन काल्पनिक होता तो शास्त्र उसे दूर कर मोक्ष प्राप्त करने का आदेश हमें क्यों देते? शास्त्रों में स्पष्ट रूप से पांच प्रकार के बन्धनों की चर्चा की गई है– 1. अविद्या बन्ध, 2. लिंग देहबन्ध, 3. परमच्छादक प्रकृति बन्ध, 4. काम बन्धन, 5. कर्म बन्ध।'

इस प्रकार मध्व के दर्शन में बन्धन की अवधारणा में मन की भूमिका स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होती। इसका अन्तिम निष्कर्ष है– 'हरि इच्छा गरीयसी'।

निम्बार्क मत का उल्लेख करते हुए डॉ0 अशोक कुमार लाड का मत है कि– 'रामानुज और मध्व से निमर्बाक इन विषयों पर सहमत हैं कि मानव–बन्धन और मोक्ष का अन्तिम कारण ईश्वर की इच्छा ही है; मानव बन्धन वस्तुतः सत्य है।'

4.9 सारांश

भारतीय दर्शन के सभी शाखाओं ने जीवन और जीवन बन्धन पर विचार किया है। कर्मानुसार जन्म ग्रहण करना एवं दुःख सहते रहना, बन्धन का कटु स्वरूप है। इस सिद्धान्त पर प्रत्येक भारतीय दर्शन एकमत है। केवल विचार शाखाओं में कुछ भेद है। जैसे वेदान्त के अनुसार जीवात्मा सदा बन्धनमुक्त है। वहीं जैन दर्शन के अनुसार जीव को ही बन्धन के दुःख भोगने पड़ते है। जीव अनन्त है। स्वाभवतःपूर्ण है। किन्तु वह चेतनद्रव्य है। शरीर धारण करने के कारण जीव को संसार के बन्धन घेर लेते है। सदज्ञान और सदाचार के माध्यम से जीव बन्धन मुक्त हो जाता है। बुद्ध ने कहा चार आर्यसत्यों का ज्ञान नहीं होना बन्धन का कारण है। चार आर्यसत्यों का ज्ञान प्राप्त करके जीव मुक्त हो जाता है।

न्यायवैशेषिक में जीव के द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति न होना बन्धन का कारण है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर वह मुक्त हो जाता है। सांख्यदर्शन ने जीव के अध्यात्मिक आधिभौतिक और आर्ध्वदैहिक बन्धन को स्वीकार किया है। जीव को विवेक ज्ञान हो जाने पर अर्थात् यह ज्ञान की पुरूष अलग और प्रकृति अलग है, वह बन्धन मुक्त हो जाता है। इस प्रकार सभी दर्शनों ने अज्ञान को बन्धन का कारण और ज्ञान को बन्धन से मुक्ति का साधन माना है। केवल बन्धन के स्वरूप के विवेचन में किंचित भिन्नता है। समग्र भारतीय दर्शन के बन्धन सम्बन्धी चिन्तन को हम सार रूप में एक चार्ट के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं, इसका अवलोकन करें।

दृष्टिकोण	सारांश
उपनिषद्	i. भोग की इच्छा मात्र ही बंधन है। ii. अज्ञानी का मन उसके बंधन का कारण है। iii. 'मेरा मोक्ष हो' के अतिरिक्त अन्य विचारों में मन लगने पर संसार का बन्धन दृढ़ होता जाता है। iv. मन संसार रूपी नदी का मूल है।
सांख्य दर्शन	i. मन और अहंकार सहित बुद्धि समस्त विषयों का अवगाहन करती है। ii. बुद्धि, अहंकार और मन प्रकृतिजन होने से अचेतन है तथा पुरुष के चैतन्य के प्रकाश से चेतनवत् प्रतीत होते हैं। iii. बुद्धि सबसे सूक्ष्म है और इसलिए पुरुष की छाया उसके चैतन्य के आवेश को ग्रहण करती है। iv. पुरूष का बन्धन अविवेकरूप है। इस अविवेक को हटाना ही बुद्धि का कार्य है।
योगदर्शन	i. चित्त के विक्षेप और विघ्न रूपी विकार मनुष्य को भव–बन्धन में ग्रसित रहने हेतु बाध्य करते हैं। ii. रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व– ये नौ चित्त के विक्षेप है। iii. दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये पाँच

	विघ्न हैं। चित्त की वृत्तियाँ पुरूष के बन्धन की हेतु हैं।
न्याय–वैशेषिक	i. शरीर, मन या वचन से किये गये कर्म ही बन्धन का कारण है।
पूर्व मीमांसा	i. आत्मा के गुणों का प्रकटीकरण मन के संयोग से होता है।
अद्वैत वेदान्त	i. मन ही अविद्या है। जो भव–बन्धन की हेतुभूता है। ii. बन्धन मानसिक है– सत्तागत नहीं है। अतः व्यावहारिक रूप से सत्य किन्तु पारमार्थिक रूप से असत्य है।
अन्य वेदान्त दर्शन	i. वल्लभ के शुद्धाद्वैत वेदान्त में अविद्या की अवधारणा में इन्द्रियाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास के रूप में मन की भूमिका स्पष्ट है। ii. कर्म के कारण जीव का मन आदि इन्द्रियों और अन्तःकरण से सम्बन्ध होता है जो मानव को बन्धनग्रस्त बनाती है।– रामानुजाचार्य iii. मानव बन्ध काल्पनिक नहीं अपितु सत्य है। – मध्वाचार्य।

4.10 पारिभाषिक शब्दावली

प्रबोध : ज्ञान का न होना बन्धन है।

4.11 सन्दर्भग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता, डॉ. मदनमोहन अग्रवाल, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 2008
3. गीतारहस्य, बालगंगाधर तिलक, पिलग्रिम्स प्रकाशन, वाराणसी, 2017

4.12 बोधप्रश्न

1. भगवद्गीता में वर्णित बन्धन की प्रक्रिया तथा उससे मुक्ति के साधनों की विवेचना कीजिए।
2. मन ही बन्धन का कारण है, इस कथन की विवेचना भगवद्गीता के आलोक में कीजिए।
3. बन्धन से सम्बन्धित भगवद्गीता में उल्लिखित महत्वपूर्ण श्लोकों का भावार्थ अपने शब्दों में लिखिए।
4. निष्काम कर्म से जीव को बन्धन नहीं प्राप्त होता, इस कथन की पुष्टि कीजिए।

खण्ड 5
पुनर्जन्म तथा मोक्ष

पञ्चम खण्ड का परिचय

पुनर्जन्म तथा मोक्ष पॉचवे खण्ड का नाम है, इसमें तीन इकाइयॉ हैं।प्रथम इकाई में सैद्धान्तिक वर्णन है। दूसरी इकाई में मोक्ष का अर्थ बताया गया है। अन्त में मोक्ष के उपायों का वर्णन करते हुए इस खण्ड का वर्णन विराम को प्राप्त हुआ है। इस खण्ड में कुल तीन इकाइयॉ संयुक्त रूप से पुनर्जन्म और मोक्ष की व्याख्या करती हैं। हिन्दू संकल्पना में दुबारा जन्म लेने के कारणों और उसके सिद्धान्तों पर अनेक ग्रन्थों में विस्तार से विचार किया गया है। जिसके सैद्धान्तिक स्वरूप की जानकारी हेतु प्रथम इकाई में वर्णन प्रस्तुत है। वस्तुत: हिन्दू सनातन में मोक्ष का अर्थ एक ही होता है। जिसे मुक्ति कहते हैं। इसके स्वरूप को जानने के लिए विभिन्न ग्रन्थों में पाये जाने वाले सिद्धान्तों की चर्चा द्वितीय इकाई में विस्तार से की गई है। जीव क्यों बन्धन में आता है, उसका दुबारा जन्म क्यों हो जाता है इन सब बातों को स्पष्ट करते हुए अन्तिम इकाई में जीव की मुक्ति के लिए बताए गए उपायों का वर्णन किया गया है। जिसका अध्ययन करने के बाद आप मोक्ष के स्वरूप और उपायों की व्याख्या करने में सक्षम हो जाएंगें।

इकाई 1 पुनर्जन्म का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप–

1. हिन्दू सिद्धान्त में पुनर्जन्म की अवधारणा को समझ सकेंगे।
2. पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतभूमि पर पल्लवित पोषित सभी पंथों का मूल सिद्धान्त है, इसे जान पायेंगे।
3. पुनर्जन्म का सिद्धान्त, कर्म के सिद्धान्त के सिद्धान्त का तार्तिक एवं मनोवैज्ञानिक पहलू है, इसे समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

शरीर के मृत्यु के पश्चात् क्या होता है या क्या सम्भव हो सकता है। इस विषय में तीन संभावनाएँ हैं– (1) शरीर का सम्पूर्ण विलोप, (2) स्वर्ग या नरक में फल भोगना एवं (3) पुनर्जन्म। जो लोग आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करते वे पहले मत का प्रतिपादन करते हैं। जो लोग जन्म के पूर्व आत्मा की अस्तित्व में विश्वास नहीं करते वे ऐसा विश्वास करते हैं कि ययिद व्यक्ति इस जीवन में सदाचारी नहीं करते तो उसे स्वर्ग में आनन्द का अनन्त जीवन प्राप्त होगा और जो पापमय जीवन बिताता है वह मृत्यु के उपरान्त नरक में सदा के लिए निवास करेगा। बाइबिल एवं कुरान में विश्वास करने वाले ऐसा मानते हैं। उनकी दृष्टि में धर्माचरण या सदाचार केवल ईश्वर की इच्छा के प्रति श्रद्धा रखते थे।

मृत्यु के उपरान्त मनुष्य के सम्पूर्ण नाश के सिद्धान्त को बहुत कम लोग ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि इसके विरोध में मनुष्य का कामना, उठ खड़ी होती है, क्योंकि ऐसी स्थ्झिति में व्यक्ति यह सोचने लगता है कि व्यक्ति अपने जीवन में भौतिक एवं आध्यात्मिक से जो कुछ भी कमाया है वह बिना कुछ चिह्न छोड़े सर्वथा विलुप्त नहीं

हो सकता। दूसरी संभावना कि व्यक्ति अनन्त काल तक स्वर्ग या नरक में फल भोगता है इसमें बहुत लोग विश्वास नहीं करते विशेषतः जब वे सोचते हैं कि जीवन तो अल्प होता है और उसी में किये गये सत्कर्मों या दुष्कर्मों के लिए स्वर्ग या नरक में अनन्त वास करना होता है। अतः अपेक्षाकृत अधिकतर लोग यह विश्वास करते हैं कि व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है।

देवयान तथा पितृयान –

देवयान तथा पितृयान – ऋग्वेद जीव के परलोक गमन तथा पुनर्जन्म के दो मार्गों का वर्णन मिलता है। इन मार्गों का विस्तृत विवरण हमें वृहदारण्सयक उपनिषद तथा छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त होता है, जिसे पुनर्जन्म सिद्धान्त के उद्गम स्रोत माना जाता है। यज्ञवल्क ने बृहदारण्यक उपनिषद् (3/3/13 तथा 4/4/57) में दृढ़तापूर्णक कहते हैं कि अपने कर्मों के फलस्वरूप ही मनुष्यों को जन्म ग्रहण करता है। जो लोग सद्कर्म करते, यज्ञक करते, जनकल्याण का कार्य करते है तथा दान देते हैं, चन्द्रलोक जाते हैं और जब उनके सत्कर्म समाप्त हो जाते हैं तो वे उसी मार्ग से लौट आते हैं और पुनः किसी माता के पेट से जन्म लेते हैं। इस प्रकार जो लोग यज्ञ करते हैं, उन्हें दो प्रतिकार मिलते हैं– बहुत काल तक चन्द्रलोक में निवास तथा पृथिवी पर पुनर्जन्म। चन्द्रलोक दी स्वर्गिक लोक का द्वार है।

दैवयान में सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों दोनों से मुक्त होकर ब्रह्मविद् ब्रह्म की ओर बढ़ता है। दैवलोक सूर्यलोक की ओर गमन करता है। इन लोगों में उच्च पद प्राप्त कर युगों तक रहते हैं और उनके लिए इस संसार में बार–बार लौटना नहीं होता।

भवगद्गीता के आठवें अध्याय के 23वें–27वें श्लोक में भी दो मार्गों का उल्लेख है, जिसमें एक वह है, जिसके द्वारा जाने से योगी इस लोक में लौटकर नहीं आता और दूसरा वह है, जिसके द्वारा जाने पर उसे पुनः यहाँ लौटकर आना होता है। इन्हें शुक्ल एवं कृष्ण गति कहा जाता है। पृ0 369

वेदान्तसूत्र के तीन सूत्र में कर्मफल एवं पुनर्जन्म का वर्णन है वे सूत्र हैं– 361

पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक जीवन पूर्व अस्तित्व या असितत्वों (जीवनों) के कर्मों का परिणाम का प्रतिफल है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि हम अतीत की ओर बढ़ें और बहुत दूर निकल जायें तो कोई अस्तित्व या जन्म प्रथम नहीं हो सकता। वेदात्तसूत्र (2/1/35) कहता है कि संसार आरम्भहीन है। ब्रह्मा द्वारा रचित विश्व एक कला तक चलता है, जिसके उपरान्त वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। भगवद्गीता कहती है कि कल्प के अन्त में सभी तत्त्व (जीव) उस प्रकृति में, जिसका मैं अधिष्ठाता हूँ, चले जाते हैं, किन्तु जब दूसरा कल्प आरम्भ होता है मैं उन्हें प्रकट कर देता हूँ।

योगसूत्र (4/7) के अनुसारस कर्म चार प्रकार के हैं (पृ0 368)

इस प्रकार पुनर्जन्म का आधार पुण्य एवं पाप की अवधारणा है पाप के द्वारा पुनर्जन्म का विवेचन मनुस्मृति (12/59–69), याज्ञवल्क्स्मृति (3/131, 135–136, 207–215), विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय 44), गरुण पुराण (प्रेमकाण्ड, 2/60–88), मिताक्षरा (3/216) इत्यादि का अध्ययन करना चाहिए। मनुस्मृति (12/54–69) में आया है कि महापातकी लोग बहुत वर्षों तक भयंकर नकरों में रहकर अधम कोटि में जन्म प्राप्त करते हैं। अनजाने में हुए अपराध पूर्ण पापों के परिणामों को दूर करने के शमन के लिए गौतम

धर्मसूत्र में पाँच साधन बताये हैं– जप, तप, होम, दान तथा उपवास। पुराणों में भगवद् नाम स्मरण द्वारा पापों से मुक्ति का प्राविधान दिया गया। इनके अतिरिक्त प्रारम्भ से ही सबके समक्ष पाप–निवेदन करना पापमोचन का एक साधन माना जाता था। वरुण–प्रद्यास नामक चातुर्मास यज्ञ में पत्नि को उसके द्वारा स्पष्ट प्रत्रूक्ष रूप से या परोक्ष रूप से यह स्वीकार करने पर कि उसका किसी प्रेमी से शरीर–सम्बन्ध था, पवित्र मान लिया जाता था और उसे पवित्र कृत्यो में भाग लेने की अनुमति मिल जाती थी। गोतम धर्मसूत्र 23–18 के अनुसार इसी प्रकार ब्रह्मचारी को संभोग करने के पाप के मोचनार्थ सात घरों में भिक्षा मांगते समचय अपने दुष्कृत्य की घोषणा करनी पड़ती थी।

पाप करने के बाद पाप से मुक्ति हेतु किये गये कृत्य अनुताप कहलाते हैं। अनुताप में व्यक्ति इस बात की घोषणा करता है कि मैं ऐसा अब कभी नहीं करुँगा। तो वह पवित्र हो जाता है। पापमोचन की यह व्यवस्था इसाईयों में भी इस रू॰ में हैं– इसामसीह को पापमोचन समझकर पापनिवेदन करके पाप से छुटकारा प्राप्त हो सकता है।

पुनर्जन्म सिद्धान्त की आलोचना – बहुत से पश्चिमी विद्वानों ने पुनर्जन्म सिद्धान्त के विरोध में बातें कहीं हैं। अब हम अतिसंक्षेप में उन विरोधों की जाँच करेगे–

1) पहला विरोधी तक प्रिंगल पैटिसन ने अपनी पुस्तक आइडिया आव इम्मॉटैलिटी, ऑक्सफोर्ड, 1922 का है। कहते हैं हमें यह जीवन में पूर्व जीवन की कोई स्मृति नहीं होती बिना स्मरण के पुनर्जन्म की संकल्पना व्यर्थ है।
2) पुनर्जन्म में विश्वास करने वाले लोग मानवीय दुःखों के निवारण में उदासीन तथा निर्मम हो जायेंगे और किसी दुःखित व्यक्ति को सहायता देना ही नहीं चाहेंगे। उनकी धारणा यह हो सकती है कि दुःखित व्यक्ति का दुःख पूर्व जन्मों का फल है अतः उसे इसे भोगना चाहिए।
3) पृथिवी की जनसंख्या बढत्रती जा रही है, ऐसे में पुनर्जन्म का सिद्धान्त समुचित उत्तर नहीं दे सकता। अतिरिक्त जीव कहाँ से आ रहे हैं। ऐसे आक्षेपों को आप जे0ई0 संजन की पुस्तक 'डोग्मा ऑव रिइन्कार्नेशन में पढ़ सकते हैं।

वस्तुतः ये सभी आलोचनाएँ एकांगी हैं। इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर हमें पुराणों में उपलब्ध होते हैं। जहाँ दान एवं करुणा को मानव का मूल धर्म माना गया है।

1.2 कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में अन्तःसम्बन्ध

कर्म का सिद्धान्त और पुनर्जन्म का सिद्धान्त एक–दूसरे का पूरक है। हिन्दू संस्कृति में पुनर्जन्म का सिद्धान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के बिना अन्य कोई भी सिद्धान्त न तो व्याख्यायित हो पायेंगे और न ही उनका कर्म में प्रेरणा प्राप्त हो सकेगा। अतः पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विवेचन अपेक्षित है।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन् हंसो आम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।।

''सब जीवों के उद्‌गमस्थान तथा आधार उस महान् ब्रह्मचक्र में हंस (जीव) अपने को उस प्रेरक परमात्मा से अलग समझने पर घुमाया जाता है। उस परमात्मा से मिल जाने पर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।''

इस एक श्लोक में हमें पुनर्जन्म और मोक्ष के कारण बताए गए हैं। जीव संसार में तब तक मारा मारा फिरता है जब तक वह अपने को ईश्वर से अलग समझता है। जब वह उसके साथ अभेद समझ लेता है तब मोक्ष प्राप्त करता है। श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास में बताया गया है कि मनुष्य में जो आत्मा है वह ब्रह्म के स्वभाव का है।

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति ।।
अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।'

तब सब भूतों में सार के समान छिपे हुए, विश्व को एकमात्र व्याप्त करने वाले, परब्रह्म, परमात्मा, उन ईश को जानने से अमृतत्व प्राप्त हो जाता है।

''अंगुष्ठमात्र अन्तरात्मा पुरुष मनुष्यों के हृदयों में सदा निवास करता है।''

स वा अयमात्मा ब्रह्म।
''वह, यह आत्मा, ब्रह्म है।''
स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः
प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः।

''वह, यह महान् अजन्मा आत्मा है जो यह जीवों में विज्ञान– मय है। यह वह है जो हृदय में आकाश है।''

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयम् ।

"वह महान अजन्मा, अजर, अमर, मृत्युरहित, भयरहित आत्मा भयरहित ब्रह्म है।''

अग्नि से निकली हुई चिनगारियाँ जैसे अग्नि के तद्रूप हैं उसी प्रकार ब्रह्म के तद्रूप यह जीव की प्रकृति है जो सब सजीव प्राणियों में जीवात्मा के रूप में प्रकट और विकसित होती है। जिस प्रकार एक बीज बढ़कर अपने उत्पादक वृक्ष के समान वृक्ष बन जाता है उसी प्रकार जीवात्मा का बीज बढ़कर स्वयं चौतन्य देव बन जाता है।

संसार का अस्तित्व इसलिए है कि जीवात्मा अपने को पहचानना सीख सके। जीवात्मा और ब्रह्म में उतना ही भेद है जितना बीज और वृक्ष में है।

ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ।

''ज्ञ और अज्ञ दोनों ही अजन्मा हैं। एक शक्तिमान् है दूसरा शक्तिहीन।''

इसलिए यद्यपि जीवात्मा अज्ञ और शक्तिहीन है पर वह ज्ञाता और शक्तिमान् हो सकता है। इसके लिए उसे विकास करना होगा और उसका विकास जन्म–मरण के चक्र पर है।

इस यात्रा को प्रायः पुनर्जन्म यह नाम दिया जाता है क्योंकि जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। एक शरीर पुराना और क्षीण हो जाता है इसलिए दूसरा ग्रहण करता हैः

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही।।

''जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़ों को फेक देता है और नयों को ग्रहण करता है उसी प्रकार देही पुराने देह को छोड़ कर नए शरीरों में चला जाता है।

Reincarnation यह शब्द भी आज कल बहुत प्रयुक्त होता है। यहाँ जोर शरीर पर दिया जाता है जीवात्मा पर नहीं। यह पुनः मांसचर्ममय शरीर ग्रहण करता है ।

जीवात्मा का अज्ञ से ज्ञ बनना, शक्तिहीन से शक्तिमान् बनना इस विकास (evolution) के सत्य को श्रुतियों में निश्चित रूप से व्यक्त किया गया है और सदाचारी एवं ज्ञानवान् होने के लिए इसके ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। मनुष्य क्षणिक नहीं है कि आज यहाँ कल वहाँ। वह अजन्मा और अमर है और उन्नति करता हुआ अपने सच्चे स्वभाव और शक्ति के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। प्रत्येक वस्तु उसके भीतर है । दैवी शक्ति और ज्ञान की पूर्णता उसमें है। परन्तु इस शक्ति का उद्घाटन करना होगा और यही जीवन–मरण का उद्देश्य है। मनुष्य की प्रकृति को इस प्रकार देखने से जीवन को गौरव, शक्ति और गाम्भीर्य प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान् लोग सदा से ऐसा विश्वास करते आए हैं और प्रत्येक प्राचीन धर्म का यह एक अंग रहा है। योग में विकसित अप्राकृतिक शक्तियों के द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है परन्तु यदि केवल तर्क के द्वारा इस महान् सत्य को प्रमाणित करना हो तो गौतम के न्याय सूत्र के ऊपर वात्स्यायन भाष्य का अवलोकन करना चाहिए ।

केवल आजकल, जो अज्ञान का काल है, पश्चिम देशों में इस सत्य का लोप हो गया है। उसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य की आत्मा, उसके स्वभाव तथा भाग्य के बारे में बहुत अबौद्धिक एवं काल्पनिक विचार उत्पन्न हो गए जिससे ईश्वर के न्याययुक्त एवं प्रेमपूर्ण राज्य में जो विश्वास था उसकी जड़ खुद गई।

जीवात्मा में अनन्त सम्भावनाएँ हैं परन्तु जब वह प्रक्कृति में पड़ा तो पंचभूत से बने हुए रूप में बँध गया। ये सब सम्भावनाएँ सुप्त (inherent) हैं व्यक्त (manifest) नहीं। वह जरायुज होने के पहिले उद्भिज्ज, स्वेदज तथा अण्डज होकर खनिज, वनस्पति तथा जन्तु जगत् के नाना रूपों में जाता है।

इन योनियों में उसकी बहुत सी निम्न स्तर की शक्तियाँ विकसित होती हैं और उसकी गुप्त अवस्था से सक्रिय अवस्था को प्राप्त करती हैं। दो प्रकार का विकास चलता रहता है, एक तो जीवात्मा के जीव का दूसरे उसके भौतिक शरीर का । जीवधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहती है और समृद्धि तथा संकीर्णता में बढ़ती जाती है। जीवात्मा का भौतिक शरीर भी, इसी प्रकार, पहिला शरीर दूसरे शरीर को जन्म देता हुआ, निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक शरीर चाहे वह कितना ही स्वतंत्र प्रतीत हो एक दूसरे शरीर का अंग है, उसके गुण वह शरीर ले लेता है और स्वतन्त्र जीवन निर्वाह करने के लिए उससे अलग हो जाता है। वह इस शरीर का अंग होने के कारण उसके सब लाभों और उन्नतियों का या हानियों और अवनतियों का भागी होता है। उस जन्मदाता शरीर में स्थित जीवात्मा यदि उन्नतिशील होता है तो यह कुछ ऊँचे स्तर पर अपना जीवन प्रारम्भ करता है और यदि अवनतिशील होता है तो कुछ निम्न स्तर पर। साधारण प्रगति तो उन्नति की ओर ही होती है परन्तु जिम प्रकार समुद्र में ज्वार भाटा आया करता है उसी तरह जीवात्मा की उन्नति में भी उतार चढ़ाव हुआ करता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला यह अविच्छिन्न

उत्तराधिकार, जिसको विज्ञान में कुलसंक्रमण कहते हैं, उसे उत्पन्न करता है। कुलसंक्रमण का तात्पर्य है उत्पन्न करने वाले से उत्पन्न किए जाने वाले में गुणों का जाना। परन्तु वैज्ञानिकों ने इसका अवलोकन किया है कि मानसिक एवं नैतिक गुण एक शरीर से दूसरे शरीर में नहीं जाते। चेतना के विकास के कारण को बतलाने में उन्हें भ्रम ही रहता है। उनके सिद्धान्त की पूर्ति के लिए पुनर्जन्म को स्वीकार करने की आवश्यकता है क्योंकि जिस प्रकार भौतिक विकास के लिए भौतिक अनुवर्तन (continuity) आवश्यक है उसी प्रकार चौतन्य का अनवच्छेद (continuity) मानसिक एवं नैतिक गुणों के विकास के लिए आवश्यक है। यह अनुवर्तन (continuity) जीवात्मा की चेतना है जो ऐसा शरीर धारण करती है जो उस दशा के अनुकूल हो। यह हम चतुर्थ अध्याय में देखेंगे। शरीर को ग्रहण करके वह अपनी शक्ति को बढ़ाता है और शरीर को भी उन्नत करता है। किसी एक शरीर से जितने बच्चों के शरीर बनते हैं उस एक शरीर का जो विकास है उसका अनुवर्तन उन सब शरीरों में होता है और उन शरीरों में जो जीवात्मा प्रवेश करते हैं वे भी उन शरीरों को और विकसित करते हैं एवं उनके बच्चों के शरीरों में उनके किए हुए विकास का अनुवर्तन होता है। जब पुराना शरीर घिस जाता है तो जीवात्मा, जैसा पहिले कहा गया है, इसे फेक देता है और दूसरा शरीर ग्रहण करता है।

जब जीवात्मा जन्तुयोनि का पूर्ण अनुभव प्राप्त कर लेता है और मनुष्य की योनि में जाने के लिए उद्यत हो जाता है तब उसका इच्छा–ज्ञान–क्रियात्मक त्रिधा (triune) स्वभाव, जो ईश्वर के त्रिधा स्वभाव का प्रतिबिम्ब है, व्यक्त होने लगता है। मानव जीवात्मा, जैसा हम अब उसको कह सकते हैं, ज्ञान, इच्छा, क्रिया इन तीन रूपों को प्रकट करता है। ये उसमें सदा से थे और ये अब आत्म–चौतन्य के रूप में विकसित होने लगते हैं। अहङ्कार आता है और अहंभाव जो कि अनहंभाव का उलटा है, शीघ्रता से विकसित होता है। इच्छा का स्वभाव जो जन्तु योनि में उद्भिन्न हुआ था अब बहुत अधिक शक्तिमान् हो जाता है। विकसित होते हुए मन को यह दास की तरह पकड़ता है और उसकी बढ़ती हुई शक्तियों को अपनी तृष्णाओं के संतुष्ट करने में लगाता है। जब मन अधिक शक्तिमान् होता है और जीवात्मा अनुभव से सीखता है कि असंयत इच्छाओं का परिणाम कितना दुःखद है तो वह इच्छाओं को रोकने और ठीक राह पर चलाने के लिए अपनी शक्ति को काम में लाने लगता है और तब अपने दिव्यत्व का अस्पष्ट अनुभव करने वाले जीवात्मा तथा उपाधियों की काम–वृत्तियों में लम्बा संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है।

1.3 पुनर्जन्म से मुक्ति

मोक्ष की दशा पुनर्जन्म की मुक्ति है। यह तथ्य समर्ग हिन्दू चिन्तन में मान्य है। वैदिक और अवैदिक, प्राचीन और अर्वाचीन, सभी चिन्तन प्रणालियां, अवतारी पुरूष, गुरू आदि ने मोक्ष की दशाा को ही पूनर्जन्म से छुटकारा माना है। कठोपनिषद् में लिखा हैः

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।

इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तत्याहुर्मनीषिणः।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि अवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।।

''आत्मा को रथी समझो, शरीर को रथ समझो, बुद्धि को सारथि समझो और मन को लगाम समझो। इन्द्रियों को घोड़ा कहते हैं। रूप, रस आदि को उनका विषय कहते हैं। विद्वान् कहते हैं कि इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता है। जो ज्ञानरहित है उसका मन सदा अयुक्त (असंयत) चंचल रहता है और उसकी इन्द्रियां उसके वश में वैसे ही नहीं रहतीं जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं रहते। जो ज्ञानवान् होता है, जिसका मन संयत रहता है, उसकी इन्द्रियां उसके वश में वैसे ही रहती हैं जैसे अच्छे घोड़े सारथि के वश में रहते हैं। जो सचमुच ज्ञानरहित है, विचारहीन है, सदा अशुचि है, वह उस परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता। वह इस संसार में पुनः आता है।

जब इस भूलोक में रहने का समय पार हो जाता है तब जीवात्मा इस पार्थिव शरीर से अपने को हटा लेता है और एक सूक्ष्म शरीर से अदृश्य लोकों को चला जाता है। वह इस पार्थिव जीवन के फलों को भोगने के लिए उन लोकों को जाता है जहाँ इन फलों का उपभोग हो सके।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका वर्णन किया गया है। जीवात्मा इस शरीर को छोड़ देता है और अपने साथ ज्ञान और कर्मफल को ले जाता है। तब

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादाय अन्यत् नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते। एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्या– विद्यां गमयित्वा अन्यत् नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते।

''सुनार जिस प्रकार सोने का एक टुकड़ा लेकर एक दूसरा नवीन एवं अधिक सुन्दर रूप बनाता है उसी तरह आत्मा इस शरीर को छोड़ कर और अविद्या को दूर हटा कर एक दूसरे एवं सुन्दर शरीर को ग्रहण करता है।''

इस रूप में वह अदृश्य लोक को जाता है जिसके लिए वह योग्य है (इसके बारे में छठे अध्याय में लिखा गया है)। तब उपनिषद् बतलाता है कि कर्मफल भोग लेने पर क्या होता है।

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्श्वेह करोत्ययम्।
तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे।
इति नु कामयमानः।

''उस कर्म के, जिसको वह यहाँ करता है, फल के अन्त को प्राप्त होकर यह उस लोक से इस कर्मभूमि को फिर लौटता है। इसी प्रकार उसकी भी बात है जो इच्छा करता है।''

यह प्रक्रिया तब तक बार बार होती है जब तक उसकी वासनाएं बनी रहती हैं क्योंकि ये वासनाएं ही उसे पुनर्जन्म के चक्र में बाँधे रहती हैं। ''यह सचमुच में उसके विषय

में है जो इच्छा करता है''। यही भाव देवीभागवत में प्रकट किया गया है:

> पूर्वदेहं परित्यज्य जीवः कर्मवशानुगः।
> स्वर्ग वा नरकं वापि प्राप्नोति स्वकृतेन वै।।
>
> दिव्यं देहं च सम्प्राप्य यातनादेहमर्थजम्।
> भुनक्ति विविधान् भोगान् स्वर्गे वा नरकेऽथवा।।
>
> भोगान्ते च यदोत्पत्तेः समयस्तस्य जायते।
> तदैव सञ्चितेभ्यश्च कर्मभ्यः कर्मभिः पुनः।
> योजयत्येव तं कालः..................................

''जीव अपने पहिले शरीर को छोड़ कर कर्म के वश में होकर अपने कर्म के अनुसार स्वर्ग या नरक को प्राप्त करता है।

''और दिव्य देह को प्राप्त करके अथवा इच्छा से उत्पन्न यातना के शरीर को प्राप्त होकर स्वर्ग अथवा नरक में भिन्न भिन्न भोगों का अनुभव करता है।

''भोग भोगने के पश्चात् जब उसके पुनर्जन्म का समय आता है तो काल इसके सश्चित कर्मों में से कुछ कर्मों को चुन कर उसके साथ लगा देता है।''

जीवात्मा के चित् रूप का विकास होना और वासनाओं का शुद्ध होना यही दो बातें हैं जो मनुष्य योनि में होती हैं। मन की प्रौढ़ि, तत्पश्चात् बुद्धि का विस्तार, ये ही इस यात्रा के क्रम का निर्देश करते हैं।

महाभारत में मनुष्य शरीर की रचना का विशद वर्णन है। उसका संक्षेप निम्न लिखित है :

मनुष्य में जो जीवात्मा है वह स्वभाव में ब्रह्म के समान है। इस जीवात्मा से बुद्धि की सृष्टि होती है और बुद्धि से मन बनता है। जब इन्द्रियां इसमें जुड़ जाती हैं, तब मनुष्य, जो शरीर में रहने वाला है, पूर्ण हो जाता है, उसका निवास स्थान शरीर है, वह पांच तत्वों का बना है। इन्द्रियां शरीर के द्वारा, बाहरी दुनियां से संसर्ग प्राप्त करती हैं और उस संसर्ग का जो परिणाम होता है उसको वे इन्द्रियाँ मन तक पहुंचाती हैं और जिन विषयों से उनका संसर्ग होता है उनके गुण और धर्मों को बतलाती हैं। विषय इसी प्रकार इन्द्रियों पर असर डालते हैं। मन इन सूचनाओं को प्राप्त करता है, अपने में उनके चित्र बनाता है और उन चित्रों को बुद्धि के सामने रखता है ।

यही जीवात्मा का प्रवृत्ति मार्ग है।

विभिन्न विकारों का अनुभव इस विकास की पहिली सीढ़ी है। इसलिए मन को छठी इन्द्रिय मानते हैं जो पांच इन्द्रियों के द्वारा भेजे गए त्रिषयों के संसर्ग से उत्पन्न अनुभवों (संस्कारों) मे ग्रहण करके उनको सुव्यवस्थित करता है।

मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि।''

''5 इन्द्रियां हैं और मन छठी इन्द्रिय है।''

या जब 5 ज्ञानेन्द्रिय और 5 कर्मेन्द्रिय को एक साथ लेते है तो मन को लेकर 11 होती हैं:

इन्द्रियाणि दशैकं च।

"दस इन्द्रियाँ और एक मन।''

मन इस अवस्था में काम का दास होता है और अपनी शक्तियों को आनन्द के विषयों की खोज में लगा कर उन्हें विकसित करता है। ऋषि लोग मानव को सिखाते हैं कि ऐहिक और पारलौकिक सुख को क्रमशः प्राप्त करने के निमित्त देवताओं के लिये अपने आनन्द की वस्तुओं की आहुति दे देनी चाहिए। इस शिक्षा से वे विकास को और भी शीघ्र आगे बढ़ाते हैं।

विकास की दूसरो सीढ़ी में मन और काम का निरन्तर झगड़ा चलता रहता है। मन इस समय इतना विकसित हो जाता है कि वह इस बात को समझने लगता है कि वे सुख, जिनकी काम प्रायः बहुत इच्छा करता है, अन्त में सुख के बजाय दुःख अधिक देते हैं।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।'

''स्पर्श से उत्पन्न सुख दुःख के ही देने वाले हैं।''

मन, इसलिए, विषय सुख की ओर अपनी प्रवृत्ति को रोकने लगता है, इससे आपस में झगड़ा होता है जिससे मन और भी शीघ्रता के साथ बढ़ता है। कामवासनाओं का निरोध काम को शुद्ध कर देता है। तब उच्चतर श्रेणी की इच्छा प्रकट होने लगती है। वह इच्छा जो शिव की शक्ति है, विष्णु और लक्ष्मी के पुत्र काम (will) का, जो इच्छा का निम्नकोटि का रूप है, विध्वंस करने वाली है।

मन के विकास की तीसरी सीढ़ी बुद्धि की उच्चतर शक्तियों के विकास में है। मन उस समय न तो काम का दास रह जाता है और न उसका उससे कोई झगड़ा रह जाता है। वह स्वतन्त्र हो जाता है। वह शुद्ध मन रह जाता है। अपने ही परिश्रम से निर्मित विचारों में वह लगा रहता हैय न कि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किए गए विचारों में। जीवात्मा इन्द्रिय सुखों को लेना बन्द कर देता है और आत्मा और अनात्मा को समझने का प्रयत्न करने के लिये शुद्ध विचारों में लग जाता है। यह सीढ़ी उस बुद्धि के विकास तक पहुंचा देती है जिसे शुद्ध तर्क या उच्च प्रज्ञा कहते हैं जिसकी अभिव्यक्ति ज्ञान है जो विद्या और प्रेम के संयोग से होता है और जो केवल आत्मा को देखता है और प्रेम करता है।

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।
येन भूतान्यशेषेण द्रच्यस्यात्मन्यथो मयि।

"द्रव्य यज्ञ से ज्ञान यज्ञ अच्छा है। हे परन्तप पार्थ ! सब कार्य ज्ञान में समाप्त होते हैं। इससे तुम देखोगे कि सभी जीव आत्मा में हैं और इस प्रकार मुझ में हैं।''

जीवात्मा इस श्रेणी पर पहुंच कर मोक्ष की देहली प्राप्त कर लेता है। वह दुश्चरित से विरत, शान्त, समाहित और शान्त– मानस हो जाता है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।

''जो विज्ञानवान्, विचारशील, सदा पवित्र होता है, वह उस पढ़ को प्राप्त होता है जिससे लौट कर फिर उसे जन्म नहीं लेना पड़ता।''

जन्म–मरण का यह चक्र जीवात्मा के लिए सदा नहीं रहता । वह तो अपनी इच्छा से ही इसमें बंधा रहता है, उन इच्छाओं की समाप्ति के साथ साथ वह मुक्त हो जाता है। अपने स्वभाव के न जानने के कारण वह बंधा रहता है, इस अज्ञान के समाप्त होते ही वह अपने को मुक्त जान लेता है।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

"केवल वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है जो अनेकता देखता है।''

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते।।

''जब सब कामनाएं, जो इसके हृदय में हैं, मुक्त हो जाती हैं तब मर्त्य अमृत हो जाता है और वह ब्रह्मानन्द लेने लगता है।''

तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः।

''इसलिए इस प्रकार ज्ञानवान, शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित होकर वह आत्मा को आत्मा में देखता है, सब को आत्मा ही देखता है । पाप उसको अभिभूत नहीं करते, वह सब पापों को अभिभूत कर लेता है। पाप उसको क्षीण नहीं करते, वह पाप को क्षीण करता है। पाप से मुक्त, कामवासना से मुक्त होकर वह ब्राह्मण हो जाता है। यही ब्रह्मलोक है।''

सृष्टि क्रम का उलटा प्रलय है जैसा महाभारत में बहुत ही स्पष्ट रूप से बताया गया है। महाभारत से हम संक्षेप में प्रलय का क्रम वैसे ही प्राप्त कर सकते हैं जैसे कि संक्षेप में सृष्टि का क्रम।

शरीर के द्वारा बाहरी विषयों से इन्द्रियों का जो संसर्ग होता है उससे इन्द्रियों को अलग कर लिया जाता है और वे इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त रूपों के अध्ययन से मन को अलग कर लिया जाता है और मन शान्त हो जाता है। मन के द्वारा उपस्थित किए गए विचारों को समझने से बुद्धि अपने को अलग कर लेती है और शान्त हो जाती है और आत्मा को प्रतिबिम्बित करती है। जब तक मन इन्द्रियों की ओर लगा रहता है तब तक उसे यपत्ति प्रतीत होती है। जब वह बुद्धि की ओर मुड़ता है तो आनन्द प्राप्त करता है।

निवृत्ति मार्ग पर जब जीवात्मा चलता है तो वह संसार के चक्कर से निवृत्त हो जाता है और अपने सत्य सनातन निवास स्थान में पहुंच जाता है। इस मार्ग पर चलते समय प्रवृत्ति मार्ग के सब ऋण चुकता होते जाते हैं।

आत्मा को देखना ज्ञान है, आत्मा को प्रेम करना भक्ति है, आत्मा की सेवा करना कर्म है। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीन मोक्ष के मार्ग हैं। ज्ञानमार्ग उनके लिए है

जिनमें चित् की प्रधानता हैय भक्तिमार्ग उनके लिए है जिनमें इच्छा की प्रधानता हैय कर्ममार्ग उनके लिए है जिनमें क्रिया की प्रधानता है। परन्तु प्रत्येक मार्ग में, जीवात्मा के त्रिधा स्वभाव होने के कारण इसके तीनों रूपों का विकास अवश्य होता रहना चाहिए। ज्ञानी जब ज्ञान प्राप्त करता है तो भक्ति और सत्कर्म भी उसके पास आ जाते हैंय भक्त की भक्ति परिपक्व हो जाने पर वह देखेगा कि क्रिया और ज्ञान भी उसे प्राप्त हो गए। कर्मण्य पुरुष के सब कर्म निःस्वार्थ होते हैं इसलिए वह ज्ञान और भक्ति को प्राप्त कर लेता है। तीनों मार्ग वास्तव में एक ही हैं, जिनमें तीन प्रकार की भिन्न प्रकृ तियां अपने तीनों अविच्छेद्य उपकरणों में से किसी एक को प्राधान्य देती हैं।

योग उस प्रक्रिया को बतलाता है जिससे आत्मा का दर्शन, उसके प्रति प्रेम और उसकी सेवा की जा सके।

श्री कृष्ण ने सांख्य और योग के विषय में जो वचन कहे हैं उनका समुचित प्रयोग यहां किया जा सकता हैः

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोविन्दते फलम्।।
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।

''अज्ञान बालक लोग कहते हैं कि सांख्य और योग अलग अलग हैं, पण्डित लोग ऐसा नहीं कहते। जो एक में सम्यक् रूप से स्थित है वह दोनों का फल प्राप्त करता है।

''जो स्थान सांख्यों के द्वारा प्राप्त होता है वह योगों के द्वारा भी प्राप्त होता है।''

मुक्त पुरुष तीनों लोकों में कर्म करे चाहे न करे उसके लिए दोनों बराबर हैं। ऋषि लोग मुक्त हैं और वे तीनों लोकों के धारण और पथ–प्रदर्शन में लगे हैं। जनक मुक्त थे और एक राजा थे और अपने राज्य का संचालन करते थे। तुलाधार मुक्त थे और एक व्यापारी थे और तराजू से अपना सामान तौला करते थे। इतिहास में बहुत से मुक्तों के बारे में बताया गया है जो प्राकृतिक दशाओं से घिरे हुए हैं। मुक्ति में सब दशोओं का परिवर्तन नहीं होता बल्कि अपनी दशा का परिवर्तन होता है। जीवात्मा के आस पास की वस्तुओं में कोई परिवर्तन नहीं होता, जीवात्मा का आत्मा और अनात्मा के प्रति केवल भाव बदल जाता है।

ऊपर कहा गया है कि विकास का प्रसार ऊपर की ओर और आगे की ओर होता है तो भी कभी कभी कुछ समय के लिए इसकी विपरीत गति हो सकती है। आर्यों के कुछ बहुत प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के प्रत्यावर्तनों के भय को बहुत महत्व दिया गया है। उन दिनों में जब ये पुस्तकें लिखी गई थीं अब की अपेक्षा प्रत्यावर्तनों की आशङ्का बहुत अधिक थी। श्री कृष्ण अपने बहुत पिछले दिनों में कहते हैं कि ''अधम आसुरी ही योनियों में डाले जाते हैं और नीच आसुरी पुरुषों के कुल में वे उत्पन्न होते हैं।'' नियम यह है कि जब मनुष्य अपने को मनुष्यता के स्तर से नीचे गिरा देता है और वह अपने बहुत से गुणों को निम्नतर स्तर के जीवों के रूप धारण करके ही प्रकट कर सकता है तब वह पुनर्जन्म लेते समय मनुष्य का शरीर नहीं पा सकता। इसलिए उसकी प्रगति रुक जाती है और वह निम्नकोटि के जीवों के शरीर में बंध जाता है। वह उस समय पशु, वनस्पति अथवा खनिज जीव की श्रेणी में पहुंच जाता है और वहां तब तक रहता है जब तक वह मनुष्ययोनि से भिन्न योनि के बन्धनों को तोड़ कर मनुष्य–योनि में जन्म लेने के लिए योग्य नहीं हो जाता। यदि किसी पशु में बहुत दृढ़ तथा अत्यधिक डासक्ति हो जाए तो, हो सकता है, वह वैसा ही बन जाए।

मनुष्य को इस प्रकार की अत्यधिक आसक्ति से बहुत दूर रहना चाहिए।

1.4 पुनर्जन्म एक दार्शनिक अवधारणा

भारतीय दर्शन में चार्वाक् को छोड़कर किसी न किसी रूप में पुनर्जन्म को स्वीकार किया जाता है। बौद्ध सम्प्रदाय में यद्यपि प्रत्येक वस्तु को क्षणिक माना जाता है, तथापि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार चेतन तत्त्व जिसे समस्त धार्मिक सम्प्रदाय जीवात्मा कहते हैं, मृत्यु के पश्चात् इस वर्तमान कालिक शरीर को छोड़ देता है और दूसरे शरीर को धारण कर लेता है। अतः जीवात्मा नाना प्रकार की योनियों में जाकर नाना प्रकार के शरीर को धारण करता है। इस समस्या के समाधान करने पर अनेक नये प्रश्न जन्म ले लेते हैं। क्या पुनर्जन्म इसलिए मानते हैं कि हम यह स्वीकार नहीं करना चाहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् हम पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं या इसके पीछे कोई तार्किक आधार भी है? इसमें सन्देह नहीं कि पुनर्जन्म के मानने के पीछे पहले कारण के होने को भी पर्याप्त सम्भावना है। साथ ही यह भी सम्भावना हो सकती है कि केवल एक जन्म को स्वीकार करने पर कर्म और उसके फलों में संगति नहीं बैठती है। इस विषय में न्यायदर्शन ने पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए कुछ शुद्ध तार्किक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

न्यायदर्शन में तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि नवजात शिशु को जो हर्ष, भय और शोक का अनुभव होता है, वह केवल अनुभव किये गए विषयों के स्मरण से हो सकता है। हम नवजात शिशु को प्रायः मुस्कुराते हुए, रोते हुए यक भयभीत हुए देखते है। यह सद्यः प्रसूत शिशू को ऐसा क्यों होता है? क्योंकि मुस्कुराना हर्ष का चिन्ह है और हर्ष अभिलषित वस्तु की प्राप्ति से होता है। इस प्रकार जब बच्चे को अकारण रोते हुए देखते हैं तो यह शोक का चिन्ह है। शोक अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति से होता है। प्रश्न उत्पन्न होता है कि बच्चे को किसी वस्तु के प्रति इच्छा कैसे हुई? इस जन्म में तो उसे किसी पदार्थ के इच्छित या अनिष्ट होने का आरम्भ से बोध होना सम्भव नहीं है।

इसलिए यह मानना पड़ता है कि इससे पूर्व उसका कोई ऐसा जन्म रहा होगा, जिसमें उसे इच्छित या अनिष्ठ वस्तुओं का ज्ञान हुआ होगा। पूर्व पूर्व–जन्मों में उसको इस प्रकार की वस्तुओं की इष्ट जनकता का ज्ञान होने से उसी ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से इस जन्म में उसके उन वस्तुओं में इष्ट जनकता की स्मृति होती है। उसी स्मृत्यात्मक ज्ञान के कारण बच्चे को सजातीय विषयों के प्रति अभिलाषा उत्पन होती है।

उक्त कथनों को मानने पर उसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि जैसे कमल स्वभावतः खिलता है और संकुचित होता है, उसी प्रकार बच्चों का हास्य तथा रोना भी तात्कालिक विकार या अवस्था विशेष है। इसके द्वारा उसके हर्ष या शोक अनुमान नहीं किया जा सकता। इस का उत्तर यह है कि पंचभूतों से उत्पन्न कमल का विकास अथवा संकुचित रूप विकार भी स्वाभाविक नहीं है। उष्ण–शीत–वर्षा कालादि उसके कारण है। इसी प्रकार बच्चे के हास्य–रूदन आदि के भी कारण होने चाहिए। वे क्यो हो सकते हैं? कमल सूर्य की किरणों से खिल जाता है और रात्रि में संकुचित हो जाता है। बालक का हंसना तथा रोना सूर्य–किरण तथा रात्रि से नहीं होता। अतः ये उसके कारण नहीं हो सकते। इसलिए युवकों तथा वृद्धों के साम्य पर शिशुओं में भी हंसने और रोने के कारण हर्ष और शो का मानना पड़ता है, जिससे उसका पुनर्जन्म

सिद्ध होता है।

भय के कारण भी बच्चे का पुनर्जन्म सिद्ध होता है। यह देखा जाता है कि जब बच्चा मां की गोद से थोड़ा–सा स्खलित होता है तो रोता हुआ या कांपता हुआ, दोनों हाथ फैलाकर मां के वक्षस्थल के मंगल सूत्र को पकड़ लेता है। वह ऐसा क्यों करता है, एक युवक और एक वृद्धादि की तरह अपने आए गिरने से भयभीत होकर बचने की चेष्टा करता है। उसके भय तथा चेष्टा का कारण अवश्य ही उसका यह ज्ञान है कि पतन दुःख का कारण है। यह ज्ञान उसे कहाँ से प्राप्त हुआ? यह निश्चित रूप से पूर्व जन्म की स्मृति से होता है। अतः उसकी चेष्टा से भय और शोक का अनुमान होता है। इस अनुमान से पूर्वजन्म की सिद्धि होती है। भय से प्रायः मृत्यु का भय ही समझा जाता है। प्रत्येक जीवात्मा को मृत्यु का भय होता है। यह तभी स्म्भव है, जब उसने मृत्यु के पूर्व के दुःख का अनुभव किया हो। इस जन्म में यह सम्भव नहीं है। अतः यह मानना पड़ता है कि पूर्व जन्मों में जीव ने मृत्यु दुःख का अनुभव किया है। उसी संस्कार से उत्पन्न स्मृति से ही मृत्यु का भय होता है। पुनर्जनम के पक्ष में जो दूसरी युक्ति दी जाती है, वह भी प्रथम युक्ति के समान ही है। नवजात शिशु को उत्पन्न होते ही जो स्तनपान की अभिलाषा होती है वह उसके पुनर्जन्म के आहार के अभ्यास से उत्पन्न है। स्तनपान की इच्छा से उसका पुनर्जन्म सिद्ध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि नवजात शिशु के स्तनपान के लिए चेष्टा को देखकर उससे उसके कारण आध्यात्मिक प्रवृत्ति का अनुमान होता है। इस प्रवृत्ति से उसके विषय में इच्छा का अनुमान होता है। इच्छा से इसके कारण ज्ञान का अनुमान होती है, क्योंकि यह मेरा इष्ट जनक है। इस प्रकार के ज्ञान से ही इच्छा उत्पन्न होता है। बालक, युवक सभी को आहार इष्ट जनक है। स्मृति से आहार की इच्छा का तृप्त होना अभ्यास से होता है। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि नवजात शिशु को सबसे पहले दूध पीने की इच्छा होती है। उसका कारण है– ''आहार मेरा इष्ट जनक है, इस प्रकार की स्मृति होती है। इसलिए नवजात शिशु की स्मृति के कारण के रूप में पूर्वजन्म का आहार अभ्यासमूलक संस्कार मानना होगा। उपर्युक्त युक्ति के विरोध में पूर्वपक्षी यह कहता है कि जिस प्रकार लोहा बिना पूर्व ओीयासमूलक संस्कार के अयस्कान्तमणि की ओर जाता है, उसी प्रकार नवजात शिशु का मुख माता के स्तर की ओर जाता है।''

इसका खण्डन करते हुए न्याय का कहना है कि यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि लोहे की प्रवृत्ति अन्यत्र नहीं होती। इसका तातर्प्य यह हुआ कि हम यह देखते हैं कि चुम्बक लोहे के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता। अतः यह मानना पड़ेगा कि लोहे का चुम्बक की ओर आकृष्ट होने का कोई निश्चित कारण है। इसी प्रकार नवजात शिशु के दुग्धपान के लिए माँ के स्तनों की ओर जाने का भी कोई निश्चित कारण होना चाहिए।

1.5 पुनर्जन्म सिद्धान्त सम्बन्धी विमर्श

पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विषय में अनेक शंकाएं की जाती है। भारतीय दर्शन में उन शंकाओं का समाधान निम्नलिखित रूप में उपलब्ध है–

1. जीव जो पुनर्जन्म के समय विशिष्ट योनि वाले शरीर को पशु, पक्षी, कीट, मनुष्यादि के शरीर को प्राप्त करता है। उसका कारण भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म के विचित्र कर्मो का फल बतलाया है। उनके कर्मों में जो धर्म अधर्म रूप उत्कृष्ट अदृष्ट उत्पन्न होता है वही पंच महाभूतों के सहयोग से विशिष्ट योनि वाले शरीर को जन्म देता है। इतना अवश्य है कि विशिष्ट जीव के विशिष्ट माता पिता के

गर्भ में आने से जहाँ उस जीव के पूर्व जन्म के कर्म कारण बनते हैं, वही माता–पिता के पुत्र रूपी फल के अनुभव के अनुकूल कर्म भी करण का काम करते हैं।

2. जहाँ तक यह प्रश्न है कि किसी विशिष्ट योनि में जन्म लेने पर जीव के उसी योनि के संस्कार क्यों उद्बुद्ध होते है? इसका उत्तर वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार मिलता है कि प्रथम तो उसके विशिष्ट इच्छा, द्वेष आदि का कारण उसका अदृष्ट पूर्व जन्मों के कर्मो के संस्कार हैं और दूसरे जिस योनि में वह जन्म लेता है, वह योनि भी उसके अनुरूप संस्कारों के उद्बुद्ध होने में कारण है। यदि जीव मानव जन्म के बाद अपने कर्मो के अनुसार कुत्ता योनि अथवा गौ की योनि को प्राप्त करता है तो उसके पूर्व जन्मों में कुत्ता योनि या गौ योनि के संस्कर उद्बुद्ध होते हैं, मानव योनि में नहीं। योगदर्शन में इसे सुस्पष्ट किया गया है कि जीव के पुनर्जन्मों के विविध कर्मों में जो विपाकोन्मुख होता है, उसके अनुकूल ही वासनाएं अभिव्यक्त होती है।

   इसका अभिप्राय यह है कि हमारे विभिन्न पूर्व जन्मों के र्मो में सभी कर्म फलोन्मुख नहीं होते, कुछ विशिष्ट ही फलोन्मुख होता हैं। यदि ऐसे कर्म फलोन्मुख हो रहे हैं जिनके अनुसार हमें गौ योनि प्राप्त होती है तो उन्हीं कर्मों के अनुरूप ही वासनाएं भी उद्बुद्ध हो जाती हैं, क्योंकि पुनर्जन्म होने पर जीव के पूर्व कर्मो के संस्कार और वासनाएं मिलकर कार्य करती हैं। इसलिए देश अथवा काल, योनि का व्यवधान हो तो आनन्तर्य बना रहता है।

3. पुनर्जन्म की तीसरी समस्या यह मानी जाती है कि पूर्व जन्मों की स्मृति क्यों नहीं रहती? इस विषय में गर्भोपनिषद् में कहा गया है कि नवम मास में जीव माँ के गर्भ में निवास कर योनियों की तरह पूर्व–पूर्व जन्मों का स्मरण करता है और अनुताप करते हुए सोचता है कि इस बार यदि इस योनि से मुक्ति मिल जायेगी, तो मैं इस ईश्वर की भक्ति करूँगा। जैसे ही वह जन्म लेकर भूमि पर आता है तो उसका सब कुछ विस्मरण हो जाता है तो अन्य किए हुए कर्मो की स्मृति आच्छादित हो जाती है। उसकी भोगरूप फल की प्रवृत्ति के कारण उस जन्म के लिए किए हुए कर्म की ही स्मृतियाँ उद्भासित होती है। इसे भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुरूप भी नहीं माना जा सकता है। वास्तव में विस्मरण की बात पूर्वजन्म की ही नहीं, इस जन्म की घटनाओं को भी प्रायः भूल जाते हैं। बचपन में किए हुए कर्मो का विस्मरण हो जाता है तो पिछले जन्म की घटनाओं को तो भूलना स्वाभाविक ही है। अतः विसमरण का अभिप्राय यह है कि पूर्व काल में किए हुए कर्मो का संस्कार अन्तः करण पर अंकित होता है। अन्तः करण का पर्दा अन्य वाद के लिए कर्मो के कारण परिवर्तित हो जाता है, यह बदल जाता है, इसलिए पूर्व जन्म में किए हुए कर्म हो अथवा इस जन्म में किए हुए हो उनका विस्मरण होना स्वाभाविक है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भारतीय दर्शन यह नहीं मानता है कि पूर्व जन्म की घटनाओं को किसी भी प्रकार यादि नहीं कर सकते हैं। न्यासूत्र में समृति के अनेक कारण बतलाते हुए अन्त में धर्म तथा अधर्म को भी स्मृति का हेतु बतलाया गया है। पूर्वजन्म के स्मृति का हेतु र्ध्म है, जो कि वेदाभ्यास से उत्पन्न माना गया है। योगदर्शन तो यह स्वीकार करता है कि योगी अपने पूर्व जन्म के संस्कारों का साक्षात्कार करके उनका ज्ञान प्राप्त कर लेता है। कुछ जाति स्मर योनियों के प्रसंग में भी प्राप्त होते हैं जिन्हें अपने पूर्व जन्म की घटनाओं का स्मरण था।

4. मृत्यु के बाद जीव तुरन्त योनि में जन्म लेता है या नहीं? इसके विषय में मूल दार्शनिक ग्रन्थों में निश्चित रूप में उल्लेख नहीं मिलता है। परनतु उपनिषदों में यह उल्लेख अवश्य मिलता है, कि जैसे जोंक पिछला पैर उठाने से पूर्व अगले पैर को जमा लेती है उसी प्रकार जीवात्मा का जब अगला जन्म निश्चित हो जाता है, तभी उसकी मृत्यु होती है। इसी प्रकार योगदर्शन में कहा जाता है कि– ''सतीमूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगः'' अर्थात् मूल में वासनाओं के तथा उनके विपाक अवशिष्ट रहने के कारण जाति आयुर्भोग प्राप्त होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि मृत्यु के बाद जीवात्मा का पुनर्जनम हो जाता है, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि जीवात्मा जन्म नहीं लेता है तो कहाँ जाता है, क्योंकि जीवात्मा का यह जन्म और मृत्यु का चक्र सतत रूप में चलता है। जन्म और मृत्यु, मृत्यु और जन्म का यह परिचक्र अनादिकाल से चला आता है। यह चक्र तभी समाप्त होता है जब जीवात्मा की मुक्ति होती है, क्योंकि जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जनम यदि यह क्रम नहीं रहता है तो फिर जन्म होने का कारण होगा? यह अवश्य है कि उपनिषदों में यह प्राप्त होता है कि मृत्यु के पश्चात् उसके अगले जनम तक की एक प्रक्रिया है जिसमें से होकर वह अगला जनम धारण करता है। जीवात्मा चन्द्रलोक, सूर्यलोक और सोमादि लोको को जाता है। इसका अर्थ आधुनिक दार्शनिक विद्वान् करते हैं कि सूर्यलोक, चन्द्रलोक आदि का अभिप्राय जीवात्मा की अवस्थाओं से है। ये अवस्था विशेष बहुत काल की अपेक्षा नहीं रखती, अपितु जीवात्मा के अगले जन्म की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है।

5. पुनर्जन्म से सम्बद्ध एक समस्या यह है कि क्या जन्म और मृत्यु की परम्परा नित्य है? इसका भी अन्त होता है? भारतीय दर्शन इस परम्परा को अनादि काल से मानता है, परन्तु इसको अनन्त नहीं मानता। ज्ञान द्वारा यह साधना और भक्ति के द्वारा मोक्ष को स्वीकार किया जाता है। मोक्ष का तात्पर्य ही जन्म और मृत्यु की परम्परा से मुक्ति है। मुक्ति की अवधि एक बहुत दीर्घकाल तक मानी जाती है। परन्तु कुछ विद्वान् मुक्ति से पुनरावर्तन को भी स्वीकार करते है। यद्यपि मोक्ष सरलता से प्राप्त नहीं होता है, अनेक जन्मों में साधना करने के पश्चात् किसी–किसी जीवात्मा को मुक्ति प्राप्त होती है। अधिकांश जीवों की स्थिति यह प्रतीत होती है कि जन्म और मृत्यु के आवाद परिचक्र में पड़े रहते हैं।

6. पुनर्जन्म से सम्बंधित एक समस्या यह भी है कि पुनर्जन्म किसका होता है? आत्मा या अन्तः कारण आदि शरीरिक अंगो का? इसमें यद्यपि ऊपर से देखने से लगता है कि भारतीय दार्शनिक एकमत नहीं है। वेद, उपनिषद्, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और जैन आदि दर्शनों में आत्मा का ही पुनर्जन्म स्वीकार किया जाता है। सांख्यदर्शन और अद्वैत वेदान्त आत्मा का पुनर्जन्म स्वीकार नहीं करते है। इनका मत है कि पुनर्जन्म सूक्ष्मशरीर या लिंगशरीर का होता है। वेदान्त के अनुसार लिंगशरीर में पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ पांच प्राण तथा मन और बुद्धि ये सत्रह अवयव माने हैं। सांख्य के अनुसार लिंग के अहंकार सहित अट्ठारह अवयव हैं।

उपर्युक्त दोनों मतों में कथन मात्र ही भेद है, क्योंकि पुनर्जनम वास्तव में आत्मा का ही हो सकता है, जिसका अभिप्राय है कि शरीर, इन्द्रिय आदि से संयुक्त होने का नाम जन्म है और वियुक्त होने का नाम मृत्यु है। यह अलग समस्या है कि जीवात्मा को कुछ दर्शन परिच्छिन्न और विभु (व्यापक) मानते हैं, क्योंकि कारण शरीर के साथ यदि

आत्मा की चेतना और उसका प्रकाश न हो तो सब कुद जड़वत् और निष्क्रिय हो जाता है। इसलिए आत्मा का पुनर्जन्म होता है यही मानना उचित है।

1.6 कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में अन्तःसम्बन्ध

योगसूत्र में महर्षि पंतजलि ने कर्म एवं पुनर्जन्म के मध्य अन्तःसम्बन्ध पर विचार करते हुए कहा है कि मनुष्य के कर्म के तीन फल प्राप्त होते हैं– जाति, आयु तथा भोग। जाति, आयु तथा भोग ही पुनर्जन्म का आधार है। कर्म वासना जनित है और वासनाओं की अनादिता है। जब तक वासनाओं का क्षय नहीं होता, पुनर्जन्म होती रहती है। योगसूत्र का सूत्र है– तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। अर्थात् वासनाओं की अनादिता है क्योंकि प्राणियों जीवन की इच्छा अनादि काल से नित्य बनी रहती है।

मृत्यु का भय तुरन्त जन्में हुए छोटे से छोटे जीवों में भी देखा जाता हैं, इससे पूर्व जन्म की सिद्धि होती है। उस जन्म में भी मरण भय की व्याप्ति होने पर जन्म–जन्मान्तर की परम्परा अनादि सिद्ध होती है। अतएव वासनाओं का आनिदत्व भी अपने आप सिद्ध होता है। इन वासनाओं का संग्रह– हेतु, फल, आश्रय, और आलम्बन में होता है। इसलिये इन चारों का अभाव होने से उन वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। अतः वासनाओं का हेतु अविद्या क्लेश और उनके रहते हुए होने वाले कर्म है। इनका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग है।

प्रश्न : योगी का पुनर्जन्म नहीं होता कैसे?

उत्तर : वासनाओं का आश्रय चित्त है, शब्दादि आलम्बन विषय हैं। वासनाएँ इन्हीं शब्दादि के सम्बन्ध से संग्रहित होती है। जब योगी योग साधना द्वारा इनका अभाव कर देता है, दूसरे शब्दों में जब विवेक ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाता है, तब कर्मों में फल देने का सामर्थ्य नही रहता, चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है। हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन इन चारों के नही रहने पर वासनाओं का अभाव अपने आप हो जाता है और वासनाओं के अभाव होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।

1.7 सारांश

1. जीवात्मा ब्रह्म है, जैसे बीज वृक्ष है। यह जीवात्मा संसार में तब तक चक्कर लगाता रहता है जब तक वह अपने स्वभाव को जान नहीं लेता।
2. शरीर, एक के पीछे दूसरे, एक धारा से बनते जाते हैं। नया रूप पुराने से भिन्न होता जाता है और उसका अपना अस्तित्व हो जाता है। विकास को प्राप्त होते हुए प्रत्येक जीवात्मा में जीवन की अविच्छिन्न धारा है।
3. जीवात्मा एक शरीर में रहता है और उस शरीर के द्वारा अनुभव प्राप्त करता है। जब वह शरीर घिस जाता है तब उसे फेक देता है। अदृश्य लोकों में अपने कर्मों का फल भोगता है और फिर इस दृश्य जगत् में लौट आता है।
4. जीवात्मा अपने अधःपतन के कारण पशु शरीर में रोका जा सकता है।
5. मन के विकास की तीन श्रेणियां होती हैं (क) काम के अधिकार में रहना, (ख) काम से विरोध करना, (ग) काम पर विजय प्राप्त करना और ऊंची बौद्धिक शक्तियों का विकास करना ।
6. बुद्धि का विकास होता है और मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।

7. मोक्ष के तीन मार्ग हैं ज्ञान, भक्ति और क्रिया और ये तीनों अन्त में एक ही हो जाते हैं।

1.8 पारिभाषिक शब्दावली

त्रिरत्न : सम्यक् दर्शन : जैन दर्शन आस्था पर बल देता है यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा या विश्वास या आस्था है। मोक्ष के उपाय का प्रथम सोपान सम्यक् श्रद्धा है। अपने अज्ञान के प्रति घृणा और सम्यक् ज्ञान के प्रति श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहा जाता है। **सम्यक् ज्ञान** : जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धांतों का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। इसमें जीव और अजीव के स्वरूप और उनके भेद बन्धन के कारण एवं बन्धन के निवारण के लिए आवश्यक साधनों की जानकारी हो जाती है। **सम्यक् चरित्र** : सम्यक् ज्ञान को कर्म में परिवर्तित करना सम्यक् चरित्र है। अशुभ कर्मों का त्याग और शुभ कर्मों का आचरण ही सम्यक् चरित्र है।

प्रपत्ति या शरणागति : प्रपत्ति या शरणागति ईश्वर को प्राप्त करने का सरल एवं सुनिश्चित साधन है। प्रपत्ति का द्वार सभी के लिए सदा खुला रहता है। इसमें वर्ण, जाति, लिंग आदि का कोई भेद नहीं है।

जीवन्मुक्ति : शंकर जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं। मोक्ष मृतकों के लिए आरक्षित नहीं है। यह इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है।

विदेहमुक्ति : रामानुज मुक्ति के एक ही रूप विदेहमुक्ति या क्रममुक्ति को मानते हैं। उनके अनुसार जीव ईश्वरोपासना द्वारा क्रमशः मुक्त होता है। जीव देह के नष्ट होने के बाद देवयानमार्ग से बैकुण्ठ या गोलोक जाता है अर्थात् मोक्ष की अवस्था में जीव सांसारिक बन्धनों से मुक्त तो होता ही है, साथ ही वह पृथ्वी से ऊपर एक दिव्यलोक (बैकुण्ठ) में पहुँचता है और वहाँ ईश्वर के साथ परम आनन्द में रहता है।

1.9 सन्दर्भग्रन्थ

1. भारतीय दशर्न का इतिहास, भाग 1, एस.एन. दास गुप्ता, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
2. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णनन, भाग 1 एवं भाग 2, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
3. पुनर्जन्म, वॉल्टर सेम्किव, एम.डी., प्रभात पेपरबेक्स, नई दिल्ली।

1.10 बोधप्रश्न

1. आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दू जीवन की प्रमुख सिद्धान्त है। इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. भारतीय संस्कृति से जुड़ा हर समाज पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास करता है। इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. पुनर्जन्म के सिद्धान्त के मनोवैज्ञानिक लाभों को अपने शब्दों मे लिखिए।

इकाई 2 मोक्ष का अर्थ और सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- हिन्दू जीवनपद्धति के सर्वोच्च आदर्श मोक्ष का अर्थ एवं आवधारणा को जान सकेंगे।
- विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं द्वारा विकसित मोक्ष की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- मोक्ष की अवधारणा एवं अर्थ से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर लिख सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाई में आपने पुनर्जन्म की अवधारणा को पढ़ा है। जिस जीव का पुनर्जन्म नहीं होता, उसे मोक्ष की प्राप्ति हुई होती है। इस इकाई में हम आपको मोक्ष के अर्थ को बताने जा रहे हैं। मोक्ष का अर्थ जीवन–मरण और पुनर्जन्म के चक्र से और सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाना है। उपनिषद् के ऋषियों ने कठोर इस सत्य का ज्ञान प्राप्त किया कि पुनः पुनः जन्म ग्रहण करना ही सभी प्रकार के दुःखों का कारण है। जन्म–ग्रहण करने की आवश्यकता का आन्त्यान्तिक अभाव हो जाना ही सभी साधनाओं का लक्ष्य है, यही मोक्ष है।

मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति 'मोक्ष्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से होती है। इसका अर्थ होता है छुटकारा, स्वतंत्रता अथवा मुक्ति। जबकि मुक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'मुच्लृ मोचने' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग निष्पन्न होता है। इसका अर्थ भी ''स्वतन्त्र होना'' या 'छुटकारा पाना'' है। शास्त्रों के अनुसार मोक्ष का अर्थ है– 'मुच्यते सर्वैदुःखबन्धनैर्यत्र सः मोक्षः' अर्थात् जिस पद को पाकर जीव तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) तथा बन्धनों से मुक्त हो जाता है, वह मोक्ष कहलाता है।

भारतीय दर्शन को, दूसरे शब्दों में, ''मोक्षशास्त्र'' भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय मोक्ष प्राप्त करने का एक विशेष उपाय अथवा रास्ता बतलाता है। इसलिए पाश्चात्य दर्शन के विपरीत, भारतीय दर्शन केवल विचारों का एक विज्ञान ही नहीं, बल्कि जीवन की एक कला भी है। भारत में दर्शन और धर्म एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। एक सिद्धान्त है तो दूसरा उसके अनुसार व्यवहार है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार केवल सत्य की खोज और उसका ज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि जीवन में उसे उतारना और उसके अनुरूप जीवन जीना भी आवश्यक है।

भारतीय दर्शन को मूल्य दर्शन (Axiology) भी कहा जा सकता है। भारतीय मनीषियों ने चार प्रकार के मूल्य बतलाए हैं जिसे हम पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के रूप में जानते हैं। इसे हम नैतिक मूल्य (धर्म), आर्थिक मूल्य (अर्थ), मानसिक मूल्य (काम) और आध्यात्मिक मूल्य (मोक्ष) भी कह सकते हैं। इनमें से धर्म और अर्थ साधन मूल्य है और काम और मोक्ष साध्य मूल्य है। इस प्रकार भारतीय मेधा हमारे समक्ष दो मार्ग रखती है। वे हैं– सांसारिक सुखों का रास्ता (काम) और कल्याण का मार्ग (मोक्ष)।

कठोपनिषद् में इन्हें प्रेय और श्रेय मार्ग कहा गया है। औपनिषदिक ऋषियों को धर्म, अर्थ और काम सन्तुष्ट नहीं कर पाये। इसीलिए कठोपनिषद् में नचिकेता इहलौकिक (सांसारिक) और पारलौकिक (स्वर्गिक) सुखों के प्रलोभन में नहीं पढ़ता। वह केवल परमतत्त्व अथवा परम सत्य को जानने का हठ करता है। बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी संवाद में मैत्रेयी कहती है कि मैं ऐसी सम्पत्ति का क्या करूँगी जिससे मुझे अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार औपनिषदिक ऋषियों का मुख्य उद्देश्य मोक्ष है कोई अन्य भौतिक वस्तु नहीं। भारतीय मनीषा की यह विशेषता है कि वह मोक्ष के अतिरिक्त किसी भी वस्तु को वस्तु अथवा मूल्य को जीवन का परम शुभ या परम लक्ष्य स्वीकार करने को तैयार नहीं। मानवता और नैतिक जीवन महत्त्वपूर्ण अवश्य है परन्तु वे जीवन का परम शुभ अथवा सर्वोच्च लक्ष्य नहीं है। हाँ वे साधन अवश्य हो सकते हैं।

हमें यह याद रखना चाहिए कि भारतीय जीवन–पद्धति का सर्वोच्च लक्ष्य अतिसामाजिक और अतिनैतिक है जो आदर्श की स्थिति है। इसके विपरीत पाश्चात्य दार्शनिकों का चरम लक्ष्य नैतिक और सामाजिक मूल्यों और मानवता को प्राप्त करना ही रहा है। जबकि भारतीय मनीषा की अभिलाषा मानवता से ऊपर उठकर ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की स्थिति को प्राप्त करने की रही है।

यहाँ यह भी समझना अत्यन्त आवश्यक है कि वैदिक संस्कृति और अवैदिक संस्कृति दोनों ही जीवन–पद्धतियों में सर्वोच्च आदर्श के रूप में मोक्ष को स्वीकार किया गया है क्योंकि भारतीय संस्कृति में वर्णित चतुर्विध पुरुषार्थों में मोक्ष का स्थान सर्वोपरि है।

चार्वाक दर्शन भौतिकवादी होने के कारण मोक्ष के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है। अब हम विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में मोक्ष के अर्थ तथा सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

2.2 अवैदिक परम्परा में मोक्ष

2.2.1 चार्वाक दर्शन में मोक्ष

चार्वाक दर्शन में मोक्ष को अपवर्ग कहा गया है। चार्वाक भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में वर्णित चतुर्विध पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से केवल अर्थ और काम को ही स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त चार्वाक केवल इस चेतनायुक्त शरीर को आत्मा मानता है। यह शरीर केवल पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु से निर्मित है। शरीर के नष्ट हो जाने पर यह चेतना नष्ट हो जाती है। अतः उक्त चार तत्त्वों से निर्मित यह शरीर ही आत्मा है आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानता है। चूँकि ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता है अतः चार्वाक ईश्वर को भी नहीं मानता। यह कर्म सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म का भी खण्डन करता है। चार्वाक प्रत्यक्षवादी होने के कारण कर्म–फल में आस्था नहीं रखता। यह शरीर के नाश होने के बाद आत्मा की स्थिति और पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं करता है। चार्वाक के अनुसार यदि आत्मा मृत्यु के बाद पुनर्जन्म ग्रहण करती है तो उसे अपने पुनर्जन्म में किए गए कर्मों का स्मरण क्यों नहीं रहता है? इससे सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर के साथ नष्ट हो जाती है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

चार्वाक के अनुसार मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं है। मृत्यु ही मोक्ष या अपवर्ग है (मरणमेव अपवर्गः)। सामान्यतः यह देखा जाता है कि कोई भी व्यक्ति मरना नहीं चाहता। कुछ दार्शनिक दुःखों की निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं किन्तु समस्त प्रकार के दुःखों का आधार यह शरीर ही है। जब तक यह शरीर है तब तक दुःख भी है। शरीर के न रहने पर दुःख भी स्वयं नष्ट हो जाते हैं। अतः शरीर का नष्ट होना ही मोक्ष है।

चार्वाक स्वर्ग और नरक की अवधारणा का भी खण्डन करता है। यदि मोक्ष या स्वर्ग का अर्थ आत्मा का शारीरिक बन्धन से मुक्त होना है तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि जीवित शरीर ही आत्मा है शरीर से भिन्न आत्मा का कोई स्वरूप नहीं है। चार्वाक के अनुसार मृत्यु के उपरान्त मोक्ष या जीवन रहते मोक्ष की अवधारणा निराधार है। क्योंकि यह परलोक की अवधारणा पर आधारित है और परलोक के लिए कोई प्रमाण नहीं है अतः मोक्ष स्वर्ग नरक की धारणाएँ भ्रमजन्य तथा तर्कविरूद्ध है।

2.2.1 जैनदर्शन में मोक्ष

भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषताओं जैसे कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्त का का अनुसरण करने के कारण जैन दर्शन भी मोक्षशास्त्र कहलाता है। यहाँ मोक्ष को प्राप्त करने में आचरण की शुद्धता का विशेष महत्त्व है। जैन दर्शन में कैवल्य (मोक्ष) को लक्ष्य माना गया है और ''त्रिरत्न'' उस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं। कैवल्य (मोक्ष) जीव के अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार जीव एक द्रव्य है और चेतना उसका लक्षण है। जीव का मूल स्वरूप 'अनन्तचतुष्ट्य' से परिपूर्ण है। है। उसमें 'अनन्त चतुष्ट्य' अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती है। ये हैं– अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तआनन्द। जीव के ये स्वाभाविक गुण केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं बद्ध

जीवों में इनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। किन्तु कर्म पुद्गलों के नष्ट हो जाने के कारण जीव के उक्त स्वाभविक पुनः प्रकट हो जाते हैं। जैसे सूर्य सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है पर बादलों के आने पर वह जगत् को प्रकाशित नही कर पाता। परन्तु बादलों के छटने पर वह फिर से जगत् को पुनः प्रकाशित करता है। वैसे ही जीव भी स्वभावतः पूर्ण और 'अनन्तचतुष्ट्य' से युक्त है किन्तु अविद्या द्वारा बन्धनग्रस्त होने के कारण उसके मूल स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। जब वह मुक्त होता है तो तब वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ प्रश्न है कि जीव के बन्धन का क्या अर्थ है? वह बन्धनग्रस्त क्यों होता है? इसका उत्तर है कि जैन मत में बन्धन का अर्थ है, 'जन्म ग्रहण करना' और 'जीव का शरीर से सम्बन्ध होना'। जीव और कर्मपुद्गलों का संयोग होना बन्धन है। शरीर धारण करने से या कर्मपुद्गलों से संयोग होने के कारण जीव का मूल स्वभाव (अनन्तचतुष्ट्य) छिप जाता है जिससे उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म ही बन्धन का कारण है। कर्म जीव से संयुक्त होकर उसके स्वरूप को दूषित कर देते हैं। जिसके कारण जीव अपनी शुद्धता को भूलकर बन्धन की अवस्था में आ जाता है। जीव और कर्म का संबंध अनादि है। बन्धन की प्रक्रिया में कर्म स्वतः प्रवृत होता है।

यहाँ स्मरण रहें कि आस्तिक दर्शनों में कर्म स्वतः निष्क्रिय है। कर्म ईश्वर की ईच्छा से ही अपना फल प्रदान करता है। जैन दर्शन में कर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यहाँ आठ प्रकार के कर्म स्वीकार किये गये हैं–

1. ज्ञानावरणीय कर्म – ज्ञान को नष्ट करने वाले कर्म।
2. दर्शनावरणीय कर्म – विश्वास नष्ट करने वाले कर्म।
3. मोहनीय कर्म – अज्ञान या मोह पैदा करने वाले कर्म।
4. वेदनीय कर्म – सुख या दुःख पैदा करने वाले कर्म।
5. गोत्रकर्म – जीव का जन्म किस गोत्र में होगा निश्चित करने वाले कर्म।
6. आयुष्कर्म – आयु निर्धारण करने वाले कर्म।
7. नामकर्म – व्यक्ति के नाम का निर्धारण करने वाले कर्म।
8. अन्तराय कर्म – बाधाएँ पैदा करने वाले कर्म।

ये सभी कर्म जीव के भीतर प्रविष्ट होकर उसे जन्म लेने के लिए बाध्य करते हैं। वह अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता है। जीव के अतीत कर्मों से वासनाएँ पैदा होती है। वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं फलतः वे पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करके जीव को शरीर से सम्बद्ध कर देती हैं।

फिर प्रश्न है कि जीव कर्म क्यों करता है? जैनदर्शन के अनुसार अविद्या ही बन्धन का कारण है। ध्यान रहें कि चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीयदर्शन के सम्प्रदाय अविद्या को ही बन्धन का कारण मानते है। अविद्या के कारण ही जीव का मूलस्वरूप छिप जाता है और उसमें 'मिथ्या दर्शन' (अपने स्वरूप का दूसरा ज्ञान) भी उत्पन्न होता है, फलतः उसमें प्रमाद और अविरति (अपने मूलस्वरूप के ज्ञान एवं शुभ–अशुभ के प्रति उदासीनता) उत्पन्न होती है। जीव में प्रमाद और अविरति से क्रोध, मोह, लोभ आदि कुप्रवृत्तियाँ पैदा होती है। जिसे कषाय कहते हैं। कषाय जीव को कर्मपुद्गलों से

जोड़ते हैं। जीव कर्मपुद्गल की ओर आकृष्ट होता है। इस प्रकार जैनदर्शन में मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय बन्धन के कारण हैं।जैनदर्शन में बन्धन–मोक्ष को समझने के लिए आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष को भी जानना आवश्यक है–

आस्रव : जीव की ओर कर्मपुद्गलों का प्रवाह आस्रव कहलाता है। ये दो प्रकार के होते हैं– भावास्रव और द्रव्यास्रव। जीव में कर्मपुद्गलों के प्रवेश के पूर्व भावों में परिवर्तन होता है जिसे भावास्रव कहते हैं। जीव में कर्मपुद्गलों का प्रवेश हो जाना द्रव्यास्रव है।

बन्धन : कषायों के कारण कर्म के अनुसार जीव का पुद्गल से आक्रान्त हो जाना ही बन्धन है। इसके दो भेद हैं– भावबन्ध और द्रव्य–बन्ध।

संवर : कर्मपुद्गलों के प्रवाह को रोकना संवर कहा जाता है अर्थात् आस्रव और बन्ध को रोकने का नाम संवर है। कठोर तप से संवर में सफलता मिलती है।

निर्जरा : संवर में नये कर्मपुद्गलों के प्रवेश को रोकने के पश्चात् जीव में पहले से प्रविष्ट पुद्गलों को नष्ट करना निर्जरा कहलाता है। ये दो प्रकार के हैं– भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा। पहले में साधक की भावना पुद्गलों के नाश की प्रवृत्ति होती है। दूसरे में कर्मपुद्गल पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं।

मोक्ष : जब संवर तथा निर्जरा के द्वारा नये पुद्गलों का प्रवेश रूक जाता है तथा पुराने पुद्गल पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं तो जीव को अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। जिसे मोक्ष कहते हैं। इस अवस्था में चार घातीय कर्मों ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय का नाश हो जाता है।

मोक्ष का स्वरूप : जैन धर्म में कैवल्य (मोक्ष) के भावात्मक और अभावात्मक दोनों रूपों का वर्णन मिलता है। मोक्ष की अवस्था में दुःख नहीं रहता अपितु पूर्णता की प्राप्ति हो जाती है। मोक्ष की अवस्था में सारी बाधाएँ समाप्त हो जाती है। इसका उल्लेख 'अनन्तचतुष्ट्य' के रूप में किया गया है। अर्थात् मोक्षावस्था में अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य (शक्ति) तथा अनन्तआनन्द और शान्ति मिलती है। यही जैनदर्शन का कैवल्य या मोक्ष है। कैवल्य को प्राप्त करने वाला 'केवली' कहलाता है। वह सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञाता के हो जाता है। बन्धन में रहने पर मनुष्य को सापेक्ष ज्ञान होता है, परन्तु 'केवली' होने पर उसे निरपेक्ष ज्ञान होता है। 'केवली' अपने वास्तविक रूप में अर्थात् पूर्णज्ञान की अवस्था में होता है। वह अज्ञान से मुक्त हो जाता है, जिसके कारण सभी अशुभ और दोष उत्पन्न होते है। मोक्ष की इस अवस्था की प्राप्ति के मार्ग बताए गये है, उनमें त्रिरत्न–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र का अत्यधिक महत्त्व है। यही कैवल्य (मोक्ष) कहलाता है।

2.2.3 बौद्धदर्शन में मोक्ष

बौद्ध दर्शन के तृतीय आर्य सत्य में दुःख–निरोध या निर्वाण का वर्णन किया गया है। प्रथम आर्य सत्य में 'दुःख है' में दुःखमय जीवन की समस्या को बतलाया गया है। इसी समस्या के कारण के रूप में द्वितीय आर्य सत्य में प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर दुःखों के कारण की खोज की गई।

बुद्ध ने अविद्या को प्रतीत्यसमुत्पाद (द्वादशनिदानचक्र या संसारचक्र या भवचक्र या दुःखचक्र) का मूलभूत कारण घोषित किया। उन्होंने तृतीय आर्य सत्य में इसी के आधार पर दुःख निरोध का भी वर्णन किया क्योंकि अविद्या (जो दुःखों का मुख्य कारण

है) के निरोध से सम्पूर्ण दुःखचक्र को नष्ट किया जा सकता है। दुःख निरोध ही निर्वाण है।

निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है बुझ जाना या ठंडा पड़ जाता। कुछ दार्शनिक निर्वाण का शाब्दिक अर्थ जीवन का अन्त करते हैं। उनके अनुसार बुझने या ठंडा पड़ने का अर्थ मृत्यु से है, जिसमें पंचस्कन्धों के बने रहने की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। किन्तु यदि हम बुद्ध की शिक्षाएँ एवं उनके लक्ष्य को ध्यान में रखे तो निर्वाण का यह अर्थ बिल्कुल भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह इस स्थिति में चार्वाक के 'मरणमेव अपवर्गः' जैसा होगा जो बुद्ध की शिक्षा के विपरीत है।

वस्तुतः बुझ जाने या ठंडा पड़ने का अर्थ दुःखों के बुझने या ठंडा पड़ने से है। बुद्ध के चार आर्य सत्यों का अर्थ भी यही है प्रथम आर्य सत्य दुःख की गहन अनुभूति करता है। द्वितीय आर्य सत्य उसका कारण स्पष्ट करता है तो तृतीय आर्य सत्य में दुःखों के अन्त की ओर ही संकेत होगा, जीवन के अन्त की ओर नहीं। इसलिए दुःखों का अन्त ही निर्वाण है। दीपक के बुझने से दुःखों के गायब हो जाने का संकेत है और ठंडा हो जाने से दुःखों के शान्त हो जाने का अर्थ प्राप्त होता है।

निर्वाण एक अवर्णनीय अवस्था है। इसके विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह है भी या नहीं। इसका अर्थ केवल दुःखों से मुक्ति है। मिलिन्दपह्नो में भिक्षु नागसेन और राजा मिनाण्डर के संवाद में निर्वाण को समझाने का प्रयास किया गया है– निर्वाण समुद्र की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊचाँ और शहद की तरह मीठा है। इसी ग्रन्थ में आगे कहा गया है कि निर्वाण का ज्ञान उपमाओं की सहायता से भी नहीं कराया जा सकता इसे खुद ही महसूस करना पड़ता है। जैसे जन्मान्ध व्यक्ति को रंगों की कोई जानकारी नहीं दी जा सकती।

2.3 वैदिक परम्परा में मोक्ष

2.3.1 औपनिषदिक मोक्ष चिन्तन

हम यह जान चुके हैं कि औपनिषदिक ऋषियों ने चार पुरुषार्थ स्वीकार किया है। अर्थ और काम उपनिषद के ऋषियों को संतुष्ट नहीं कर सकें। वे किसी ऐसे नित्य वस्तु को प्राप्त करना चाहते थे, जिसे प्राप्त कर लेने पर सभी कुछ प्राप्त हो जाय और संसार का आवागमन चक्र अथवा पुनर्जन्म भी रूक जाए।

कठोपनिषद् के नचिकेता और बृहदारण्यक उपनिषद् की मैत्रेयी का समस्त सांसारिक प्रलोभनों से असंतोष सभी औपनिषदिक ऋषियों के असंतोष का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार धर्म पुरुषार्थ का फल स्वर्ग भी नित्य नहीं है। फिर भी वह संसारिक वस्तुओं से अधिक स्थायी है। पुण्यों का क्षय हो जाने पर स्वर्ग से भी लौटना पड़ता है। अतः धर्म से भी औपनिषदिक ऋषि संतुष्ट नही हो पाए। इसलिए वे ऐसी किसी नित्य वस्तु की खोज में थे जिसे प्राप्त कर फिर न खोना पड़े। उनकी यह नित्य वस्तु की खोज उन्हें आत्मा के ज्ञान के रूप में प्राप्त हुई।

परन्तु आत्मज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो पहले से अप्राप्त हो। यह कोई नवीन उत्पत्ति नहीं है। यदि धर्म, अर्थ और काम के फलों के समान वह (मोक्ष) कोई नवीन उत्पत्ति होती तो वह नित्य नहीं हो सकती थी क्योंकि सभी उत्पन्न सांसारिक वस्तुएँ अनित्य होती है। इसलिए आत्मज्ञान या मोक्ष केवल उस सत्य का ज्ञान है, जिसे हम अज्ञानतावश भूल चुकें है।

हमें यह भली भाँति ज्ञात है कि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों का मूल उपनिषदों में निहित है। अतः सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के मोक्ष का सिद्धान्त उपनिषदों में प्राप्त होता है। विशेषकर वेदान्त के सम्प्रदायों अद्वैत वेदान्त का जीवन्मुक्ति तथा वैष्णव वेदान्त का विदेहमुक्ति सिद्धान्त दोनों ही उपनिषदों में प्राप्त होते है। पहले सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष यहाँ और इसी जीवन में प्राप्त हो सकता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष मृत्यु के बाद ही प्राप्त होता है। जीवन्मुक्त का सिद्धान्त उपनिषदों की इस शिक्षा का सीधा परिणाम है कि मोक्ष ब्रह्मज्ञान में निहित है और यह इस शरीर के रहते भी प्राप्त हो सकता है। जबकि विदेहमुक्ति का सिद्धान्त वेदों के परलोक विद्या सम्बन्धी चिन्तन का तार्किक परिणाम है।

उपनिषद् यह स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि मोक्ष यहाँ और इसी जीवन में प्राप्त हो सकता है और शरीर की उपस्थिति के साथ उसकी कोई असंगति नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् (4/4/14) में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञान यहीं सम्भव है। ''हम इस शरीर में रहते हुए ही यदि हम उसे जान लेते हैं तो कृतार्थ हो गये और यदि उसे यहाँ नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं वे अमृत रूप हो जाते हैं। किन्तु दूसरे लोग तो दुःख को ही प्राप्त होते है।'' इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (2/2/8) में भी कहा गया है कि जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, उसकी हृदय ग्रन्थि टूट जाती है और सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके कर्मों का क्षय हो जाता है। इसी उपनिषद् (3/2/9) में आगे कहा गया है कि जो ब्रह्म को जान लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। वह शोक को तर जाता है, पाप को पार कर लेता है और हृदय ग्रन्थियों से विमुक्त होकर अमस्त्व को प्राप्त कर लेता है।

जिसने आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान या मोक्ष प्राप्त कर लिया है उसका फिर जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म अथवा जन्म ग्रहण करने का मूल कारण भव–तृष्णा या सांसारिक भोगों को भोगने की अतृप्त इच्छा है। परन्तु आत्मज्ञानी की सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है। अब उसमें कोई तृष्णा शेष नहीं रहती। जिस प्रकार समुद्र से मिलने पर नदियाँ अपना नाम–रूप मिट जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी ब्रह्म में अपने नाम–रूप का खो कर ब्रह्म के साथ एकाकार हो कर स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में व्यावहारिक जीवन के सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। आत्मज्ञानी सभी प्रकार के भयों से मुक्त हो कर अभय हो जाता है।

वस्तुतः व्यावहारिक भेदों (अपना–पराया, मैं–तुम, भय, संदेह, घृणा आदि) का मूल कारण हमारे अन्दर स्थित 'अन्य' या 'पराया' की भावना है। हम मनुष्य संसार के शेष प्राणियों को खुद से अलग या 'अन्य' समझते है। हमें खुद से कोई भय, घृणा या संदेह नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि ये सब 'अन्य' से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु जब 'अन्य' की भावना ही समाप्त हो जाए तो भय किसका? घृणा किससे? सन्देह किस पर? मोक्ष की अवस्था में यह सब समाप्त हो जाते हैं। यही अद्वैत का भाव है जो हमारे जीवन का परम लक्ष्य परम शुभ है।

इस अद्वैत की स्थिति में मोक्ष प्राप्त किया व्यक्ति अथवा जीवन मुक्त व्यक्ति को अपने शरीर से कोई आकर्षण या मोह नहीं रहता। जिस प्रकार सर्प के लिए पुरानी केंचुली का कोई महत्त्व नहीं रहता उसी प्रकार मुक्त पुरुष के लिए शरीर का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वह शरीर को अनासक्त भाव से धारण किये लोक कल्याण में रमा रहता है।

उपनिषदों में ऐसे भी मन्त्र प्राप्त होते हैं जो शरीर–त्याग के पश्चात् क्रम–मुक्ति का वर्णन करते हैं। ध्यान रहे कि क्रम–मुक्ति का सिद्धान्त वैष्णव वेदान्तियों से सम्बनधित है। कठ उपनिषद् (2/3/5) का एक मन्त्र कहता है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार दर्पण के समान निर्मल हुई अपनी बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है। जिस प्रकार स्वरूप में आत्मा का दर्शन अस्पष्ट होता है उसी प्रकार पितृलोक में भी अस्पष्ट आत्म–दर्शन होता है। जिस प्रकार जल में अपना स्वरूप ऐसा दिखाई देता है मानों उसके अवयव विभक्त न हों, उसी प्रकार गन्धर्वलोक में भी अस्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है। ब्रह्म लोक में तो छाया और प्रकाश के समान आत्म–ज्ञान सर्वथा स्पष्ट अनुभूत होता है। यह मन्त्र स्पष्ट रूप से क्रम–मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैष्णव–वेदान्तियों के क्रम–मुक्ति के सिद्धान्त को भी उपनिषदों में स्थान प्राप्त है। उपनिषदों में मोक्ष की अवधारणा का अध्ययन करने के उपरान्त अब हम उपनिषदों का सार कहे जाने वाले ग्रन्थ भगवद्गीता में मोक्ष के आदर्श का अध्ययन करेंगे।

2.3.2 श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ का आदर्ष

उपनिषदों में मोक्ष की अवधारणा तथा उनकी शिक्षा के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि यह अद्वैतवेदान्त के जीवन्मुक्त सिद्धान्त (मोक्ष यहाँ और इसी जीवन में प्राप्त हो सकता है) के अधिक निकट है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या मुक्त पुरुष का सामाजिक जीवन और समान के प्रति कोई दायित्व है अथवा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर उपनिषदों के सारांश के रूप में प्रसिद्ध श्रीमद्भगवद्गीता के स्थितप्रज्ञ की अवधारणा में प्राप्त होता है।

वास्तव में उपनिषदों की शिक्षा कुछ ऐसे चुने हुए अधिकारियों के लिए थी जिन्होंने अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्ण कर लिया था तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों के प्रति सजग थे। इसलिए उनके द्वारा सामाजिक दायित्वों की अवहेलना संभव नहीं थी। परन्तु बाद के समय में लोग उपनिषदों की इस शिक्षा का गलत अर्थ लेने लगे। समाज के इसी विखण्डन को रोकने के लिए भगवद्गीता में निष्काम भाव से स्वधर्म पालन एवं स्थितप्रज्ञ के आदर्श पर जोर दिया गया।

उपनिषदों के समान भगवद्गीता भी परम तत्त्व के रूप में निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करती है। उपनिषदों की शिक्षा कुछ ऐसे चुने हुए अधिकारियों के लिए सुरक्षित थी। जबकि भगवद्गीता का उद्देश्य उसी वैदिक और औपनिषदिक ज्ञान को विभिन्न स्वभाव वाले सामान्य मनुष्यों को सुलभ कराना था। अतः उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर भगवद्गीता उसके विभिन्न रूपों जैसे सगुण ब्रह्म, ईश्वर, पुरुषोत्तम, श्रीकृष्ण इत्यादि का अधिक वर्णन करती है।

उपनिषदों के समान गीता में भी ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ कभी उस (ब्रह्म) सभी दिव्य गुणों का आश्रय कहा गया है और कभी उसे सभी गुणों से परे कहा गया है। ब्रह्म के सगुण रूप का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'प्रत्येक कल्प के अंत में सब भूत मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्प के प्रारम्भ में उनको मैं फिर रचता हूँ'। पुनः वे कहते हैं कि 'मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सब भूतों को उत्पन्न करती है'। निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करते हुए गीता (7/25) कहती है कि 'मेरा (श्रीकृष्ण) वास्तविक स्वरूप अव्यक्त है परन्तु मैं अपनी योगमाया से व्यक्त रूप स्वरूप धारण करता हूँ। अव्यक्त से व्यक्त होना ही मेरी माया है'। अतः यह स्पष्ट है कि

व्यक्त स्वरूप का वर्णन केवल भक्तों के लिए किया गया है। ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही है।

यहाँ एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब गीता के अनुसार भी परम तत्त्व का स्वरूप निर्गुण ही है तो फिर उसके सगुण स्वरूप, ईश्वर, पुरुषोत्तम आदि का अधिक वर्णन क्यों प्राप्त होता है? इसका कारण गीता के निष्काम कर्म से स्पष्ट हो जाता है। गीता में अर्जुन को उसके कर्त्तव्यों का ज्ञान कराने के लिए ही कृष्ण ने उपदेश दिया था। वास्तव में कृष्ण का मूल मन्तव्य अर्जुन को यह अनुभव कराना था कि जिन कार्यों को वह अपने द्वारा किया गया समझ रहा है वे तो वास्तव में ईश्वर के ही कार्य है और उसके बगैर (अर्जुन) भी ईश्वर उन कार्यों को स्वतः या किसी अन्य माध्यम से करवा सकता है। वस्तुतः अर्जुन ईश्वरीय कार्य के लिए केवल निमित्त मात्र ही है।

यही कारण है कि गीता निष्काम कर्म पर अधिक बल देती है। अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को अर्पित करने वाला तथा कर्मों को निष्काम भाव से करने वाला व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ अथवा मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

गीता में स्थितप्रज्ञ की अवधारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ आत्म–साक्षात्कार या मोक्ष की स्थिति को प्राप्त करने वाले व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। गीता में स्थितप्रज्ञ एवं समाधिस्थ का एक ही अर्थ है। स्थितिप्रज्ञ वह है जिसकी प्रज्ञा या बुद्धि स्थिर हो जाती है। यह जाग्रत अवस्था की समाधि है। इस अवस्था में परमात्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध स्थापित होता है और सभी कार्यों को करते हुए भी अकर्त्तापन का अनुभव होता है। यह ब्रह्म में निवास करने की अवस्था है जो ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। स्थितप्रज्ञ इसी जीवन में पूर्णता अथवा मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले व्यक्ति ईश्वर के पद को प्राप्त करते हैं और पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण : स्थितप्रज्ञ की सभी कामनाओं और वासनाओं का नाश हो जाता है। वह दुःख में बहुत दुःखी नहीं होता और सुखों में बहुत हर्षित नहीं होता। वह केवल ईश्वर में लीन रहता है और जगत् के प्रति अनासक्त रहता है क्योंकि वह जानता है कि जगत् के सभी पदार्थ अनित्य हैं।

स्थितप्रज्ञ शुभ–अशुभ, प्रिय–अप्रिय, लाभ–हानि, जय–पराजय, सभी स्थितियों में तटस्थ रहता है, क्योंकि वह जानता है कि सभी स्थितियाँ ईश्वर के अधीन रहती है। स्थितप्रज्ञ आदर्श पुरुष है, उसमें ज्ञान, भक्ति एवं कर्म तीनों का समन्वय होता है। वह बिना आसक्ति के कार्य करता है अतः वह कर्मयोगी है। स्थितप्रज्ञ मुक्त पुरुष है। उसकी बुद्धि सदैव नित्य ब्रह्म में लगी रहती है।

इस प्रकार हमें निष्कर्षतः यह ज्ञात होता है कि मोक्ष के स्वरूप, मुक्त पुरुष के सामाजिक जीवन तथा उसके लोक कल्याण के कार्यों का वर्णन गीता में विभिन्न स्थानों पर हुआ है। यहाँ मुक्त पुरुष को विभिन्न नामों से पुकारा गया है। गीता में उसे जीवन्मुक्त (जो शरीर रहते मुक्त हो गया हो), गुणातीत (जो सभी गुणों से ऊपर उठ चुका हो), स्थितप्रज्ञ (जिसका मन स्थिर हो गया हो तथा समता की दृष्टि वाला हो), भक्त (जिसने स्वयं को ईश्वर को अर्पित कर दिया हो अथवा ईश्वर की शरणागति प्राप्त कर ली हो), ज्ञानी (जिसने ब्राह्मी स्थिती प्राप्त कर ली हो) तथा कर्मयोगी (जो निष्काम भाव से कर्म करता हो) आदि नामों से जाना जाता है।

उपनिषद् और गीता में मोक्ष के स्वरूप, अर्थ और सिद्धान्त का अध्ययन करने के बाद हम भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों (आस्तिक एवं नास्तिक) में मोक्ष की अवधारण का अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम नास्तिक सम्प्रदायों– चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन में वर्णित मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

2.3.3 सांख्ययोग दर्शन में कैवल्य अथवा मोक्ष चिन्तन

सांख्यदर्शन में मोक्ष को कैवल्य के नाम से जाना जाता है। सांख्य तीन प्रकार के दुःखों का वर्णन करता है– आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। सांख्य के अनुसार मनुष्य इन तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित है। 'पुरुष' तत्त्व स्वभावतः नित्य तथा शुद्ध है, ज्ञान स्वरूप तथा बन्धन रहित है। इसका न तो बन्धन होता है और न मोक्ष। वास्तव में प्रकृति ही सूक्ष्म शरीर के रूप में पुरुष के आश्रय से बन्धनग्रस्त होती है, संसरण करती है और मुक्त होती है। सूक्ष्म शरीर के साथ पुरुष का संयोग ही बन्धन है और बन्धन का कारण अविवेक है। पुरुष स्वभावतः ज्ञाता मात्र है जो बुद्धि, अहंकार, मन, शरीर और इंद्रिय से भिन्न है। किन्तु वह अविवेक (भेद या ज्ञान का अभाव) के कारण अनात्म (जड़) वस्तुओं से सम्पर्क स्थापित करके अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। पुरुष प्रकृति के विकारों और उसके तीन गुणों से तादात्म्य स्थापित कर उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप समझ लेता है।

कैवल्य का स्वरूप : सांख्य दर्शन के अनुसार कैवल्य तीनों प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिमात्र है। यह वह अवस्था है जिसमें सभी प्रकार के दुःखों का सर्वदा के लिए निवारण हो जाता है। इस अवस्था में पुरुष अपने नित्य, शुद्ध, चैतन्य रूप में प्रकाशित होता है। यह पुरुष के अपने नित्य स्वरूप में अवस्थित हो जाने की अवस्था है।

पुरुष अपने नित्य स्वरूप में तब अवस्थित होता है जब वह अचेतन प्रकृति एवं अन्तःकरण आदि से अपना विभेद (अलग) जान लेता है। विवेकज्ञान होने से पुरुष जान लेता है कि मैं अचेतन, विषय, जड़, प्रकृति, अन्तःकरण आदि नहीं हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है और मैं अहंकार नहीं हूँ।

जब यह ज्ञान तत्त्वों के अभ्यास से सुदृढ़ हो जाता है तब यह केवल विशुद्ध ज्ञान है और यही कैवल्य की अवस्था है। इसे अपवर्ग भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें पुरुष दुःखमय जगत् से अलग हो जाता है। पुनः चूँकि सूक्ष्म शरीर से पुरुष का संयोग ही बन्धन या दुःखानुभूति का कारण है। अतः विवेकज्ञान द्वारा इस संयोग की समाप्ति ही कैवल्य है। कैवल्य की स्थिति में बाधाएँ दूर हो जाती है, जो पुरुष के वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति में बाधा डालती है। इस प्रकार पुरुष कैवल्य की स्थिति में प्रकृति एवं उसके विकारों से अलग होकर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति की अवस्था में आ जाता है।

2.3.4 न्यायवैशेषिक में मोक्ष विचार

न्यायदर्शन मोक्ष को परम् पुरुषार्थ मानता है इसकी मान्यता है कि प्रमाण और प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के ज्ञान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति अथवा उसके दुःखों का शमन होता है। अविद्या या मिथ्या ज्ञान से जीव को दुःखों की प्राप्ति होती है और वह बन्धनग्रस्त होता है।

आत्मा का शरीर एवं इंद्रियों से युक्त होकर बार–बार जन्म लेना बन्धन है। मिथ्या ज्ञान, ज्ञान का अभाव मात्र नहीं अपितु विपरीत ज्ञान भी है। इसके करण आत्मा अपने से भिन्न पदार्थों के साथ अपना सम्पर्क करती है। और सुख–दुःख आदि आगन्तुक गुणों को अपना तात्विक गुण समझ लेती है। जिनकी उत्पत्ति शरीर एवं इन्द्रियों के साथ उसका साहचर्य होने से होती है।

इस प्रकार मिथ्या ज्ञान के कारण आत्मा में राग–द्वेष एवं मोह उत्पन्न होते हैं। इनके कारण आत्मा कर्मों में प्रवृत्त होकर तरह–तरह के दुःखों को भोगती है। इस प्रकार आत्मा अविद्या या मिथ्या ज्ञान के कारण बन्धनग्रस्त एवं दुःखग्रस्त होती है।

न्याय दर्शन मोक्ष का अपवर्ग कहता है। यह दुःखों के पूर्ण विरोध की अवस्था है। अपवर्ग का अर्थ है, ''आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से छुटकारा पाना या संसार से छुटकारा पाना है।''

उल्लेखनीय है कि न्याय दर्शन में आत्मा को अचेतन द्रव्य माना जाता है तथा ज्ञान, सुख, दुःख आदि का उसका आगन्तुक धर्म माना जाता है। ये आत्मा में तभी उत्पन्न होते हैं जब आत्मा का विषयों के साथ सम्पर्क होता है।

आत्मा मन सहित पंचज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों के सम्पर्क में आती है। इन्द्रियाँ स्थूल शरीर में उत्पन्न होती है। जब तक आत्मा शरीर और इन्द्रियों से संयुक्त रहती है तब तक विषयों के साथ उसके सम्पर्क को रोका नहीं जा सकता। परिणामस्वरूप दुःखनिवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः मोक्ष हेतु आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के संयोग से मुक्त होना आवश्यक है। इस प्रकार मोक्ष आत्मा का शरीर और इन्द्रियों से छुटकारा पाना है।

मोक्ष एक अभावात्मक अवस्था है। यह एक निषेधात्मक आदर्श है। इसका अर्थ है, दुःख निवृत्ति मात्र, सुख प्राप्ति नहीं। वास्तव में इस लक्ष्य को स्वीकार करके वह आत्मा और जड़द्रव्य के अन्तर को अस्वीकार कर देता है। ऐसा आदर्श साधारण बुद्धि के लिए अरूचिकर एवं असन्तोषजनक प्रतीत होता है। मोक्ष की अवस्था में केवल दुःखों का अभाव होता है, इसमें किसी प्रकार का सुख प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह सभी प्रकार के अनुभवों से परे एक अचेतन अवस्था है। आत्मा की इसी अवस्था को धर्मग्रन्थों में अभयम्, अपरम्, अमृत्युपदम् आदि कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था में अवस्थित हो जाती है। वह द्रव्यमात्र रहता है और उसमें बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, द्वेष, संस्कार, सुख, दुःख आदि नौ गुणों का अभाव हो जाता है।

न्याय दर्शन ज्ञानमार्ग द्वारा मोक्ष का विधान करता है। चूँकि इसकी दृष्टि में मिथ्या ज्ञान बन्धन का कारण है, अतः यह तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन मानता है। उसका तत्त्वज्ञान श्रवण, मनन और निदिध्यासन का मार्ग है। श्रुतियों एवं धर्मशास्त्रों के आत्मा विषयक वचनों को सुनना श्रवण है। युक्तिपूर्वक उसका अनुशीलन करना मनन है। श्रवण एवं मनन किये गये आत्मविषयक वचनों का ध्यान करना निदिध्यासन है।

तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान नष्ट होता है। तदनन्तर राग–द्वेष और मोह आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। दोष के अभाव में प्रवृत्ति, का परिणामस्वरूप जन्म नहीं होता और जन्म के निरूद्ध होने से दुःख भी निरूद्ध हो जाता है। किन्तु न्याय दर्शन का मोक्ष का निषेधात्मक आदर्श तथा उसकी प्राप्ति का शुष्क एवं कठोर साधन मानव को प्रेरणा देने से असफल है।

वैशेषिक सूत्र में महर्षि कणाद मोक्ष के स्वरूप को बतलाते हुए कहते हैं कि सभी प्रकार के कर्मों (अदृष्ट) के अन्त हो जाने पर आत्मा का शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है जिसके फलस्वरूप जन्म–मरण का चक्र समाप्त हो जाता है और सभी सुख अनन्त काल के लिए समाप्त हो जाते हैं।

2.3.5 मीमांसादर्शन में मोक्ष चिन्तन

मीमांसा दर्शन भी मोक्ष को परम पुरुषार्थ स्वीकार करता है। जैसा कि हमें पूर्व से ही ज्ञात है कि मीमांसा दर्शन में वेद विहित कर्मों को प्रमुखता दी गई है। दूसरे शब्दों में कहें तो वैदिक कर्म–काण्ड का प्रतिपादन मीमांसा दर्शन में हुआ है। मीमांसा दर्शन में स्वर्ग को परम पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है– ''स्वर्गकामो यजेत्'' अर्थात् स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिए। परन्तु बाद में अन्य भारतीय दर्शनों के प्रभाव में मीमांसा दर्शन के स्वर्ग के स्थान पर मोक्ष को परम पुरुषार्थ के रूप में अपना लिया।

मीमांसा दर्शन में आत्मा को नित्य एवं विभु कहा गया है। आत्मा सम्बन्धी यह विचार न्याय वैशेषिक दर्शन के समान है। मीमांसा की मान्यता अनुसार आत्म तत्त्व नित्य एवं विभु होते हुए भी अपने को अनेक उपाधियों से युक्त कर के बन्धन में पड़ जाता है। यहाँ आत्मा के बन्धन तीन प्रकार के माने गये है– भौतिक शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ एवं जगत्। ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा को बाह्य विषयों से जोड़ती है। ज्ञानेन्द्रिय का आश्रय शरीर है जो आत्मा को सुख–दुःख आदि की अनुभूति कराता है। जगत् के माध्यम से आत्मा को विभिन्न विषयों का अनुभव होता है। इस प्रकार आत्मा का शरीर ज्ञानेन्द्रियों एवं जगत् से सम्बन्धित होना ही बन्धन है।

यहाँ प्रश्न है कि आत्मा का बन्धन क्यों होता है? मीमांसकों के अनुसार आत्मा कर्मों के कारण शरीर आदि उपाधियों से युक्त होकर बन्धन में पड़ता है। वह सकाम एवं प्रतिषिद्ध कर्मों के सम्पादन के फलस्वरूप धर्म एवं अधर्म (पुण्य एवं पाप) के कारण बन्धन ग्रस्त होता है। इन कर्मों के होने का कारण अज्ञान है इसलिए अज्ञान ही बन्धन का कारण है।

मीमांसा दर्शन में मोक्ष की अवधारणा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति के रूप में प्राप्त होती है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में भी मोक्ष की यही अवधारणा है। इसमें दुःखों के साथ सुखों का भी अभाव होता है। इस प्रकार मोक्ष वह अवस्था है जिसमें आत्मा दुःख–सुख से परे अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। तीन प्रकार के सांसारिक बन्धनों से आत्मा का हमेशा के लिए सम्बन्ध टूट जाना ही मोक्ष है।

कुमारिल के अनुसार समस्त दुःखों से रहित तथा त्रिविध बन्धनों से मुक्त होकर आत्मा का अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाना मोक्ष है। प्रभाकर के अनुसार धर्म और अधर्म अथवा पुण्य और पाप का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन में मोक्ष एक ''अभावात्मक'' अवस्था है। परन्तु बाद के मीमांसकों ने मोक्ष को भावात्मक अवस्था में रूप में परिवर्तित कर दिया। उनके अनुसार मोक्ष दुःखों का हटना तो है ही साथ ही यह आनन्दानुभूति की भी अवस्था है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार यह जगत यथार्थ है और मोक्ष प्राप्त करने के बाद भी यह पहले जैसा बना रहता है। मोक्ष का अर्थ केवल यह जानना है कि आत्मा का संसार से सम्बन्ध वास्तविक होते हुए भी आवश्यक नहीं है।

मीमांसा में कर्म बन्धन का कारण है। अतः कर्म के प्रति उदासीनता मोक्ष का साधन है। लेकिन मीमांसा सभी कर्मों के प्रति उदासीन रहने को नहीं कहती, वह केवल काम्य एवं प्रतिषिद्ध कर्मों से दूर रहने का आदेश देती है। वेद में कहे गये नित्य कर्मों का सम्पादन यहाँ अनिवार्य है इसलिए काम्य एवं प्रतिषिद्ध कर्मों के प्रति उदासीनता तथा नित्य कर्मों का सम्पादन मोक्ष का साधन है। इसका अर्थ यह हुआ कि काम्य एवं प्रतिषिद्ध कर्मों को करने से पाप होता है। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को इनका त्याग कर देना चाहिए।

2.3.6 अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का स्वरूप

यहाँ मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है, आत्मा या ब्रह्म नित्य, शुद्ध, चेतन एवं अखण्ड आनन्द है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म और मोक्ष एक ही है– 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

अद्वैत वेदांत में ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मभाव एक ही है। यहाँ जीव ब्रह्म के रूप में परिवर्तित नहीं होता क्योंकि जीव तो सदैव ब्रह्म ही है। ब्रह्मज्ञान में कोई क्रिया नहीं होती है। बन्धन और मोक्ष दोनों अविद्या के कारण होते हैं। जब बन्धन वास्तविक नहीं है, तो मोक्ष भी वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता।

जीव का अस्तित्व अविद्या के कारण है। अविद्या के कारण जीव 'मैं' और 'तुम' से युक्त होकर सुख–दुःखरूपी कर्मों को भोगता हुआ जन्म–मरण चक्र में घूमना ही उसका बन्धन है। आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्या नष्ट हो जाती है, तो जीव नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। यह उसकी बन्धन से मुक्ति है किन्तु जीव और ब्रह्म की एकता तीनों कालों में सिद्ध और नित्य होने के कारण जीव का न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष। केवल अविद्या ही आती है और अविद्या ही जाती है और अविद्या भ्रान्ति है इसलिए उसका आवागमन दोनों ब्रह्मरूप है।

बन्धन और मोक्ष दोनों व्यावहारिक है, पारमार्थिक स्तर पर दोनों मिथ्या है। अद्वैत वेदांत में ब्रह्मसाक्षात्कार, अविद्या निवृत्ति और मोक्ष प्राप्ति ये सब एक है, अविद्या निवृत्ति और ब्रह्मभाव या मोक्ष में क्रिया नहीं होती। आत्मज्ञान मोक्ष को फल या कार्य के रूप में उत्पन्न नहीं करता है।

मोक्ष नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा या ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति है, मोक्ष में न कुछ खोना है, न कुछ पाना है, मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान भी अविद्याजन्य है। मोक्ष किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है। मोक्ष आत्मभाव है जो सदा से प्राप्त है।

शंकराचार्य ने मोक्ष के तीन लक्षण बताये है– 1. मोक्ष अविद्या निवृत्ति है। 2. मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्मसाक्षात्कार है। 3. मोक्ष नित्य अशरीरत्व है। मोक्ष का निरूपण करते हुए शंकर कहते हैं कि ''यह पारमार्थिक सत् है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सभी विकारों से रहित है, नित्य–तृप्त है, निरवयव है, यह स्वयं प्रकाश है, यह तीनों कालों से परे है, यह अशरीरत्व मोक्ष कहलाता है।''

अद्वैतवेदांत में मोक्ष परमार्थिक सत् है यह नित्य मुक्त परमार्थ है, यह स्वतन्त्र स्वाराज्य है, अभय पद है और परमपुरुषार्थ है। मोक्ष कोई कार्य या उत्पाद्य नहीं है। मोक्ष को किसी कारण द्वारा उत्पन्न नहीं माना जा सकता यह न तो कर्म और न उपासना का फल है। यह नित्य आनन्द है और सांसारिक तथा स्वर्गिक सुखों से भिन्न और अव्यक्त

श्रेष्ठ है।

शंकर जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं। मोक्ष मृतकों के लिए आरक्षित नहीं है। यह इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। अद्वैतवेदांत में जब श्रुति 'तत्त्वमसि' उपदेशवाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभववाक्य में परिणत हो जाय तब ब्रह्म साक्षात्कार होता है।

शब्द का बोध किस प्रकार अपरोक्षानुभव में बदल जाता है। इसे दस मूर्खों की कथा से समझा जा सकता है। इस कथा में दस मूर्खों ने नदी में बह जाने के भय से एक–दूसरे का हाथ पकड़कर एक छोटी नदी पार की। नदी के पार आकर जब वे अपनी गणना करने लगे तो प्रत्येक व्यक्ति ने अपने को छोड़कर अन्य नौ व्यक्तियों को ही गिना। तब वे रोने लगे कि उनमें से कोई व्यक्ति बह गया है। एक बुद्धिमान पुरुष ने जब उनकी कथा सुनी तो उन्हें बताया की वे तो दस ही है किन्तु उन मूर्खों को इस शब्दबोध से विश्वास नहीं हुआ। तब उस व्यक्ति ने स्वयं उनको गिनना प्रारम्भ किया और दसवें व्यक्ति को गिनते हुए उसे थपथपाकर कहा ''तुम ही दसवाँ व्यक्ति हो'' (त्वमेवं दशमोऽसि) तब उसके दसवें व्यक्ति को साक्षात् अनुभव हुआ कि वहीं दसवाँ व्यक्ति है।

तत्त्वमसि में तत् 'पद' परब्रह्म को सूचित करता है जो मूल तत्व है। 'त्वम्' पद जीव को सूचित करता है। जो अविद्या और साक्षी का मिश्रण है, 'असि' पद से दोनों के पूर्व तादात्म्य का प्रतिपादन होता है। यह महावाक्य जीव के आरोपित जीवन का निषेध कर के उसके ब्रह्मस्वरूप को निर्देशित करता है– ''तुम ब्रह्म हो जीव ब्रह्म ही है।''

2.3.7 राजानुज के दर्शन में मोक्ष

वैष्णव दर्शन में ईश्वर साक्षात्कार या ईश्वर की प्राप्ति ही मानव जीवन के का परम लक्ष्य है। वैष्णव दर्शन तथा धर्म की नींव रामानुजाचार्य ने डाली थी। उनके अनुसार सांसारिक बन्धन और पुनर्जन्म के चक्र से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि केवल आत्म–ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती अपितु ईश्वर को अन्तरात्मा समझते हुए अपने प्रतिबिम्ब को देखना है और ईश्वर के अधीन होकर विशेष आनन्द की प्राप्ति है। रामानुज के द्वारा स्वीकृत मोक्ष को दो प्रकार से समझा जा सकता है– अभावरूप मोक्ष और भावरूप मोक्ष।

अभावरूप मोक्ष का अर्थ है जीव का जन्म और मृत्यु से परे हो जाना। वास्तव में जन्म और मृत्यु शरीर के कारण ही होते हैं। शरीर के कारण ही मनुष्य कर्म करता है और उस कर्म का फल प्राप्त करता है। यदि कर्म–फल नष्ट हो जाए तो शरीर सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए कर्म और उसके फलों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है।

भावरूप मोक्ष का अर्थ है मुक्त जीव का दिव्य लोक में स्थित होना। इस लोक को ही बैकुण्ठ या गोलोक या परमपद कहते हैं। मोक्ष की अवस्था में जीव परमपद को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में जीव के समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और उसे ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान का विषय ईश्वर का दिव्य विग्रह (शरीर) होता है। मुक्त जीव सदैव ईश्वर का प्रत्यक्ष करते हैं। इसीलिए रामानुज के अनुसार मोक्ष का अर्थ ईश्वर का साक्षात्कार करना है न कि आत्म–साक्षात्कार। (ध्यान रहें शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष का अर्थ आत्म–साक्षात्कार अथवा आत्म–ज्ञान है) वैष्णव दर्शन तथा धर्म में ईश्वर का साक्षात्कार ही मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य है। आत्म–साक्षात्कार ईश्वर–साक्षात्कार के सम्मुख कुछ भी नहीं है।

रामानुज के अनुसार मोक्ष अप्राप्त की प्राप्ति है। उनकी दृष्टि में मोक्ष जीव द्वारा अपने पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञानमात्र नहीं है अपितु ब्रह्म प्राप्ति भी है जो ब्रह्मज्ञान से होती है। इस प्रकार रामानुज की दृष्टि में ब्रह्मज्ञान मोक्ष ही नहीं है अपितु यह मोक्ष का साधन भी है।

रामानुज की मान्यता है कि मोक्ष प्राप्त होने पर जीव ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त करता है। यद्यपि वह उसकी तद्रूपता (वैसा ही) को नहीं प्राप्त करता। वह सर्वज्ञ हो जाता है और उसे सदैव अन्तर्दृष्टि द्वारा ईश्वर का ज्ञान होता रहता है। कहने का तात्पर्य है कि जीव ब्रह्म को प्राप्त होता है किन्तु उसका अलग से अस्तित्व भी बना रहता है। उसका व्यक्तित्व ब्रह्म में विलीन नहीं होता।

रामानुज मुक्ति के एक ही रूप विदेहमुक्ति या क्रममुक्ति को मानते हैं। उनके अनुसार जीव ईश्वरोपासना द्वारा क्रमशः मुक्त होता है। जीव देह के नष्ट होने के बाद देवयानमार्ग से बैकुण्ठ या गोलोक जाता है अर्थात् मोक्ष की अवस्था में जीव सांसारिक बन्धनों से मुक्त तो होता ही है, साथ ही वह पृथ्वी से ऊपर एक दिव्यलोक (बैकुण्ठ) में पहुँचता है और वहाँ ईश्वर के साथ परम आनन्द में रहता है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में मोक्ष एक भावात्मक अवस्था है। इसमें मुक्त जीव को अनन्त ज्ञान तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है।

2.4 सारांश

वस्तुतः भारतीय दर्शन का लक्ष्य उस स्थिति को प्राप्त करना है जहाँ जीव परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि में सभी प्राणी समान होते हैं। उसमें समता एवं एकता का भाव उत्पन्न होता है। जहाँ 'मैं और 'तुम', 'है' और 'चाहिए' का द्वैत नष्ट हो जाता है यही मोक्ष की स्थिति है। अतः यह कहा जा सकता है कि मोक्ष भारतीय दर्शन की सर्वाधिक मौलिक देन है।

भारतीय दर्शन का वर्गीकरण सामान्य रूप से आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया जाता है। सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा–वेदान्त वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करने के कारण आस्तिक कहलाते हैं। चार्वाक, जैन और बौद्ध वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार न करने के कारण नास्तिक कहलाते हैं। भौतिकवादी और जड़वादी चार्वाक दर्शन केवल दो पुरुषार्थों अर्थ और काम को वरीयता देता है जबकि अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय (जिनमें जैन और बौद्ध भी शामिल है) चारो प्रकार के पुरुषार्थों को स्वीकार करते हुए मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानते हैं।

भौतिकवादी और जड़वादी चार्वाक स्पष्ट रूप से मोक्ष को परम पुरुषार्थ नहीं मानता। उसके अनुसार शरीर का अन्त होना या मृत्यु ही मोक्ष है। जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का अनुसरण ही मोक्ष है। बौद्ध दर्शन में मानव का परम लक्ष्य निर्वाण है। यह ईश्वरीय कृपा नहीं अपितु मानवीय पौरुष है। मनुष्य स्वयं अपने दुःखों या बन्धन का कारण है अतः उससे मुक्त होने का उपाय भी उसके ही हाथों में है।

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों–बहुतत्त्ववाद (जैन, न्याय–वैशेषिक), द्वैतवाद (सांख्य–योग), एकतत्त्ववाद (बौद्ध, वेदान्त) और परमवाद का लक्ष्य एक ही है। जिस प्रकार भिन्न–भिन्न रंग की गायों के दूध का रंग एक ही है, उसी प्रकार दार्शनिक सम्प्रदाय और उनके आचार्य अलग–अलग होते हुए भी उनकी शिक्षाओं का उद्देश्य एक ही है। वह है जीव को मोक्षदायक ज्ञान प्रदान करना।

मोक्षदायक ज्ञान का स्वरूप विभिन्न दर्शनों में अलग–अलग हो सकता है। यह उनकी तत्त्व मीमांसा द्वारा निश्चित होता है। वस्तुगत रूप से मोक्षदायक ज्ञान परमतत्त्व का ज्ञान है परन्तु व्यक्तिगत रूप से वह जीव के स्वयं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों के अनुसार जीव का मोक्ष उसके स्वयं के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान (आत्मज्ञान) में निहित है।

2.5 पारिभाषिक शब्दावली

मोक्ष : मोक्ष का अर्थ जीवन–मरण और पुनर्जन्म के चक्र से और सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाना है। उपनिषद् के ऋषियों ने कठोर इस सत्य का ज्ञान प्राप्त किया कि पुनः पुनः जन्म ग्रहण करना ही सभी प्रकार के दुःखों का कारण है। जन्म–ग्रहण करने की आवश्यकता का आन्त्यान्तिक अभाव हो जाना ही सभी साधनाओं का लक्ष्य है, यही मोक्ष है।

अनन्तचतुष्ट्य : जैन सिद्धान्त के अनुसार जीव एक द्रव्य है और चेतना उसका लक्षण है। जीव का मूल स्वरूप 'अनन्तचतुष्ट्य' से परिपूर्ण है। है। उसमें 'अनन्त चतुष्ट्य' अर्थात् चार प्रकार की पूर्णताएँ पायी जाती है। ये हैं– अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तआनन्द। जीव के ये स्वाभाविक गुण केवल मुक्त जीवों में अभिव्यक्त होते हैं बद्ध जीवों में इनकी अभिव्यक्ति नहीं होती।

प्रतीत्यसमुत्पाद : बुद्ध ने अविद्या को प्रतीत्यसमुत्पाद (द्वादशनिदानचक्र या संसारचक्र या भवचक्र या दुःखचक्र) का मूलभूत कारण घोषित किया। उन्होंने तृतीय आर्य सत्य में इसी के आधार पर दुःख निरोध का भी वर्णन किया क्योंकि अविद्या (जो दुःखों का मुख्य कारण है) के निरोध से सम्पूर्ण दुःखचक्र को नष्ट किया जा सकता है। दुःख निरोध ही निर्वाण है।

अपवर्ग : न्याय दर्शन मोक्ष का अपवर्ग कहता है। यह दुःखों के पूर्ण विरोध की अवस्था है। अपवर्ग का अर्थ है, आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से छुटकारा पाना या संसार से छुटकारा पाना है।

जीवन्मुक्ति : शंकर जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं। मोक्ष मृतकों के लिए आरक्षित नहीं है। यह इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है।

विदेहमुक्ति : रामानुज मुक्ति के एक ही रूप विदेहमुक्ति या क्रममुक्ति को मानते हैं। उनके अनुसार जीव ईश्वरोपासना द्वारा क्रमशः मुक्त होता है। जीव देह के नष्ट होने के बाद देवयानमार्ग से बैकुण्ठ या गोलोक जाता है अर्थात् मोक्ष की अवस्था में जीव सांसारिक बन्धनों से मुक्त तो होता ही है, साथ ही वह पृथ्वी से ऊपर एक दिव्यलोक (बैकुण्ठ) में पहुँचता है और वहाँ ईश्वर के साथ परम आनन्द में रहता है।

2.6 सन्दर्भग्रन्थ

- रंगनाथानन्द, स्वामी, (2021), *उपनिषदों का सन्देश*, भारत : अद्वैत आश्रम, नागपुर।
- शंकराचार्य, (2023), *कठोपनिषद् शांकरभाष्य*, भारतः गीताप्रेस, गोरखपुर, पुनर्मुद्रण।
- Gambhirananda, Swami, (2022), *Katha Upanishad with the Commentary of Sankaracharya*, India: Advaita Ashram, Kolkata, West Bengal.
- शंकराचार्य, (2018), *बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य*, भारतः गीताप्रेस, गोरखपुर,

पुनर्मुद्रण।

- डॉ0 राधाकृष्णन्, (1997), *उपनिषदों का सन्देश,* भारत : राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
- शर्मा, चन्द्रधर, (2018), *भारतीय दर्शन : आलोचना एवं अनुशीलन,* भारत : मोतीलाल बनारसीदास प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- मिश्र, उमेश, (2018), *भारतीय दर्शन,* भारत : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- पाठक, राममूर्ति, (2017), भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, भारत : अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद
- स्वामी, डॉ0 किशोरदास, (1998), भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा, भारत : स्वामी रामतीर्थ मिशन, नई दिल्ली।
- लाड, अशोक कुमार, (1987), भारतीय दर्शन में मोक्ष की अवधारणा, भारत : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
- शुक्ल, आचार्य बद्रीनाथ, (2022), *सदानन्द कृत वेदान्तसारः,* भारत, मोतीलाल बनारसीदास प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- अपूर्वानन्द, स्वामी, (1988), *श्रीमद्भगवद्गीता,* भारतः अद्वैत आश्रम, नागपुर।
- लोहनी, आचार्य भास्करानन्द, (1997), *गीता का तात्त्विक विवेचन,* भारतः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- मिश्र, सत्यकाम, (2022), *अद्वैत वेदान्त में ज्ञान एवं भक्ति : दार्शनिक विमर्श,* भारत : मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
- श्रीवास्तव, जे0 एस0, (2021), *अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका,* भारत : किताब महल, इलाहाबाद।
- सरस्वती, सत्यानन्द (भाषाटीकाकार), (2017) *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य,* भारत : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

2.7 बोधप्रश्न

1. गीता में स्थितप्रज्ञ के आदर्श की विवेचना कीजिए।
2. अद्वैतवेदान्त में बन्धन और मोक्ष को विस्तारपूर्वक व्याख्यायित कीजिए।
3. उपनिषदों में वर्णित मुक्ति के अर्थ पर प्रकाश डालिए।
4. रामानुज के अनुसार मोक्ष को व्याख्यायित कीजिए।
5. बौद्धदर्शन में बन्धन की विवेचना कीजिए।
6. जैनदर्शन में मोक्ष के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
7. चार्वाकदर्शन में मोक्ष के अर्थ पर प्रकाश डालिए।

इकाई 3 मोक्ष के उपाय

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- हिन्दू जीवनपद्धति के सर्वोच्च आदर्श मोक्ष का अर्थ एवं आवधारणा को जान सकेंगे।
- विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं द्वारा विकसित मोक्ष की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- मोक्ष की अवधारणा एवं अर्थ से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर लिख सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

पूर्व की इकाई में आपने पुनर्जन्म की अवधारणा को पढ़ा है। जिस जीव का पुनर्जन्म नहीं होता, उसे मोक्ष की प्राप्ति हुई होती है। इस इकाई में हम आपको मोक्ष के अर्थ को बताने जा रहे हैं। मोक्ष का अर्थ जीवन–मरण और पुनर्जन्म के चक्र से और सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाना है। उपनिषद् के ऋषियों ने कठोर इस सत्य का ज्ञान प्राप्त किया कि पुनः पुनः जन्म ग्रहण करना ही सभी प्रकार के दुःखों

का कारण है। जन्म–ग्रहण करने की आवश्यकता का आन्त्यान्तिक अभाव हो जाना ही सभी साधनाओं का लक्ष्य है, यही मोक्ष है।

मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है। मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति 'मोक्ष्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से होती है। इसका अर्थ होता है छुटकारा, स्वतंत्रता अथवा मुक्ति। जबकि मुक्ति शब्द की व्युत्पत्ति 'मुच्लृ मोचने' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय के योग निष्पन्न होता है। इसका अर्थ भी ''स्वतन्त्र होना'' या 'छुटकारा पाना'' है। शास्त्रों के अनुसार मोक्ष का अर्थ है– 'मुच्यते सर्वैदुःखबन्धनैर्यत्र सः मोक्षः' अर्थात् जिस पद को पाकर जीव तीन प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) तथा बन्धनों से मुक्त हो जाता है, वह मोक्ष कहलाता है।

भारतीय दर्शन को, दूसरे शब्दों में, ''मोक्षशास्त्र'' भी कहते हैं, क्योंकि यहाँ प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय मोक्ष प्राप्त करने का एक विशेष उपाय अथवा रास्ता बतलाता है। इसलिए पाश्चात्य दर्शन के विपरीत, भारतीय दर्शन केवल विचारों का एक विज्ञान ही नहीं, बल्कि जीवन की एक कला भी है। भारत में दर्शन और धर्म एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। एक सिद्धान्त है तो दूसरा उसके अनुसार व्यवहार है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार केवल सत्य की खोज और उसका ज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि जीवन में उसे उतारना और उसके अनुरूप जीवन जीना भी आवश्यक है।

3.2 वेदेतर परम्परा में मोक्ष के उपाय

3.2.1 चार्वाक दर्शन में मोक्ष सम्बन्धी विचार

वैदिक परम्परा में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। जबकि चार्वाक मुख्य रूप से 'काम' को एकमात्र पुरुषार्थ मानता है – 'काम एवैकः पुरुषार्थः'। चार्वाक के लिए 'अर्थ' काम की प्राप्ति का साधन है। जबकि 'धर्म' और 'मोक्ष' को यहाँ अस्वीकार किया गया है। 'खाओ, पिओ और मौज करो', यही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। जब तक जीये सुखपूर्वक जीये, धन न हो तो ऋण लेकर घी पीये, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने के बाद उसका आना असम्भव है। चार्वाक का कथन है कि दुःख के भय से सुख का त्याग करना मूर्खता है। माँगने वाले भिक्षुओं के भय से क्या भोजन नहीं पकाया जाय? अतः उपरोक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चार्वाक काम और अर्थ की ही महत्ता स्वीकार करता है।

वेद की प्रामाणिकता में विश्वास न करने कारण नास्तिक चार्वाक दर्शन वेद सम्बन्धी किसी भी सिद्धान्त जैसे– मोक्ष, स्वर्ग, यज्ञ, धर्म आदि का खण्डन करता है। उसके अनुसार धूर्त ब्राह्मणों ने अपने जीवन–यापन के लिए धर्म–अधर्म, स्वर्ग–नरक, पाप–पुण्य का अन्तर बताकर लोगों को ठगने का प्रयत्न किया है।

चार्वाक के अनुसार यह देह या शरीर ही आत्मा है अतः आत्मा या शरीर का विनाश ही मोक्ष है। ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। इसके अनुसार न तो स्वर्ग है, न तो अपवर्ग और न परलोक में रहने वाली आत्मा।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन में नैतिकता के स्थान पर स्थूल सुखवाद और आध्यात्मिकता के स्थान पर काम को महत्त्व दिये जाने के कारण मोक्ष और धर्म का पूरी तरह से अभाव है। इसलिए यहाँ परम तत्त्व, मोक्ष के स्वरूप, उसके सिद्धान्त तथा उसे प्राप्त करने के उपाय का भी सर्वथा अभाव है।

3.2.1 जैनदर्शन में मोक्ष के उपाय

जैनदर्शन में जीव का कर्मपुद्गलों से सम्बन्ध विच्छेद की अवस्था कैवल्य या मोक्ष है। दूसरे शब्दों में कहे तो जीव का कर्म पुद्गलों से वियोग या छुटकारा पाना कैवल्य कहलाता है। जैन दर्शन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक चरित्र मोक्ष या कैवल्य प्राप्त करने के उपाय अथवा मार्ग माने जाते हैं। इन तीनों का सम्मिलित रूप ही मोक्ष के साधन है। जैन दर्शन में इन्हें त्रिरत्न कहते हैं।

जैन की मान्यतानुसार कर्म बन्धन का कारण है, कर्म का कारण अविद्या है। जीव अविद्या के कारण अपने वास्तविक स्वरूप (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख) को भूलकर कषायों से चिपका रहता है। यहाँ मोक्ष की प्राप्ति हेतु अज्ञान का नष्ट होना आवश्यक माना गया है। अज्ञान के नष्ट होने के लिये जैन तीर्थंकरों एवं उनके उपदेशों में श्रद्धा का होना आवश्यक है। साथ की उच्च श्रेणी का आचरण और जीवन–यापन भी मोक्ष के लिए आवश्यक है। इस प्रकार जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के उपाय के लिए मनुष्य के आचरण में त्रिरत्नों का होना आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन : जैन दर्शन आस्था पर बल देता है यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा या विश्वास या आस्था है। मोक्ष के उपाय का प्रथम सोपान सम्यक् श्रद्धा है। अपने अज्ञान के प्रति घृणा और सम्यक् ज्ञान के प्रति श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहा जाता है। यहाँ तर्क, वितर्क का ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं श्रद्धा, अन्धविश्वास में परिणत न हो जाय।

सम्यक् ज्ञान : जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धांतों का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। इसमें जीव और अजीव के स्वरूप और उनके भेद बन्धन के कारण एवं बन्धन के निवारण के लिए आवश्यक साधनों की जानकारी हो जाती है।

सम्यक् चरित्र : सम्यक् ज्ञान को कर्म में परिवर्तित करना सम्यक् चरित्र है। अशुभ कर्मों का त्याग और शुभ कर्मों का आचरण ही सम्यक् चरित्र है। यह जैन साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। क्योंकि मनुष्य सम्यक् कर्म से ही कर्म मुक्त होकर जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसके अन्तर्गत पंचमहाव्रत, पंचसमिति, तीन गुप्ति, दस धर्म एवं बारह अनुप्रेक्षाओं का समावेश किया गया है।

पंच महाव्रत : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांचों जैन धर्म में पंच महाव्रत कहलाते हैं। जैन दर्शन में इन व्रतों के दो रूप है– ''महाव्रत'' और ''अणुव्रत''। महाव्रत संन्यासियों के लिये है और अणुव्रत गृहस्थों के लिये बताये गये है। जैन दर्शन में संन्यासियों से यह अपेक्षा की गई है कि वे इन व्रतों का पालन कठोरतापूर्वक करेंगे। जबकि गृहस्थों को इन व्रतों के पालन में छूट दी गई है।

अहिंसा : जैन साधन पद्धति में अहिंसा का विशेष स्थान है। इसका तात्पर्य है कि मन, वचन और कर्म से हिंसा न करना। यहाँ अहिंसा के दो रूप बतलाये गये हैं– निषेधात्मक पक्ष और भावात्मक पक्ष। अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष में मन, वचन और कर्म द्वारा हिंसा का परित्याग करना आता है। अहिंसा का भावात्मक पक्ष है कि सभी प्राणियों को अपने समान समझना तथा उनके कष्टों के निवारण के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना।

सत्य : जैन दर्शन में सत्य वह कथन है जिससे प्राणी मात्र का कल्याण हो। यदि सत्य वचन से किसी प्राणी को कष्ट पहुँचता हो तो वहाँ मौन रहता या मिथ्या कथन ही

सत्य वचन है। उदाहरण के लिए यदि हमारे झूठ बोलने से यदि किसी प्राणी के प्राणों की रक्षा हो सकती है तो हमारा झूठ ही सत्य, वचन में परिवर्तित हो जायेगा।

अस्तेय : चोरी न करना अस्तेय कहलाता है। दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण करना। इसके अन्तर्गत चोरी करना, चोरी करने के लिए प्रेरित करना, नाप–तौल को कम व अधिक करना, मूल्य में वृद्धि यह सब अस्तेय के अन्तर्गत आते हैं। जिसका जैन दर्शन में निषेध किया गया है।

यहाँ यह समझने की बात है कि दान और अस्तेय में किसी एक की वस्तु दूसरे के पास चली जाती है। किन्तु दोनों में फर्क यह है कि दानी अपनी इच्छा से अपनी वस्तु दूसरे को देता है जबकि अस्तेय में दूसरों की वस्तु का हरण कर लिया जाता है।

ब्रह्मचर्य : जैन दर्शन में वासनाओं के परित्याग को ब्रह्मचर्य कहा गया है। यह केवल इन्द्रिय सुख का परित्याग नहीं है, अपितु सभी कामनाओं का त्याग है। दूसरे शब्दों में कहें तो मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को अपने मानसिक और बाह्य, स्थूल एवं सूक्ष्म, लौकिक एवं पारलौकिक कामनाओं को त्याग देना चाहिए। इसमें गृहस्थ से यह अपेक्षा की गई है कि वह एक पत्नी व्रत एवं संयम रखेगा।

अपरिग्रह : विषयों की आसक्ति का त्याग देना अपरिग्रह कहलाता है। इसके अन्तर्गत मोक्षार्थी को अपनी पाँचों इन्द्रियों के विषयों का परित्याग कर देना चाहिए। यहाँ संन्यासियों से पूर्ण अपरिग्रह की अपेक्षा की गई है। जबकि गृहस्थों से केवल संन्तोष की ही अपेक्षा की गई है।

पंचमहाव्रत के अतिरिक्त जैन धर्म में कुछ अन्य नियमों और कार्यों का भी निर्देश दिया गया है। जिसका पालन जैन दर्शन के प्रत्येक अनुयायी के लिए आवश्यक माना गया है। ये नियम हैं– समिति, गुप्ति, दस धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षाएँ, परिषह, धर्मानुक्षा।

1. **समिति** : जैन दर्शन में आदर्शात्मक जीवन जीने के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक है। किसी भी जीव को कष्ट न पहुँचाते हुए अच्छा आचरण करना समिति है। समिति पाँच प्रकार की होती है–ईर्या समिति, भाषा समिति, एषण समिति, निक्षेपण समिति तथा प्रतिस्थापन समिति। **ईर्या समिति** : इसके अन्तर्गत चलने–फिरने, मूत्र–पुरीष आदि त्याग करने में सावधानी बरतने वाले नियमों के पालन का निर्देश होता है। **भाषा समिति** : बोलने के नियमों का ज्ञान। **एषण समिति** : भिक्षाटन के नियमों के पालन का निर्देश। **निक्षेपण समिति** : भिक्षा से प्राप्त धन में से बचाकर धार्मिक कार्य करने के लिए निर्देश। **प्रतिस्थापन समिति** : दान अथवा भिक्षा को अस्वीकार करने वाले नियमों का निर्देश।
2. **गुप्ति** : शरीर, वचन एवं मन पर संयम एवं नियंत्रण को गुप्ति कहा जाता है। यह तीन प्रकार की होती है– काय गुप्ति, वाग् गुप्ति तथा मनो गुप्ति। **काय गुप्ति**– शारीरिक क्रिया–कलापों पर संयम और नियन्त्रण। **वाग् गुप्ति** : वाणी के प्रयोग पर संयम और नियन्त्रण। **मनोगुप्ति** : मन की क्रियाओं, संकल्प, इच्छा और अभिलाषा पर संयम।
3. **अनुप्रेक्षा** : जीव एवं संसार के सम्बन्ध में बारह प्रकार की भावनाओं को अनुप्रेक्षा कहा जाता है।
4. **दस धर्म** : क्षमा, शौच, संयम, तप, त्याग, सरलता, विरक्ति, मृदुता और ब्रह्मचर्य ये दस प्रकार के धर्म है जो जैनदर्शन में निर्देशित किये गये हैं।

5. परिषह : इसमें भूख, प्यास, सर्दी–गर्मी, सुख–दुःख आदि पर कठोर अभ्यास द्वारा विजय पाने का निर्देश किया गया है।
6. धर्मानुक्षा : धर्म के मार्ग पर चलकर शान्ति और स्थिरता की प्राप्ति धर्मानुरक्षा कहलाती है।

इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्त करने के लिए मन की शुद्धता, सदाचार, संयम और समता का विशेष महत्त्व है।

3.2.3 बौद्धधर्म में निर्वाण प्राप्ति के उपाय

बौद्ध दर्शन में बुद्ध द्वारा दिये गये चार आर्य सत्य के उपदेश में तृतीय आर्य सत्य में निर्वाण अथवा मोक्ष का वर्णन किया गया है। निर्वाण प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है जिसे प्राप्त करना चाहिए। यह बौद्ध दर्शन की मुख्य मान्यता है। गौतमबुद्ध के अनुसार दुःखों का मूल कारण अविद्या है। अतः दुःख को दूर करके दुःख का अन्त किया जा सकता है। दुःख निरोध तथागत बुद्ध के उपदेशों का सार है। यह निर्वाण अमृतपद और अभय रूप है जो अविद्या के समूल नाश के फलस्वरूप द्वादशनिदानचक्र अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के निरूद्ध होने से प्राप्त होता है।

बुद्ध द्वारा उपदेशित चतुर्थ आर्य सत्य ''दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपद'' मोक्ष के साधन का मार्ग है। यह नैतिक एवं आध्यात्मिक साधन का भी मार्ग है। इसे मध्यम प्रतिपद् अथवा माध्यम मार्ग भी कहते हैं। यह अत्यधिक भोग विलास एवं शरीर को कष्ट पहुँचने वाले तप के बीच का मार्ग है। इसके आठ चरण है– 1. सम्यक् दृष्टि, 2. सम्यक् संकल्प, 3. सम्यक् वाक्, 4. सम्यक् कर्मान्त, 5. सम्यक् आजीव, 6. सम्यक् व्यायाम, 7. सम्यक् स्मृति, 8. सम्यक् समाधि।

निर्वाण प्राप्ति के लिए शील, समाधि, प्रज्ञा की शिक्षा, बौद्ध दर्शन में दी गई है। इसे त्रिशिक्षा भी कहते हैं। प्रज्ञा के अन्तर्गत प्रथम दो अष्टांगिक मार्ग सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प आते हैं। शील के अर्न्तगत सम्यक् वाक्, सम्यक कर्मान्त, सम्यक अजीव और सम्यक् व्यायाम आते हैं। समाधि में सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि आते हैं।

1. सम्यक् दृष्टि : अविद्या के कारण जीव को नित्य अपरिवर्तनशील एवं जगत् को शाश्वत समझना मिथ्या दृष्टि है। सम्यक् दृष्टि वह है जिसमें चार आर्य सत्यों, अनात्मभाव एवं प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन होता है।
2. सम्यक् संकल्प : सम्यक् ज्ञान हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। उसके अनुसार जीवन बिताने का दृढ़ संकल्प ही सम्यक् संकल्प है।
3. सम्यक् वाक् : अप्रिय वचन, झूठ, निन्दा, छल आदि का प्रयोग न करना सम्यक् वाक् है।
4. सम्यक् कर्मान्त : सम्यक् ज्ञान और सम्यक् संकल्प का प्रयोग वाणी तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए इसका प्रयोग कर्म में भी दिखना चाहिए। यह सम्यक् कर्मान्त है।
5. सम्यक् आजीव : प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपना जीवन चलाने के लिए किसी न किसी काम का सहारा लेना पड़ता है। जिससे धन कमाया जा सकें। इस धन कमाने का आधार उचित और शुद्ध होना चाहिए यही सम्यक् आजीव है।

6. **सम्यक् व्यायाम** : अपने इन्द्रियों को प्रयत्नपूर्वक नियंत्रण में रखना ही सम्यक् व्यायाम है।

7. **सम्यक् स्मृति** : जो सम्यक् ज्ञान हो चुका है उसको हमेशा याद रखना ही सम्यक् स्मृति है।

8. **सम्यक् समाधि** : बौद्ध दर्शन के इन सात चरणों के लगातार अभ्यास से मनुष्य सम्यक् समाधि की अवस्था में पहुँचता है। जिसमें उसकी समस्त शंकाओं का समाधान हो जाता है।

इस अवस्था में आने पर साधक अर्हत् हो जाता है। इस अवस्था की विशेषता है कि साधक पूर्णरूप से निर्मल हो जाता है। इसमें सुख–दुःख आदि का निरोध हो जाता है और वह निर्वाण अथवा मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है जो अमृत स्वरूप है।

सांख्य–योग दर्शन में मोक्ष के उपाय : मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी? और इसे प्राप्त करने के कौन से साधन है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए सांख्य दर्शन मोक्ष या कैवल्य के साधन के रूप में ज्ञान या विवेक को मानता है। सांख्य दर्शन में विवेक ही वह उपाय है जिससे जड़ और चेतन (शरीर और आत्मा) तथा प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन) के भेद को जाना जा सकता है। अतः सांख्य के अनुसार विवेक ही कैवल्य अथवा मोक्ष का साधन है।

मोक्ष के लिए यदि यह प्रश्न किया जाय की क्या मोक्ष कर्म और धर्म करने से भी प्राप्त हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए सांख्य कहता है कि धर्म करने से मनुष्य स्वर्ग की प्राप्ति तो कर सकता है परन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकती है। इसी तरह कर्म करने से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। हाँ! निष्काम कर्म करने से मोक्ष तो नहीं किन्तु ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। इसलिए सांख्य के अनुसार मोक्ष एकमात्र साधन विवेकज्ञान ही है। पुरुष का प्रकृति की विकृतियों से अलग होने का विवेक ही ज्ञान है। इसी ज्ञान से त्रिविध दुःखों– आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों का नाश हो सकता है।

सांख्य दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती परन्तु सांख्य दर्शन कैवल्य प्राप्ति से सम्बन्धित उपायों के विषय में मौन है। सांख्यकारिका में केवल यह उल्लेख मिलता है कि ''कैवल्य के लिए प्रकृति और पुरुष का एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने का ध्यान करना चाहिए।'' इस आधार पर कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन तत्त्वज्ञान अथवा विवेकज्ञान को कैवल्य का साधन मानता है। सांख्य का तत्त्वज्ञान ही विवेकज्ञान है अर्थात् प्रकृति और पुरुष के अलग–अलग होने का ज्ञान। पुरुष प्रकृति और उसके विकारों का ज्ञान प्राप्त करके अपने को उनसे अलग करके मुक्त हो जाता है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर पुरुष को पुनः स्थूल और सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति नहीं होती और वह सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार जब यह भेद–ज्ञान मनन और निदिध्यासन से दृढ़ हो जाता है तब पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

वस्तुतः सांख्य में किसी भी प्रकार के ईश्वर या कोई साधना पद्धति न होने के कारण इसमें वर्णित मोक्ष के उपाय ज्ञानमार्ग अथवा विवेक मार्ग अत्यन्त कठिन और नीरस लगता है। सांख्य दर्शन की इसी विकट समस्या के समाधान के लिए कालान्तर में उसके सहयोगी सम्प्रदाय योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने इसे सुगम और रूचिकर बनाने के लिए अष्टांग–योग की साधना पद्धति का विकास किया। चूँकि सांख्य दर्शन

निरीश्वरवादी दर्शन है। इसमें ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है। महर्षि पतंजलि ने इसमें 'ईश्वर प्रणिधान' को भी जोड़ दिया। अब हम योगदर्शन की साधना पद्धति का अध्ययन करेंगे।

3.3 वैदिक परम्परा में मोक्ष के उपाय

3.3.1 वेदोपनिषद् में मोक्ष के उपाय

गीता में स्थितप्रज्ञ की अवधारणा ही आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष की स्थिति है। इसे ब्रह्म में निवास करने की अवस्था भी कहा जाता है, जो ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। इस अवस्था में परमात्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध भी होता है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय सभी स्थितियों में समभाव या उदासीनता का भाव धारण किये रहता है। दूसरे शब्दों में कहे तो यह स्थिति तटस्थता की होती है।

गीता में स्थितप्रज्ञ को आदर्श के रूप में स्थापित किया गया है। यह कर्मयोगी है जो अनासक्त भाव से कार्य करते हुए ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का समन्वय करता है। गीता में स्थितप्रज्ञ के लिए कर्म का भी निर्धारण किया गया है। क्योंकि गीता ज्ञान और कर्म दोनों को आवश्यक मानती है।

गीता में मोक्ष प्राप्त व्यक्ति जब तक जीवन धारण किये रहता है तब तक कुछ न कुछ कर्म अवश्य करता रहता है। गीता में मुक्त व्यक्ति सामाजिक कर्तव्यों से मुक्त होता है फिर भी वह सामान्य मानव के प्रति संवेदनशील रहता है। स्थितप्रज्ञ सामान्य मानव के कल्याण के लिए लोक–संग्रह की भावना से कार्य तो करता है किन्तु वह अपने इन कर्मों से बन्धन में नहीं पड़ता। उसके सभी कार्य ईश्वर को समर्पित होते हैं। फलस्वरूप वह उन कर्मों से वैसे ही प्रभावित नहीं होता जैसे कमल कीचड़ से प्रभावित नहीं होता।

गीता (3/3) में मोक्ष–प्राप्ति के उपाय पर विचार करें तो यह ज्ञात होता है कि यहाँ दो प्रकार की साधनाएँ बतालाई गई हैं– प्रथम ज्ञानियों की ज्ञानयोग से। द्वितीय सामान्यजनों को निष्काम कर्मयोग से।

इससे स्पष्ट होता है कि गीता केवल ज्ञानियों को मुक्ति के उपाय नहीं बतलाती अपितु जो लोग अभी भी कर्मों में प्रवृत्त और आसक्त है उनके लिए भी मार्ग दिखलाती है। जो व्यक्ति अभी भी कर्मों में आसक्त है, उन्हें कर्मों को करते हुए अहंकार भाव और फलों के प्रति आसक्ति को धीरे–धीरे त्यागना है। फलों में आसक्ति को त्यागकर और स्वयं को (केवल ईश्वर द्वारा अपना काम करने के लिए कृपापूर्वक चुना गया) निमित्त समझकर कार्य करना ही निष्कामकर्मयोग है।

सांसारिक व्यक्ति के लिए अचानक ही निष्काम भाव से कार्य कर पाना बड़ा ही कठिन है। इसलिए गीता कर्मों के फल को ईश्वर को अर्पित कर देने कों कहती है। व्यक्ति निष्कामकर्मयोग का आदर्श तभी प्राप्त कर सकता है जब वह स्वयं के शरीर, मन, इन्द्रियों द्वारा किए गए सभी कर्मों में ईश्वर को देखें। जब तक यह स्थिति नहीं प्राप्त होती तब तक निष्कामकर्मयोग का आदर्श प्राप्त करना असम्भव है।

सांसारिक व्यक्ति को निष्कामकर्मयोग के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य रूप से भक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। भक्ति वह सीढ़ी है जहाँ भक्त अपने कर्मों को ईश्वर द्वारा प्रेरित अथवा ईश्वर द्वारा किया गया समझता है। अतः निष्कामकर्मयोग के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य रूप से भक्त बनना पड़ता है।

इसलिए गीता सभी को (चाहे वह ईश्वर हो अथवा मुक्त पुरुष) निष्काम भाव से अपने धर्म (स्वधर्म) का पालन करने का आदेश देती है। गीता ईश्वर और मुक्त पुरुष को भी स्वधर्म के पालन का आदेश इसलिए दिया गया है कि कहीं कर्म में आसक्त सामान्यजन ईश्वर और मुक्त पुरुष का अनुकरण करके कर्मों का त्याग न कर दें। यदि सभी लोग कर्मों का त्याग कर देगें तो संसार में अव्यवस्था फैल जाएगी, इसीलिए गीता का स्थितप्रज्ञ समाज–कल्याण (लोक–संग्रह) के कार्यों को करता रहता है।

3.3.2 श्रीमद्भगवतगीता में मोक्ष के उपाय

गीता में स्थितप्रज्ञ की अवधारणा ही आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष की स्थिति है। इसे ब्रह्म में निवास करने की अवस्था भी कहा जाता है, जो ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। इस अवस्था में परमात्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध भी होता है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय सभी स्थितियों में समभाव या उदासीनता का भाव धारण किये रहता है। दूसरे शब्दों में कहे तो यह स्थिति तटस्थता की होती है।

गीता में स्थितप्रज्ञ को आदर्श के रूप में स्थापित किया गया है। यह कर्मयोगी है जो अनासक्त भाव से कार्य करते हुए ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का समन्वय करता है। गीता में स्थितप्रज्ञ के लिए कर्म का भी निर्धारण किया गया है। क्योंकि गीता ज्ञान और कर्म दोनों को आवश्यक मानती है।

गीता में मोक्ष प्राप्त व्यक्ति जब तक जीवन धारण किये रहता है तब तक कुछ न कुछ कर्म अवश्य करता रहता है। गीता में मुक्त व्यक्ति सामाजिक कर्तव्यों से मुक्त होता है फिर भी वह सामान्य मानव के प्रति संवेदनशील रहता है। स्थितप्रज्ञ सामान्य मानव के कल्याण के लिए लोक–संग्रह की भावना से कार्य तो करता है किन्तु वह अपने इन कर्मों से बन्धन में नहीं पड़ता। उसके सभी कार्य ईश्वर को समर्पित होते हैं। फलस्वरूप वह उन कर्मों से वैसे ही प्रभावित नहीं होता जैसे कमल कीचड़ से प्रभावित नहीं होता।

गीता (3/3) में मोक्ष–प्राप्ति के उपाय पर विचार करें तो यह ज्ञात होता है कि यहाँ दो प्रकार की साधनाएँ बतालाई गई हैं– प्रथम ज्ञानियों की ज्ञानयोग से। द्वितीय सामान्यजनों को निष्काम कर्मयोग से।

इससे स्पष्ट होता है कि गीता केवल ज्ञानियों को मुक्ति के उपाय नहीं बतलाती अपितु जो लोग अभी भी कर्मों में प्रवृत्त और आसक्त है उनके लिए भी मार्ग दिखलाती है। जो व्यक्ति अभी भी कर्मों में आसक्त है, उन्हें कर्मों को करते हुए अहंकार भाव और फलों के प्रति आसक्ति को धीरे–धीरे त्यागना है। फलों में आसक्ति को त्यागकर और स्वयं को (केवल ईश्वर द्वारा अपना काम करने के लिए कृपापूर्वक चुना गया) निमित्त समझकर कार्य करना ही निष्कामकर्मयोग है।

सांसारिक व्यक्ति के लिए अचानक ही निष्काम भाव से कार्य कर पाना बड़ा ही कठिन है। इसलिए गीता कर्मों के फल को ईश्वर को अर्पित कर देने कों कहती है। व्यक्ति निष्कामकर्मयोग का आदर्श तभी प्राप्त कर सकता है जब वह स्वयं के शरीर, मन, इन्द्रियों द्वारा किए गए सभी कर्मों में ईश्वर को देखें। जब तक यह स्थिति नहीं प्राप्त होती तब तक निष्कामकर्मयोग का आदर्श प्राप्त करना असम्भव है।

सांसारिक व्यक्ति को निष्कामकर्मयोग के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य रूप से भक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। भक्ति वह सीढ़ी है जहाँ भक्त अपने कर्मों को

ईश्वर द्वारा प्रेरित अथवा ईश्वर द्वारा किया गया समझता है। अतः निष्कामकर्मयोग के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य रूप से भक्त बनना पड़ता है।

इसलिए गीता सभी को (चाहे वह ईश्वर हो अथवा मुक्त पुरुष) निष्काम भाव से अपने धर्म (स्वधर्म) का पालन करने का आदेश देती है। गीता ईश्वर और मुक्त पुरुष को भी स्वधर्म के पालन का आदेश इसलिए दिया गया है कि कहीं कर्म में आसक्त सामान्यजन ईश्वर और मुक्त पुरुष का अनुकरण करके कर्मों का त्याग न कर दें। यदि सभी लोग कर्मों का त्याग कर देगें तो संसार में अव्यवस्था फैल जाएगी, इसीलिए गीता का स्थितप्रज्ञ समाज–कल्याण (लोक–संग्रह) के कार्यों को करता रहता है।

3.3.3 सांख्ययोग दर्शन में मोक्ष के उपाय

मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी? और इसे प्राप्त करने के कौन से साधन है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए सांख्य दर्शन मोक्ष या कैवल्य के साधन के रूप में ज्ञान या विवेक को मानता है। सांख्य दर्शन में विवेक ही वह उपाय है जिससे जड़ और चेतन (शरीर और आत्मा) तथा प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन) के भेद को जाना जा सकता है। अतः सांख्य के अनुसार विवेक ही कैवल्य अथवा मोक्ष का साधन है।

मोक्ष के लिए यदि यह प्रश्न किया जाय की क्या मोक्ष कर्म और धर्म करने से भी प्राप्त हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए सांख्य कहता है कि धर्म करने से मनुष्य स्वर्ग की प्राप्ति तो कर सकता है परन्तु मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकती है। इसी तरह कर्म करने से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। हाँ! निष्काम कर्म करने से मोक्ष तो नहीं किन्तु ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है। इसलिए सांख्य के अनुसार मोक्ष एकमात्र साधन विवेकज्ञान ही है। पुरुष का प्रकृति की विकृतियों से अलग होने का विवेक ही ज्ञान है। इसी ज्ञान से त्रिविध दुःखों– आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों का नाश हो सकता है।

सांख्य दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती परन्तु सांख्य दर्शन कैवल्य प्राप्ति से सम्बन्धित उपायों के विषय में मौन है। सांख्यकारिका में केवल यह उल्लेख मिलता है कि ''कैवल्य के लिए प्रकृति और पुरुष का एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होने का ध्यान करना चाहिए।'' इस आधार पर कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन तत्त्वज्ञान अथवा विवेकज्ञान को कैवल्य का साधन मानता है। सांख्य का तत्त्वज्ञान ही विवेकज्ञान है अर्थात् प्रकृति और पुरुष के अलग–अलग होने का ज्ञान। पुरुष प्रकृति और उसके विकारों का ज्ञान प्राप्त करके अपने को उनसे अलग करके मुक्त हो जाता है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर पुरुष को पुनः स्थूल और सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति नहीं होती और वह सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार जब यह भेद–ज्ञान मनन और निदिध्यासन से दृढ़ हो जाता है तब पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

वस्तुतः सांख्य में किसी भी प्रकार के ईश्वर या कोई साधना पद्धति न होने के कारण इसमें वर्णित मोक्ष के उपाय ज्ञानमार्ग अथवा विवेक मार्ग अत्यन्त कठिन और नीरस लगता है। सांख्य दर्शन की इसी विकट समस्या के समाधान के लिए कालान्तर में उसके सहयोगी सम्प्रदाय योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने इसे सुगम और रूचिकर बनाने के लिए अष्टांग–योग की साधना पद्धति का विकास किया। चूँकि सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन है। इसमें ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है। महर्षि पतंजलि ने इसमें 'ईश्वर प्रणिधान' को भी जोड़ दिया। अब हम योगदर्शन की साधना पद्धति का अध्ययन करेंगे।

3.3.4 योगदर्शन में कैवल्य प्राप्ति के उपाय

हमने यह जाना कि सांख्य दर्शन कैवल्य प्राप्ति के साक्षात् उपाय के विषय में मौन है। जबकि योगदर्शन क्रियापरक साधनपद्धति का हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। योग शब्द 'युज्' धातु से बनता है जिसका सामान्य अर्थ 'जुड़ना' है। परन्तु योगदर्शन में योग का अर्थ जुड़ना नहीं अपितु समाधि अथवा कठोर अभ्यास है। कठोर अभ्यास द्वारा प्रकृति और पुरुष के मध्य वियोग को जानना है। योग का अर्थ समाधि के लक्ष्य तक पहुँचाने का मार्ग भी है।

हमने यह जाना की योगदर्शन के अनुसार पुरुष चेतन, अविकारी और शरीर–मन–इंद्रिय–बुद्धि से अलग हैं किन्तु अज्ञान के कारण वह प्रकृति की चित्तवृत्तियों से एकाकार स्थापित कर लेता है। पुरुष के प्रतिबिम्ब से जड़ चित्तवृत्तियाँ चेतन हो जाती है और पुरुष में इन वृत्तियों के आरोप से पुरुष बुद्धि के गुणों को अपना गुण समझता हुआ 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं कर्त्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ', 'मैं संकल्प लेता हूँ' इत्यादि समझने लगता है।

अनादि काल से प्रवाहमान पुरुष और बुद्धि का यह संयोग योग दर्शन में जीव के बन्धन का कारण है। अतः मोक्ष के लिए जीव की समस्त चित्त वृत्तियों का सदैव के लिए शान्त जाना आवश्यक है, जो अभ्यास और वैराग्य से सम्भव है। अभ्यास से तात्पर्य उस प्रयत्न से है जो विचार की शक्ति को स्थिरता की ओर ले जाता है तथा वैराग्य से तात्पर्य सांसारिक और स्वर्गिक (सांसारिक एवं पारलौकिक) विषयों के प्रति उदासीनता या विरक्ति से है। इसीलिए पतंजलि के अनुसार कैवल्य का एकमात्र उपाय चित्तवृत्तियों का निरोध है और यही योग है।

योगदर्शन में मोक्ष के उपाय के रूप में स्वीकृत अष्टांगयोग में आठ अंग है। जो निम्नलिखित है– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से प्रथम पाँच योग के बहिरंग साधन है तथा अन्तिम तीन योग के अन्तरंग साधन है। योग दर्शन में मोक्ष के उपाय के रूप में स्वीकृत अष्टांगयोग के कठोर पालन से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है–

1. **यम** : शरीन, मन और वाणी का संयम यम कहलाता है। इसके पाँच प्रकार है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। **अहिंसा** : मन, वचन और कर्म से प्राणियों के प्रति द्वेष एवं हिंसा न करना अहिंसा कहलाता है। **सत्य** : सत्य का अर्थ मिथ्या वचन का त्याग करने से है। **अस्तेय** : दूसरो के धन को न चुराना अस्तेय है। **ब्रह्मचर्य** : मन, वचन और कर्म से काम सुख का त्याग ब्रह्मचर्य है। **अपरिग्रह** : आवश्यकता से अधिक धन का संचय न करना अपरिग्रह है।

2. **नियम** : सद्गुणों का अभ्यास नियम कहलाता है इसके चार प्रकार हैं– शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान। **शौच** : शरीर की शुद्धता तथा करुणा आदि गुणों से चित्त की शुद्धि शौच है। **सन्तोष** : समुचित प्रयास से जो भी प्राप्त हो उसे पर्याप्त मानना सन्तोष है। **तप** : ऋतुओं को सहन करने का अभ्यास, कठिन व्रत का पालन तप है। **स्वाध्याय** : धर्म ग्रन्थों एवं श्रुतियों का अध्ययन करना। **ईश्वर–प्रणिधान** : ईश्वर का ध्यान करना।

3. **आसन** : यह शरीर का संयम है, आसन का अर्थ है शरीर को ऐसी स्थिति में रखना जिसके निश्चल होकर देर तक सुखपूर्वक रह सकें।

4. प्राणायाम : प्राण वायु का संयम प्राणायाम है। इसके अन्तर्गत श्वाँस खीचना, फिर उसे रोकना तथा श्वाँस छोड़ना प्राणायाम कहलाता है।

5. प्रत्याहार : इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाना प्रत्याहार है।

6. धारणा : किसी स्थान विशेष पर चित्त को स्थिर करने को धारणा कहते हैं। इसके अनेक स्थान है। जैसे–जैसे नाभि चक्र, जीभ का आगे का हिस्सा आदि। धारणा का विषय बाहरी पदार्थ भी हो सकता है। जैसे किसी देवता की प्रतिमा आदि।

7. ध्यान : ध्यान का अर्थ एकाग्रता है। इसका अर्थ है ध्येय वस्तु का निरंतर मनन।

8. समाधि : यह योग की साधना का लक्ष्य है इस अवस्था में जीव का बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध टूट जाता है और वह अपने नित्य और शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह सरलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता इसके लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार सांख्य–योग दर्शन में मोक्ष के लिए कैवल्य का प्रयोग किया गया है। कैवल्य का अर्थ है 'केवल उसी का होना'। एकीकरण का नाम ही कैवल्य है। केवल अपने वास्तविक रूप को प्राप्त कर लेना तथा किसी के साथ उसका सम्बन्ध न होना ही कैवल्य है। यह निरन्तर कठिन अभ्यास से सहज ही प्राप्त हो सकता है।

3.3.5 न्यायदर्शन में मोक्ष के उपाय

न्याय दर्शन भी मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानता है। यह मोक्ष को अपवर्ग कहता है। अपवर्ग का अर्थ है आत्मा का शरीर और इन्द्रियों के बन्धन से छुटकारा पाना। इसकी प्रमाणमीमांसा एवं प्रमेयमीमांसा मोक्ष के लिए ही विकसित हुई है। न्याय के अनुसार प्रमाण और प्रमेय सोलह पदार्थों के ज्ञान से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है। जीव को दुःखों की प्राप्ति तब होती है जब वह अविद्या द्वारा बन्धनग्रस्त होता है। अविद्या से ग्रसित आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों से युक्त होकर बार–बार जन्म लेकर अनेक प्रकार के दुःखों को भोगती है।

आत्मा का शरीर और इन्द्रियों में जकड़ना मिथ्याज्ञान है। न्याय के अनुसार मिथ्याज्ञान ज्ञान का अभाव ही नहीं विपरीत ज्ञान भी है। इसके कारण आत्मा अपने से भिन्न पदार्थों के तादात्म्य कर लेती है और सुख–दुःख आदि आगन्तुक गुणों को अपना वास्तविक गुण समझ लेती है। जिनकी उत्पत्ति शरीर और इन्द्रियों के साथ उसका साहचर्य होने से होती है। इस प्रकार मिथ्याज्ञान के कारण आत्मा में राग–द्वेष एवं मोह उत्पन्न होते हैं और आत्मा कर्मों में प्रवृत होकर विभिन्न प्रकार के दुःखों को भोगती है।

मोक्ष के उपाय : न्याय के अनुसार तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस तत्त्वज्ञान के अनुसार शरीर को आत्मा न समझना है। आत्मा का वास्तविक ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। इसी से मुक्ति मिलती है। मुक्ति के लिए नैतिक आचरण आवश्यक है। इसका अर्थ है इच्छाओं और प्रवृत्तियों का पूर्ण दमन।

न्यायकन्दली के रचनाकार श्रीधराचार्य तत्त्वज्ञान के लिए श्रद्धा का होना आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार श्रद्धा कुलीन व्यक्ति में उत्पन्न होती है अकुलीन में श्रद्धा नहीं होती। बिना श्रद्धा के जिज्ञासा नहीं होती और बिना जिज्ञासा के तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता है। अतः तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का प्रमुख साधन है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा ही तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार होता

है। यथार्थ ज्ञान को ही साक्षात्कार कहते हैं।

अतः न्याय दर्शन में तत्त्वज्ञान अथवा मोक्ष के लिए चार साधनों– श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार को आवश्यक मानता है। श्रवण का अर्थ है– शास्त्रों अर्थात् वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र में कहे गये आत्मा विषयक उपदेशों को सुनना। मनन का अर्थ है– युक्ति तथा तर्क के द्वारा उन उपदेशों पर विचार करना या मनन करना। निदिध्यासन का अर्थ है– श्रवण और मनन द्वारा किये गये विषयों का उसी प्रकार ध्यान करना। इसके बाद पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझना साक्षात्कार है। इसी साक्षात्कार को ही यथार्थ ज्ञान या तत्त्वज्ञान कहा जाता है और इसी तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

न्याय के मोक्ष सम्बन्धी मत में अष्टांगयोग को भी तत्त्वज्ञान का साधन बतलाया गया है। अष्टांगयोग के अनुष्ठान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है। यह आत्मसाक्षात्कार न्यायदर्शन में मोक्ष का प्रमुख साधन है।

''न्यायभाष्यवार्तिक'' के रचनाकार उद्योतकराचार्य भी धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन उनके मनन और ध्यान का आदेश देते हैं। इसके अतिरिक्त वे शान्ति और सुख की प्राप्ति के लिए भक्ति का भी निर्देश देते हैं।

वास्तव में मोक्ष के उपाय के रूप में न्याय दर्शन मनुष्य के नैतिक आचरण पर बल देता है। इसके अनुसार सुकर्मों को करने से व्यक्ति इस योग्य हो जाता है कि वह शरीर और इन्द्रियों से आत्मा को अलग जान सकें।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि न्याय दर्शन में शुद्ध नैतिक आचरण, श्रवण–मनन–निदिध्यासन तथा साक्षात्कार मुक्ति के एकमात्र उपाय है जो तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को हमारे सम्मुख रखते हैं।

3.3.6 वैशैषिकदर्शन में मोक्ष के उपाय

न्याय दर्शन के अंग वैशेषिक दर्शन में मोक्ष को निःश्रेयस के रूप में वर्णित किया गया है। महर्षि कणाद के अनुसार ''यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसं सिद्धि स धर्मः''। अर्थात् धर्म वह है जिससे मनुष्य का अभ्युदय (उन्नति) हो और जो निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति में सहायक हो, वही धर्म है। यहाँ धर्म को जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक बताया गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सांसारिक उन्नति और आध्यात्मिक उत्थान दोनों का महत्त्व है। इसमें व्यवहार और परमार्थ दोनों को उचित स्थान दिया गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए धर्म द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य का निर्वाह अनिवार्य है।

''पदार्थधर्मसंग्रह'' अथवा ''प्रशस्तपादभाष्य'' ग्रन्थ के रचनाकार प्रशस्तपाद के अनुसार सबसे उच्च श्रेणी का सुख ज्ञानी पुरुषों का सुख है जो पदार्थ की स्मृति, इच्छा, चिन्तन जैसे सभी प्रकारों से स्वतन्त्र है तथा जो उनके ज्ञान, मन की शक्ति, सन्तोष और सद्गुणों के विशिष्ट स्वभाव के कारण होता है।

जैसा कि हमें ज्ञात है कि वैशेषिक दर्शन न्यायदर्शन का ही अंग है इसीलिए वह न्याय के मोक्ष सम्बन्धी सभी मतों से पूरी सहमत है। न्याय के अनुरूप ही वैशेषिक दर्शन भी तत्त्वज्ञान अथवा मोक्ष के लिए चार साधनों– श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार को आवश्यक मानता है।

''प्रशस्तपादभाष्य'' ग्रन्थ के अनुसार आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानना ही आत्मा का साक्षात्कार है। आत्मा का साक्षात्कार हो जाने पर जीव संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाने पर ईंधन के जल जाने पर शान्त अग्नि के समान यह जीव शान्त हो जाता है। इसी अवस्था को वैशेषिक दर्शन में मोक्ष कहा गया है।

निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए वैशेषिक दर्शन में धार्मिक जीवन व्यतीत करना आवश्यक बताया गया है। जैसे श्रद्धा, अहिंसा, प्राणि के प्रति दया, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, मन की शुद्धि, विशिष्ट देवता की भक्ति इन सभी का निर्वाह करते हुए मनुष्य मोक्ष की ओर बढ़ता है। यहाँ निःश्रेयस की प्राप्ति में ''अदृष्ट'' को बहुत महत्त्व दिया गया है।

वैशेषिक के अनुसार धर्म–अधर्म या अदृष्ट के संग्रह के कारण शरीर का धारण करना आवश्यक है। जब तक अदृष्ट आदि से छुटकारा नहीं मिलता तब तक निःश्रेयस सम्भव नहीं है। जब तक हम इच्छा और द्वेष से कार्य करते रहेंगे। तब तक हम धर्म और अधर्म को संचित करते रहेंगे और संचित कर्मों के कारण बारम्बार शरीर धारण करते रहेंगे। यह देह ही भोग का स्थान है। अदृष्ट के साथ संयोग और उसका कार्य रूप देह ही संसार है, उससे पृथक् हो जाना ही मोक्ष है।

3.3.7 मीमांसादर्शन में मोक्ष के उपाय

जैसा कि हमें पहले से ही ज्ञात है कि मीमांसा दर्शन (जैमिनी और शबर के काल में) स्वर्ग की प्राप्ति ही मोक्ष थी। इन आचार्यों ने स्वर्ग के जीवन का तो मार्ग बतलाया था किन्तु मुक्ति का निर्देश नहीं किया था। परन्तु बाद के मीमांसा के आचार्यों के विचारों में मोक्ष–चिन्तन सिद्धान्त के रूप में सम्मिलित हो गया। मीमांसा की मान्यतानुसार जो वेद से ज्ञात हो और श्रेय का साधन हो धर्म कहलाता है। जो वेद से निषिद्ध हो तथा अनिष्ट का साधन हो अधर्म कहलाता है।

मीमांसा के अनुसार आत्मा का अपने से भिन्न वस्तुओं से सम्बन्ध होना बन्ध है। यहाँ आत्मा को बाँधने वाले तीन प्रकार के बन्धनों का निर्देश किया गया है। ये बन्धन है– भोगायतन शरीर (भोगने वाला शरीर), भोग–साधन इन्द्रियाँ और भोग के विषय।

मीमांसा दर्शन के दोनों सम्प्रदायों (कुमारिल एवं प्रभाकर) के चिन्तन में मोक्ष प्राप्ति के साधन और उसको प्राप्त करने के उपाय के बारे में बतलाया गया है। दोनों ही सम्प्रदायों ने धर्म और अधर्म तत्त्वों का विचार कर मोक्ष के उपाय की चर्चा की है।

प्रभाकर के मत में समस्त धर्म और अधर्म का लोप हो जाने पर शरीर का आत्यन्तिक नाश हो जाता है और सांसारिक बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है । इसे ही मोक्ष कहा जाता है। प्रभाकर केवल दुःख की निवृत्ति को ही नहीं अपितु सुख–दुःख दोनों की समाप्ति को मोक्ष कहते हैं। वह आनन्द या परमानन्द की अवस्था को मोक्ष नहीं मानते हैं। उनके मत में आत्मा का वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही मोक्ष है।

कुमारिल के अनुसार समस्त दुःखों से रहित तथा त्रिविध बन्धनों से मुक्त होकर आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही मोक्ष है। कुमारिल आनन्द की अवस्था को मोक्ष नहीं मानते।

कुमारिल द्रव्य गुण कर्म इनके वेद विहित होने से इन तीनों को धर्म मानते हैं। प्रभाकर के अनुसार यज्ञजन्य कर्म तथा स्वर्ग आदि फल का साधन है उसे अपूर्व, नियोग या धर्म कहते हैं।

कुमारिल मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों को आवश्यक मानते हैं। कुमारिल मोक्ष को आत्मा का साक्षात्कार मानते हैं। कुमारिल की यह अवधारणा अद्वैत वेदांत से मेल खाती है। कुमारिल आगे यह भी कहते हैं कि मोक्ष के लिए केवल ज्ञान पर्याप्त नहीं है, अपितु इसके लिये ज्ञान युक्त कर्म भी आवश्यक है।

इस प्रकार कुमारिल ज्ञान–कर्म–समुच्चयवाद की स्थापना करते हैं। उन्होंने मोक्ष के साधन के रूप में आत्मज्ञान की आवश्यकता तथा कर्म के अनुष्ठान को स्वीकार किया है। वे भक्ति, उपासना या ध्यान पर बल देते हैं। कर्म और उपासना आत्मज्ञान की उत्पत्ति में सहायक है। जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसमें केवल ज्ञान को मोक्ष के लिए अपर्याप्त माना जाता है। ज्ञान केवल भविष्य में पाप और पुण्य के संचय को रोकता है।

प्रभाकर के मत में आत्मा जड़ है। प्रत्येक ज्ञान में वह कर्ता के रूप में प्रत्यक्ष दिखता है। मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह निषिद्ध कर्म न करें। इन्हें करने से दुःख भोगना पड़ता है।

मीमांसा के अनुसार नित्य तथा नैमित्ति कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। इन्हें त्यागने से पाप के भागी होगें और यदि करते रहेंगे तो पाप नहीं लगेगा। कहने का तात्पर्य है कि जो शरीर के बन्धन से छुटकारा पाना चाहता है उसे काम्य और निषिद्ध कर्म नहीं करने चाहिये परन्तु पहले से संचित पापों के नाश के लिये उसे नित्य नैमित्तिक कर्म अवश्य करने चाहिये।

इन कर्मों के करने के साथ–साथ आत्म ज्ञान प्राप्त करने के पुराने धर्म और अधर्म नष्ट हो जाते हैं और उनका भविष्य में संचय नहीं होता। आत्मज्ञान को मोक्ष का साधन नहीं समझना चाहिए। आत्मज्ञान को मोक्ष का साधन नहीं समझना चाहिए। आत्मज्ञान के साथ–साथ वेद विहित कर्म भी करते रहना चाहिए। इस प्रकार प्रभाकर और कुमारिल दोनों ज्ञान और कर्म के समुच्चय को मोक्ष का उपाय मानते हैं।

3.3.8 अद्वैत वेदान्त में मोक्ष के उपाय

अद्वैत वेदांत मोक्ष के सन्दर्भ में पूर्ण रूप से औपनिषदिक सिद्धान्तों का पालन करता है। उपनिषद् कर तरह ही अद्वैत वेदांत में ज्ञान के माध्यम से मोक्ष प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अद्वैत वेदांत में मोक्ष का साधन ज्ञान मार्ग है। ज्ञान के अभाव में मोक्ष सम्भव नहीं है। अद्वैत दृष्टि में अज्ञान जीव के बन्धन का कारण है। अतः मोक्ष के लिए अज्ञान का नष्ट होना आवश्यक है जो ज्ञान से ही सम्भव है।

आचार्य शंकर कृत अद्वैतवेदान्त में ज्ञान सबसे श्रेष्ठ मार्ग के रूप में चित्रित है। यह सांख्य के ज्ञान मार्ग से भिन्न है। इसलिये शंकर सांख्य के ज्ञान मार्ग को अवैदिक कहते हैं।

शंकराचार्य कर्म एवं भक्ति को भी मोक्ष के रूप में अपर्याप्त मानते हैं। फिर भी वे उनकी सीमित उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदांत में मोक्ष के साधन के विषय में कुछ तथ्य महत्त्वपूर्ण है–

1. कर्म से मुक्ति सम्भव नहीं है। शंकर के अनुसार मोक्ष को कर्म का फल मानने से मोक्ष नश्वर हो जायेगा। उनकी दृष्टि में कर्म का फल उत्पाद्य, विकार, प्राप्त तथा संस्कार से युक्त होता है। जबकि मोक्ष न तो उत्पाद्य है, न प्राप्त है, न विकार है और न संस्कार्य है।

2. मोक्ष भक्ति के माध्यम से भी सम्भव नहीं है। चूँकि भक्ति का आधार भेद बुद्धि या द्वैत बुद्धि है। यह आराध्य एवं आराधक अर्थात् भगवान् एवं भक्त की भेद बुद्धि पर आधारित है। भेद बुद्धि का आधार अविद्या है। इसलिए अविद्या ही भक्ति का आधार है। इसलिए भक्ति से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

यहाँ प्रश्न है कि क्या शंकर की दृष्टि में कर्म और भक्ति बिल्कुल निरर्थक है? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि शंकर कर्म एवं भक्ति की उपयोगिता को कुछ अंशों में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार कर्म से चित्त–शुद्धि होती है और भक्ति चित्त की एकाग्रता में सहायक है। ज्ञान की प्राप्ति में चित्त–शुद्धि एवं चित्त की एकाग्रता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार कर्म और भक्ति ब्रह्मज्ञान में कुछ ही अंशों तक सहायक है।

ज्ञान के माध्यम से ही मोक्ष सम्भव है : शंकर के अनुसार ज्ञानमार्ग का अनुसरण करके ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। क्योंकि ज्ञान से ही अज्ञान (जो बन्धन का कारण है) का निवारण सम्भव है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ज्ञान से मोक्ष–प्राप्ति की बात करना भी उपचार मात्र है। क्योंकि ज्ञान मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता। ज्ञान केवल अविद्या को नष्ट करता है, जिससे आत्मा या ब्रह्म का अपरोक्षानुभव होता है। वास्तव में अद्वैत वेदांत में अविद्यानिवृति, आत्मसाक्षात्कार, अपरोक्षानुभूति, ब्रह्मभाव और मोक्ष को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अद्वैत वेदांत में सभी लोग ज्ञानमार्ग के अधिकारी नहीं है। ज्ञानमार्ग का अधिकारी केवल वही है जो 'साधनचतुष्ट्य' से युक्त है। साधनचतुष्ट्य व्यक्ति के चित्त को शुद्ध करके उसे ज्ञानमार्ग के योग्य बनाता है। इससे वैराग्य उत्पन्न होता है। जो ज्ञानमार्ग के लिए आवश्यक है। ये साधन चतुष्ट्य निम्नलिखित हैं–

1. **नित्यानित्यवस्तुविवेक :** मोक्षार्थी में नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक होना चाहिए अर्थात् सांसारिक पदार्थ अनित्य है और जीव या ब्रह्म ही नित्य है। ऐसा भाव होना चाहिए।

2. **इहामुत्रार्थभोगविराग :** मोक्षार्थी को सांसारिक और स्वर्गिक (लौकिक एवं पारलौकिक) भोगों में अनासक्त होना चाहिए। कहने का अर्थ है कि उसे ऐहिक और अलौकिक सुखभोग की कामना छोड़ देनी चाहिए।

3. **शमदमादिसाधनसम्पत् :** मोक्षार्थी को शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छः गुणों से युक्त होना चाहिए। मन का संयम शम है। इन्द्रियों पर नियंत्रण दम है। शास्त्र में निष्ठा श्रद्धा है। चित्त को ज्ञान के मार्ग में लगाया तथा तर्क द्वारा शंकाओं का निवारण करना समाधान है। विषय–वासना से दूर रहना उपरति है। शीत, ग्रीष्म आदि ऋतुओं को सहन करने का अभ्यास तितिक्षा है।

4. **मुमुक्षुत्व :** मोक्षार्थी का मोक्ष प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प लेना ही मुमुक्षुत्व कहलाता है। इन चार साधनों में मुमुक्षुत्व और वैराग्य को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इन दोनों के होने पर शम, दम आदि सफल हो जाते हैं।

इन सब साधनों के होते हुए भी शंकर ने गुरुकृपा को अत्यधिक महत्त्व दिया है। श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा को वेदांत में उच्च स्थान दिया गया है। श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ गुरु वह है जो निष्पाप हो, कामनाओं से शून्य हो, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हो, ब्रह्मनिष्ठ हो, अकारण दयासिन्धु हो, शरण में आये हुए की रक्षा करें, सज्जनों के हितैषी हो। ऐसे

गुरु की शरण में जाकर मोक्ष के लिए प्रार्थना करनी चाहिए फिर गुरु की कृपा और उनके उपदेश से साधक को अपरोक्षानुभूति होती है।

अद्वैत वेदांत के अनुसार इन चारों योग्यताओं से युक्त साधक ही ज्ञान मार्ग का अधिकारी है। इसके अतिरिक्त यहाँ श्रवण, मनन और निदिध्यासन की भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह आत्मलाभ के लिए वेदान्त का अभ्यास है। बृहदारण्यकोपनिषद् के ऋषि याज्ञवल्क्य के अनुसार आत्मा के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

शंकर के अनुसार गुरु तथा श्रुति के उपदेशों का नियमित स्वाध्याय करना चाहिए। गुरु के मुख से उपनिषदों की शिक्षाओं को सुनना श्रवण है। गुरु या श्रुति द्वारा प्राप्त ज्ञान के विषयों का स्वतः तार्किक विवेचन करना मनन कहलाता है। मनन में श्रद्धा से प्राप्त ज्ञान व्यक्तिगत आस्था या बौद्धिक आस्था में परिवर्तित हो जाता है। यह संशय आदि के निराकरण में सहायक भी होता है। मनन से बौद्धिक आस्था उत्पन्न होने के बाद निदिध्यासन या ध्यान करना चाहिए। जीव और ब्रह्म की एकता का ध्यान करते रहना निदिध्यासन है। इसका अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि जीव ब्रह्म के एकत्व की अपरोक्ष अनुभूति न हो जाए। इस एकता की अपरोक्षानुभूति होने पर मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाता है। यही अद्वैतवेदान्त में मोक्ष के उपाय के रूप में वर्णित है।

3.3.9 विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मोक्ष के उपाय

रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद में भी उपनिषदों द्वारा निर्देशित मोक्ष (क्रम मुक्ति) मार्ग को स्वीकार किया गया है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में भक्तिमार्ग को मोक्ष का साधन माना गया है। रामानुजाचार्य मोक्ष के लिए ईश्वर की अनुकम्पा को आवश्यक मानते हैं। बिना ईश्वर की अनुकम्पा के मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

रामानुज कर्मयोग एवं ज्ञानयोग को भक्तियोग में सहायक मानते हैं। उनके अनुसार कर्म एवं ज्ञान द्वारा ही भक्ति का उदय होता है। अतः कर्मयोग एवं ज्ञानयोग भक्ति के अंग है। रामानुज के अनुसार कर्मयोग का अर्थ है निष्कामभाव से वेदों में कहे गये कर्मकाण्ड या नित्य–नैमित्तिक कर्मों के सम्पादन से है। इन कर्मकाण्डों को करने से पूर्वजन्मों के अर्जित वे संस्कार नष्ट हो जाते है जो ज्ञान–प्राप्ति में बाधक है। उनकी मान्यता है कि इन कर्मों के सविधि सम्पादन से सत्त्वशुद्धि होती है तथा चित्त निर्मल होता है।

रामानुज के अनुसार भक्तियोग के पूर्व ज्ञानयोग भी आवश्यक है। ज्ञानयोग आत्मा का सतत् अभ्यास है। यह योग्य गुरु की सन्निधि में शास्त्रों के अध्ययन से जीव के वास्तविक स्वरूप को जानकर उसका अध्ययन करना है। उससे उसे यह ज्ञान होता है कि वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उपाधियों से भिन्न है। इस प्रकार वह जान लेता है कि वह ईश्वर का अंश है और ईश्वर उसका अन्तर्यामी है।

किन्तु रामानुज के अनुसार आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यह केवल और केवल ईश्वर की कृपा से प्राप्त होती है। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए रामानुज भक्तियोग के सिद्धान्त को हमारे सामने लाते हैं। उनके अनुसार मुक्ति भक्तियोग से ही प्राप्त होती है। मोक्ष वेदान्त के कोरे ज्ञान से नहीं मिल सकता। यदि ऐसा होता तो वेदान्त के सभी अध्येता मुक्त हो जाते। मोक्ष के लिए आत्मज्ञान के साथ भक्ति का होना अनिवार्य है।

भक्ति का अर्थ है प्रपत्ति और स्मृति। प्रपत्ति या शरणागति ईश्वर को प्राप्त करने का सरल एवं सुनिश्चित साधन है। प्रपत्ति का द्वार सभी के लिए सदा खुला रहता है। इसमें वर्ण, जाति, लिंग आदि का कोई भेद नहीं है। श्रीमद्भागवतमहापुराण (7/7/52) में कहा गया है– भगवान् केवल निश्छल निर्मल भक्ति से प्रसन्न होते हैं। इसी ग्रन्थ में नवधाभक्ति–श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन का उल्लेख प्राप्त होता है। इस नवधाभक्ति में आत्मनिवेदन को शरणागति या प्रपत्ति की पराकाष्ठा कहा गया है।

प्रपत्ति या शरणागति छः प्रकार की होती हैं–1. जो भगवत्प्राप्ति के अनुकूल हो उसका संकल्प। 2. जो प्रतिकूल हो उसका निषेध। 3. भगवान् रक्षा करेंगे यह दृढ़ विश्वास। 4. भगवान् का रक्षक या स्वामी के रूप में वरण। 5. भगवान् के प्रति पूरी तरह से आत्मसर्मपण। 6. भगवान् पर पूरी तरह से आश्रित रहने का दीन भाव।

प्रपत्ति भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम है, प्रेमा भक्ति है। रामानुज ने इसके साथ ''ध्रुवास्मृति'' को भी जोड़ दिया है। स्मृति का अर्थ है ध्यान या उपासना। ध्रुवास्मृति का अर्थ है ईश्वर का निरन्तर ध्यान या ईश्वर का तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मरण। ध्रुवास्मृति में प्रेम और ज्ञान दोनों का संगम है। यह उत्कट प्रेम और निरन्तर चिन्तन का मिलन है।

इस प्रकार रामानुज के अनुसार भक्ति का अर्थ है प्रपत्ति और ध्रुवास्मृति। इस भक्ति का चरम उत्कर्ष भगवान् की विशेष कृपा से उनका साक्षात् अनुभव होने में है। यही ब्रह्मज्ञान है, ब्रह्मसाक्षात्कार है, यही मोक्ष है।

3.4 सारांश

इस खण्ड के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि यदि चार्वाक दर्शन को छोड़ दिया जाए तो सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों (चाहे वह आस्तिक हो अथवा नास्तिक हा) की मूल प्रकृति अथवा स्वभाव आध्यात्मिक है। और यह भी जाना कि सभी भारतीय दर्शन की मुख्य विशेषताओं जैसे कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष और अविद्या को स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से समस्त भारतीय दर्शनों को यदि मोक्षशास्त्र कहा जाय तो गलत नहीं होगा। चूँकि चार्वाक दर्शन भौतिकवादी और सुखवादी है इसलिए वह अध्यात्म और मोक्ष का पूर्णरूप से खण्डन करता है। भारतीय दर्शन में चार्वाक का वही स्थान है जो पाश्चात्य नीतिशास्त्र में बेन्थम के उपयोगितावाद का है। इसीलिए चार्वाक दर्शन को भारतीय सुखवाद का प्रतिनिधि माना जाता है।

हम प्रारम्भ में ही जान चुके है कि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों के बीज उपनिषदों में विद्यमान है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों की मोक्ष की अवधारणा अपने बीजरूप में उपनिषदों में विद्यमान है। उपनिषदों में मोक्ष को अमृत पद, परम पद, अभय पद, स्वाराज्य आदि कहा गया है। इसे ही ब्रह्मज्ञान, तत्वज्ञान, आत्मसाक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभूति भी कहा गया है। वस्तुतः मोक्ष कोई दूसरी प्राप्त होने वाली चीज नहीं अपितु वह स्वयं का ही ज्ञान है। हमें खुद का अनुसंधान करना है। जो मनुष्य साधक इस तथ्य को भलिभांति जान लेते हैं। वे कृतार्थ हो जाते हैं, तर जाते हैं, भव सागर से, संसार–चक्र से, दुःख–चक्र से परे हो जाते हैं। यह सत्यों का भी सत्य है इसी का निर्देश वेदोपनिषद् बारम्बार करते हैं।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

स्थितप्रज्ञ : गीता में स्थितप्रज्ञ की अवधारणा ही आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष की स्थिति है। इसे ब्रह्म में निवास करने की अवस्था भी कहा जाता है, जो ब्राह्मी स्थिति कहलाती है। इस अवस्था में परमात्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध भी होता है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय सभी स्थितियों में समभाव या उदासीनता का भाव धारण किये रहता है। दूसरे शब्दों में कहे तो यह स्थिति तटस्थता की होती है।

त्रिरत्न : **सम्यक् दर्शन** : जैन दर्शन आस्था पर बल देता है यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा या विश्वास या आस्था है। मोक्ष के उपाय का प्रथम सोपान सम्यक् श्रद्धा है। अपने अज्ञान के प्रति घृणा और सम्यक् ज्ञान के प्रति श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहा जाता है। **सम्यक् ज्ञान** : जैन धर्म एवं दर्शन के सिद्धांतों का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। इसमें जीव और अजीव के स्वरूप और उनके भेद बन्धन के कारण एवं बन्धन के निवारण के लिए आवश्यक साधनों की जानकारी हो जाती है। **सम्यक् चरित्र** : सम्यक् ज्ञान को कर्म में परिवर्तित करना सम्यक् चरित्र है। अशुभ कर्मों का त्याग और शुभ कर्मों का आचरण ही सम्यक् चरित्र है।

प्रपत्ति या शरणागति : प्रपत्ति या शरणागति ईश्वर को प्राप्त करने का सरल एवं सुनिश्चित साधन है। प्रपत्ति का द्वार सभी के लिए सदा खुला रहता है। इसमें वर्ण, जाति, लिंग आदि का कोई भेद नहीं है।

निःश्रेयस : न्याय दर्शन के अंग वैशेषिक दर्शन में मोक्ष को निःश्रेयस के रूप में वर्णित किया गया है। महर्षि कणाद के अनुसार ''यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसं सिद्धि स धर्मः''। अर्थात् धर्म वह है जिससे मनुष्य का अभ्युदय (उन्नति) हो और जो निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति में सहायक हो, वही धर्म है। यहाँ धर्म को जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक बताया गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सांसारिक उन्नति और आध्यात्मिक उत्थान दोनों का महत्त्व है। इसमें व्यवहार और परमार्थ दोनों को उचित स्थान दिया गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए धर्म द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य का निर्वाह अनिवार्य है।

अष्टांगयोग : योगदर्शन में मोक्ष के उपाय के रूप में स्वीकृत अष्टांगयोग में आठ अंग है। जो निम्नलिखित है– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से प्रथम पाँच योग के बहिरंग साधन है तथा अन्तिम तीन योग के अन्तरंग साधन है।

त्रिशिक्षा : निर्वाण प्राप्ति के लिए शील, समाधि, प्रज्ञा की शिक्षा, बौद्ध दर्शन में दी गई है। इसे त्रिशिक्षा भी कहते हैं। प्रज्ञा के अन्तर्गत प्रथम दो अष्टांगिक मार्ग सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प आते हैं। शील के अर्न्तगत सम्यक् वाक्, सम्यक कर्मान्त, सम्यक अजीव और सम्यक् व्यायाम आते हैं। समाधि में सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि आते हैं।

मुमुक्षु : मोक्षार्थी का मोक्ष प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्प लेना ही मुमुक्षुत्व कहलाता है। प्रत्येक विवेकवान और जिज्ञासु व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करने वाले व्यक्ति को वैदिक परम्परा में 'मुमुक्षु' कहा जाता है।

ज्ञान–कर्म–समुच्चयवाद : मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों में सामंजस्य होना

आवश्यक है। रामानुज के समान सभी वैष्णव वेदान्त के अनुयायी मोक्ष के सन्दर्भ में ज्ञान और कर्म दोनों को समान महत्त्व देते हैं। ज्ञान और कर्म दोनों को महत्त्व देने के कारण वैष्णव वेदान्त के सभी अनुयायी ज्ञान–कर्म–समुच्चयवाद के समर्थक है। यह भक्ति मार्ग के इन आचार्यों की प्रमुख विशेषता है। यह विशेषता इसलिए भी है कि श्रीमद्भगवद्गीता भी ज्ञान–कर्म–समुच्चयवाद की स्थापना करती है जो स्वयं श्रीकृष्ण की वाणी है और कृष्ण ही इन आचार्यों के सिद्धान्तों के केन्द्र बिन्दु अथवा आराध्य है।

3.6 सन्दर्भग्रन्थ

- रंगनाथानन्द, स्वामी, (2021), *उपनिषदों का सन्देश,* भारत : अद्वैत आश्रम, नागपुर।
- शंकराचार्य, (2023), *कठोपनिषद् शांकरभाष्य,* भारतः गीताप्रेस, गोरखपुर, पुनर्मुद्रण।
- Gambhirananda, Swami, (2022), *Katha Upanishad with the Commentary of Sankaracharya*, India: Advaita Ashram, Kolkata, West Bengal.
- शंकराचार्य, (2018), *बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्य,* भारतः गीताप्रेस, गोरखपुर, पुनर्मुद्रण।
- डॉ0 राधाकृष्णन्, (1997), *उपनिषदों का सन्देश,* भारत : राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
- शर्मा, चन्द्रधर, (2018), *भारतीय दर्शन : आलोचना एवं अनुशीलन,* भारत : मोतीलाल बनारसीदास प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- मिश्र, उमेश, (2018), *भारतीय दर्शन,* भारत : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- पाठक, राममूर्ति, (2017), भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, भारत : अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद
- स्वामी, डॉ0 किशोरदास, (1998), भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा, भारत : स्वामी रामतीर्थ मिशन, नई दिल्ली।
- लाड, अशोक कुमार, (1987), भारतीय दर्शन में मोक्ष की अवधारणा, भारत : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
- शुक्ल, आचार्य बद्रीनाथ, (2022), *सदानन्द कृत वेदान्तसारः,* भारत, मोतीलाल बनारसीदास प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- अपूर्वानन्द, स्वामी, (1988), *श्रीमद्भगवद्गीता,* भारतः अद्वैत आश्रम, नागपुर।
- लोहनी, आचार्य भास्करानन्द, (1997), *गीता का तात्विक विवेचन,* भारतः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- मिश्र, सत्यकाम, (2022), *अद्वैत वेदान्त में ज्ञान एवं भक्ति : दार्शनिक विमर्श,* भारत : मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
- श्रीवास्तव, जे0 एस0, (2021), *अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका,* भारत : किताब महल, इलाहाबाद।
- सरस्वती, सत्यानन्द (भाषाटीकाकार), (2017) *ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य,* भारत : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

3.7 बोधप्रश्न

1. जैनदर्शन में वर्णित मोक्ष के मार्ग की व्याख्या कीजिए।
2. मोक्ष के मार्ग के रूप में आष्टांगिक मार्ग की विवेचना कीजिए।
3. गीता के मोक्षमार्ग की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।
4. योगदर्शन में कैवल्य की व्याख्या कीजिए।
5. 'ज्ञान से ही मोक्ष सम्भव है' की विवेचना कीजिए।
6. रामानुज के अनुसार मोक्ष की व्याख्या कीजिए।
7. न्यायदर्शन के अनुसार मोक्ष की विवेचना कीजिए।
8. अन्य वैष्णव वेदान्तियों के अनुसार मोक्ष को विवेचित कीजिए।
9. मोक्ष की वर्तमान उपादेयता पर संक्षित टिप्पणी लिखिए।

खण्ड 6
हिन्दू : जीवन–आधार

षष्ठ खण्ड का परिचय

छठा खण्ड हिन्दू जीवन आचार है। इसमें भी तीन इकाइयॉ हैं। नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म एवं उपासना पद्धतियों को इस खण्ड में प्रारम्भ में ही बता दिया गया है, जिससे आपको आचार सम्बन्धी आधारभूत ज्ञान मिलेगा। इसके पश्चात् इस खण्ड में आप व्रत , पर्व , उत्सव एवं तीर्थ माहात्म्य को जानेगें। मूल्य के बिना भारतीय संस्कृति अधूरी है। इसीलिए इस खण्ड की अन्तिम इकाई में यक्ष युधिष्ठिर संवाद में निहित मूल्यों का वर्णन करके मूल्यविषयक तथ्यों को स्पष्ट किया गया है। हिन्दू सनातन में आचार की प्रधानता है । इससे हीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं करते। यह प्रकरण नित्य और निमित्त दोनों से जुडा हुआ है। इसी के दृष्टिगत प्रथम इकाई में प्रतिदिन के कर्म और उपासनों पद्धतियों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है जिससे आपको नित्य और नैमित्तिक कर्मों की भलीभॉति जानकारी हो सकेंगी। भारतीय संस्कृति की हिन्दू संकल्पना में व्रत, पर्व, उत्सव आदि जीवन के अंग हैं। तीर्थ भी प्रधान है। इन्हीं सब के वर्णन दूसरी इकाई में प्रस्तुत हैं । मानव मूल्य की जानकारी के लिए यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद से तथ्यों को ग्रहण करके मूल्यों के वर्णन प्रस्तुत किये गयें हैं, जो इस खण्ड की तीसरी इकाई के विषय हैं। इस प्रकार आप प्रस्तुत खण्ड की तीनों इकाइयों का अध्ययन कर लेने के बाद हिन्दू जीवन और आचार की सरल व्याख्या प्रस्तुत कर सकेंगें।

इकाई 1 नित्य, नैमित्तिक कर्म एवं उपासना पद्धतियाँ

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- नित्य-कर्म से विचारणीय कृत्यों का वर्णन कर सकेंगे।
- नैमित्तिक-कर्म से विचारणीय कृत्यों का वर्णन कर सकेंगे।
- वैष्णव सम्प्रदाय एवं उसकी उपासना-पद्धति का निरूपण कर सकेंगे।
- शैव सम्प्रदाय एवं उसकी उपासना-पद्धति का निरूपण कर सकेंगे।
- शाक्त सम्प्रदाय एवं उसकी उपासना-पद्धति का निरूपण कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्रिय अध्येता! इस पाठ्यक्रम के छठे खंड की प्रथम इकाई में आपका स्वागत है। सन्ध्योपासन, पञ्च महायज्ञ आदि 'नित्य' कर्म हैं। इन कर्मों को नहीं करने से मनुष्य पाप का भागी बनता है। 'नैमित्तिक' कर्म किसी विशेष अवसर पर किसी निमित्त से किया जाता है। जैसे पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित् करना, चान्द्रायण-व्रत, पञ्चगव्यप्राशन आदि। इसके अतिरिक्त विविध मासिक एवं वार्षिक पर्व के अवसर पर किए जाने वाले अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म की श्रेणी में आते हैं।

यह ईश्वर-प्रेम ही उपासना है जो भगवत्भक्ति को जन्म देता है। भक्त का भजनीय से प्रकृष्ट सम्बन्ध स्थापित करना ही उपासना का मुख्य लक्ष्य है। भक्ति और उपासना की सफलता के लिए भारतीय संस्कृति में अवतारवाद और मूर्तिपूजा को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। यद्यपि ईश्वर के विभिन्न रूपों की पूजा एवं उपासना भारतीय संस्कृति में प्रचलित है तथापि पञ्च महाभूतों के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर के पांच रूपों या पांच देवताओं – विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य - की उपासना सर्वाधिक प्रचलित है और इसलिए इनके अनुसार अलग-अलग उपासना पद्धतियां भी हैं। और इनकी उपासना-परम्परा क्रमशः वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर कही जाती है।

तो आइए, इस अध्याय में इन विषयों के विषय में विस्तारपूर्वक अध्ययन करते हैं।

1.2 नित्य कर्म

जो प्रतिदिन किए जाएं वो कर्म नित्य-कर्म हैं। नित्य कर्मों के अन्तर्गत प्रातःकालीन जागरण, शौच (शारीरिक शुद्धि), दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पञ्च महायज्ञ, अग्निहोत्र, भोजन, धन-प्राप्ति, स्वाध्याय (पढ़ना-पढ़ाना), दान एवं शयन आदि आते हैं।

ऋषि पाराशर नित्य-कर्मों का उल्लेख करते हुए कहते हैं –

सन्ध्या स्नानं जपो होमो देवतातिथिपूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च षट् कर्माणि दिने दिने ।।

अर्थात् स्नान, सन्ध्या-वन्दन, जप, हवन, तिथि के अनुसार देवता का पूजन, अतिथि-पूजन एवं बलि-वैश्वदेव ये ६ कार्य प्रतिदिन किये जाने चाहिए।

मनु महाराज नित्य-कर्मों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं –

मैत्रं प्रसाधानं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानाञ्च पूजनम्।।

मैत्र = मित्र जिसके (जिस अंग के) देवता हैं अर्थात् गुदा, उससे सम्बन्धित कार्य मतलब मल-मूत्र-त्याग, प्रसाधन = सजने का कार्य (तेल-फुलेल आदि लगाना), स्नान, दंतधावन, अंजन लगाना, और देवता का पूजन ये सभी कार्य पूर्वाह्ण में कर लेना चाहिए।

आइए इन नित्य-कर्मों को क्रमशः किस प्रकार करने का विधान है, इस विषय पर विस्तार से चर्चा करते हैं।

1.2.1 प्रातःकालीन जागरण

शौच से पहले उठना भी तो है तो सबसे पहले तो जागने का कार्य है। यह कब होना चाहिए इस विषय में आचार्यों के मत बड़े ही स्पष्ट हैं। सभी आचार्य इस बात पर सहमत हैं कि 'ब्राह्म-मुहूर्त' में उठना चाहिए। यह ब्राह्म मुहूर्त-वेला कौन सी है, इस पर पाराशरमाधवीय (१/१) कहता है कि सूर्योदय के पूर्व, प्रथम प्रहर में २ मुहूर्त होते हैं जिनमें प्रथम मुहूर्त 'ब्राह्म मुहूर्त' कहलाता है। सूर्योदय के बाद उठने वाले विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) को 'अतिनिर्मुक्त' कहकर निन्दा करते हुए प्रायश्चित करने का भी विधान शास्त्रों में बताया गया है।

1.2.2 करदर्शन

आचारप्रदीप कहता है कि उठते ही सबसे पहले अपने हाथ को देखते हुए इस श्लोक का उच्चारण करना चाहिए –

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले तु गोविन्द प्रभाते करदर्शनम्॥

कराग्रे = हथेली के अग्र-भाग में लक्ष्मी का निवास है तो मध्य में सरस्वती का निवास है एवं कर के मूल में गोविन्द का निवास होता है इसलिए मनुष्य को प्रात: उठकर अपनी हथेली का दर्शन करना चाहिए।

इस श्लोक से मानो आचार्य अपने हाथ - जो कि कर्म का प्रतीक हैं – के अनुस्मरण व उसकी प्रधानता का चिन्तन करणे की ओर संकेत करता है।

1.2.3 देवताओं एवं महापुरुषों का नाम-स्मरण

कर-दर्शन के बाद महापुरुषों, चिरंजीवियों एवं पापनाशिनी-स्त्रियों (कन्याओं) के नाम-स्मरण की बात की गयी है। आह्निक-प्रकाश ने वामन पुराण के ५ श्लोकों (१४/२३) को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया है, जिनमें सूर्य आदि सभी नवग्रहों से अपनी शान्ति एवं कल्याण की कामना की गयी है –

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः सर्वे ग्रहाः शान्तिकराः भवन्तु॥

मुरारिः = भगवान् विष्णु, त्रिपुरान्तकारी = भगवान् शिव, भगवान् ब्रह्मा जी एवं सूर्य आदि सभी ग्रह हमें शान्ति प्रदान करें।

इसके पश्चात् मुख एवं आंखों को धोते हुए ३ बार कुल्ला करके ताम्र-पात्र में रखे हुए जल को पीने का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात आचाररत्न ने अपने इष्ट-देवता, एवं भगवान् गणेश जी का वंदन करके गुरु द्रोणाचार्य-पुत्र अश्वत्थामा, राक्षसराज बलि, पुराणकर्ता महर्षि वेदव्यास, भगवान् हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य, भगवान् परशुराम एवं महर्षि मार्कंडेय इन ७ चिरजीवियों एवं ऋषिका अहिल्या, यज्ञ से उत्पन्न पाण्डव-पत्नी द्रौपदी, भगवती सीता, तारा एवं मन्दोदरी इन ५ पाप-नाशिनी देवियों के नाम-स्मरण को भी नित्य-कर्म माना है।

1.2.4 शौच आदि क्रिया

इसके पश्चात नित्य-कर्म के रूप में मल-मूत्र-त्याग एवं शौच के विधान का भी शास्त्रों में बड़े ही विस्तार से वर्णन किया गया है। शास्त्रों ने खड़े होकर मल-मूत्र-त्याग का निषेध बताया है।

इसके बाद दन्तधावन, तैलाभ्यंजन (शास्त्रोक्त निषिद्ध तिथियों एवं वारों को छोड़कर), व्यायाम एवं स्नान करने का विधान है। यहां विशेष वक्तव्य यह है कि आचार्य अत्रि ने कुछ नित्य-कार्यों के क्रियान्वयन में मौन को श्रेयस्कर माना है –

पुरीषे मैथुने होमे प्रस्रावे दन्तधावने।
स्नानभोजनजाप्येषु सदा मौनं समाचरेत्॥

अर्थात् पुरीषे = मल-मूत्र-त्याग की क्रिया में, मैथुन-कर्म में, हवन, प्रस्रवण, दन्तधावन, स्नान, भोजन एवं जप-कर्म में मौन रहने का निर्देश किया है।

1.2.5 स्नान

स्नान को नित्य-कर्म मानते हुए प्रतिदिन इसे करने का निर्देश देते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि जहां कहीं भी मनुष्य निवास या प्रवास करे वहां नदी, प्राकृतिक बावड़ी आदि जो भी जलस्रोत उपलब्ध हों उनमें नित्य स्नान करे।

नदीदेवनिखातेषु तडागेषु सरस्सु च।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च॥

अर्थात् नदी में, देवनिखातेषु = प्राकृतिक रूप से निर्मित बावड़ी आदि में, तडाग आदि में, सरोवर में, गर्त = वापी-कूप आदि में, प्रस्रवणेषु = झरनों में नित्य स्नान करना चाहिए।

प्रतिदिन स्नान न करने को दोष मानते हुए आचार्य कहते हैं कि बिना स्नान किए हुए मनुष्य की सभी पुण्यकर्म-निमित्त की जाने वाली क्रियाएं यथा पूजा, दान, जप आदि निष्फल हो जाते हैं। शास्त्र कहता है कि नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों का अधिकारी भी मनुष्य स्नान के बाद ही बनता है –

स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पित्र्ये च कर्मणि।
पवित्राणां तथा जाप्ये दाने विधिनोदिते॥

चाहे दैव संस्कार या यज्ञ हों अथवा पैत्र्य यज्ञ या संस्कार सभी को करने के लिए मनुष्य का स्नातक = नहाया हुआ होना चाहिए इसी प्रकार विधि-विधान से किए जाने वाले दान, जप आदि का भी अधिकारी स्नान किया हुआ ही होता है।

स्नान भी – १. नित्य, २. नैमित्तिक एवं ३. काम्य इन तीन प्रकार का होता है।

नित्य स्नान

प्रतिदिन किए जाने वाला स्नान 'नित्य-स्नान' है।

नैमित्तिक स्नान

किसी निमित्त (प्रयोजन-)विशेष से किए जाने वाला स्नान, यथा – पुत्रोत्पत्ति पर, यज्ञ के अन्त

में, मरणाशौच में, ग्रहण के समय, केश बनवा लेने पर, श्मशान में जाने पर, दु:स्वप्न देख लेने पर आदि विशेष अवसरों पर किए जाने वाला स्नान 'नैमित्तिक स्नान' है।

काम्य स्नान

किसी भी तीर्थ में जाने के पूर्व अथवा यात्रा के मध्य किए जाने वाला स्नान 'काम्य-स्नान' कहलाता है। सुख-प्राप्ति के लिए वैशाख एवं माघ महीने में प्रात:काल किये जाने वाला स्नान भी काम्य स्नान कहलाता है। कुआं (कूप), बगीचा, यात्री-निवास आदि जाना-कल्याण के कार्य इष्टापूर्त कार्य हैं जिनके पूर्व किया गया स्नान भी 'काम्य-स्नान' कहलाता है।

प्रतिदिन स्नान की संख्या

याज्ञवल्क्य ने वानप्रस्थों एवं यतियों के लिए २ से ३ बार, गृहस्थों के लिए २ बार एवं ब्रह्मचारियों के लिए १ बार स्नान करने का निर्देश दिया है। स्नान का समय प्रात:काल दंतधावन के उपरान्त, मध्याह्न में एवं सायंकाल बताया गया है, रात्रि में स्नान को वर्ज्य माना गया है जबतक कि विवाह, व्रत, एवं जननाशौच या मरणाशौच जैसा आवश्यक प्रसंग उपस्थित न हो जाए।

स्नान का फल

महाभारत के उद्योग पर्व में स्नान करने के फल को निरूपित करते हुए कहा है कि इससे मनुष्य को दस गुणों की प्राप्ति होती है –

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ।।

अर्थात् बल, रूप, स्वर और वर्ण के उच्चारण में शुद्धि, शरीर का मधुर एवं गन्धयुक्त स्पर्श, विशुद्धता, श्री, सौकुमार्य एवं सुन्दर स्त्री ये दश गुण नित्य स्नान करने वाले व्यक्ति को प्राप्त होते हैं।

स्नान के समय संकल्प का भी आवश्यक विधान शास्त्रकारों ने किया है –

संकल्पश्च यथा कुर्यात् स्नानदानव्रतादिके।
अन्यथा पुण्यकर्माणि निष्फलानि भवन्ति च ।।

स्नानदानव्रतादिके = स्नान-दान-व्रत कर्म में संकल्प करना चाहिए अन्यथा = संकल्प के बिना इन कर्मो को करने से पुण्य-कर्म निष्फल हो जाते हैं।

स्नान में त्याज्यात्याज्य

नदी में स्नान करने वाले के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि कर्क संक्रान्ति से सिंह संक्रान्ति काल के मध्य सभी नदियां रजस्वला हो जाती हैं इसलिए इस काल में समुद्र में जाकर मिलने वाली नदियों को छोड़कर अन्य नदियों में स्नान नहीं करना चाहिए। किन्तु कुछ काल-विशेष या कर्म-विशेष यथा उपाकर्म आदि ऐसे हैं जिनमें नदियों का यह रजोदोष नहीं लगता है, जो इस प्रकार हैं -

उपाकर्मणि चोत्सर्गे प्रेतस्नाने तथैव च।
चन्द्रसूर्यग्रहे चैव रजोदोषो न विद्यते ।।

उपाकर्मणि = शैक्षिक-सत्र के आरम्भ में श्रावण-पूर्णिमा या हस्तनक्षत्रयुक्त पञ्चमी में वैदिक आचार्यों एवं बटुकों द्वारा किए जाने वाले श्रावणी-उपाकर्म, उत्सर्गे = शैक्षिक-सत्र की समाप्ति पर किए जाने वाले अनुष्ठान में, प्रेतस्नान में, तथा सूर्य-ग्रहण एवं चंद्रग्रहण में लगे शौच की निवृत्ति हेतु किए जाने वाले स्नान में नदियों का रजोदोष नहीं लगता है।

1.2.6 तर्पण

देवताओं, ऋषियों एवं पितरों को जल देना ही 'तर्पण' है, यह ब्रह्म-यज्ञ का अंग कहा गया है। यदि आप स्नानागार में स्नान कर रहे हैं तो स्नान के पश्चात् अथवा यदि आप नदी इत्यादि में स्नान कर रहे हैं तो सर तक डुबकी लगाने के बाद वहीं खड़े रहकर अंजलि से धारा की दिशा में छोड़ा गया जल ही 'तर्पण' है। तर्पण के विषय में आचार्यों के अलग-अलग मत हैं। कुछ के अनुसार तर्पण स्नान के तुरंत बाद संध्योपासन के पूर्व करना चाहिए तो कुछ के अनुसार सन्ध्योपासना के उपरान्त करना चाहिए।

1.2.7 सन्ध्योपासन

'सम्यग् ध्यायन्ति सम्यग् ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या' अर्थात् जिसमें परब्रह्म का अच्छी तरह से ध्यान किया जाए वह कर्म या अनुष्ठान 'सन्ध्या' कहलाता है । अथवा, **'सन्धीयते परब्रह्म सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते'।**

अर्थात् जिसके द्वारा परब्रह्म का सन्धान किया जाए उसे 'सन्ध्या' कहते हैं। यह नित्य किए जाने वाला कर्म है। क्योंकि श्रुति का स्पष्ट निर्देश है 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत्'।

सन्ध्योपासन का काल

सन्ध्या चाहे प्रातःकालीन हो या सायंकालीन, काल के आधार पर सन्ध्या ३ प्रकार की बताई गयी है। प्रातःकालीन संध्या कब उत्तम या माध्यम या अधम मानी जाती है इस सम्बन्ध में शास्त्र कहते हैं -

उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका।
अधमा भास्करोपेता प्रातः संध्या त्रिधा मता ।।

धर्मसिन्धु के अनुसार, जब भोर (ब्राह्म मुहूर्त) में, तारकोपेता = तारे दिखते रहें वह समय प्रातः संध्या के लिए 'उत्तम' होता है, यदि, लुप्ततारका = तारे दिखना बंद हो जाएं ऐसे समय की जाने वाली सन्ध्या 'मध्यम' अर्थात् मध्यम फल देने वाली बताई गयी है जबकि भास्करोपेता = सूर्य से युक्त सन्ध्या 'अधम' कहलाती है।

सायंकालीन सन्ध्या भी ३ प्रकार की कही गयी है -

उत्तमा भास्करोपेता मध्यमा लुप्तभास्करा।
अधमा तारकोपेता सायं सन्ध्या त्रिधा मता ।।

अर्थात् जब सूर्य अस्त न हुआ हो उस समय की जाने वाली सायंकालीन सन्ध्या 'उत्तम' कहलाती है, यदि सूर्य अस्त हो जाए तो उस समय की जाने वाली सन्ध्या 'मध्यम' एवं यदि तारे भी दिखने लगें उस समय की जाने वाली सायंकालीन सन्ध्या 'अधम' कहलाती है।

मध्याह्न कालीन संध्या के काल के विषय में कहा गया है –

अध्यर्धयामादासायं सन्ध्या माध्याह्निकीष्यते।

मध्याह्न के समय यदि आधा प्रहर बीत जाए तबसे लेकर सायंकाल के पहले तक की अवधि 'मध्याह्नकालीन संध्या' कही जा सकती है।

संध्या में काल का महत्त्व

सन्ध्या-कर्म में काल का अत्यधिक महत्त्व है जिसको व्यक्त करते हुए स्कन्दपुराण कहता है –

स्वकाले सेविता नित्यं सन्ध्या कामदुघा भवेत्।
अकाले सेविता सा च सन्ध्या वन्ध्या वधूरिव ।।

अर्थात् स्वकाले = शास्त्रोक्त समय में की जाने वाली संध्या यदि नियत समय पर की जाए तो वह, कामदुघा = सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाली होती है। और यदि अकाले सेविता = उचित समय में संध्या न की जाए तो वह सन्ध्या वन्ध्या स्त्री के समान फल न देने वाली होती है।

सन्ध्योपासन के लिए बैठने हेतु आसन का भी विस्तार से विचार किया गया है। कामनाओं की पूर्ति के लिए कम्बल और उसमें भी विशेष कर लाल कम्बल का प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है। ज्ञान एवं सिद्धि की प्राप्ति के लिए कृष्ण-मृग के चर्म पर और मुक्ति प्राप्त करने के लिए व्याघ्र के चर्म पर बैठकर सन्ध्योपासन करना चाहिए। बिना आसन के अथवा लकडी, शिला के आसन पर बैठकर सन्ध्या करने को त्याज्य बताया गया है।

सन्ध्या के आरम्भ में अनामिका उंगली में सोना-चांदी की अंगूठी या कुशा की पवित्री धारण करनी चाहिए, तिलक लगाकर, आचमन, विष्णु-स्मरण, शिखा-बन्धन, अभिषेक-पवित्रीकरण, संकल्प, करन्यास, षडंगन्यास, प्रणवन्यास, प्राणायाम, सूर्यार्घ्य, सूर्योपस्थान, गायत्र्यावाहन, गायत्र्युपस्थान, गायत्री-ध्यान, गायत्री-जप, प्रदक्षिणा, मार्जन, तर्पण, सन्ध्या-विसर्जन आदि इसके अंग हैं।

सन्ध्या के प्रमुख अंग

सन्ध्या के प्रमुख अंगों का संक्षेप में परिचय आवश्यक है।

आचमन

आचमन बैठकर उत्तर या पूर्व दिशा में करना चाहिए। यह खड़े होकर या झुककर नहीं किया जाता है। इसके लिए स्थान भी पवित्र होना चाहिए। जल को अधरों से तीन बार स्पर्श कराकर ब्रह्मतीर्थ (अंगूठे की जड़) से सुड़कना चाहिए। प्रत्येक आचमन में विष्णु के ३ नामों – केशव (केशवाय नमः), नारायण (नारायणाय नमः) और माधव (माधवाय नमः) का स्मरण किया जाता है। दक्षिण भारत में विष्णु के २४ नामों के ग्रहण की भी परम्परा है।

प्राणायाम

महर्षि पतंजलि के अनुसार श्वास एवं प्रश्वास का गति-विच्छेद ही प्राणायाम है –

'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' इति। (२/४९)

इस प्राणायाम के ३ अङ्ग क्रमशः – १. पूरक (बाहरी वायु को भीतर लेना), कुम्भक (लिए हुए श्वास को अन्दर रोकना) एवं ३. रेचक (वायु को बाहर निकालना अर्थात् सांस छोड़ना) हैं। इन तीनों की ३-३ आवृत्तियां करने का विधान है। गौतम के अनुसार प्राणायाम के 'पूरक' आदि

प्रत्येक अंग में १५-१५ मात्राओं के तुल्य समय लगता है।

मार्जन

तांबे से बने पात्र या उदुम्बर की लकड़ी के अथवा मिट्टी के बरतन में रखे जल को कुश की सहायता से छिड़का जाता है। मार्जन करते समय ॐ, व्याहृति, गायत्री और 'आपो हिष्ठा' .. नामक मन्त्र दुहराए जागते हैं।

अघमर्षण

अघमर्षण अर्थात् पाप को दूर हटाना। अपनी शरीर से पाप को निकालने या दूर भगाने की क्रिया ही 'अघमर्षण' कहलाती है। इसमें गाय के कान की आकृति के समान अपने दाहिने हाथ की रूप बनाकर, उसमें जल लेकर, नाक के पास रखकर, उस पर श्वास लेकर – इस भावना के साथ कि पाप संपूर्ण शरीर से निकल जाए – 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसो...' नामक ३ मन्त्रों के साथ पृथिवी पर बाईं ओर जल फेंक दिया जाता है।

अर्घ

सम्मान के साथ सूर्य को जल अर्पित करना 'अर्घ' कहलाता है। इस क्रिया में दोनों जुड़े हुए हाथों में जल लेकर, गायत्री मन्त्र कहते हुए, सूर्य की ओर मुंह करके ३ बार जल गिराना होता है।

जप

जप – १. वाचिक, २. उपांशु और ३. मानस ३ प्रकार का होता है। वाचिक जप में मन्त्र का स्पष्टतया उच्चारण होता है। उपांशु वह जप-विधि है जिसमें मन्त्र को बुदबुदाते हुए जपा जाता है अर्थात् जिसमें अस्पष्ट रूप से उच्चारण न सुनाई दे सके। मानस वह जप विधि है मन में ही जप किया जाता है।

तर्पण

देवताओं, ऋषियों एवं पितरों को प्रतिदिन जल देकर परितुष्ट करना ही 'तर्पण' कहते हैं। यह तर्पण देवताओं को 'देवतीर्थ' से पितरों के लिए 'पितृतीर्थ' से करना चाहिए। इसके लिए आचमन करके पूर्वाभिमुख बैठकर, उपवीत होकर तर्पण का संकल्प लेना चाहिए। जो व्यक्ति जिस वैदिक शाखा से सम्बद्ध होता है उसे अपनी शाखा के गृह्यसूत्र के अनुसार तर्पण करना चाहिए। प्रत्येक पितर को तीन बार जल दिया जाता है और ऐसा करते समय पितरों का सम्बन्ध, नाम एवं गोत्र बोला जाता है। क्रम से पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, मातामही, प्रमातामही, विमाता, नाना-नानी, परनाना-परनानी, परनाना के पिता और माता, अपनी पत्नी, अपने पुत्र एवं उनकी पत्नियां, पुत्री-दामाद, चाचा-चाची, मामा-मामी, बहन-बहनोई, सास-ससुर, गुरु एवं शिष्य को तर्पण देना चाहिए।

वर्तमान समय में यह कार्य प्रतिदिन नहीं किया जाता है बल्कि श्रावण मास में एक दिन ब्रह्मयज्ञ के एक अंश के रूप में अधिकांश लोग तर्पण करते हैं। इसी प्रकार जिस महीने के कृष्ण-पक्ष को मंगलवार आता है उस दिन यम को विशिष्ट तर्पण किया जाता है।

1.2.8 पञ्च महायज्ञ

हिन्दू संस्कृति में ५ यज्ञ क्रमशः - १. भूतयज्ञ, २. मनुष्य यज्ञ, ३. पितृयज्ञ, ४. देव यज्ञ और ५. ब्रह्मयज्ञ हैं। शतपथ ब्राह्मण इन पाँचों यागों को 'महासत्र' कहा है। कात्यायन कहते हैं -

देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात्।
महासत्राणि जानीयात्त एवेह महामखाः।।

वस्तुतः 'सत्र' उस अनुष्ठान को कहते हैं जिसमें भाग लेने वाले सभी याज्ञिकों एवं पुरोहितों को समान फल मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र कहता है –

'अथातः पञ्च यज्ञाः। देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ' इति
।(आ.गृ.३/१/१-२)

भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव)

जिस कर्म में जीवों को बलि अर्थात् भोजन का ग्रास दिया जाता है उसे 'भूतयज्ञ' कहते हैं। इसके लिए आचमन और प्राणायाम करके पञ्च 'सूना' से उत्पन्न पाप के क्षरण के लिए एवं यज्ञ-देव की प्रीति के लिए भूतयज्ञ करना चाहिए।

भूतयज्ञ के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए शास्त्र कहता है –

अकृत्वा वैश्वदेवन्तु नैवेद्यं यो निवेदयेत्।
न गृह्णन्ति तदन्नं वै देवा विष्ण्वादयोऽपि च।।

अकृत्वा वैश्वदेवं = भूतयज्ञ को न करके जो विष्णु आदि देवताओं को नैवेद्य निवेदित करता है उसके नैवेद्य को वे देवता ग्रहण नहीं करते हैं।

देवयज्ञ (होम-कर्म)

जिस यज्ञ में, अग्नि में समिधा की आहुति दी जाती है उसे 'देवयज्ञ' कहते हैं। हिन्दू संस्कृति में मनुष्य पर ३ ऋण – १. देव, २. ऋषि और ३. पितृ ऋण माने गए हैं जिसे उसे चुकाना होता है। देव-ऋण को चुकाने हेतु ही आजीवन यह होम (अग्निहोत्र) नित्य करने का निर्देश किया गया है।

आचार्य वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण के लिए तीन श्रौत अग्नियाँ प्रज्ज्वलित करना अनिवार्य था और उसमें दर्श-पूर्णमास (अमावस्या और पूर्णिमा के दिन किए जाने वाला) याग, आग्रायण इष्टि, चातुर्मास्य, पशु एवं सोम यज्ञ किए जाते थे, यही देव-ऋण को चुकाने का तरीका था। प्राचीन भारत में अग्निहोत्र की बड़ी महत्ता थी किन्तु वर्तमान समय में पाक्षिक अग्निहोत्र कराने वाले ही बड़ी कठिनाई से मिलते हैं प्रतिदिन हवन करने वाले तो लुप्तप्राय ही हैं।

देवयज्ञ का काल

कुछ आचार्यों के मत में संध्या के पूर्व तो कुछ के मत में सन्ध्या-कर्म के बाद यह होम किया जाता है। दक्ष के अनुसार,

सन्ध्याकर्मावसाने तु स्वयम् होमो विधीयते।

किन्तु किसी भी मत से सूर्योदय से एक हाथ ऊपर सूर्य के चढ़ने के पूर्व यह सम्पन्न हो जाना चाहिए –

हस्तादूर्ध्वम् रविर्यावद् गिरिं हित्वा न गच्छति ।
तावद्धोमविधि: पुण्यो नान्योऽभ्युदितहोमिनाम् ।।
(गोभिलस्मृति १/१२२-१२३)

अर्थात् गिरिं हित्वा = उदयाचल को छोड़कर, हस्तादूर्ध्वम् रविर्यावद् न गच्छति = एक हाथ ऊपर सूर्य न चढ़ जाए तब तक यज्ञ-कर्म पुण्यप्रद होता है।

सायंकाल का होम तब होना चाहिए जब तारे निकल आए हों और पश्चिम में लालिमा समाप्त हो रही हो।

पितृयज्ञ

जिस यज्ञ में पितरों को स्वधा दी जाती है, चाहे वह जल से ही क्यों न हो तो उसे 'पितृयज्ञ' कहते हैं। इसमें दक्षिणाभिमुख होकर अपने बाएं घुटने को नीचे करके ब्रह्मादि बलित्रय को दक्षिण प्रदेश में 'ॐ पितृभ्य: स्वधा' का उच्चारण करक्ते हुए पितृतीर्थ से जल देना ही 'पितृयज्ञ' है। फिर उत्तर मुख होकर बलिशेषान्न से लिप्त पात्र को धोकर वायव्य दिशा में छोड़ना चाहिए।

गृहे यदस्ति सिद्धान्नं तद्विष्णो: प्राङ्निवेद्य च ।
दद्याद् देवर्षिपितृभ्यस्तत्तेषां तृप्तिकारणम् ।।

घर में जो भी भोजन तैयार हो उसको पहले विष्णु को नैवेद्य के रूप में निवेदन करके उसके बाद देवताओं, ऋषियों और पितरों को अर्पण करना चाहिए क्योंकि उनकी तृप्ति इससे ही होती है।

मनुष्य यज्ञ

जिस कर्म में अतिथियों को भोजन या आतिथेय किया जाता है उसे 'मनुष्य यज्ञ' कहते हैं। अतिथि की क्या परिभाषा है इसको स्पष्ट करते हुए शास्त्र कहते हैं –

अचिन्तितमनाहूतं देशकाल उपस्थितम् ।
अतिथिं तं विजानीयान्नातिथि: पूर्वमागत: ।।

विप्रो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्ख: पण्डित एव वा ।
वैश्वदेवे तु सम्प्राप्ते सोऽतिथि: स्वर्गसंज्ञक: ।।

किसी भी स्थान-विशेष पर या काल-विशेष में वह व्यक्ति जिसके बारे में आपने विचार न किया हो या जिसको न आमन्त्रित किया हो और जो कभी भी न आया हो वह उपस्थित हो जाए उसे 'अतिथि' कहते हैं। विप्र हो या आपका विरोधी; मूर्ख हो अथवा पंडित हो जो भी अतिथि के रूप में प्राप्त हो वही 'वैश्वदेव' कहलाता है और वही 'स्वर्ग' भी कहलाता है।

मनुष्य को प्रतिदिन अपने भोजन का १६वाँ हिस्सा अपने अतिथि को अर्पण करना चाहिए और यदि किसी दिन अतिथि न आए तो उसके निमित्त १ ग्रास अथवा ४ ग्रास उत्तरदिशा में मुख करके प्राजापत्य तीर्थ से ॐ हन्त ते सनकादिमनुष्येभ्यो नम: इस मन्त्र को बोलते हुए वैश्वदेव के

लिए छोड़ना ही मनुष्य यज्ञ है।

ब्रह्मयज्ञ

स्वाध्याय ही 'ब्रह्मयज्ञ' है।

वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः।
जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥
यश्च श्रुतिजपः प्रोक्तो ब्रह्मयज्ञस्तु स स्मृतः।

वेद = ऋक्, यजु: और साम ये तीन, अथर्व, पुराण, इतिहास, आध्यात्मिक विद्या का अध्ययन करे, जप और यज्ञ करे इसे ही 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं।

कुश के आसन के ऊपर पूर्व दिशा में अभिमुख होकर आचमन करके प्राणायाम करके 'पवित्री' धारण करके संकल्पपूर्वक ब्रह्मयज्ञ करना चाहिए।

महर्षि व्यास कहते हैं की पाँचों महायज्ञ प्रतिदिन किये जाने चाहिए क्योंकि इन्हीं के द्वारा स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति होती है –

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत पाकयज्ञानशेषतः।
आपद्यपि हि कष्टायां पञ्चयज्ञान्न हापयेत्॥
स्वर्गापवर्गयोः प्राप्तिं महायज्ञैः प्रचक्षते।

जो विवाह के समय होम के लिए अग्नि जलाई जाती है उसी अग्नि को पूर्ण रूप से नव-विवाहिता को अपने घर की पाकशाला में प्रयोग में लाना चाहिए। इन पाँचों महायज्ञों को किसी भी परिस्थिति में चाहे आपत्ति-काल हो या कोई भी कष्ट हो नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति महायज्ञों के द्वारा की जा सकती है।

1.3 नैमित्तिक कर्म

'नैमित्तिक' कर्म किसी विशेष अवसर पर किसी निमित्त से किया जाता है। जैसे पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित् करना, चान्द्रायण-व्रत, पञ्चगव्यप्राशन आदि। इसके अतिरिक्त विविध मासिक एवं वार्षिक पर्व के अवसर पर किए जाने वाले अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म की श्रेणी में आते हैं।

वेदान्तसार नैमित्तिक कर्म को परिभाषित करते हुए कहता है –

नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि।

अर्थात् पुत्रजन्म आदि से लेकर सभी संस्कार, इष्ट-प्राप्ति हेतु किया गया हवन आदि कर्म नैमित्तिक कहलाता है। इस प्रकार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुण्डन, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त,समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि पर्यन्त किए जाने वाले सभी संस्कार तथा गृहनिर्माण के उपरान्त किए जाने वाला होम, व अन्य सभी देवताओं से सम्बन्धित पूजन, व्रत-पर्व-उत्सव आदि नैमित्तिक कर्म ही हैं। यथा नाग पंचमी, रक्षाबन्धन, कृष्णजन्माष्टमी आदि पर्वों का अनुष्ठान भी नैमित्तिक-कर्म है।

1.3.1 नाग पञ्चमी

श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी को 'नाग पञ्चमी' का त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन नागों की सोने, चांदी या मिट्टी की प्रतिमाएं बनाई जाती हैं और करवीर एवं जाती के फूलों से तथा चन्दनादि गंध से उन प्रतिमाओं की पूजा की जाती है। इस दिन लोग साँपों को दूध पिलाया जाता है।

1.3.2 रक्षा बन्धन

श्रावण की पूर्णिमा को यह त्यौहार मनाया जाता है। इस दिन पुरोहित अक्षत, तिल धागों से युक्त रक्षा-सूत्र यजमान को बांधते हैं। वर्तमान में यह रक्षा-बन्धन-परम्परा भाई-बहनों के द्वारा निभाई जाती है। यह रक्षासूत्र यजमान के दाहिने हाथ की कलाई में और यजमान-पत्नी के बाएँ हाथ की कलाई में बांधना चाहिए –

पत्नीवामकरे सूत्रं बद्धं सौख्यधनागमम्।
बहुसम्पत्तिमारोग्यं रक्षार्थे कङ्कणं शुभम्॥

अर्थात् पत्नी के बाएँ हाथ में रक्षासूत्र बांधने से सुख और धन की प्राप्ति होती है। अत्यधिक संपत्ति और आरोग्य की रक्षा के लिए रक्षा-कंगन को बांधना शुभ होता है।

इसके बाद पुरोहित को दक्षिणा देकर यजमान को कलश-स्थापन करना चाहिए।

इस दिन 'उपाकर्म' एवं 'उत्सर्ग' नामक वैदिक-गुरुकुल-सम्बन्धी-कर्म का भी अनुष्ठान किया जाता है।

1.3.3 आधि-व्याधिनाश हेतु जपानुष्ठान

प्रत्येक ग्रह एवं नक्षत्र की शान्ति हेतु किए जाने वाले मन्त्र-जप, यन्त्र-पूजन, एवं शास्त्रोक्त-स्तोत्र-पाठ आदि जितने भी अनुष्ठान हैं वे सभी नैमित्तिक अनुष्ठान कहलाते हैं।

इसी प्रकार सभी प्रकार के व्याधियो के शमनार्थ विष्णु-सहस्रनामपाठ का शास्त्रीय विधि-विधान से अनुष्ठान, अथवा महामृत्युञ्जय-मन्त्र-जप का अनुष्ठान इत्यादि नैमित्तिक कर्म हैं। मन्त्रमहार्णव कहता है –

रोगहेतौ स्थिते पापे व्याधिः शाम्यति नौषधैः।
असाध्यस्यापि रोगस्य प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥
सर्वरोगविनाशाय जपः कार्यो विशेषतः।
मृत्युञ्जयस्य रुद्रस्य होमं कुर्याद्दशांशतः॥
आगमोक्तविधानेन रोगनाशो भवेद्ध्रुवम्।

रोगहेतौ स्थिते पापे = रोग के कारणभूत पाप के स्थित रहने पर अर्थात् तदुपशमनार्थ निर्धारित ग्रह या देवता के शान्ति-जपादि अनुष्ठान के आचरण के बाद भी एवं रोग-निवृत्ति हेतु निश्चित औषधि के सेवन के बाद भी अनुकूल फल की प्राप्ति न होने पर उस असाध्य रोग की निवृत्ति हेतु शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त-विधान करना चाहिए एवं मृत्युञ्जय-मन्त्र का जप और उसके दशांश का हवन आगमोक्त विधि से करने पर निश्चय ही रोग का नाश होता है।

इसके अतिरिक्त गणेश पूजन, गणपति अथर्वशीर्षपाठानुष्ठान, शक्ति-पूजन, सप्तशतीप्रभृति-अनुष्ठान, स्कन्द-पूजन, हनुमत्पूजन आदि नैमित्तिक-कर्म शास्त्रों में वर्णित हैं जिनके कर्मकाण्ड के ग्रंथों में देखना चाहिए।

1.4 विविध उपासना पद्धतियां

उपासना शब्द दो पदों से मिलकर बना है; उप = समीप, आसना = स्थिति, जिसका अर्थ है अपने मन को किसी एक रूप में स्थिर करना या स्थिर रखने का अभ्यास करना। इस प्रकार किसी भी ईश्वर-रूप में अपने चित्त को स्थिर रखना या उसमें मन रमाना ही 'उपासना' है। उपासना के लिए कहा है –

मुक्तिसाधनभूत: स्मृतिरूपापन्न: ज्ञानविशेष: उपासनम् इति।

अर्थात् मुक्तिसाधनभूत: = संसारबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर, दया-वात्सल्यादि अनन्तगुणों से युक्त दिव्य-मंगलकारी स्वरूप वाले सर्वात्मा परब्रह्म का आने अभीष्ट रूप में निरंतर दर्शन कर सकने के लिए अपेक्षित जो मोक्ष के अवस्था है उसको प्राप्त करने में कारणभूत स्मृति-रूप जो विशिष्ट-ज्ञान, वही 'उपासना' के नाम से व्यवहृत है। शास्त्र इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

उपासनं नाम यथाशास्त्रम् उपस्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यम् उपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यत् आसनं तद् उपासनम् आचक्षते।

शास्त्र से उपास्य परब्रह्म परमात्मा को जानकर, उसके समीप पहुंचकर अर्थात् मनन कर और तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण = तेल की धारा के समान सतत प्रवाहित होने वाली तथा प्रत्यक्ष के समान अनुभूत की जा सकने वाली प्रीतिमयी स्मृतियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उपास्य में स्थित रहना ही 'उपासना' है।

उपासना-मार्ग में चित्त की यह स्थिरता बल-पूर्वक नहीं अपितु प्रेमपूर्वक ही हो सकती है। वस्तुतः ईश्वर का कोई नियत लिंग नहीं है – न ही वह स्त्री है न पुरुष। साथ ही वह पुरुष भी है स्त्री भी है। अत: इसकी उपासना माँ के रूप में करो या फिर पिता के रूप में। यह उपासक की रुचि का भेद है; ईश्वर में कोई भेद नहीं अत: उपासक की रुचि और अधिकार के अनुसार ही भिन्न-भिन्न नाम-रूप हिन्दू धर्म में माने गए हैं।

यह ईश्वर-प्रेम ही उपासना है जो भगवत्भक्ति को जन्म देता है। भक्त का भजनीय से प्रकृष्ट सम्बन्ध स्थापित करना ही उपासना का मुख्य लक्ष्य है। भक्ति और उपासना की सफलता के लिए भारतीय संस्कृति में अवतारवाद और मूर्तिपूजा को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। यद्यपि ईश्वर के विभिन्न रूपों की पूजा एवं उपासना भारतीय संस्कृति में प्रचलित है तथापि पञ्च महाभूतों के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर के पांच रूपों या पांच देवताओं – विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य - की उपासना सर्वाधिक प्रचलित है और इसलिए इनके अनुसार अलग-अलग उपासना पद्धतियां भी हैं। और इनकी उपासना-परम्परा क्रमशः वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर कही जाती है। इन्हीं देवताओं की उपासना इनके अपने-अपने आगमों द्वारा ही की जाती है। ये आगम तत्तत्सम्प्रदायानुगामी आचार्यों के द्वारा पुष्पित-पल्लवित होती रही। इन-इन देवताओं से सम्बन्धित वैदिक सूक्त, उपनिषत्, अथर्वशीर्ष आदि भी प्राप्त होते हैं। इन पांचों के अलग-अलग मन्दिर भी तत्तत्सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा निर्मित किए जाते रहे हैं जिनमें इन-इन देवताओं के पंचायतन की प्रतिष्ठा भी की जाती है।

इनमें भी भगवान् गणेश की पूजा सभी धार्मिक-कार्यों के आरम्भ में की जाती है क्योंकि ये भू-तत्त्व के अधिष्ठाता देव होने के कारण सभी प्रकार के प्राण-प्रतिष्ठा के मूल में स्थित होने के कारण सर्वप्रथम पूज्य हैं। भगवान् सूर्य की पूजा सभी हिन्दुओं के द्वारा दोनों ही सन्ध्या-कालों में की जाती है इसलिए ये भी सभी यज्ञ-यागादिक-कार्यों में अत्यावश्यक एवं महत्त्वपूर्ण होने के कारण सभी सम्प्रदायों के द्वारा भी पूज्य ही हैं।

1.4.1 वैष्णव उपासना

विष्णु भगवान् की उपासना मुख्यतः २ प्रकार की है – १. लक्ष्मी जी सहित चतुर्भुज शेषशायी भगवान् विष्णु के रूप में और २. उनके राम, बलराम आदि दस अवतारों के रूप में। यद्यपि कुछ मत में कृष्ण को अवतार-क्रम में माना गया है किन्तु अनेकों पुराणों के अनुसार मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि ये दस अवतार हैं जबकि कृष्ण स्वयं भगवान् हैं –

एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

विष्णु की उपासना का स्वरूप पांचरात्र-आगम, या भागवत धर्म में मिलता है जो नारायण द्वारा उपदिष्ट कहा गया है। उसकी प्रमुख पुस्तक 'अहिर्बुध्न्य संहिता' है जिसमें शरणागति की भावना का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ता है। इसका सम्बन्ध ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' से है।

नारद जी के अनुसार, परम तत्त्व, मुक्ति, युक्ति, योग और विषय (संसार) ये पांच पदार्थ से युक्त होए के कारण इसे 'पांचरात्र' कहते हैं। इसका नियमन स्वयं नारायण सांसारिक-व्यवस्था के संचालन हेतु करते हैं। पांचरात्र मत के अनुसार सम्पूर्ण विश्व का बीज, प्रलय के रूप में भगवान् में समाहित है। उनकी ही इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और भूतशक्ति ये तीनों शक्तियां जो मन, प्राण और भौतिक प्रकृति की क्षमताओं के रूप में सक्रिय होती हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज – उनके ६ गुण हैं; जिनमें ज्ञान और बल, ऐश्वर्य और वीर्य तथा शक्ति और तेज ये तीन युगल या 'व्यूह' हैं जो क्रमशा: संकर्षण (बलराम), प्रद्युम्न (श्रीकृष्ण-सुत) और अनिरुद्ध (श्रीकृष्ण-पौत्र) के नाम से वैष्णवागम में प्रसिद्ध हैं। इन तीनों व्यूहों के ऊपर 'वासुदेव' व्यूह है। इन चार व्यूहों से १६ उपव्यूह और तदनन्तर चार विद्येश्वर नि:सृत हुए। इन सबको मिलाकर वासुदेव (विष्णु) की २४ मूर्तियां हो गई। अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार नारायण के कुल ३९ अवतार हैं जो विभिन्न रूपों में पूजे जाते हैं।

वैष्णव-पद्धति में उपासना को ही भक्त चरम-पुरुषार्थ मानता है। भक्त साक्षात् भगवान् की सन्निधि में पार्थिव शरीर से ही बैठ जाता है और उसकी समस्त क्रियाएं और कामनाएं अर्चना के रूप में उपासनात्मक हो जाती हैं। वैष्णव-उपासनापद्धति की एक दूसरी विशेषता है कर्मकाण्ड के साथ उपासना का संयोग। वैष्णवों ने सर्वप्रथम उपासना-पद्धति को श्रृखलाबद्ध किया। सबसे पहले उन्होंने विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी का निर्णय किया।

ब्रह्मसूत्र के अनुसार भागवत धर्म में पूजन की पञ्च विधियां हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं – १. अभिगमन – मन, वचन और शरीर से भगवान् के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होकर देव-मन्दिर जाना। २. उपादान – विभिन्न पूजा सामग्री एकत्रित करना। ३. इज्या – पूजा करना। ४. स्वाध्याय – भगवान् के मन्त्र का जप करना। ५. योग - समाधि।

'ॐ नमो नारायणाय' और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' 'रां रामाय नमः', इस उपासना-पद्धति के प्रमुख मन्त्र हैं।

इस उपासना-पद्धति में तापादि पञ्च संस्कार को धारण करणे का सर्वाधिक महत्त्व है। ये पांच संस्कार क्रमशः - तापसंस्कार, ऊर्ध्वपुण्ड्रसंस्कार, नामसंस्कार, मालासंस्कार और मन्त्रसंस्कार हैं। इस विषय में वासिष्ठ स्मृति कहती है –

तापादिपञ्चसंस्काराः महाभागवताः स्मृताः।

अर्थात् ताप आदि पांच संस्कार धारण करने वाले 'महाभागवत' कहलाते हैं। इन पाँचों संस्कारों को एक पद्य में स्पष्ट करते हुए 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' कहता है –

तप्तेन मूलेन भुजयोः समङ्कनं शरेण चापेन तथोर्ध्वपुण्ड्रकम्।
श्रुतिश्रुतं नाम च मन्त्रमालिके संस्कारभेदा परमार्थहेतवः॥

अर्थात् ताप संस्कार = तप्त धनुष-बाण से भुजाओं के मूल को अंकित करना, पुण्ड्रसंस्कार = ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाना, नाम संस्कार = वैदिक-ग्रन्थ-सम्मत दासान्त नाम रखना, मालासंस्कार = तुलसी की माला धारण करना, मन्त्र संस्कार = मन्त्र का जप करना ये पांच संस्कार ही परमार्थ (भगवत्)-प्राप्ति में कारणभूत हैं।

इस सम्बन्ध में नारद पाञ्चरात्र का वचन थोड़ा भिन्न है –

तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तिहेतवः॥

नारद के अनुसार ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और यज्ञ ये पांच संस्कार परमैकान्ती भक्त होने में हेतु है।

इस उपासना-पद्धति में 'रामनवमी', 'हनुमज्जयंती', 'रथयात्रा', 'देवशयनी एकादशी', 'कृष्ण जन्माष्टमी', 'नृसिंह जयन्ती' 'वामन द्वादशी', 'राधाष्टमी', 'अनन्त चतुर्दशी', 'देवोत्थानी एकादशी', 'देव-दीपावली', आदि प्रमुख व्रत-पर्व और त्यौहार हैं।

व्यास, वाल्मीकि, आचार्य शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, माध्व, वल्लभ, विष्णुस्वामी आदि अनेकों आचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु, सूर, तुलसी, तिरुवल्लुवर, रसखान, विठ्ठल, तुकाराम, भक्तमाल, मीराबाई आदि अनेकों भक्त इस उपासना-पद्धति में परिगणित हैं।

इस सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख मन्दिरों में जगन्नाथ मन्दिर, पुरी उड़ीसा, दशावतार मन्दिर, देवगढ़ उत्तरप्रदेश, श्रीकृष्ण मन्दिर, मथुरा उत्तरप्रदेश, विष्णु मन्दिर, तिगावां मध्यप्रदेश, द्वारिकाधीश मन्दिर, द्वारिका गुजरात, श्री वेंकटेश्वर बाला जी मन्दिर, तिरुपति आन्ध्रप्रदेश हैं।

1.4.2 शैव उपासना

भगवान् शिव से सम्बंधित सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय है और इसके अनुयायी या उपासक 'शैव' कहलाते हैं। भगवान् विष्णु की तरह इनके अवतार नहीं हैं क्योंकि शिव महायोगी हैं जो माया से सर्वथा असम्पृक्त हैं। अथर्ववेद में उन्हें भव, स्वर्ग और पृथिवी का ईश कहा गया तथा भाव, शर्व और रुद्र के बाण को 'सदाशिव' बनाने के लिए कामना व्यक्त की गयी। उनकी उपस्थिति आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष और दिशाओं में सर्वत्र मानी गयी है। उनके आठ नामों में से रुद्र,

शर्व, उग्र और अशनि ये चार नाम विध्वंसकारी और विनाशकारी स्वरूप के प्रतीक हैं और उनके चार नाम भव, पशुपति, महादेव और ईशान कल्याणकारी स्वरूप के प्रतीक हैं।

शिव की उपासना-पद्धति की विभिन्नता के आधार पर ही इसके चार मुख्य वर्ग क्रमशः – १. शैव, २. पाशुपत, ३. कापालिक और ४. कालमुख हो गए।

शैव

शैव-सिद्धांत के अनुयायियों की दृष्ट में सृष्ट के ३ रत्न – शिव, शक्ति और बिंदु हैं; जहां शिव कर्त्ता, शक्ति करण और बिंदु उपादान है। शिव की २ शक्तियां – 'समवायिनी' और 'परिग्रह' रूपा हैं। इसमें समवायिनी शक्ति निर्विकार और चिद्रूपा है तथा परिग्रह-रूपा अह्करी अचेतन और परिणामशालिनी है, जो बिंदु कही जाती है। बिदु भी दो प्रकार का है – 'माया' और 'महामाया' जिसमें माया अशुद्ध बिन्दु और महामाया शुद्ध बिन्दु है। महामाया सात्त्विक जगत् की एवं माया प्राकृत जगत् की उपादान कारण हैं। इस मत के चार पाद – विद्या, क्रिया, योग और चर्या हैं और तीन पदार्थ – पति, पशु और पाश हैं। यहां पति अर्थात् स्वामी शिव हैं जो सर्वज्ञ, स्वतंत्र और ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं। शिव के चार अंग – मन्त्र, मन्त्रेश्वर, महेश्वर और मुक्त हैं। यहां जीवात्मा पशु है जो अणु, सीमित शक्ति-समन्वित और परिच्छिन्न है। पाश का अभिप्राय बंधन से है , जिसके द्वारा शिवरूप होने पर भी जीव को पशुत्व की प्राप्ति होती है। पाश के चार प्रकार – मल, कर्म, माया और रोध-शक्ति हैं।

इसमें उपासना मार्ग यही है कि पशु या जीव पाश या बन्धन से मुक्त होने के लिए साधना करे, जो क्रिया से ही संभव है। जीव वस्तुतः शिवरूप ही है, किन्तु पाशों के कारण वह बंधन से जकड़ा रहता है।

पाशुपत मत

वायु पुराण और लिंग पुराण के अनुसार पाशुपत मत का उद्भव 'लकुलिन' अथवा 'लकुलीश' नामक ब्रह्मचारी के द्वारा हुआ जो शिव के ही अवतार के रूप में माने गए हैं। इनके ही – कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरूप्य नामक चार शिष्य हुए। इस सम्प्रदाय के लोग लगुड या दंड लेकर चलते हैं।

इस सम्प्रदाय में उपासना को 'विधि' कहते हैं जो – 'मुख्य' और 'गौण' दो प्रकार की है। मुख्य विधि के भी दो प्रकार – 'व्रत' और 'द्वार' हैं। व्रत में पांच कार्य – भस्म-स्नान, भस्म-शयन, जप, उपहार और प्रदक्षिणा किए जाते हैं। इसमें 'उपहार' की ६ श्रेणियां – 'हसित', 'गीत', 'नृत्य', 'हुड्डकार', 'नमस्कार' और 'जप्य' हैं; जिसमें साधक क्रमशः हंसता, गाता, नाचता, बैल के समान शब्द करता, नमस्कार करता और जप करता है। द्वार के ६ प्रकार – ग्राथन , स्पन्दन, मंदन, श्रृंगारण, अवितत्करण, और अवितद्भाषण हैं। यहाँ 'ग्राथन' अर्थात् असुप्त व्यक्ति का सुप्त मनुष्य की तरह चेष्टा करना, 'स्पन्दन' अर्थात् नि:शक्त के रूप में अंगों का कम्पन, 'मंदन' अर्थात् लंगड़ाते हुए चलना, 'श्रृंगारण' अर्थात् किसी कामिनी के देखकर कामुक जैसी चेष्टा करना, 'अवितत्करण' अर्थात् विवेकहीन होकर निन्दित कार्य करना और 'अवितद्भाषण' अर्थात् अज्ञान की बातें करना। गौण विधि में 'अनुस्नान' अर्थात् पूजा के उपरांत भस्म-स्नान, भैक्ष्य, उच्छिष्ट, निर्माल्य और लिंग धारण किया जाता है।

कापालिक

कापालिकों के इष्ट देव 'भैरव' हैं, जो शंकर के ही गण माने जाते हैं। सर पर जटाजूट, गले में रुद्राक्ष, शरीर पर स्नान-भस्म, हाथ में नर-कपाल धारण करना कापालिकों के मुख्य लक्षण हैं।

कालामुख

कालामुख सम्प्रदाय के अनुयायी कापालिकों के ही वर्ग के थे, किन्तु वे उनसे भी अधिक अतिवादी और भयंकर प्रकृति के थे। अतिमार्गी होने के कारण इन्हें शिवपुराण में 'महाव्रतधर' कहा गया है।

वीरशैव या लिंगायत सम्प्रदाय

इसके अनुयायी 'लिंगायत' या 'जंगम' भी कहे जाते हैं। वर्ण-व्यवस्था के प्रतिकूल ये लोग आचरण करते हैं तथा शिवलिंग को चांदी के सम्पुट में रखकर हर समय अपने गले में धारण करते हैं।

कश्मीरी शैव-सिद्धान्त अथवा त्रिक-दर्शन

यह सम्प्रदाय विशुद्ध दार्शनिक है। इसमें ज्ञान और ध्यान को परब्रह्म (परमशिव) की प्राप्ति का आधार माना है। इसकी तीन शाखाएं – आगमशास्त्र, स्पन्दनशास्त्र और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र हैं। त्रिकदर्शन के आगमशास्त्र के अन्तर्गत सिद्धा, नामक और मालिकी तीन तत्त्व हैं जो क्रमश: पशु, पति और पाश कहे गए हैं।

भगवान् शिव 'आशुतोष' कहे गये हैं। उपासना से यह शीघ्र ही प्रसन्न होने वाले हैं। सकाम भाव से या निष्काम भाव से जो भी साधक या भक्त इनकी उपासना करता है उस पर यह शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं।

शिव को प्रसाद-स्वरूप जो भी अर्पित कीजिए चाहे जल हो या दूध, भंग-धतूरा हो या मालती-पुष्प, श्रीफल हो या बिल्व-पत्र, दही, मधु, गन्ने का रस, अक्षत, ताम्बूल, रोली, चन्दन या फिर आभूषण ये सबमें प्रसन्न हो जाते हैं।

शिव को प्रसन्न करने के लिए यजुर्वेद-प्रोक्त रुद्राष्टाध्यायी का पाठ, या 'ॐ नम: शिवाय' ये पंचाक्षरी मन्त्र-जप या महामृत्युंजय मन्त्र विशेष फल-प्रद हैं।

शिव को प्रसन्न करने के लिए 'महाशिवरात्रि' व्रत जो फाल्गुन कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तिथि को अर्धरात्रि में मनाई जाती है का सर्वाधिक माहात्म्य है। शिवरात्री को प्रत्येक प्रहर में शिव की पूजा करनी चाहिए। प्रथम प्रहार में संस्थापित पार्थिव शिवलिंग का अनेक उपचारों द्वारा परम भक्ति से अर्चन करना चाहिए और शिव पंचाक्षरी मन्त्र का जप करना चाहिए। शिव का पूजन चन्दन, अक्षत, काले टिल कमल-दल और कनेर-पुष्प से करना चाहिए और पुष्पार्पण के समय शिव के आठों नाम – भाव, शर्व, रुद्र, पशुपति, महान, भीम, उग्र और ईशान लेने चाहिए। द्वितीय प्रहर में प्रथम प्रहार की अपेक्षा द्विगुणित मन्त्र-जप करना चाहिए। इस समय नीम्बू का अर्घ्य और खीर का नैवेद्य अर्पित करना चाहिए। तीसरे प्रहर में पूर्ववत कर्म करते हुए मदार का पुष्प, अनार का अर्घ्य तथा सूआ का नैवेद्य देना चाहिए। चतुर्थ प्रहर में सप्त धान्यों, शंख, पुष्प और बिल्व-पत्रों से अर्चन करके अनेक प्रकार के मिष्टान्न एवं उड़द के बने पकवान का नैवेद्य के रूप में भोग लगाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक महीने के दोनों पक्षों की त्रयोदशी को 'प्रदोष-व्रत' का विधान है।

शैव धर्म के कुछ प्रमुख मन्दिर राजराजेश्वर मन्दिर, तंजाऊर तमिलनाडु, शिव मन्दिर, भूमरा मध्यप्रदेश, नटराज मन्दिर, चिदंबरम तमिलनाडु, विरूपाक्ष मन्दिर, हम्पी कर्नाटक, विश्वनाथ मंदिर, वाराणसी उत्तरप्रदेश आदि हैं। इसके अतिरिक्त इस उपासना-पद्धति में १२ ज्योतिर्लिंग भी प्रसिद्ध हैं –

उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारममलेश्वरम्।
परल्यां वैद्यनाथं तु डाकिन्यां भीमशङ्करम्॥
सेतुबन्धे तु रामेशं नागेशं दारुकावने।
वाराणस्यां तु विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
हिमालये तु केदारं घुश्मेशं च शिवालये।

1.4.3 शाक्त-उपासना

जो निर्विशेष शुद्ध तत्त्व संपूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार है उसी को स्त्रीत्व दृष्टि से 'चिति' कहते हैं। माया में प्रतिबिम्बित उसी तत्त्व की जब स्त्री-रूप में उपासना की जाती है तो उसी को ईश्वरी, दुर्गा अथवा भगवती कहते हैं। शक्ति की उपासना प्राय: सिद्धियों की प्राप्ति के लिए की जाती है। शक्ति के उपासक यद्यपि प्राय: सकाम साधक ही होते हैं तथापि रामकृष्ण परमहंस, वामा खेपा जैसे कुछ निष्काम साधक भी हैं। दुर्गा सप्तशती में देवी को 'स्वर्गप्रदा' और 'अपवर्गदा' भी कहा गया है –

'स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते'।

शाक्त मत में दीक्षा हेतु जो विशेष काल निर्धारित किए गये हैं वो इस प्रकार हैं -

षष्ठी भाद्रपदे मासि कृष्णाश्विनचतुर्दशी।
कार्तिके नवमी शुक्ला मार्गे कृष्णा च पञ्चमी॥
पौषे च पूर्णिमा देवि माघे चैव चतुर्थिका।
फाल्गुनैकादशी कृष्णा चैत्रे मासि त्रयोदशी॥
वैशाखेऽक्षय्यतृतीया ज्येष्ठे दशहरा स्मृता।
आषाढे द्वादशी कृष्णा ह्यमावस्या च श्रावणी॥
इष्टानि देवपर्वाणि कोटियज्ञफलानि वै।

अर्थात् भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की षष्ठी तिथि, आश्विन् मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि, कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि, मार्गशीर्ष मास के कृष्ण पक्ष की पञ्चमी, पौष मास की पूर्णिमा, माघ मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी, फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी, चैत्र मास के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी, वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया, जयेष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की दशमी, आषाढ मास के कृष्ण पक्ष की द्वादशी, और श्रावण मास की अमावस्या; उक्त सभी तिथियों को शाक्त-सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर करोड़ों यज्ञों के समान फल मिलता है।

मन्त्रमहोदधि के १८वें तरंग के अनुसार, यजमान को दो वर्ष से लेकर दस वर्ष तक की दस कन्याओं का पूजन करना चाहिए। यहां २ वर्षीया कन्या 'कुमारी', ३ वर्षीया 'त्रिमूर्ति', ४

वर्षीया 'कल्याणी', ५ वर्षीया 'रोहिणी', ६ वर्षीया 'कालिका', ७ वर्षीया 'चण्डिका', ८ वर्षीया 'शाम्भवी', ९ वर्षीया 'दुर्गा' और १० वर्षीया 'सुभद्रा' कही गयी है।

शाक्तोपासना में दस महाविद्याओं – १. काली, २. तारा, ३. छिन्नमस्ता, ४. षोडशी, ५. भुवनेश्वरी, ६. त्रिपुरभैरवी, ७. धूमावती, ८. वगलामुखी, ९. मातंगी और १०. कमला की मुख्यतया उपासना की जाती है।

शाक्तोपासना के प्रमुख ग्रन्थ 'शाक्तप्रमोद', 'त्रिपुरारहस्य', 'रुद्रयामलतन्त्र', कुब्जिकातन्त्र', 'योगिनीतन्त्र', 'कामिकागम' आदि हैं।

इस उपासना में मान्यता है कि माता सती के अंग-प्रत्यंग छिन्न-भिन्न होकर अलग-अलग जिन-जिन स्थानों पर गिरे ऐसे ५२ स्थानों पर ५२ 'शक्तिपीठ' तीर्थ रूप में स्थित हैं जहां इस सम्प्रदाय के साधक लोग उपासना एवं साधना हेतु जाते रहते हैं या वास-प्रवास करते हैं।

1.5 सारांश

जो प्रतिदिन किए जाएं वो नित्य-कर्म हैं इनके अन्तर्गत प्रातःकालीन जागरण, शौच, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पञ्च महायज्ञ, अग्निहोत्र, भोजन, धन-प्राप्ति, स्वाध्याय, दान एवं शयन आदि आते हैं। स्नान भी नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य इन तीन प्रकार का होता है। बल, रूप, स्वर और वर्ण के उच्चारण में शुद्धि, शरीर का मधुर एवं गन्धयुक्त स्पर्श, विशुद्धता, श्री, सौकुमार्य एवं सुन्दर स्त्री ये दश गुण नित्य स्नान करने वाले व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। स्नान-दान-व्रत कर्म में संकल्प करना चाहिए अन्यथा पुण्य-कर्म निष्फल हो जाते हैं। प्रतिदिन किए जाने वाले ५ यज्ञ क्रमशः - १. भूतयज्ञ, २. मनुष्य यज्ञ, ३. पितृयज्ञ, ४. देव यज्ञ और ५. ब्रह्मयज्ञ हैं। पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित् करना, चान्द्रायण-व्रत, पञ्चगव्यप्राशन आदि एवं इसके अतिरिक्त विविध मासिक एवं वार्षिक पर्व के अवसर पर किए जाने वाले अनुष्ठान नैमित्तिक कर्म की श्रेणी में आते हैं।

शास्त्र से उपास्य परब्रह्म परमात्मा को जानकर, उसके समीप पहुंचकर तेल की धारा के समान सतत प्रवाहित होने वाली तथा प्रत्यक्ष के समान अनुभूत की जा सकने वाली प्रीतिमयी स्मृतियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उपास्य में स्थित रहना ही 'उपासना' है।

उपासना-मार्ग में ईश्वर की उपासना माँ या पिता किसी भी रूप में की जा सकती है। यह उपासक की रुचि का भेद है; ईश्वर में कोई भेद नहीं अत: उपासक की रुचि और अधिकार के अनुसार ही भिन्न-भिन्न नाम-रूप हिन्दू धर्म में माने गए हैं।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

१. मैत्र = मित्र जिसके (जिस अंग के) देवता हैं अर्थात् गुदा, उससे सम्बन्धित कार्य मतलब मल-मूत्र-त्याग,

२. प्रसाधन = सजने का कार्य (तेल-फुलेल आदि लगाना)

३. त्रिपुरान्तकारी = भगवान् शिव

४. पुरीषे = मल-मूत्र-त्याग की क्रिया में

५. देवनिखातेषु = प्राकृतिक रूप से निर्मित बावड़ी आदि में

६. उपाकर्मणि = शैक्षिक-सत्र के आरम्भ में वैदिक आचार्यों एवं बटुकों द्वारा किए जाने वाले अनुष्ठान में

७. उत्सर्गे = शैक्षिक-सत्र की समाप्ति पर किए जाने वाले अनुष्ठान में

८. वैश्वदेवं = भूतयज्ञ को

९. रोगहेतौ स्थिते पापे = रोग के कारणभूत पाप के स्थित रहने पर

१०. मुक्तिसाधनभूत: = संसारबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर

११. तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण = तेल की धारा के समान सतत प्रवाहित होने वाली तथा प्रत्यक्ष के समान अनुभूत की जा सकने वाली

1.7 सन्दर्भग्रन्थ

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, लखनऊ

२. कर्मठगुरु:, मुकुन्दवल्लभशर्मा, मोतीलाल बनारसीदास

३. कृत्यकल्पतरु:, लक्ष्मीधरभट्ट, गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज़, बड़ौदा

४. श्रीविद्यारत्नाकर:, करपात्री जी महाराज, श्रीविद्या प्रकाशन, वाराणसी

1.8 बोधप्रश्न

१. नित्य-कर्मों का सविस्तार उल्लेख कीजिए।

२. स्नान के प्रकार, काल और त्याज्यात्याज्य पर प्रकाश डालिए।

३. सन्ध्योपासन के अंगों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

४. वैष्णव आगम की उपासना-पद्धति पर प्रकाश डालिए।

५. शैवागम में वर्णित सम्प्रदाय-भेदों को स्पष्ट कीजिए

इकाई 2 व्रत, पर्व, उत्सव एवं तीर्थ माहात्म्य

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- ➢ व्रत के अर्थ एवं उसके स्वरूप का वर्णन कर सकेंगे।
- ➢ व्रत में आवश्यक कर्तव्य एवं उसके वर्ज्यावर्ज्य को बता सकेंगे।

- ➢ व्रत के फल, माहात्म्य एवं अधिकारी का निरूपण कर सकेंगे।
- ➢ पर्व के लक्षण एवं उसके भेद को निरूपित कर सकेंगे।
- ➢ उत्सव के स्वरूप का निर्धारण कर सकेंगे।
- ➢ तीर्थ के लक्षण एवं उसके भेद को व्याख्यायित कर सकेंगे।
- ➢ तीर्थ के माहात्म्य एवं फल का वर्णन कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रिय अध्येता! पञ्चम पाठ्यक्रम के षष्ठ खण्ड की दूसरी इकाई में आपका स्वागत है। भारतीय संस्कृति में आरम्भ से ही व्रत, पर्व, उत्सवों एवं तीर्थों का अत्यधिक महत्त्व रहा है। वस्तुत: इन व्रतादिकों के सम्यक अनुष्ठान तथा उनके नियमों की सविधि अनुपालना से शारीरिक एवं मानसिक संतुलन बना रहता है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के स्वस्थ रहेन सेमनुष्य को प्रेय एवं श्रेय की प्राप्ति सुलभतया होती है। अत: भारतीय-संस्कृति में इन व्रत-पर्व-उत्सवो के अनुष्ठान पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। व्रत शब्द की सिद्धि परस्मैपदी भ्वादिगणीय 'व्रज गतौ' अर्थ में घ प्रत्यय करने पर व्रत शब्द की सिद्धि होती है जिसका अर्थ है – अपने प्रिय या इष्ट के समीप जाना, परमात्मा के निकट जाना, अपने स्वरूप को प्राप्त होना, भक्ति, साधना, प्रतिज्ञा आदि। अभ्यास, उपवास, नियम, विधि आदि को भी व्रत कहते हैं। शुभ या अशुभ कर्म कर्ता को आवृत करता है अत: वह कर्म ही व्रत है। निघण्टु में वचन मिलता है – 'व्रतमिति कर्मनाम'। अर्थात् संकल्प के साथ कर्म का आचरण करना व्रत है। अब यतोहि कर्म नाना प्रकार के हैं अत: व्रत भी अनेकों प्रकार के हैं। अग्नि और सूर्य को 'व्रतपा' अर्थात् व्रत की रक्षा करने वाला कहा गया है। व्रत धर्म का एक अवयव है। व्रत का सम्बन्ध पर्व से है। व्रत एवं पर्व के प्रकाशन को 'उत्सव' कहते हैं। व्रत, पर्व और उत्सव रूपी त्रिपाद पर ही धर्म टिकता है। अत: इस अध्याय में इन्हीं विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा।

2.2 व्रत का स्वरूप

प्रिय विद्यार्थी आप हिन्दू जनजीवन में समय समय पर किये जाने वाले व्रत के बारे में परिचित ही होंगे। व्रत एक प्रकार का मानसिक संकल्प है, जिसमें हम अपने को अनुशासित करते हुए आत्मतत्त्व या देवतत्त्व के समीप उपस्थित होते हैं। वेदों में यज्ञकर्ता के द्वारा व्रतपालन के संकेत प्राप्त होते हैं किन्तु व्रतों का विस्तृत विवेचन पौराणिक साहित्य की देन है। आईये सर्वप्रथम हम व्रतो के अर्थ एवं परिभाषा से परिचित होते हैं।

2.2.1 व्रत का अर्थ एवं परिभाषा -

वृञ् धातु भ्वादि, स्वादि और क्र्यादि गण में पठित एक उभयपदी धातु है अत: वरति-वरते, वृणोति-वृणुते एवं वृणाति-वृणीते ये दोनो ही प्रकार के रूप बनते हैं। इस धातु का अर्थ भी बड़ा व्यापक है – अपने या दूसरे के लिए चुनना, पसन्द करना, विवाह आदि हेतु वरण करना, निवेदन करना, याचना करना, छिपाना, विघ्न उत्पन्न करना, निरीक्षण करना, सेवा करना, समर्पण स्वीकार करना आदि। इस अर्थ में 'वृञ्' धातु से कर्म में 'अतच्' प्रत्यय करने पर 'व्रत' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है – चयन, चुनाव, स्वीकृति, प्रार्थना, निवेदन,

अवरोध, दमन, समर्पण आदि।

जैसा कि प्रस्तावना में ही कहा गया कि 'व्रज गतौ' अर्थ में घ प्रत्यय करने से भी 'व्रत' शब्द की सिद्धि होती है जिसका अर्थ है – अपने प्रिय के या परमात्मा के समीप जाना अपने स्वरूप को प्राप्त होना। इसलिए व्रत शब्द 'उपवास' अर्थ में रूढ हो गया है। जहां उप का अर्थ निकट एवं वास का अर्थ बैठना है। अब चूंकि आत्मा या परमात्मा से प्रिय कुछ भी नहीं है इसलिए उसके समीप स्थित होना ही उपवास या व्रत का सही अर्थों में स्वरूप है। व्रत शब्द का कोशगत अर्थ धार्मिक कृत्य, धार्मिक अनुष्ठान, नियम, संयम और प्रतिज्ञा है। अमरकोष में व्रत और नियम को पर्यायवाचक मानते हुए उपवास और पुण्यक आदि को व्रत का प्रकार कहा गया है –

नियमो व्रतमस्त्री तच्चोपवासादिपुण्यकम्।
(अमरकोष २/७/३७)

भगवान् विष्णु के लिए 'सुव्रत' इस संज्ञा का प्रयोग किया गया है, जिसके अभिप्राय को सप्ष्त करते हुए भाष्यकार कहते हैं –'शोभनं व्रतं जगद्व्यवस्थादिनियमो यस्य स सुव्रत:'। यहां पर व्रत शब्द व्यवस्था-नियम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

शास्त्रोदितो हि नियमो व्रतं तच्च तपो मतम्।
नियमास्तु विशेषास्तु व्रतस्यैव दमादय: ।।
व्रतं हि कर्तृसन्तापात्तप इत्यभिधीयते।
(अग्निपुराण १७५/२-३)

शास्त्रोक्त नियम को ही व्रत कहते हैं। दम = इन्द्रियनिग्रह, शम = मनोनिग्रह आदि विशेष नियम भी व्रत के ही अङ्ग हैं। चूंकि व्रत करने वाले मनुष्य को शारीरिक संताप सहना पड़ता है इसलिए इसे 'तप' भी कहते हैं।

शुद्ध, सरल और सात्त्विक आचरणों से युक्त होकर उनका मनोयोग तथा निष्ठापूर्वक पालन करना ही 'व्रत' है। आचरण की शुद्धता को कठिन परिस्थितियों में न छोड़ने का नाम ही व्रत है। अत: व्रती को प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रसन्न रहकर जीवन व्यतीत करने का अभ्यासी होना चाहिए।

निष्कर्षत: सत्कर्म व्रत है। अभीष्ट कर्म करने का संकल्प व्रत है। धर्माचरण व्रत है। पुण्य-प्राप्ति के लिए निर्दिष्ट तिथि में शास्त्रोक्त विधि-विधान से किया गया उपवास भी व्रत है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में व्रत इस तरह से अनुस्यूत है कि वह अनेक रूपों में प्रकट होता है।

2.2.2 व्रती भगवान्

व्रत तो उत्तम कोटि का आचरण है जिसकी पालना तो स्वयम् भगवान् भी करते हैं। स्वयम् प्रभु वाल्मीकि रामायण में कहते हैं –

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।।
(वा.रा. ६/१८/३३)

जो कोई सकृदेव = एक बार भी, 'मै तुम्हारा हूँ' – ऐसा याचना करते हुए मेरी शरण में आ जाता है, प्रपन्नाय = उसे मैं समस्त प्राणियों से भयमुक्त कर देता हूं, यही मेरा व्रत = दृढ़ संकल्प है। पूर्णकाम भगवान् का यह अनुपम व्रत है कि वह अपने शरणागत भक्तों का सर्वथा-सर्वदा परिपालन करते हैं और इस व्रत को उन्होंने स्वेच्छा से ही स्वीकार किया है।

2.2.3 व्रताचरण के निकष – प्रभु श्रीराम

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की मर्यादा का आधार ही उनका दृढव्रतत्व गुण है । गोस्वामी तुलसीदास जी भगवान् श्रीराम को सभी व्रत, धर्म और नियमों का बीज बताते हैं–

जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के॥

अर्थात् श्रीराम सभी व्रतों के बीज हैं। उनके प्रतिकूल जितने व्रत, धर्म और नियम हैं, वे सब निर्मूल हैं, निष्फल हैं। प्रभु न अपने चरित्र के माध्यम से समस्त व्रतों, धर्मों और नियमों के पालन का आदर्श स्थापित किया है। वस्तुस्थिति तो यही है कि जीवन और ह=जगत के जितने भी व्रत हैं वे सभी प्रभु श्रीराम से ही मर्यादित होते हैं, यही कारण है कि उनके चरित्र को ही व्रत का बीज कहा है। यूं ही 'रामो विग्रहवान् धर्मः' नहीं कहा गया है।

2.2.4 व्रत में आवश्यक कर्तव्य

उत्कृष्ट कोटि की तपस्या ही व्रत है। यह किस प्रकार करना चाहिए इसको तो पौराणिक-चरित्रों के माध्यम से ही सम्यक् रूप से जाना जा सकता है। शिव पुराण, पार्वती खण्ड में भगवान् शङ्कर को वर-रूप में प्राप्त करने की कामना से देवी पार्वती के द्वारा विहित व्रताचरण का वर्णन आया है, जो इस प्रकार है –

हित्वा मतान्यनेकानि वस्त्राणि विविधानि च।
वल्कलानि धृतान्याशु मौञ्जीं बद्ध्वा तु शोभनाम्॥

हित्वा हारं तथा चर्म मृगस्य परमं धृतम्।
जगाम तपसे तत्र गङ्गावतरणं प्रति॥

ग्रीष्मे च परितो वह्निं प्रज्वलन्तं दिवानिशम्।
कृत्वा तस्थौ च तन्मध्ये सततं जपतीमनुम्॥

सततं चैव वर्षासु स्थण्डिले सुस्थिरासना।
शिलापृष्ठे च संसिक्ता बभूव जलधारया॥

शीते जलान्तरे शश्वत्तस्थौ सा भक्तितत्परा।
अनाहारा तपत्तत्र नीहारेषु निशासु च॥

एवं तपः प्रकुर्वाणा पञ्चाक्षरजपे रता।
दध्यौ शिवं शिवा तत्र सर्वकामफलप्रदम्॥

अर्थात् माता-पिता की आज्ञा लेकर पार्वती ने सर्वप्रथम हित्वा मतान्यनेकानि = अनेकों मतों अर्थात् वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्य सम्प्रदायों द्वारा विहित पूजार्चन-विधि-विधान का

त्याग कर एक मात्र शिव में ध्यान लगाने के उद्देश्य से एकमनस्क होकर, हित्वा वस्त्राणि विविधानि च = राजसी वस्त्रों और अलंकारों का अर्थात् सभी प्रकार के राजसी वैभवों का परित्याग किया। आशु शोभनाम् मौञ्जीं बद्ध्वा = राजसी वस्त्राभूषणों के स्थान पर शीघ्र ही कटि में बड़ी ही सुन्दर मूंज की मेखला धारण कर, वल्कलानि धृतानि = वल्कल वस्त्र पहन लिया। हार को गले से निकालकर मृगचर्म धारण किया और तपसे जगाम = तपस्या करने के उद्देश्य से गंगावतरण नामक पावन क्षेत्र में गयीं और वहां सुन्दर वेदी बनाकर वे तपस्या में बैठ गयीं।

इसके बाद मन और इन्द्रियों का निग्रह कर पार्वती जी ग्रीष्मकाल में, दिवानिशम् = दिन-रात, अपने चारों ओर अग्नि जलाकर बीच में बैठ जातीं तथा ऊपर आकाश से प्रचंड सूर्य के ताप को सहन करती हुई तन को तपाती रहती थीं। वर्षाकाल में वे खुले आकाश के नीचे शिलाखण्ड पर बैठकर अहर्निश जलधार से शरीर को सींचती रहतीं एवं इसी प्रकार भयंकर शीत ऋतु में जल के मध्य रात-दिन बैठकर कठोर तपस्या करती रहती थीं। इस प्रकार निराहार रहकर पार्वती जी ने 'शिव पञ्चाक्षर मन्त्र' का निरंतर जप करते हुए सकल मनोरथ को पूर्ण करने वाले भगवान् सदाशिव के ध्यान में ही अपने तन-मन को लगाया।

व्रताचरण से मनुष्य को उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। व्रतों में तीन बातों की प्रधानता है – १. संयम-नियम का पालन, २. अभीष्ट देवता की आराधना तथा ३. लक्ष्य के प्रति जागरूकता एवं समर्पण का भाव।

क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहरणं सन्तोषोऽस्तेयमेव च॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्मृतः।

व्रत के दस आवश्यक कर्तव्य या नियम इस प्रकार हैं - क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच = आन्तरिक अर्थात् मन से एवं शरीर से शुचिता, इन्द्रियसंयम, देवपूजा, अग्निहरणम् = अग्निहोत्र, संतोष तथा अस्तेयम् = चोरी का अभाव।

चाहे व्रत किसी भी उद्देश्य से किया जाए अथवा बिना किसी विशेष कामना के, सभी व्रतों में इस सामान्य धर्म अर्थात् आवश्यक कर्तव्य, जो दस प्रकार का है, का पालन करना चाहिए।

2.2.5 व्रतोपवास में वर्ज्य कर्म

व्रत में क्या नहीं करना चाहिए, इस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि –

'उपवासव्रती दन्तधावनं हिंसनमनृतं द्यूतं चौर्यमसकृज्जलपानं सकृत्ताम्बूलभक्षणं

स्त्रीसंयोगं दिवास्वापं मांसं च वर्जयेत्'।

अर्थात् व्रत-उपवास करने वाले को व्रत के दिन दातुन नहीं करनी चाहिए। किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करनी चाहिए। व्रत में अनृतम् = असत्य-भाषण, जुआ खेलना त्याज्य है। व्रत के दिन बार-बार जल नहीं पीना चाहिए और पान तो एक बार भी नहीं खाना चाहिए। ब्रह्मचारी का पालन करना चाहिए, व्रत करते समय दिन में सोना नहीं चाहिए और मांस का सेवन भी नहीं करना चाहिए।

मन में शङ्का उठाना स्वाभाविक है कि क्या करने से भी व्रत का भंग नहीं होता है –

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥

जल, मूल, फल, दूध, हविष्य = घी, ब्राह्मण की इच्छा-पूर्ति, गुरु का वचन तथा औषधि – ये ८ व्रत-नाशक नहीं हैं।

2.2.6 व्रत का फल

यद्यपि नैमित्तिक एवं काम्य व्रत के फल उन-उन व्रतों के विधान में ही निर्दिष्ट होते हैं इसलिए उन विशिष्ट फलों को शास्त्रों में देखना चाहिए तथापि प्रत्येक व्रत के कुछ फल ऐसे हैं जो पारमार्थिक होते हैं जिनसे इस लोक एवं परलोक की सिद्धि मिलती है अत: पारमार्थिक होने के बावजूद यहां इस 'सामान्य' संज्ञा से अभिहित किया जा रहा है क्योंकि सभी व्रतों में ये फल सामान रूप से प्राप्त होते हैं। व्रत-मात्र के आचरण के पहल के विषय में यजुर्वेद (१९/३०) में आचार्य कहता है –

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

व्रत धारण करने से मनुष्य दीक्षित होता है। दीक्षा से व्रती दाक्षिण्य = दक्षता निपुणता अर्जित करता है। यह दक्षता श्रद्धा का भाव उत्पन्न करती है और यही श्रद्धा सत्य-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति कराती है।

आत्मज्ञान के महान लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक कक्षा व्रतपालन ही है। इसी से हम अपने जीवन को सार्थक बना सकते हैं। व्रताचरण से ही मानव महान् बनता है।

अथर्ववेद का ऋषि कहता है –

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीहि।
त्वं त्वा वयं जातवेद: समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥

हे व्रतों के स्वामी अग्निदेव! व्रत का अनुष्ठान करने से आप सम्यक रूप से प्रसन्न होते हैं। आप सदा प्रसन्न मन वाले होकर हमारे घर में प्रकाशित होने की कृपा करें। इस प्रकार के गुणों से सम्पन्न तथा सम्यक रूप से प्रकाशमान हे जातवेद! पुत्र-पौत्रादि से युक्त हम सभी आपकी उपासना में लगे रहें।

2.2.7 व्रत का माहात्म्य

व्रत के माहात्म्य का वर्णन सभी पुराण बडे ही विस्तारपूर्वक करते हैं। इस सम्बन्ध में स्कन्दपुराण कहता है –

ये सर्वदा व्रतपराश्च शिवं स्मरन्ति,
तेषां न दृष्टिपथमप्युपयान्ति दूता:।

याम्या महाभयकृतोऽपि च पाशहस्ता:,
दंष्ट्राकरालवदना विकटोग्रवेषा ॥

अर्थात् जो मनुष्य भगवान् शिव को स्मरण करते हुए सदैव व्रतपरायण रहते हैं, उनके सामने अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाले, हाथ में पाश धारण किए हुए, भयंकर दाढ़ों से युक्त विकट मुख वाले तथा उग्र वेश वाले याम्या = यमराज के, दूत नहीं आते हैं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण कहता है –

व्रतोपवासैर्यैर्विष्णुर्नान्यजन्मनि तोषितः।
ते नरा मुनिशार्दूल ग्रहरोगादिबाधिनः ।।

अर्थात् हे मुनियों में सिंह (श्रेष्ठ)! जिन्होंने पूर्व जन्म में व्रतोपवासों के द्वारा भगवान् विष्णु को प्रसन्न नहीं किया, वे मनुष्य ही इस जन्म में ग्रह, रोग, व्याधि कष्ट आदि से पीड़ित रहते हैं।

वस्तुत: व्रतों से अंत:करण की शुद्धि के साथ-साथ बाह्य वातावरण में भी पवित्रता आती है तथा संकल्प-शक्ति में दृढ़ता आती है। इससे मानसिक शान्ति और ईश्वर की भक्ति भी प्राप्त होती है। भौतिक-दृष्टि से स्वास्थ्य में भी लाभ होता है जिससे रोगों की आत्यन्तिक-निवृत्ति होती है। यद्यपि रोग - जो कि पाप का ही अवान्तर-रूप या परिणति हैं - का शमन व्रतों के आचरण से होता है तथापि अन्य जितने भी प्रकार के पाप, उपपाप एवं महापाप कहे गए हैं उनका सबका शमन व्रतों के आचरण से संभव है।

2.3 व्रतों के प्रकार

प्रवृत्ति आधार पर व्रतों को मुख्यतया ३ भेदों में विभक्त कर सकते हैं – १. कायिक, २. वाचिक एवं ३. मानसिक।

१. कायिक – शरीर (शारीरिक-क्रिया) के माध्यम से अनुष्ठेय व्रत। जैसे – हिंसा का त्याग करना, बुरे आचरणों से दूरी बनाना इत्यादि 'कायिक-व्रत' हैं।

२. वाचिक – वाणी के संयम के माध्यम से किया जाने वाला व्रत। जैसे – कटुवाणी, निन्दा, तिरस्कारपूर्ण उपहास, पिशुनता (चुगली करना) का त्याग करना एवं सत्य, सीमित, हितकारी मधुर भाषण करना ही 'वाचिक-व्रत' है।

३. मानसिक – काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या तथा राग-द्वेष आदि से रहित रहना ही 'मानसिक व्रत' है। भविष्यपुराण में प्राय: सभी प्रकार के व्रतों का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इसमें 'प्रतिपत् कल्प' से व्रतों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

आहार के आधार पर भी व्रत के मुख्यतः २ भेद – १. निराहार एवं २. साहार होते हैं।

१. निराहार – इसमें व्रती नियत कालावधि तक उपवास अर्थात् बिना कुछ ग्रहण किए हुए अभीष्ट देवता का जप-तप-अर्चन आदि करता है। कुछ व्रतों में तो मनुष्य, विशेषकर स्त्रियां जल तक का भी ग्रहण नहीं करती हैं, ये 'निर्जला' व्रत कहे जाते हैं।

२. साहार – एक बार संयमित आहार लेकर अभीष्ट की आराधना जिसमें की जाए वह साहार-व्रत' कहलाता है।

यह साहार व्रत भी 'एकभुक्त', 'अयाचित', 'मितभुक्', 'नक्तव्रत', 'चान्द्रायण' आदि भेद से अनेक प्रकार का है।

उद्देश्य की दृष्टि से व्रत के तीन भेद बताए गए हैं – १. नित्य, २. नैमित्तिक और ३. काम्य।

१. नित्य व्रत – नित्य वे व्रत हैं जो भक्तिपूर्वक प्रभु (ईश्वर) की प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं। एकादशी, प्रदोष, पूर्णिमा आदि व्रत इस कोटि में आते हैं।

२. नैमित्तिक व्रत – जो किसी विशेष कारण से अनुष्ठेय हों ऐसे व्रत नैमित्तिक कहे गए हैं। उदाहरण के लिए, पापक्षय के लिए 'चान्द्रायण-व्रत', प्राजापत्य-व्रत आदि।

३. काम्य व्रत – किसी विशेष कामना को हृदय में रखकर संकल्पपूर्वक जो व्रत किया जाए वह 'काम्य-व्रत' कहलाता है। यथा वरप्राप्ति के लिए गौरीव्रत, वटसावित्री व्रत, अनन्त-चतुर्दशी व्रत आदि।

किन्तु ये तीनों ही व्रत यदि निष्काम भाव से केवल भगवत्प्राप्ति-हेतु किए जाएं तो ये व्रत भी निष्काम व्रत हो जाते हैं –

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं व्रतं वेति विचार्यते।
निष्कामानां विधानात्तु तत्काम्यं तावदिष्यते॥

2.3.1 तिथि के आधार पर किए जाने वाले कुछ विशेष व्रत

भविष्यपुराण में प्रतिपत् कल्प में सर्वप्रथम तिथियों के प्रादुर्भाव का वर्णन है। जिस दिन सृष्टि का प्रारम्भ हुआ उस दिन प्रथम तिथि की 'प्रतिपदा' संज्ञा ब्रह्मा जी के द्वारा की गयी। अत: प्रतिपदा तिथि को ब्रह्मा जी का पूजन और व्रत किया जाता है।

क्र.सं.	कल्प	व्रत	देवता
१.	प्रतिपत्	सम्वत्सरप्रतिपदा व्रत	ब्रह्मा, सृष्टि का आरम्भ
२.	द्वितीया	पुष्पद्वितीया व्रत, अशून्यशयन व्रत	महर्षि च्यवन की कथा
३.	तृतीया	अक्षयतृतीया व्रत, गौरीव्रत, हरतालिका (तीज), ललितातृतीया व्रत, रम्भातृतीया व्रत	गौरी
४.	चतुर्थी	गणेशचतुर्थी व्रत	गणेश
५.	पञ्चमी	नागपञ्चमी व्रत, श्रीपञ्चमी, ऋषिपञ्चमी व्रत	नाग, देवी लक्ष्मी ऋषि
६.	षष्ठी	षष्ठी व्रत, कमलषष्ठी, मन्दार षष्ठी, ललिता षष्ठी	कार्तिकेय, षष्ठी देवी
७.	सप्तमी	अचला सप्तमी, रथसप्तमी, मुक्ताभरण सप्तमी, फलसप्तमी, सिद्धार्थसप्तमी, रहस्यसप्तमी, विजय सप्तमी, जयन्ती सप्तमी,	सूर्य

		जया सप्तमी, नन्दा सप्तमी, मार्तण्ड सप्तमी, कामदा सप्तमी, निक्षुभार्क सप्तमी	
८.	अष्टमी	श्रीकृष्णजन्माष्टमी, दूर्वाष्टमी, बुधाष्टमी	श्रीकृष्ण
९.	नवमी	श्रीवृक्षनवमी	वृक्ष
१०.	दशमी	दशावतारव्रत, आशा दशमी	दशावतार
११.	एकादशी	देवोत्थानी एकादशीव्रत, देवशयनी व्रत, एकादशीव्रत	श्री हरि
१२.	द्वादशी	वामनद्वादशी व्रत	वामन
१३.	त्रयोदशी	प्रदोष व्रत	शिव
१४.	चतुर्दशी	शिव चतुर्दशीव्रत, अनन्त चतुर्दशी	शिव
१५.	पूर्णिमा	पूर्णिमा व्रत	चन्द्रमा
१६.	अमावस्या	अमावस्या व्रत	पितर

2.3.2 पुराणों में वर्णित व्रत

पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड में विभिन्न तिथि, मास तथा नक्षत्रों में होने वाले रुद्रव्रत, नील व्रत, प्रीति व्रत, गौरी व्रत,शिव व्रत, सौम्य व्रत, आनन्द व्रत, अहिंसा व्रत, सूर्य व्रत,विष्णु व्रत, शील व्रत, देवी व्रत, वैनायक व्रत, भवानी व्रत, मोक्ष व्रत, सोम व्रत, आदि का वर्णन व्यास जी ने किया है।

उत्तरखण्ड में सम्पूर्ण वर्ष में पड़ने वाली २६ एकादशियों एवं उनकी माहात्म्य-कथाओं का वर्णन है। इसके अतिरिक्त चातुर्मास्यव्रत का भी वर्णन है।

स्कन्द पुराण में भी अनेकों व्रतों का विस्तार से वर्णन है। सर्वत्र लोकप्रिय श्री सत्यनारायण व्रत कथा का वर्णन इसी पुराण के रेवा खंड में है।

मत्स्यपुराण मों भी अनेकों व्रतों का वर्णन व्यास जी ने किया है। यथा – नक्षत्रशयनव्रत, आदित्यशयनव्रत, रोहिणीचन्द्र शयनव्रत, सौभाग्य शयनव्रत, अशून्य शयनव्रत, रसकल्याणिनीव्रत, अनन्ततृतीयाव्रत, अक्षयतृतीया व्रत, अङ्गारकव्रत, सारस्वतव्रत, विशोकसप्तमी, फलसप्तमी, मन्दारसप्तमी, विभूतिद्वादशीव्रत आदि। मत्स्यपुराण के अध्याय सं १०१ में देवव्रत, रुद्रव्रत, प्रीतिव्रत आदि ६० व्रतों का उल्लेख मिलता है।

दो-तीन महत्त्वपूर्ण व्रतों का एक सामान्य परिचय भी यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

श्रीरामनवमी व्रत

भगवान् श्रीराम का जन्म-जयन्ती उत्सव एवं व्रत मध्याह्नव्यापिनी चैत्र शुक्ल नवमी को मनाया जाता है। यह सकाम एवं निष्काम दोनों ही भावना से मनाया जा सकने वाला व्रत है।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी व्रत

भाद्रपद महीने के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को रोहिणी नक्षत्र में निशीथ (मध्यरात्रि) वेला में भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म-जयन्ती-पर्व एवं उत्सव मनाने की परम्परा है। यह व्रत भी सकाम एवं निष्काम दोनों ही भावों से गृहस्थो एवं वैष्णवों द्वारा मनाया जाता है।

शिवरात्रिव्रत

फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी की मध्यरात्री में भगवान् सदाशिव का प्राकट्य लिंग के रूप में होने के कारण इस दिन शिवरात्रि-व्रत का विधान है। इसमें भी उपवास किया जाता है।

इन ३ महाव्रतों के अतिरिक्त दो और महाव्रत संवत्सर-व्रत और दशावतार-व्रत हैं जो क्रमशः चैत्र शुक्ल प्रतिपदा एवं भाद्रपद शुक्ल दशमी के दिन मनाए जाते हैं।

एकादशी व्रत

पुराणों में एकादशी व्रत का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि एकादशी व्रत करने से जीवन के सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। इस व्रत को सहस्रों यज्ञों के समान फल-दायक माना गया है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, सन्यासी आदि सभी इसके अधिकारी हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण कहता है –

निष्कृतिर्धर्मशास्त्रोक्तो नैकादश्यान्नभोजिनः।

अर्थात् एकादशी व्रत का त्याग कर जो अन्न सेवन करता है उसकी निष्कृति = बिना फल भोगे निवारण, नहीं होता है।

एकादशी को यदि जननाशौच या मरणाशौच हो तब भी व्रत का परित्याग नहीं करना चाहिए। एकादशी को नैमित्तिक श्राद्ध भी उपस्थित हो तो उस दिन न करके द्वादशी को करना चाहिए –

एकादश्यां यदा राम श्राद्धं नैमित्तिकं भवेत्।
तद्दिनं तु परित्यज्य द्वादश्यां व्रतमाचरेत्॥

2.3.3 व्रत का अधिकारी

व्रत कौन कर सकता है इस विषय में भी पुराणों के स्पष्ट निर्देश प्राप्त होते हैं। स्कन्दपुराण व्रताधिकारी का लक्षण करते हुए कहता है –

निजवर्णाश्रमाचारनिरतः शुद्धमानसः।
अलुब्धः सत्यवादी च सर्वभूतहिते रतः॥
अवेदनिन्दको धीमान् अधिकारी व्रतादिषु।

अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुरूप जो आचरण में तन्मयता एवं सत्यनिष्ठा से लगा रहता है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जो लोभी न हो, सत्य बोलता हो, सभी प्रानियोन के हित में सदैव लगा रहता हो, जो वेद का निन्दक न हो और बुद्धिमान् = कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकपूर्ण हो वही व्रतोन का अधिकारी होता है।

2.4 पर्व का लक्षण

भ्वादिगण में पठित 'पर्व्' धातु पूरा करने, भरने, जोड़ने अर्थ में प्रयुक्त होती है, इसमें अच् प्रत्यय के योग से 'पर्व' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है – पूर्ण, भरा हुआ, जुड़ा हुआ तथा गाँठयुक्त। एकाकी स्त्री अथवा पुरुष अपूर्ण हैं किन्तु विवाह संस्कार के पश्चात् दोनों मिलकर पूर्ण हो जाते हैं इसलिए विवाह भी गृहस्थ-जीवन में एक पर्व है। इसी प्रकार रात और दिन का योग अर्थात् सूर्योदय और सूर्यास्त ये दो दैनिक पर्व कहे गए हैं। पूर्णिमा तिथि को सूर्य और चंद्रमा के आमने-सामने स्थित होने से चंद्रमा की कला पूर्ण हो जाती है अत: पूर्णिमा भी 'पर्व' नाम से व्यवहृत है। अमावस्या को सूर्य और चंद्रमा राशि-अंशादि में समान होकर एक हो जाते हैं अत: यह संयोग रूप अमावस्या भी एक 'पर्व' ही है। चंद्रमा में आधा प्रकाश एवं आधा अन्धकार का होना – अष्टमी तिथि – परस्पर ९० अंशात्मक अंतर पर शुक्लाष्टमी एवं २७० अंश के अंतर पर कृष्णाष्टमी – ये दो भी पर्व माने गए हैं। सूर्यग्रहण एवं चन्द्रग्रहण भी पर्व माने गए हैं। इसी प्रकार गर्भस्थ का गर्भ से बाहर आना – जन्म – भूसंक्रान्ति का एक पर्व है एवं इस लोक से परलोक में जाना – मृत्यु – ऊर्ध्व संक्रान्ति दूसरा पर्व है। सूर्य के चक्र में १२ गांठें (या पर्व) १२ राशियों के संयोग का संकेत देती हैं इसलिए इन राशियों में सूर्य के प्रवेश की 'संक्रान्ति' संज्ञा है जो 'पर्व' के रूप में परिगणित है। इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ के जीवन में २४ पर्व मान्य हैं, जो इस प्रकार हैं – सूर्य की १२ संक्रांतियां, चंद्रमा की ४ तिथियाँ, प्रात:, सायं, महापुरुषों का जन्म एवं मृत्यु (श्राद्धदिन), स्वजन्म, विवाह, सूर्य एवं चन्द्र-ग्रहण।

चुरादिगण में पठित 'पृ' धातु का अर्थ – पार ले जाना, किसी वस्तु के दूसरे छोर पर पहुँचना, अनुष्ठान करना, सम्पन्न करना, समर्थ होना, संकल्प को पूरा करना आदि है। इस अर्थ में 'पृ' धातु में वनिप् प्रत्यय के योग से 'पर्वन्' शब्द निष्पन्न होता है। इसक अर्थ है – व्यस्ति, नियति, हर्ष, उन्नति, पालन, तृप्ति, अनुष्ठान, आह्लाद, विकास आदि। इस अर्थ में मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त एक पर्व ही है। यह सुख एवं दु:ख के सूत्रों से निर्मित एक ग्रंथि है जिसको खोलकर जीवनमुक्त होना ही मनुष्य का चरम उद्देश्य है।

व्रत में उपवास का प्राधान्य रहता है तो पर्व में पूजा , पाठ आदि की प्रधानता रहती है। शारदीय-नवरात्र, वासन्तिक-नवरात्र आदि पर्व की श्रेणी में आते हैं। कुछ पर्वों का सम्बन्ध पितृ-कर्म से होने के कारण उन्हें 'पार्वण' कहते हैं।

2.5 पर्व के भेद

दिव्य-पर्व

जो पर्व तिथि, नक्षत्र, दिन, ग्रहयोग के कारण मनाए जाते हैं वो 'दिव्य' कहलाते हैं। संक्रान्ति, कुम्भ, वारुणी, ग्रहण आदि दिव्य पर्व हैं। कुम्भ पर्व सूर्य, चन्द्र एवं बृहस्पति के विशेष संयोग पर आता है। कुम्भ पर्व प्रत्येक १२ वर्षों में प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन एवं नासिक में पड़ता है। प्रत्येक तीसरे वर्ष एक चान्द्रमास के अधिक हो जाने से उसे 'अधिकमास', 'पुरुषोत्तम मास' अथवा 'मलमास' कहते हैं। यह पूरा महीना ही पर्व कहलाता है। इस सम्पूर्ण महीने में संयम एवं उपासना का महत्त्व सामान्य से अधिक है। इस महीने में काशी की पञ्चकोसी-परिक्रमा विशेष रूप से होती है।

देव-पर्व

कुछ तिथियों पर देव-पर्व मनाया जाता है, जैसे गणेश जी का पर्व गणेश-चतुर्थी, भगवान् विष्णु का पर्व एकादशी इसी प्रकार भूतभावन भगवान् शंकर का पर्व प्रदोष है। इस प्रकार देवताओं के विभिन्न पर्व हैं, उन पर्वों का आचार, विधान, संयम तथा पूजा आदि उस देवता के अनुरूप होते हैं, जिसका वह पर्व है।

पितृ-पर्व

आश्विन महीने का कृष्णपक्ष पितृ-पर्व कहलाता है। इस पक्ष में श्राद्ध-कर्म अर्थात् पितरों के लिए मध्याह्न काल में पिंड-दान किया जाता है।

जयन्ती-पर्व

भगवान् के अवतारों या उन महापुरुषों की जिनका स्मरण भगवान् की स्मृति को जागृत करता है की जन्म-तिथि को जयन्ती मनाई जाती है। रामनवमी, जन्माष्टमी, नृसिंहचतुर्दशी, वामनद्वादशी, परशुराम जयन्ती, हनुमज्ज्यन्ती आदि।

प्राणि-पर्व

भारतीय संस्कृति में नाग एवं गौ को भी देवता की श्रेणी में रखकर उनकी पूजा विशेष तिथि पर की जाती है। नागपंचमी नागदेवता की पूजा का मुख्य पर्व है। शास्त्र के अनुसार प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ को गोसेवा एवं गोपूजा करनी चाहिए। भोजन से पूर्व गोग्रास देना तो हमारा नित्यकर्म है। गोमाता की पूजा का मुख्य पर्व गोपाष्टमी है।

वनस्पति-पर्व

जिस प्रकार प्राणियों के अधिष्ठातृ देवता होते हैं, वैसे ही वनस्पतियों के भी देवता होते हैं। कुछ दिव्य-वनस्पतियाँ हैं जिनके प्रत्यक्ष पूजन का विधान शास्त्रों में वर्णित है, जैसे – अश्वत्थ (पीपल), तुलसी, वटवृक्ष, नीम, कदली (केला), बिल्व (बेल), आंवला आदि के पूजन का विधान है। इन वृक्षों के पूजन के निर्धारित दिन हैं जो पर्व के रूप में मनाई जाती हैं। जैसे पीपल की पूजा विशेषरूप से शनिवार को करने का विधान है। यद्यपि तुलसी की पूजा प्रतिदिन करनी चाहिए किन्तु कार्तिक मास में तथा देवोत्थानी एकादशी, वैकुण्ठचतुर्दशी को तुलसी-पूजन का विशेष पर्व माना गया है। अमावस्या को वटवृक्ष के पूजन का विधान है। केले के वृक्ष का पूजन गुरुवार को तथा बिल्व वृक्ष का पूजन सोमवार को किया जाता है। शीतलाष्टमी पर शीतला माता के साथ नीम के वृक्ष की भी पूजा होती है। इसी प्रकार कार्तिक महीने में अक्षयनवमी पर आंवले के वृक्ष की पूजा की जाती है।

मानव-पर्व

मानव-पर्व ३ प्रकार के होते हैं। कुछ सामाजिक रूप से मनाए जाने वाले पर्व हैं – जैसे विश्वकर्मा पूजन, नवान्नेष्टि-यज्ञ-पर्व, वसन्तपञ्चमी पर्व, सरस्वती-पूजन आदि। कुछ पर्व व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे – जन्मोत्सव, विवाह, नवीन गृह-प्रवेश आदि। तीसरे प्रकार के पर्व वो हैं जो किसी विशेष उद्देश्य से किये गए पूजन तथा समारोह हैं, जैसे – भागवत-सप्ताह, यज्ञसत्र, पुराणसत्र, कथा-कीर्तन, पूजन-सत्संग – इन पर्वों के मुख्य अंग हैं।

2.6 उत्सव का स्वरूप

'सू' धातु अदादि, तुदादि एवं भ्वादिगण में पठित है जिसका अर्थ है – उत्पन्न करना, जन्म देना, उत्तेजित करना, प्रेरित करना, ऋण आदि का परिशोधन करना। इस अर्थ में उत् उपसर्ग एवं अप् प्रत्यय लगाने पर 'उत्सव' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है – आमोद, हर्ष, आनन्द, सम्प्राप्ति, प्रकाश, त्योहार आदि। जितने भी पर्व हैं वे सभी उत्सव हैं। सूर्य की १२ संक्रांतियां, १२ अमावास्याएं, १२ पूर्णिमाएं, १२ शुक्लाष्टमियां, १२ कृष्णाष्टमियां- ये सभी २० सार्वजनिक उत्सव माने गए हैं।

तब ऐसे में प्रश्न यह है कि विजयादशमी को उत्सव क्यों माना जाए? इसके लिए ऋग्वेद स्वयं उत्तर देता है -

तमप्सन्त शवस उत्सवेषु नरो नरमवसे तं धनाय।
(ऋक् १/१००/८)

नरम् = मनुष्य (को) की, अवसे = रक्षा के लिए, धनाय = धन के लिए (समाज को कष्ट देने वाले दुष्ट के द्वारा जो धन समाज के हित में न लगाया जाए अथवा समाज के जिस धन का अपहरण कर लिया गया हो उसके लिए) शवस उत्सवेषु = बल के उत्सव में अर्थात् बल के द्वारा परास्त कर दिए जाने के प्रसंग में, मनुष्य मनुष्य को, अप्सन्त = प्राप्त होते हैं।

अब चूंकि विजयादशमी के दिन समाजघ्नी रावण का वध हुआ था इसलिए यह भी बल का उत्सव है।

नित्योत्सवो भवेत्तेषां नित्यं नित्यं च मङ्गलम्।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनं हरिः॥
(पाण्डवगीता ४९)

क्र	मास	पक्ष एवं तिथि	उत्सव
१	चैत्र	कृष्णप्रतिपदा ,	दोलोत्सव
२	चैत्र	शुक्लनवमी ,	श्री राम जन्मोत्सव
३	वैशाख	शुक्ल ,तृतीया	अक्षयतृतीया परशुराम जयन्ती ,
४.	वैशाख	शुक्लचतुर्दशी ,	नृसिंह जयन्ती उत्सव
५.	जयेष्ठ	शुक्ल, दशमी	गङ्गा दशहरा उत्सव
६.	आषाढ	शुक्ल, द्वितीया	रथयात्रा महोत्सव
७.	आषाढ	शुक्ल, पूर्णिमा	गुरु पूर्णिमा महोत्सव
८.	श्रावण	शुक्ल, पञ्चमी	नाग पञ्चमी
९.	श्रावण	शुक्ल, पूर्णिमा	श्रावणी उपाकर्म एवं रक्षाबन्धन
१०.	भाद्रपद	कृष्ण, अष्टमी	श्रीकृष्ण जन्माष्टमी महोत्सव
११.	आश्विन्	शुक्ल, दशमी	विजयादशमी
१२.	आश्विन्	शुक्ल, पूर्णिमा	शरत्पूर्णिमा

१३.	कार्तिक	कृष्ण, अमावस्या	दीपावली
१४.	कार्तिक	शुक्ल	अन्नकूट महोत्सव
१५.	कार्तिक	शुक्ल, पूर्णिमा	तुलसी विवाह उत्सव
१६.	मार्गशीर्ष	शुक्ल, पञ्चमी	श्रीराम-जानकीविवाह-महोत्सव
१७.	मार्गशीर्ष	शुक्ल, एकादशी	गीता-जयन्ती-महोत्सव
१८.	माघ	मकर सङ्क्रान्ति	खिचडी पर्व, पोङ्गल, मकर सङ्क्रान्ति
१९.	माघ	शुक्ल, पञ्चमी	वसन्त पञ्चमी
२०.	फाल्गुन	कृष्ण, चतुर्दशी	महाशिवरात्रि

उत्सव में नृत्य-गीत-वाद्य आदि की प्रमुखता होती है। होली, दीपावली आदि उत्सव के रूप में माने जाने की परम्परा है। पर्व और उत्सव दोनों आपस में इस प्रकार से मले-जुले हैं कि दोनों का साथ-साथ व्यवहार होता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचारें तो व्रत, पर्व और उत्सव में कुछ मूलभूत अन्तर दिखाई पड़ता है। व्रत सत्वगुण-प्रधान होता है, जिसमें रजोगुण और तमोगुण न्यून मात्रा में विद्यमान रहते हैं। पर्व रजोगुण-प्रधान होता है इसमें सत्वगुण एवं तमोगुण न्यून मात्रा में मिले होते हैं। जबकि उत्सव तमोगुण-प्रधान होता है और सत्वगुण एवं रजोगुण इसमें न्यून मात्रा में मिश्रित रहते हैं।

2.7 तीर्थ का लक्षण

तीर्थ का लक्षण करते हुए शास्त्र कहते हैं कि 'तरति पापादिकं यस्मात् तत् तीर्थम्' अर्थात् वह स्थान-विशेष जहां जाने से पापों का क्षय हो जाता है, उसे 'तीर्थ' कहते हैं। इस प्रकार धर्म और मोक्ष की प्राप्ति में तीर्थ बड़े सहायक हैं। तो प्रश्न यह है कि किन स्थान-विशेषों का तीर्थ कहा जाए तो इसके समाधान में मार्कण्डेय पुराण में अगस्त्य ऋषि कहते हैं–

यथा शरीरस्योद्देशा: केचिन्मेध्यतमा: स्मृता:।
तथा पृथिव्यामुद्देशा: केचित् पुण्यतमा: स्मृता:।।

अर्थात् जिस प्रकार शरीर के अंग-विशेष मेध्यतम = सर्वाधिक पवित्र, माने गए हैं उसी प्रकार पृथिवी के भी स्थान-विशेष अधिक पवित्र माने गए हैं, जो तीर्थ नाम से जाने जाते हैं।

2.7.1 तीर्थ के प्रकार

शास्त्रों में ३ प्रकार के तीर्थों का वर्णन है – १. मानस तीर्थ, २. जंगम तीर्थ और ३. स्थावर तीर्थ।

१. मानसतीर्थ

मार्कण्डेय-पुराण कहता है –

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रह:।
सर्वभूतदयातीर्थं सर्वत्रार्जवमेव च।।
दानं तीर्थं ....मानसं तीर्थलक्षणम्।।

अर्थात् मनुष्य के श्रेष्ठ गुण ही मानस तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, दया, इन्द्रिय-निग्रह, ऋजुता = सरलता, दान, मनोनिग्रह, संतोष, ब्रह्मचर्य, विवेक, धृति, तपस्या आदि श्रेष्ठ गुण ही मानस तीर्थ हैं।

२. जङ्गम तीर्थ

संतों को संसार का जंगम तीर्थ अर्थात् चलता-फिरता तीर्थ कहा जाता है। ये जंगम तीर्थ न केवल अपना मन तो पवित्र रखते हैं अपितु सांसारिक लोगों के मलिन-मन की पवित्रता के लिए उपक्रम करते रहते हैं।

३. स्थावर तीर्थ

भूमि पर स्थित स्थल-विशेष की ही 'स्थावर तीर्थ' या 'भौम तीर्थ' संज्ञा है।

यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः।
तथा पृथिव्यामुद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः ।।

अर्थात् जिस प्रकार शरीर के अंग-विशेष मेध्यतम = सर्वाधिक पवित्र, माने गए हैं उसी प्रकार पृथिवी के भी स्थान-विशेष अधिक पवित्र माने गए हैं, जो तीर्थ नाम से जाने जाते हैं। इनकी पवित्रता और पुण्यतमत्व को निरूपित करते हुए आचार्य कहते हैं -

भौमानामपि तीर्थानां पुण्यत्वे कारणं शृणु।
प्रभावादद्भुताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा ।।
परिग्रहान् मुनीनाञ्च तीर्थानां पुण्यता स्मृता।

अर्थात् भूमि के अद्भुत प्रभाव, जल के पुण्यतमत्व एवं मुनियों के परिग्रहत्व = त्याग करने के कारण भौम-तीर्थों की पुण्यता कही गयी है।

2.7.2 तीर्थ-माहात्म्य

तीर्थों में जाने एवं वहां दान आदि करने का अत्यधिक माहात्म्य शास्त्रों में वर्णित है जिसे उन-उन ग्रथों एवं पुराणों में देखना चाहिए किन्तु यहां तीर्थ-माहात्म्य के संकेत के लिए संक्षेप में उनका निरूपण किया जा रहा है।

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्टाविपुलदक्षिणैः।
न तत् फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ।।
तीर्थान्यनुस्मरन् धीरः श्रद्दधानः समाहितः।
कृतपापो विशुद्ध्येत किं पुनः शुद्धकर्मकृत् ।।
तिर्यग्योनिं न वै गच्छेत् कुदेशे न च जायते।

अर्थात् अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैः = अग्निष्टोम आदि यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा, इष्टाविपुलदक्षिणैः = इष्टापूर्त कर्मों (वापी-कूप आदि के खनन, बाग़-बगीचा आदि के निर्माण) के द्वारा एवं अत्यधिक दक्षिणा देने के द्वारा भी जिस फल की प्राप्ति नहीं होती है उसकी प्राप्ति तीर्थों में जाने से हो जाती है। तीर्थों के बारम्बार अनुस्मरण मात्र से ही धैर्यशाली, श्रद्दधानः = श्रद्धावान् एवं समाहितः = मन को स्थिर रखने वाला मनुष्य, कृतपापो = जिसने कोई पाप किया हो, वह भी

शुद्ध हो जाता है तो जिसने कोई पाप न किया हो उसकी तो बात ही क्या अर्थात् निश्चय ही ऐसा मनुष्य उत्तम फल प्राप्त करने वाला होता है। तीर्थ में जाने वाला मनुष्य मृत्यु के पश्चात् अगले जन्म में, तिर्यग्योनिं न वै गच्छेत् = निश्चित ही न तो पक्षी-योनि में जाता है और न ही किसी कुदेशे = म्लेच्छ देश में जन्म लेता है।

युगभेद से तीर्थ-विशेष का माहात्म्य

कृते तु पुष्करं तीर्थं त्रेतायां नैमिषन्तथा।
द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गां समाश्रयेत्॥

कृतयुग में पुष्कर तीर्थ, त्रेता युग में नैमिषारण्य तीर्थ, द्वापर युग में नैमिषारण्य तीर्थ, द्वापर युग में कुरुक्षेत्र तीर्थ एवं कलियुग में गङ्गा-क्षेत्र-तीर्थ सर्वाधिक पुण्यतम एवं माहात्म्य-पूर्ण माने गये हैं अत: इन युगों में क्रमश: इन तीर्थों में जाना और प्रवास करना चाहिए।

2.7.3 तीर्थ में कर्तव्य

यह प्रश्न प्राय: किया जाता है कि तीर्थ-क्षेत्र में पहुंचकर क्या-क्या करना चाहिए जिससे अधिकाधिक पुण्य का अर्जन किया जा सके। इस विषय में मार्कंडेय-पुराण कहता है -

तीर्थोपवास: कर्त्तव्य: शिरसो मुण्डनं तथा।
शिरोगतानि पापानि यान्ति मुण्डनतो यत:॥

तीर्थं प्राप्य प्रसङ्गेन स्नानं तीर्थे समाचरेत्।
स्नानजं फलमाप्नोति तीर्थयात्राश्रितं न तु॥

अर्थात् तीर्थ में जाकर उपवास करना चाहिए, वहां जाकर क्षौर-कर्म = मुंडन कराना चाहिए। मुंडन कराने से शिर = बुद्धि से किए गए पाप नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद तीर्थ में स्नान करना चाहिए क्योंकि स्नान से अर्जित किए जाने वाला पुण्य केवल तीर्थ में वास करने मात्र से नहीं मिलता है अर्थात् तीर्थ में स्नान अवश्य करना चाहिए।

2.7.4 तीर्थ-स्नान का फल

तीर्थ में स्नान करने का अत्यधिक फल कहा गया है। अगस्त्य ऋषि कहते हैं -

निखानादुधृतं पुण्यं तत: प्रस्रवणादिकम्।
ततोऽपि सारसं पुण्यं ततो नादेयमुच्यते॥
तीर्थतोयं तत: पुण्यं गङ्गातोयं ततोऽधिकम्।
तस्माद्धौमेषु तीर्थेषु मानसेषु च नित्यशः॥
उभयेष्वपि य: स्नात: स याति परमां गतिम्।

निखानात् = कूप आदि जिसका खनन किया जाता है में स्नान करने से जितना पुण्य मिलता है उससे अधिक प्रस्रवण = झरने में स्नान का पुण्य होता है, उससे अधिक पुण्य सारसं = सरोवर के जल में स्नान का मिलता है सरोवर से अधिक फलप्रद नदी का स्नान है एवं नदी से भी अधिक तीर्थ-स्थल में स्नान का पुण्य मिलता है और तीर्थ में स्नान से भी अधिक कलियुग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीर्थ-क्षेत्र गंगा में स्नान का फल मिलता है।

इसलिए भौम-तीर्थ और मानस-तीर्थ इन दोनों में जो नित्य स्नान करता है वह परम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

2.8 सारांश

व्रत का अर्थ चयन, चुनाव, स्वीकृति, प्रार्थना, निवेदन, अवरोध, दमन, समर्पण आदि है। इसका एक अर्थ – अपने प्रिय के या परमात्मा के समीप जाना अपने स्वरूप को प्राप्त होना भी है। इसलिए व्रत शब्द 'उपवास' अर्थ में रूढ हो गया है। व्रताचरण से मनुष्य को उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। व्रतों में तीन बातों की प्रधानता है – १. संयम-नियम का पालन, २. अभीष्ट देवता की आराधना तथा ३. लक्ष्य के प्रति जागरूकता एवं समर्पण का भाव। व्रत के दस आवश्यक कर्तव्य या नियम क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रियसंयम, देवपूजा, अग्निहोत्र, संतोष तथा अस्तेयम् = चोरी का अभाव हैं। व्रत धारण करने से मनुष्य दीक्षित होता है। दीक्षा से श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है और यही श्रद्धा सत्य-स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। प्रवृत्ति आधार पर व्रतों को मुख्यतया ३ भेदों में विभक्त कर सकते हैं – १. कायिक, २. वाचिक एवं ३. मानसिक। आहार के आधार पर भी व्रत के मुख्यतः २ भेद – १. निराहार एवं २. साहार होते हैं। उद्देश्य की दृष्टि से व्रत के तीन भेद – १. नित्य, २. नैमित्तिक और ३. काम्य हैं। पर्व का अर्थ है – पूर्ण, भरा हुआ, जुड़ा हुआ तथा गाँठयुक्त। उत्सव का अर्थ है – आमोद, हर्ष, आनन्द, सम्प्राप्ति, प्रकाश, त्योहार आदि। वह स्थान-विशेष जहां जाने से पापों का क्षय हो जाता है, उसे 'तीर्थ' कहते हैं। शास्त्रों में ३ प्रकार के तीर्थों का वर्णन है – १. मानस तीर्थ, २. जंगम तीर्थ और ३. स्थावर तीर्थ। तीर्थ में जाकर उपवास, क्षौर-कर्म तथा स्नान करना चाहिए।

2.9 पारिभाषिक शब्दावली

शवस उत्सवेषु = बल के उत्सव में

अप्सन्त = प्राप्त होते हैं

मध्यतम = सर्वाधिक पवित्र

इष्टाविपुलदक्षिणैः = इष्टापूर्त कर्मों (वापी-कूप आदि के खनन, बाग़-बगीचा आदि के निर्माण) के द्वारा एवं अत्यधिक दक्षिणा देने के द्वारा

श्रद्दधानः = श्रद्धावान्

समाहितः = मन को स्थिर रखने वाला मनुष्य

निखानात् = कूप आदि का खनन करने से

प्रस्रवण = झरना

सारसं = सरोवर का (जल)

2.10 सन्दर्भग्रन्थ

1. कृत्यकल्पतरु, लक्ष्मीधर भट्ट, गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज़, बड़ौदा ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, १९५० ई
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी वी काणे, उ.प्र. हिन्दी अकादमी, लखनऊ
3. व्रत-पर्व-मीमांसा, प्रियव्रत शर्मा, पंचकुला, हरियाणा, २००१ ई

4. कर्मठगुरु, मुकुन्द वल्लभ मिश्र, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९९८ ई

2.11 बोधप्रश्न

१. व्रत के अर्थ को निरूपित करते हुए उसके प्रकार को व्याख्यायित कीजिए।

२. व्रत के आवश्यक कर्त्तव्य एवं वर्ज्यावर्ज्य का निरूपण कीजिए।

३. पर्व के अर्थ एवं उसके भेद का निरूपण कीजिए।

४. प्रसिद्ध उत्सवों का उल्लेख कीजिए।

५. तीर्थों के भेद एवं उनके माहात्म्य का वर्णन कीजिए।

खण्ड 7
मठ एवं मन्दिर परम्परा

सप्तम खण्ड का परिचय

सातवॉ खण्ड मठ एवं मन्दिर परम्परा के वर्णन का है। इसमें पॉच इकाइयॉ हैं। प्रारम्भ में शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में भारत में मन्दिर की परम्परा, कुम्भ मेला आदि का चित्रण दूसरी और तीसरी इकाई में किया गया है। इस खण्ड की चतुर्थ इकाई में शक्तिपीठ, ज्योतिर्लिंग एवं धाम का वर्णन है। अन्त में पवित्र संकुल की नवीन अवधारणा से आपको परिचित कराते हुए पाठ्यक्रम का विराम हुआ है। इस प्रकार उक्त अध्ययन से आप हिन्दू जीवन के आचार एवं व्यवहार का शास्त्रीय और व्यवहारिक उल्लेख करने में सक्षम हो जाऐंगे। प्रथम इकाई में आप शंकराचार्य द्वारा संस्कृति की रक्षा के लिए भारत में किये गये शिक्षा मठों जो धार्मिक भी है, उनकी स्थापना के कारण और विशेषताओं का अध्ययन करेंगें। भारत की मन्दिर परम्परा के विविध पक्षों का वर्णन दूसरी इकाई में प्रस्तुत किया गया है। जिसके अध्ययन से आप मन्दिर निर्माण के सामाजिक वैशिष्टय को जानेंगें। तीसरी इकाई में नासिक, हरिद्वार और प्रयाग में लगने वाले कुम्भ के बारे में तथ्यात्मक जानकारी के साथ-साथ सांस्कृतिक बोध भी प्राप्त करेंगें। चतुर्थ इकाई बावन शक्तिपीठों, बारह ज्योतिर्लिंगों एवं सभी धामों का वर्णन प्रस्तुत करती है। इस इकाई में शास्त्रीय मत से सभी वर्णन उपस्थिति हैं। पवित्र संकुल की नवीन अवधारणा तीर्थों के अध्ययन से है। इसके लिए पॉचवी इकाई में अध्ययन हेतु विषयों का प्रस्तुतिकरण हुआ है। इस प्रकार प्रस्तुत खण्ड की पॉचों इकाइयों का अध्ययन कर लेने के बाद आप भारतीय संस्कृति में मठ एवं मन्दिर परम्परा की परिधि में आने वाले ज्ञान-विज्ञान का वर्णन करने में सक्षम हो सकेंगें।

इकाई 1 मठाम्नाय

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- मठों का वर्णन कर सकेंगे।
- गोवर्धन आदि मठों की आचार्य-परम्परा को बता सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्रिय अध्येता! पञ्चम पाठ्यक्रम के सप्तम खण्ड की दूसरी इकाई में आपका हार्दिक स्वागत है। इस इकाई में आप मठ एवं मन्दिर परम्परा के विषय में विस्तार से अध्ययन करेंगे। जैसा कि आप जानते हैं हिन्दू संस्कृति को अक्षुण्ण एवं संगठित रखने में मठों और मन्दिरों का अतुलनीय योगदान है। मठों की स्थापना आदिशंकर भगवत्पाद ने सनातन-धर्म के प्रचार-प्रसार एवं रक्षार्थ की। इसलिए ये मठ अपने उद्देश्य में तत्परता से सन्नद्ध रहते हुए हिन्दू संस्कृति के संरक्षण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते रहे हैं।

आइए, इस अध्याय में हिन्दू संस्कृति के मुख्य आधारों में से प्रमुख मठों की परम्परा का संक्षेप रूप से सिंहावलोकन करें।

1.2 चार प्रमुख मठ

प्रिय अध्येता! शंकराचार्य ने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक तथा अटक से लेकर कटक तक सम्पूर्ण भारत में हिन्दूधर्म-प्रचार की मंदाकिनी को प्रवाहित किया जिसमें तत्कालीन पतित पथ-भ्रष्ट, नास्तिक एवं धार्मिक रूप से निष्प्राण समाज अवगाहन करके पुन: सनातन-धर्म से अनुप्राणित एवं पवित्र होकर एक सूत्र में बंध गया। भारत की धार्मिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आदि शंकराचार्य ने भारत के चार तीर्थस्थानों पर चार मठों की स्थापना की। इनमें 'ज्योतिर्मठ' या 'जोशी मठ' बदरिकाश्रम के पास उत्तर में स्थित है। 'शारदा मठ' गुजरात प्रदेश के द्वारिकाधीश में स्थित है। कर्णाटक में 'शृङ्गेरी मठ' और भारत के पूर्वी भाग में जगन्नाथ पुरी में 'गोवर्धन मठ' स्थित है। 'ज्योतिर्मठ' का अधिकार-क्षेत्र भारत के उत्तरी तथा मध्य देश कुरु, कश्मीर, कम्बोज, पांचाल आदि में है। 'शारदा मठ' का अधिकार-क्षेत्र सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र तथा महाराष्ट्र आदि में स्थापित किया गया। 'श्रृंगेरी मठ' का अधिकार क्षेत्र भारत के दक्षिणी भाग में स्थित आंध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल प्रांत में माना गया और 'गोवर्धन मठ' के अधिकार में भारत के पूर्वी प्रांत यथा उ. प्र., बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि निर्धारित किए गए। इन मठों और इनके अध्यक्ष मठाधीशों का प्रधान कार्य अपने क्षेत्र के सनातन धर्मावलम्बियों में धर्म की प्रतिष्ठा को दृढ़ रखना और तदनुकूल उपदेश करना है। ये अध्यक्ष आचार्य शंकर के प्रतिनिधि-रूप हैं और इसलिए 'शंकराचार्य' की पदवी से विभूषित होते हैं। मठों के नियमन आदि के विषय में स्वयं आदिशंकर ने विस्तारपूर्वक अपने ग्रन्थ 'मठाम्नाय महानुशासन' में वर्णन किया है।

1.3 मठों के आदि आचार्य

मठों की स्थापना के अनन्तर आदि शंकर ने अपने चार शिष्यों को इनके अध्यक्ष के रूप में नियुक्त किया। यद्यपि शिष्यों के नाम में मतभेद नहीं है तथापि मठ-विशेष के अध्यक्ष के रूप में विभूषित इन शिष्यों की नियुक्ति में मतभेद है। किसी के मत में गोवर्धन मठ का अध्यक्ष 'पद्मपाद' को, श्रृंगेरी का 'पृथिवीधर' (हस्तामलक) को, शारदा मठ का 'सुरेश्वराचार्य' (विश्वरूप) को नियुक्त किया गया किन्तु दूसरे मतानुसार, गोवर्धन में 'हस्तामलक' शारदा मठ में 'पद्मपाद' और श्रृंगेरी 'सुरेश्वराचार्य' को नियुक्त किए जाने का उल्लेख है। ये नियुक्तियां इन चारों दिशाओं में प्रचलित वेद एवं उनकी शाखा के आधार पर की गईं। स्वयं आचार्य ने इस विषय में सभी मठों के पीठ आदि का निर्धारण किया। इस विषय में दिग्दर्शन हेतु गोवर्धन-मठ के विषय आचार्य द्वारा निर्धारित आम्नाय आदि इस प्रकार हैं –

गोवर्धनमठे रम्ये, विमलापीठसंज्ञके।
पूर्वाम्नाये भोगवारे श्रीमत्काश्यपगोत्रज:।।
माधवस्य सुत: श्रीमान् सनन्दन इति श्रुत:।
प्रकाश ब्रह्मचारी च, ऋग्वेदो सर्वशास्त्रवित्।।
श्रीपद्मपाद: प्रथमाचार्यत्वेनाभ्यषिच्यत।

अर्थात् आचार्य पद्मपाद काश्यप-गोत्रीय ऋग्वेदीय ब्राहमण थे अत: आदिशङ्कर ने उनकी प्रतिष्ठा पूर्व दिशा के गोवर्धन मठ में विमलापीठ पर उनकी प्रतिष्ठा की। इसी प्रकार सुरेश्वर शुक्लयजुर्वेद के अन्तर्गत काण्वशाखाध्यायी ब्राह्मण थे, जिनको आदिशङ्कर ने तैत्तिरीयोपनिषद् एवं बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य लिखने का आदेश दिया था। इसलिए

दक्षिण दिश के शृङ्गेरी मठ के अध्यक्ष के रूप में सुरेश्वराचार्य की नियुक्ति में सन्देह नहीं होना चाहिए।

क्रम	आचार्य	वेद	दिशा	मठ
१	पद्मपाद	ऋग्वेद	पूर्व	गोवर्धन
२	सुरेश्वर	यजुर्वेद	दक्षिण	श्रृंगेरी
३	हस्तामलक	सामवेद	पश्चिम	शारदा
४	तोटक	अथर्ववेद	उत्तर	ज्योतिर्

1.3.1 श्रृंगेरी मठ एवं उसके आचार्य

आचार्य शंकर के द्वारा स्थापित यह सबसे पहला मठ है। किंवदंती हैं कि राजा दशरथ के पुत्रेष्टि याग को सम्पन्नं कराने वाले ऋषि श्रृंगी इसी स्थान के निवासी थे जिनके नाम पर यह पर्वतीय स्थल 'श्रृंगगिरी' नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसका अपभ्रंश 'श्रृंगेरी' है। पर्वत के ऊपर मल्लिकार्जुन शिव का मंदिर है। तुंग नदी के बाएँ तट पर स्थित इस मठ में आचार्य शंकर की उपास्या भगवती 'शारदाम्बा' की सुवर्णमयी मूर्ति यहां पर प्रतिष्ठित है।

इस मठ का विशेष ख्याति विजयनगर साम्राज्य का समय से अधिक होना प्रारम्भ हुई। वेद के भाष्यकार आचार्य सायण के बड़े भाई माधवाचार्य ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना में हरिहरराय व उनके भाइयों की पर्याप्त सहायता की और वे ही इस साम्राज्य के प्रभाव से 'विद्यारण्य स्वामी' के नाम से इस मठ के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हुए। विजयनगर साम्राज्य ने ही विद्यारण्य जी की प्रेरणा से इस मठ को १३४६ ई में एक विस्तृत जागीर भी दी। विजयनगर साम्राज्य के पराभव के साथ ही मठ का संरक्षण भी क्षीण पड़ता गया जिसे कालान्तर में १६२१ ई में कालडी के नरेश वेंकटप्पा ने पुन: प्रतिष्ठित किया।

आरम्भ से ही यह मठ संस्कृत की अनेकों पाठशालाओं, जिनमें संस्कृत व्याकरण तथा वेदान्त की शिक्षा दी जाती हैं, का संचालन एवं सनातन धर्म का प्रचार करता रहा है।

इस मठ की आचार्य-परम्परा अब तक प्राय: ५० शंकराचार्य हो चुके हैं। वर्तमान समय में इस मठ के शंकराचार्य चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती हैं। इस परम्परा के आरम्भ के कुछ आचार्य इस प्रकार हैं –

क्र	नाम	सन्यास-ग्रहण-काल	सिद्धि (-समाधि) काल	अवधि
१	श्री शंकराचार्य	२२ विक्रम संवत्	४५ विक्रम सं	२४ जन्म से लेकर कुल आयु ३२ वर्ष
२	सुरेश्वराचार्य	३० वि संवत्	६९५ वि सं	जन्म से लेकर कुल आयु ७२५ वर्ष
३	बोधघनाचार्य	६८० शक	८८० शक	२०० वर्ष

४	ज्ञानघनाचार्य	७६८ वि सं	८३२ वि सं	६४ वर्ष
५	ज्ञानोत्तमशिवाचार्य	८२७ वि सं	८७५ वि सं	४८ वर्ष
६	ज्ञानगिर्याचार्य	८७१ वि सं	९६० वि सं	८९ वर्ष
७	सिंहगिर्याचार्य	९५८ वि सं	१०२० वि सं	६२ वर्ष
८	ईश्वरतीर्थ	१०१९ वि सं	१०६८ वि सं	४९ वर्ष
९	नरसिंह तीर्थ	१०६७ वि सं	११५० वि सं	८३ वर्ष
१०	विद्यातीर्थ	११५० वि सं	१२५५ वि सं	१०५ वर्ष
११	भारतीकृष्ण तीर्थ	१२५० वि सं	१३०२ वि सं	५२वर्ष
११.	विद्यारण्य	१२५३ वि सं	१३०८ वि सं	५५ वर्ष

1.3.2 शारदा मठ एवं उसके आचार्य

इस पीठ के आदि आचार्य हस्तामलक थे। आरम्भ से लेकर वर्तमान समय तक यह पीठ कभी उच्छिन्न नहीं हुआ, सदा कोई न कोई आचार्य पीठ पर विराजमान रहा। यद्यपि इसका प्रधान स्थान द्वारिका पुरी रहा तथापि कभी-कभी इसका स्थान बदलता रहा है। इस परम्परा में प्राय: ८० शंकराचार्य नियुक्त हो चुके हैं। इसके आरम्भ के दस शङ्कराचार्य इस प्रकार हैं।

क्र	आचार्य
१	सुरेश्वराचार्य
२	चित्सुखाचार्य
३	सर्वज्ञानाचार्य
४	ब्रह्मानन्द तीर्थ
५	स्वरूपाभिज्ञानाचार्य
६	मंगलमूर्त्याचार्य
७	भास्कराचार्य
८	प्रज्ञानाचार्य
९	ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य
१०	आनन्दाविर्भावाचार्य

1.3.3 गोवर्धन मठ और उसके आचार्य

इस मठ का मूल स्थान जगन्नाथ पुरी है। आचार्य आदिशंकर ने पादपद्माचार्य को इसका प्रथम अध्यक्ष बनाया। जैसा कि पूर्व में भी कहा गया है भारत के पूर्वी प्रांत यथा उ. प्र., बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि इसके अधीन आते हैं –

अङ्गबङ्गकलिङ्गाश्च मगधोत्कलबर्बरा:।
गोवर्धनमठाधीना: कृता: प्राचीव्यवस्थिता:॥

इस परम्परा में प्राय: १४५ शङ्कराचार्य नियुक्त हो चुके हैं। वर्तमान में इस मठ के शंकराचार्य स्वामी निश्चलानंद जी हैं। इस परम्परा के आरम्भ के कुछ शंकराचार्य इस प्रकार हैं -

क्र	आचार्य
१	पद्मपाद
२	शूलपाणि
३	नारायण
४	विद्यारण्य
५	वामदेव
६	पक्ष्मनाभ
७	जगन्नाथ
८	मधुरेश्वर
९	गोविन्द
१०	श्रीधरस्वामी
११	माधवानन्द

1.3.4 ज्योतिर्मठ एवं उसके आचार्य

आचार्य आदिशंकर के द्वारा स्थापित मठों में यह अंतिम है। उत्तर भारत में सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए इसकी स्थापना बद्रीनाथ धाम से प्राय: २० मील दक्षिण में इस मठ की स्थापना की। यही 'जोशी मठ' के नाम से भी प्रसिद्ध है। अत्यधिक शैत्य के आरन अक्टूबर से अप्रैल तक बद्रीनाथ धाम के कपाट बन्द होने की स्थिति में यहां की चल-प्रतिमाएं एवं अन्य आवश्यक वस्तुएं यहीं इसी मठ में स्थापित कर दी जाती हैं।

इस मठ के प्रथम अध्यक्ष 'तोटकाचार्य' हुए। ये शंकराचार्य के साक्षात् शिष्यों में अन्यतम थे। इस परम्परा के आरंभ के बीस शंकराचार्यों के प्रति श्रद्धाधिक्य के कारण पर्वतीय लोग इन्हें चिरजीवी एवं प्रात:स्मरणीय मानते हैं –

तोटको विजय: कृष्ण: कुमारो गरुडध्वज:।
विन्ध्यो विशालो बकुलो वामन: सुन्दरोऽरुण:।।
श्रीनिवास: सुखानन्दो विद्यानन्द: शिवो गिरि:।
विद्याधरो गुणानन्दो नारायण उमापति:।
एते ज्योतिर्मठाधीशा आचार्याश्चिरजीविन:।।
य एतान् संस्मरेन्नित्यं योगसिद्धिं स विन्दति।

क्र	आचार्य
१	तोटकाचार्य
२	विजयाचार्य
३	कृष्णाचार्य

४	कुमाराचार्य
५	गरुडध्वजाचार्य
६	विन्ध्याचार्य
७	विशालाचार्य
८	बकुलाचार्य
९	वामनाचार्य
१०	सुन्दराचार्य
११	अरुणाचार्य
१२	श्रीनिवासाचार्य
१३	सुखानन्दाचार्य
१४	विद्यानन्दाचार्य
१५	शिवाचार्य
१६	गिर्याचार्य
१७	विद्याधराचार्य
१८	गुणानन्दाचार्य
१९	नारायणाचार्य
२०	उमापति

इसके बाद के आचार्यों के नाम नहीं मिलते हैं जिससे यह परम्परा विच्छिन्न हुई सी प्रतीत होती है। कालान्तर में १५०० विक्रम संवत् से आगे के शंकराचार्यों की नामावली मिलती है, जो संख्या में प्राय: २५ है।

यहाँ तक ज्योतिर्मठ और बद्रीनाथ मंदिर दंडी स्वामियों के अधिकार में था किन्तु इसके बाद ब्रह्मचारी रावलों के हाथ में बद्रीनाथ मंदिर आ गया। विक्रम संवत् १८२३ में शंकराचार्य 'रामकृष्णस्वामी' के समाधिस्थ होने के बाद दुर्भाग्य से उनके उत्तराधिकारी के अभाव में मन्दिर में प्रधान पुजारी का भी अभाव हो गया। उस समय गढ़वाल नरेश प्रदीपशाह जी ने अपनी बद्रीनाथ-यात्रा के दौरान पुजारी का अभाव देखकर नम्बूदिरी जाति के प्रधान पाचक, 'गोपाल' नामक ब्रह्मचारी, जो भगवान् के लिए भोग बनाते थे, को 'रावल' पदवी से सुशोभित करके उन्हें छत्र-चंवर आदि उपकरणों से सुशोभित करके रामकृष्णस्वामी जी के उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त किया। तब से 'रावल' उसी जाति का होता आया है। इन रावलों का सम्बन्ध प्रधान रूप से मंदिर से ही है, मठ से साक्षात सम्बन्ध इनका नहीं है। मठ की गद्दी बहुत दिनों तक खाली रही फिर इधर प्राय: १०० वर्ष पूर्व 'स्वामी ब्रह्मानन्द' जी को इस गद्दी पर प्रतिष्ठित किया गया। तबसे पुन: दंडी स्वामियों को शंकराचार्य्ह के रूप में प्रतिष्ठित किया जाने लगा। वर्तमान समय में इसके शङ्कराचार्य स्वामी अविमुक्तेश्वरानन्द जी हैं।

1.4 सुमेर मठ

आदि शंकर ने वाराणसी में भी एक मठ की स्थापना की, जो 'सुमेर मत' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवत: काशी को सनातन-धार्मिक-जगत का 'सुमेरु' मानकर ही इसकी प्रतिष्ठा की गयी। इसका उल्लेख 'मठाम्नाय' में भी है। इस मठ के अधिकार में अन्य मठों के अध्यक्षों के समान प्रांत-विशेष या क्षेत्र-विशेष में धार्मिक-अधिकार न होने के कारण इसका अभ्युदय अन्य के सामान न हो सका। प्राय: रामनगर-नरेश के द्वारा इसका प्रबंधन किया जाता रहा।

1.5 कामकोटि पीठ

कांची का कामकोटि पीठ भी आदि शंकर के द्वारा स्थापित पीठों में अन्यतम माना जाता है। यहाँ के अध्यक्ष शंकराचार्य की यह स्पष्ट मान्यता है कि आदि शंकर का सर्वप्रधान पीठ यही है। इन आचार्यों के अनुसार आदि शंकर चारों मठों पर तो अपने शिष्यों को कियुक्त किया किन्तु जीवन के अंतिम समय में स्वयम के लिए कांची में इस पीठ की स्थापना की। यहीं योगलिंग और भगवते कामाक्षी की पूजा-अर्चना में अपना अंतिम समय बिताकर समाधि ली। कांची स्थित आम्नाय का नाम – 'मौल्याम्नाय', पीठ – कामकोटि, मठ – शारदा, आचार्य – शंकर भगवत्पाद, क्षेत्र – सत्यव्रत कांची, तीर्थ – कम्पासर, देव – एकायुनाथ, शक्ति – कामकोटि, वेद – ऋक्, सन्यासी – इन्द्र, सरस्वती, महावाक्य – ॐ तत्सत् है। वर्तमान समय में इसके अध्यक्ष 'जयेन्द्रसरस्वती' जी हैं। इस मठ के ६८ आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिनमें आरम्भ के कुछ आचार्य इस प्रकार हैं –

क्र	आचार्य
१	श्री शंकरभगवत्पाद
२	सुरेश्वराचार्य
३	सर्वज्ञात्मन्
४	सत्यबोधाचार्य
५	ज्ञानानन्दाचार्य
६	शुद्धानन्दाचार्य
७	आनन्दज्ञानाचार्य
८	कैवल्यानन्दाचार्य
९	कृपाशङ्कराचार्य
१०	सुरेश्वराचार्य द्वितीय
११	चिद्घनाचार्य
१२	श्रीनिवासाचार्य
१३	चन्द्रशेखराचार्य प्रथम

1.6 मठों के क्षेत्र, आम्नाय सम्प्रदायादि

इन मठों का सांगोपांग विवरण अधोलिखित तालिका में प्रस्तुत है –

मठ	गोवर्धन	श्रृंगेरी	शारदा	ज्योतिर्मठ	सुमेरु	परमात्म	सहस्रार्कद्युति
क्षेत्र	पुरुषोत्तम	रामेश्वर	द्वारिका	बदरिका श्रम	कैलास	नभस्सरो वर	अनुभव
आम्नाय	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर	ऊर्ध्वाम्नाय	आत्मा म्नाय	निष्फलाम्नाय
सम्प्रदाय	भोगवार	भूमिवार	कटिवा र	आनन्दवा र	काशी	पञ्चको शः	
अंकित नाम	अरण्य, वन	सरस्वती, भारती, पुरी	तीर्थ, आश्रम	गिरि, पर्वत, सागर	सत्यज्ञान	योग	गुरुपादुका
देव	जगन्नाथ	आदिवा राह	सिद्धेश्वर	नारायण	निरंजन	परमहंस	विश्वरूप
देवी	विमला	कामाक्षी	भद्रका ली	पूर्णागिरि	माया	मानसी माया	चिच्छक्ति
आचार्य	पद्मनाभ	हस्तामल क	विश्वरू प	तोटकाचा र्य	महेश्वर	चेतन	सद्गुरु
तीर्थ	महोदधि	तुंगभद्रा	गोमती	अलकन न्दा	मानस, ब्रह्मा, तत्वावगाहि तम्	त्रिपुर	सत्यशास्त्रश्रव णम्
ब्रह्मचारी	प्रकाश	चैतन्य	स्वरूप	आनन्द		सन्यासी	सन्यास
वेद	ऋग्वेद	यजुः	साम	अथर्ववेद	सामवेद		
महावा क्य	प्रज्ञानं ब्रह्म	अहं ब्रह्मास्मि	तत्त्वम सि	अयमा त्मा ब्रह्म			
गोत्र	काश्यप	भूर्भुवः	अविग त	भृगु			
शासना धीन क्षेत्र	अङ्ग,ब ङ्ग, कलिङ्ग, उत्कल	आन्ध्र, द्राविड़, केरल , कर्नाटक	सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महारा ष्ट्र	कुरु, काश्मीर, पाञ्चाल्, काम्बोज			

इन प्रधान मठों से सम्बद्ध अनेक उपपीठ भी विद्यमान हैं, जैसे – कुण्डली मठ, संकेश्वर मठ, विरूपाक्ष मठ, हव्यक मठ, शिवगंगा मठ, कोप्पल मठ, श्रीशैल मठ, रामेश्वर मठ आदि। ये मठ प्रधान मठों के अंतर्गत ही आते हैं। उदाहरण के तौर पर, कुण्डली मठ एवं संकेश्वर मठ श्रृंगेरी मठ से पृथक् होने पर भी उसकी अध्यक्षता स्वीकार करते हैं।

1.7 मठाचार्यों के कर्तव्य

इन मठ के अध्यक्ष के रूप में जिस किसी भी व्यक्ति को नहीं बैठाया जा सकता है। इस पद के लिए अनेक सद्गुणों की नितांत आवश्यकता है। पवित्र, जितेन्द्रिय, वेद-वेदांग में विशारद, योग का ज्ञाता, सकल शास्त्रों में निष्णात पंडित ही इन मठों की गद्दी पर बैठने का अधिकारी है। यदि

मठाध्यक्ष इन सद्गुणों से युक्त न हो, तो विद्वानों को चाहिए कि उसका निग्रह करें, चाहे वह पद पर भले ही आरूढ़ हो गया है, ऐसी आज्ञा स्वयं आचार्य शंकर भगवत्पाद ने दी है -

उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेत् मत्पीठभाग्भवेत् ।
अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम् ।।

आदि शंकर ने मात्र मठों की स्थापना ही नहीं की अपितु उनके अध्यक्षों के लिए व्यवहार भी सुनिश्चित किया जो उनके 'मठाम्नाय महानुशासन' नामक ग्रन्थ में विस्तार से वर्णित है । जिसका सारांश यही है कि मठाध्यक्ष राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिए तथा धर्म के प्रचार के लिए अपने निर्दिष्ट प्रान्तों में सदैव भ्रमण करते रहें । उन्हें अपने मठों में ही नियमित रूप से निवास नहीं करना चाहिए अपितु अपने-अपने क्षेत्रों में विधिपूर्वक वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा, प्रचार-प्रसार एवं सदाचार की रक्षा हेतु सन्नद्ध रहना चाहिए।

1.8 सारांश

भारत की धार्मिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आदि शंकराचार्य ने भारत के चार तीर्थस्थानों पर चार मठों की स्थापना की । इनमें 'ज्योतिर्मठ' बदरिकाश्रम के पास उत्तर में, 'शारदा मठ' द्वारिकाधीश में, 'शृङ्गेरी मठ' कर्णाटक में और 'गोवर्धन मठ' जगन्नाथ पुरी में स्थित है । आदि शंकर ने गोवर्धन मठ का अध्यक्ष पद्मपाद को, श्रृंगेरी का सुरेश्वराचार्य को, शारदा मठ का 'हस्तामलक को तथा ज्योतिर्मठ का तोटक को अध्यक्ष नियुक्त किया। इन मठों और मठाध्यक्षों हेतु आचार्य ने 'मठाम्नाय महानुशासन' नामक संविधान भी लिखा जिसके अनुसार इन शंकराचार्यों का दैयित्व अपने-अपने क्षेत्र में सनातन धर्म का प्रचार, प्रसार एवं संरक्षण करने का दायित्व दिया गया जिसका वे अद्यावधि पालन कर रहे हैं।

1.9 पारिभाषिक शब्दावली

१. अभ्यषिच्यत = अभिषेक किया

२. विन्दति = प्राप्त करता है

३. रूढपीठोऽपि = पद पर बैठा हुआ भी

४. निग्रहार्हो = त्याग करने योग्य

1.10 सन्दर्भग्रन्थ

१. गोवर्धन मठ के आचार्य-परम्परा और आम्नाय आदि का वर्णन कीजिए।

२. श्रृंगेरी मठ के आचार्य-परम्परा और आम्नाय आदि का वर्णन कीजिए।

1.11 बोधप्रश्न

१. शाङ्करदिग्विजयम्, विद्यारण्यविरचित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क २२, आनन्दाश्रम, पुणे

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी वी काणे, उ प्र हिन्दी संस्थान, लखनऊ

इकाई 2 मन्दिर परम्परा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- मन्दिरों के प्रकार व अंगों का निरूपण कर सकेंगे।

- गुप्तकालीन मंदिरों का निरूपण कर सकेंगे।
- जगन्नाथ एवं खजुराहो के मंदिरों के वैशिष्ट्य का निर्धारण कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रिय अध्येता! पञ्चम पाठ्यक्रम के सप्तम खण्ड की दूसरी इकाई में आपका हार्दिक स्वागत है। इस इकाई में आप मठ एवं मन्दिर परम्परा के विषय में विस्तार से अध्ययन करेंगे। जैसा कि आप जानते हैं हिन्दू संस्कृति को अक्षुण्ण एवं संगठित रखने में मठों और मन्दिरों का अतुलनीय योगदान है। मठों की स्थापना आदिशंकर भगवत्पाद ने सनातन-धर्म के प्रचार-प्रसार एवं रक्षार्थ की। इसलिए ये मठ अपने उद्देश्य में तत्परता से सन्नद्ध रहते हुए हिन्दू संस्कृति के संरक्षण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते रहे हैं।

संभवतया मंदिरों के सर्वप्रथम निर्माण की प्रेरणा गुफाओं व विहारों से ही मिली होगी। यही कारण है कि कुछ गुप्तकालीन प्रारंभिक मंदिरों का निर्माण पर्वतों पर किया गया, जो शैव-गुफाओं की अनुकृति प्रतीत होती है। जहां तक प्रश्न मंदिरों का है, कुषाण काल के पूर्व कुछ सामान्य स्तर पर मंदिरों का निर्माण होता था किन्तु कुषाण शासकों के बौद्ध होने के कारण मन्दिरों के स्थान पर चैत्यों एवं विहारों का निर्माण होने लगा। कुषाण काल के अन्त होने पर भारतवर्ष गुप्तवंश के अधीन हो गया। इस काल में देवी-देवताओं की पूजा के साथ ही देवालयों का निर्माण भी होने लगा। वस्तुतः देवालयों का निर्माण के भग्नावशेष गुप्तकाल से ही विशेषकर मिलते हैं इसलिए ये दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि भारत में विशेषकर उत्तर भारत में मंदिरों के निर्माण की परम्परा निश्चय ही गुप्तकाल से तो मिलती ही है। प्रारम्भिक मन्दिरों का वास्तु विन्यास बौद्ध विहारों से प्रभावित था। इनकी छतें चिपटी होती थीं तथा इनमें गर्भगृह होता था। गर्भगृह के समक्ष स्तंभों पर आश्रित एक छोटा अथवा बड़ा बरामदा होता था। कालान्तर में मंदिरों के निर्माण की शैलियों और मंदिर के अंग-उपांगों का पल्लवन परवर्ती देवालय-स्थापत्य में विस्तारपूर्वक देखने को मिलता है।

आइए, इस अध्याय में हिन्दू संस्कृति के मुख्य आधारों में से प्रमुख मठों व मंदिरों की परम्परा का संक्षेप रूप से सिंहावलोकन करें।

2.2 मन्दिरों के प्रकार एवं अंग

2.2.1 नागर

'नागर' शब्द नगर से बना है। सर्वप्रथम नगर में निर्माण होने के कारण अथवा संख्या में बाहुल्य होने के कारण इन्हें 'नागर' की संज्ञा दी गई। शिल्पशास्त्र के अनुसार नागर मन्दिरों के आठ प्रमुख अंग हैं।

.1	मूल या आधार	जिन पर संपूर्ण भवन खड़ा किया जाता है।
.2	मसूरक	नींव और दीवारों के बीच का भाग।
.3	जंघा	दीवारें (विशेष रूप से गर्भगृह आदि की दीवारें)|
.4	कपोत	कार्निस
.5	शिखर	मन्दिर का शीर्षभाग अथवा गर्भगृह का ऊपरी भाग।

.6	ग्रीवा	शिखर का ऊपरी भाग	
.7	वर्तुलाकार आमलक	शिखर के शीर्ष पर कलश के नीचे का भाग।
.8	कलश	शिखर का शीर्षभाग।

नागर मन्दिर वर्गाकार होते हैं। वर्गाकार गर्भगृह की ऊपरी बनावट ऊँची मीनार जैसी होती है। इनके शिखर की रेखाएं तिरछी और चोटी की ओर झुकी होती हैं तथा शीर्ष आमलक से सुशोभित रहता है। हिमालय एवं विंध्य पर्वतमाला के मध्यस्थ क्षेत्र में नागर शैली के मन्दिर विस्तृत है। प्रांतीय भेद के अनुरूप ही इस शैली के मन्दिरों के विविध नाम है। उदाहरणार्थ, उड़ीसा के नागर-मंदिरों को कालिंग, गुजरात में लाट तथा हिमालय क्षेत्र में इनको ही पर्वतीय मंदिर कहा गया है। पर्सी ब्राउन ने नागर शैली को ही 'उत्तर-भारतीय आर्य'शैली (North Indo-Aryan Style) की संज्ञा दी है।

2.2.2 द्रविड़

द्रविड़ शैली के मंदिर 'नागर' मंदिरों से सर्वथा भिन्न हैं। द्रविड़ देश में विशेष रूप से विकसित होने के कारण यह द्रविड़ शैली के नाम से विख्यात हुई। इस शैली के मंदिर का आधार-भाग वर्गाकार होता है। गर्भगृह के ऊपर का भाग सीधा पिरामिडनुमा बना रहता है, इसका शीर्षभाग गुंबदाकार, छह या आठ तल का होता है। मंदिर की प्रमुख विशेषता यह है कि ये काफी ऊँचे तथा घिरे होते हैं। प्रांगण के भीतर छोटे-बड़े अनेक मंदिर, कक्ष, जलकुण्ड आदि बने होते हैं। प्रांगण का मुख्य प्रवेशद्वार 'गोपुरम्' कहलाता है। ये गोपुरम् इतने ऊँचे होते हैं कि अनेक बार मुख्य मंदिर का शिखर गौण हो जाता है। कृष्णा अथवा तुंगभद्रा नदी से कुमारी अंतरीप तक द्रविड़ शैली के मंदिर निर्मित हैं।

2.2.3 बेसर

'बेसर' का शाब्दिक अर्थ है मिश्रित। अतएव, नागर और द्रविड़ शैली के मिश्रित रूप को 'बेसर' की संज्ञा दी गई है। यह विन्यास में द्रविड़ - शैली का तथा रूप में नागर शैली का होता है। दो विभिन्न शैलियों के कारण उत्तर और दक्षिण के विस्तृत क्षेत्र के बीच स्वतः एक क्षेत्र बन गया जहाँ इनके मिश्रित रूप में बेसर - शैली प्रस्फुटित हुई। इस शैली के मंदिर विंध्य पर्वतमाला से कृष्णा नदी तक निर्मित हैं। इस मिश्रित शैली के मंदिर पश्चात्कालीन चालुक्य- नरेशों ने कन्नड़ जिले में तथा होयसल - नरेशों ने मैसूर में निर्मित किये। पूर्व- चालुक्य नरेशों ने ऐहोल में द्रविड़ - विन्यास तथा नागर रूप के मंदिरों का निर्माण किया एवं उत्तर चालुक्य काल में नागर विन्यास तथा द्रविड़ - रूप के मंदिर निर्मित हुये। ये मंदिर वृत्तायत अर्थात् उनके आमने-सामने के दो पहल सीधे होते थे और अन्य दो झुके हुए। उनका निचला भाग ग्रीवा तक वर्गाकार होता था तथा शीर्ष वृत्ताकार बनाये जाते थे, ताकि गोलाकार शिखर से वे मंडित किये जा सकें।

2.3 उत्तरभारतीय आर्यशैली के गुप्तकालीन मंदिर

गुप्तकाल राष्ट्रीय जागरण का युग था। इसके पूर्व यहाँ विदेशियों का शासन था। गुप्त-सम्राटों ने विदेशियों को पराजित कर भारत के एक विशाल भूखंड को अधिकृत कर लिया। देश एक शक्तिशाली एवं सुयोग्य शासन के अधीन आ गया। फलस्वरूप, वाणिज्य - व्यापार तथा सुरक्षा से देश सुखी-संपन्न एवं समृद्ध हुआ। इसके साथ ही गुप्तयुग की कला भारतीय कला की चूडामणि हुई और इस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग होने का गौरव प्राप्त हुआ। ऐश्वर्य

एवं समृद्धि की इस पृष्ठभूमि में गुप्तकाल के साथ ही भारतीय स्थापत्य में एक नये युग का प्रादुर्भाव होता है। गुप्त सम्राटों ने लगभग २३० वर्षों तक शासन किया| इस लंबी अवधि में इन सम्राटों ने स्वयं या प्रोत्साहन से अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। तत्कालीन अभिलेखों से विदित होता है कि इस युग में न केवल मंदिरों का निर्माण हुआ, वरन् गगनचुंबी भवन तथा शिखरयुक्त भव्य मंदिरों से सुशोभित नगरों का भी सर्जन हुआ। चीनी यात्री युवान च्वांग ने स्पष्ट लिखा है कि 'अल्पकाल में ही यह देश विभिन्न प्रकार के भवनों से भर गया।' इनमें अधिकांश तो नष्ट हो गए, किन्तु जो शेष हैं, वे इनकी गौरव गाथा सुनाने के लिए पर्याप्त हैं।

सर्वप्रथम मंदिर निर्माण की परंपरा का श्रीगणेश संभवतया गुप्तवंश के संस्थापक श्रीगुप्त ने किया था। गुप्तकालीन आर्यशैली के मंदिरों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-

१) प्रारंभिक गुप्तकालीन मंदिर

२) उत्तर- गुप्तकालीन मंदिर

2.3.1 प्रारंभिक गुप्तकालीन मंदिरों की विशेषताएँ

प्रायः सभी प्रारंभिक गुप्तशैली के मंदिरों की स्थापना ऊँचे चबूतरे पर की गई है तथा मंदिर तक जाने के लिए सीढ़ियों की व्यवस्था है। इनकी छतें सपाट हैं। इनमें एक गर्भगृह है जिसमें देव प्रतिमा प्रतिष्ठित रहती थी तथा एक प्रवेशद्वार बना है। गर्भगृह के समक्ष स्तंभों पर आश्रित एक बरामदा है। द्वार-स्तंभ पूर्ण कलश से अलंकृत है जिनसे पुष्पगुच्छ, बाहर निकल रहे हैं। स्तंभों की परस्पर दूरी की योजना विशिष्ट है। संपूर्ण भवन में चतुर्दिक् मेहराब बने हैं, जिनमें कहीं जोड़ नहीं दीखता। ये तत्कालीन कला की विशेषता प्रदर्शित करते हैं। मंदिरों के द्वार तथा चौखट भी विशेष रूप से अलंकृत किये गये हैं। दोनों चौखटों में एक के ऊपर मकरवाहिनी गंगा तथा दूसरे के ऊपर कूर्मवाहिनी यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं। गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा- पथ बना है, जो प्रायः आच्छादित है। कुछ मंदिरों के स्तंभ वर्गाकार हैं तथा उनके शीर्ष-पीठ लगे चार सिंहों की मूर्तियों से सुशोभित हैं। ये स्तंभ संपूर्ण मंदिर का भार ग्रहण करते हैं।

2.3.2 उत्तर-गुप्तकालीन मंदिर की विशेषताएँ

इस युग में ईंट के बने मंदिरों का निर्माण प्रारंभ हुआ। ये मंदिर पंचायत - योजना पर निर्मित किये गये हैं। संपूर्ण मंदिर में अलंकरण की बहुलता है। इनके अतिरिक्त गुप्तशैली के मंदिरों के शीर्ष सुन्दर शिखर से मंडित हैं, जो इस युग के शिल्पियों की अभिनव देन है। देवगढ़ का मंदिर इसका अन्यतम उदाहरण है।

2.4 प्रारंभिक गुप्तकालीन मंदिर

प्रारंभिक गुप्तशैली के मंदिरों में तिगावा-मंदिर, साँची का मंदिर, भमरा मंदिर, नाचना कुठारा का पार्वती-मंदिर तथा उदयगि+रि पर्वत को काटकर बनाये गये मंदिरों के समूह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

2.4.1 तिगावा-मंदिर

मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में स्थित यह मंदिर कंकाली देवी के नाम से भी विख्यात है। स्थापत्य कला की दृष्टि से यह प्रारंभिक गुप्तशैली के मंदिरों में सर्वोतम है। इस वर्गाकार देवालय की प्रत्येक भुजा १२ फुट ६ इंच की है। देवालय के अंदर अंदर ८ फुट व्यास का एक गर्भगृह

है, जिसमें शिवलिंग स्थापित है। देवालय के सम्मुख लगभग ७ फुट लंबे बरामदे के लिए छज्जा निकला हुआ है। यह बरामदा चार स्तंभों पर आश्रित है। स्तंभों की बनावट अत्यंत कलात्मक है तथा इनकी परस्पर दूरी की योजना विशिष्ट है। पहले और दूसरे के बीच की दूरी, दूसरे और तीसरे स्तंभ के बीच की दूरी से कम है। स्तंभों के ऊपरी भाग पर पीठिका के रूप में चौकोर पत्थर है। मौर्यकालीन स्तंभों की भाँति इनके शीर्ष सिंह की मूर्त्तियों से अलंकृत हैं। स्तंभों के शीर्ष के निकट पूर्णकलश की जगह ईरानीनुमा घंटे अंकित हैं। स्तंभों का आधारभाग सादा एवं वर्गाकार है तथा मध्य भाग पहलदार है। इन स्तंभों की ऊँचाई अधिक नहीं है। गर्भगृह के प्रवेशद्वार का अलंकरण भी अति कलात्मक है। जिस प्रकार प्राचीनकाल में लकड़ी के बल्लों से प्रवेशद्वार बनाये जाते थे, संभवतया उसी के अनुकरण पर यह प्रवेशद्वार बना है। प्रवेशद्वार के दोनों चौखटों में एक के ऊपर मकरवाहिनी गंगा तथा दूसरे के ऊपर कूर्मवाहिनी यमुना की सजीव मूर्त्तियाँ खड़ी हैं। मंदिर की छत चिपटी है। तिगावा-मंदिर प्रारंभिक गुप्तकालीन वास्तुकला का सर्वप्रथम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

2.4.2 सांची-मंदिर

यह एक बौद्ध मंदिर है। इसका निर्माण संभवतया हिन्दू भवन-निर्माण- पद्धति के आधार पर पाँचवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुआ। यद्यपि बौद्ध शैली के प्रभाव से यह अछूता नहीं है, तथापि बौद्ध विहारों से इसकी समानता नहीं है। इस मंदिर की निर्माण योजना प्रायः तिगावा की भाँति ही है, लेकिन वास्तु- कला की दृष्टि से इसकी कुछ निजी विशेषताएँ हैं, जो तिगावा के मंदिर में परिलक्षित नहीं होतीं। दोनों के बाहरी स्तंभों की बनावट भिन्न है। अशोक- स्तंभों के समान ही साँची मंदिर के सिंहशीर्षक स्तंभ पूर्णघट से अलंकृत हैं, जबकि तिगावा मंदिर के स्तंभों पर कमलपुष्प का अलंकरण है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मंदिर स्थापत्य कला शनैः-शनैः प्रगति की ओर अग्रसर हो रही थी।

2.5 उत्तर गुप्तकालीन मंदिर

उत्तर- गुप्तकालीन कृतियों में नाचना कुठारा का शिवमंदिर, देवगढ़ का दशावतार मंदिर, शंकरगढ़ मंदिर मुंडेश्वरी मंदिर, अपसढ़-मंदिर, राजगीर के मंदिर, बोधगया के मंदिर, भीतरगाँव-मंदिर तथा दाह पर्वतीय मंदिर उल्लेखनीय हैं, क्योंकि ये मंदिर स्थापत्य का क्रमिक विकास प्रस्तुत करते हैं।

2.5.1 नाचनाकुठारा का शिव मंदिर

नाचना कुठारा के शिवमंदिर का गर्भगृह वर्गाकार है, जिसमें चतुर्मुख महादेव की प्रतिमा अधिष्ठित है। देवालय के समक्ष १२ स्तंभों पर आश्रित एक बरामदा है। मंदिर के छज्जे के बाह्य भाग में कई ताख पंक्तिबद्ध हैं, जिनमें गणेश, यम, कुबेर, सूर्य, महिषासुरमर्दिनी, कामदेव, वषभारूढ तथा नृत्य-भंगिमा में शिव की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं | इस मंदिर का शीर्ष एक सुन्दर शिखर से मंडित है। सम्भवतया, शिखर के कारण ही राखालदास बनर्जी ने इसका निर्माणकाल सातवीं सदी रखा है।

2.5.2 देवगढ़ का दशावतार मंदिर

देवगढ़ का दशावतार मंदिर झाँसी के ललितपुर से सात मील की दूरी पर बेतवा नदी के तट पर बलुए प्रस्तर से निर्मित है। इसके गर्भगृह में प्रतिष्ठित शेषशायी विष्णु की प्रतिमा से होती है।

इसके अतिरिक्त इस मंदिर में विष्णु के दस अवतारों का भी चित्रण है।

इसके शिखर की ऊँचाई संभवतया ४० फुट से कम न थी, किंतु दुर्भाग्यवश अब वह नष्ट हो गया है। यह देवालय ५५ फुट ६ इंच वर्गाकार और पाँच फुट ऊँचे चबूतरे पर बना है, जिस पर पहुँचने के लिए चतुर्दिक् सीढ़ियों की व्यवस्था है। सीढ़ियों के निकट चारों ओर चार आले बने हैं। इनमें विलक्षण मूर्त्तियाँ लगी हैं। मुख्य देवालय के चारों ओर चार बरामदे हैं। प्रत्येक बरामदा चार स्तंभों पर आश्रित है तथा चिपटी छत से ढका है। मंदिर के चारों कोने पर एक-एक लघु देवालय है, जिनपर आमलक बने हैं। अतएव, यह पंचायतन प्रकार का सर्वप्रथम मंदिर है।

दशावतार मंदिर का गर्भगृह १८ फुट ६ इंच वर्गाकार है। गर्भगृह के पश्चिम की ओर एक अतीव अलंकृत प्रवेशद्वार है तथा शेष तीन ओर की दीवारों में रथिकाएँ बनी हैं, जिनमें गजेन्द्रमोक्ष, नर-नारायण तथा अनंतशायी विष्णु की मूर्त्तियाँ हैं। इन रथिकाओं तथा द्वार की रक्षा के लिए संभवतया चारों ओर चार छोटे-छोटे मंडप बने थे। प्रवेशद्वार की पट्टियों पर भव्य अलंकरण है। इन सभी पट्टियों के निचले भाग में द्वारपाल तथा द्वारपालिकाएँ अंकित हैं। बाह्य स्तंभिका के एक ओर मकरवाहिनी गंगा तथा दूसरी ओर कूर्मवाहिनी यमुना की मूर्त्तियाँ हैं। सिरदल के उस भाग में, जो भीतरी तीन पट्टियों के क्रम में है, उन अलंकरणों का ही विस्तार है। सिरदल के ऊपर भी पट्टियाँ हैं, जिनमें मानवमुख-युक्त गवाक्ष हैं। उसके ऊपर बाह्य स्तंभिक भी अलंकृत है। इन सबके ऊपर सिंहमुख की पंक्ति है। प्रायः सभी स्तंभिकाएँ गुप्तशैली में निर्मित हैं। इनके नीचे का भाग वर्गाकार है। ऊपर चौकोर पत्थर पर पल्लवयुक्त कलश है तथा उसके ऊपर पीठ से पीठ-लगे सिंह की मूर्त्तियाँ हैं।

2.6 उड़ीसा का मंदिर स्थापत्य

उड़ीसा का प्राचीन नाम कलिंग था। इस राज्य का ऐतिहासिक महत्त्व अपने प्रकार का अनोखा है। यहाँ अशोक ने सर्वप्रथम धर्मविजय की घोषणा की थी।

मध्ययुग में भी यहां उत्तरभारतीय आर्यशैली के शिखरयुक्त मंदिरों का निर्माण हुआ। ये मंदिर अपनी सौंदर्य - निर्माण योजना में अनुपम हैं। इन मंदिरों की संख्या प्रभूत है। इसी कारण उड़ीसा को 'मंदिरों की नगरी' कहा जाता है। वस्तुतया उड़ीसा के अधिकांश मंदिर भुवनेश्वर में स्थित हैं, अतएव 'मंदिरों की नगरी' इसे ही कहना उपयुक्त होगा। उड़ीसा के अधिकतर मंदिर सुरक्षित अवस्था में हैं।

2.6.1 उड़ीसा के मंदिरों की विशेषताएँ

भारतीय मंदिर स्थापत्य के इतिहास में उड़ीसा - शैली की निजी विशेषताएँ हैं, जो क्षेत्रीय प्रभाव की द्योतक हैं -

१. इनकी बनावट तथा योजना में नवीनता है। प्रायः सभी मंदिर एक- मंजिला हैं, ऊँचे चबूतरे पर खड़े तथा परकोटे से घिरे हैं। इनके विभिन्न अंगों के अलग-अलग नाम हैं। संपूर्ण मंदिर को 'देवल' अथवा 'विमान' कहा जाता है। देवल की योजना वर्गाकार है। इसके समक्ष मंडप- स्वरूप एक बड़ा कक्ष है, जो जगमोहन के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें धार्मिक सभाओं का आयोजन किया जाता था। उडीसा के अधिकांश मंदिरों में मात्र देवल तथा जगमोहन की ही योजना दिखलाई पड़ती है। ज्यों-ज्यों यह शैली विकसित होती गई, त्यों-त्यों आवश्यकतानुसार सभाकक्ष के सम्मुख अन्य कक्षों नटमंडप तथा भोगमंडप का

समावेश किया गया।

२. शिखर की बनावट के आधार पर देवल की भी दो श्रेणियाँ हैं, रेखा-देवल तथा पीड-देवल । इनके विभिन्न अंगों के भी अलग-अलग नाम हैं।

३. उत्तरभारतीय आर्यशैली के अन्य मंदिरों के विपरीत उड़ीसा -शैली के अधिकांश मंदिर स्तंभ रहित हैं, किंतु प्रारंभिक मंदिरों में स्तंभ का प्रयोग दीखता है। इनको देखने से ऐसा लगता है कि शिल्पियों ने स्तंभों का प्रयोग इच्छा के विरुद्ध किया है। कुछ मंदिरों में तो शिखर का भारग्रहण हेतु इनका प्रयोग नितांत आवश्यक था । फलस्वरूप, इच्छा के विरुद्ध भी वर्गाकार छत के चारों कोने पर चार ठोस स्तंभों का प्रयोग किया गया है।

४. उड़ीसा - शैली के सभी मंदिरों के भीतरी भाग प्रायः सादे हैं जब कि इसके विपरीत बाह्य भाग अति अलंकृत हैं।

५. मंदिर के बाह्य अलंकरण में गुह्य विषयों का चित्रण है । भुवनेश्वर तथा जगन्नाथपुरी के मंदिरों में भी ऐसा ही चित्रण है, किंतु सबसे अधिक कोणार्क के मंदिर में है। इनको देख दर्शक कुछ क्षण के लिए यह भूल जाता है कि वह किसी धार्मिक स्थान पर आया है, किंतु जब वह कला एवं शिल्प की दृष्टि से देखता है, तब वह उसमें लीन हो जाता है।

६. उड़ीसा - शैली की मूल योजना में गर्भगृह तथा जगमोहन के भीतर का भाग वर्गाकार है, किंतु बाह्य दीवारों में कई पुश्तानुमा प्रक्षेपण दीखते हैं । फलस्वरूप प्रत्येक दीवार तीन लंबवत् खंडो में विभक्त हो जाती है। प्रत्येक खंड को 'रथ' की संज्ञा दी गई है। ऐसे तीन खंडवालों को 'त्रिरथ', पाँच खंडवालों को 'पंचरथ' तथा सात खंडवालों को 'सप्तरथ' कहा जाता है । प्रत्येक रथ को पुनः छोटी-छोटी फलिकाओं में विभक्त किया गया है । संभवतया मंदिर के भारग्रहण हेतु प्रक्षेपणों का प्रयोग किया गया है।

2.6.2 लिंगराज मंदिर

केसरी-नरेशों ने इसका निर्माण १००० ई० में करवाया। यह उड़ीसा - शैली की परिपक्व रचना है तथा मंदिर स्थापत्य के इतिहास में इसका विशिष्ट स्थान है। लिंगराज मंदिर ५२० फुट लंबे तथा ४६५ फुट चौड़े प्रांगण के केंद्र में निर्मित है। यह चारों ओर ऊँची चहारदीवारी से घिरा है। उड़ीसा के अन्य मंदिरों की भाँति इस मंदिर में भी श्रीदेवल, जगमोहन, नटमंडप तथा भोगमंडप इन चार कक्षों की योजना दीखती है। ये सभी कक्ष एक ही धुरी पर पूरब से पश्चिम की ओर विस्तृत हैं। श्रीदेवल या श्रीमंदिर की योजना वर्गाकार है। श्री मंदिर के भीतर १९ फुट वर्गाकार गर्भगृह है । इसका गगनचुंबी शिखर अपनी भव्यता एवं शालीनता में अन्यतम है । इसकी योजना विशिष्ट हैं। यह रेखादेवल की पद्धति पर निर्मित है। शिखर का आधार-भाग अथवा छप्पर की बनावट ऐसी है, जिसमें दो अम्ल के बीच भूमि है । इसके ऊपर शीर्ष भाग पर धारीदार अम्लशील है, जिसके भार- ग्रहण हेतु कई काल्पनिक पशु की बैठी आकृतियाँ बनी हैं। अम्लशील, कलश से मंडित है तथा कलश पर शिव का त्रिशूल है। शिखर का भीतरी भाग कुएँ अथवा चिमनी की तरह खोखला है। यह आकर्षक शिखर विशेष रूप से अलंकृत है । इसके संपूर्ण मध्य भाग अथवा छप्पर में ऐसो कटान है, जिससे बाह्य दीवारों में ताख बन गए हैं। प्रत्येक दिशा में प्रक्षेपण द्वारा एक सिंह की मूर्ति को हाथी का दमन करते दिखाया गया है, जो केसरी- वंश का प्रतीक स्वरूप है।

श्री मंदिर के समक्ष जगमोहन है। इसकी योजना आयताकार है। जगमोहन का शिखर धरातल से १०० फुट ऊँचा है। यह पीड देवल की योजना में निर्मित है। बड के ऊपरी भाग पीड एवं पाराघर है, जो कई तल्लो में नियोजित है। ऊपर की ओर इसका आकार धीरे-धीरे संकीर्ण हो जाता है। शीर्ष भाग घंटा- कलश की आकृति से सुशोभित है।

मंदिर के प्रांगण के भीतर चारों ओर कई लघु देवालय हैं। संभवतया भगवद्भक्तों ने श्रद्धा एवं भक्ति के प्रतीक स्वरूप इनको बनवाया था। प्रांगण के केन्द्र में लिंगराज मंदिर है तथा इसके चारों ओर छोटे-छोटे स्तूप हैं, जिनकी बौद्ध विहारों से अतीव समता है। संभव है, भुवनेश्वर बौद्ध एवं जैन मतावलंबियों का धार्मिक केन्द्र रहा हो। इसी कारण इन मंदिरों पर इनका प्रभाव दीखता है।

मंदिर स्थापत्य के इतिहास में लिंगराज मंदिर का स्थान सर्वोपरि है। यह उड़ीसा - शैली की एक उत्कृष्ट रचना है। गौरव तथा शालीनता में यह अद्वितीय है।

2.6.3 जगन्नाथ मंदिर

अभिलेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि कलिंग-विजेता चोड़गंगा ने सन् १०३० ई० में उड़ीसा के पुरी में इस मन्दिर का 'विजय स्तंभ' के रूप में निर्माण करवाया था। जिसका पुनर्निर्माण १११८ ई० में 'जगन्नाथ मंदिर' के रूप में किया गया।

जगन्नाथ मंदिर की निर्माण योजना भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर के सदृश है। यह एक विस्तृत आयताकार प्रांगण के मध्य में निर्मित है तथा ऊँची चहारदिवारी के घिरा है। मुख्य मंदिर के चारों ओर विभिन्न आकार-प्रकार के लगभग तीस या चालीस देवालय है।

जगन्नाथ मंदिर की बनावट विशिष्ट है। इसके बाहरी परकोटे में दीवारों का तीन घेरा है, मानो मंदिर के गले में तीन मालाएँ हों। इनके ऊपर शुंडाकार छत है, लेकिन यह योजना दक्षिण के गोपुरम् से सर्वथा भिन्न है। जगन्नाथ मंदिर की लंबाई ३१० फुट और चौड़ाई ८० फुट है, किंतु बाहरी परकोटे के कारण इसकी लंबाई २२५ फुट तथा चौड़ाई २९० फुट अधिक हो गई है।

लिंगराज मंदिर की भांति इसमें भी चार कक्षों - श्रीदेवल, जगमोहन, नटमंडप तथा भोग मंडप की योजना है। इन कक्षों की निर्माण -पद्धति में भी दो कालों की झलक मिलती है। देवल तथा जगमोहन प्रथम काल की रचनाएँ हैं तथा नटमंडप, एवं भोगमंडप चौदहवीं अथवा पंद्रहवीं सदी में निर्मित किये गये। लगभग दो शती पूर्व समुद्र की लवणाक्त जलवायु के कारण जगन्नाथ मंदिर का एक अंश जर्जर होकर ध्वस्त हो गया था। फलस्वरूप, सीमेंट द्वारा इसका परिसंस्कार किया गया। इससे इसकी मौलिकता नष्ट हो गई तथा इसका आकार और अधिक विशाल हो गया। इतना अधिक परिवर्तन होने के बाद भी इसका शिखर अत्यंत प्रभावशाली है। इसकी ऊँचाई २०० फुट है। शिखर के आधार -भाग में ताखों की श्रृंखला है, जिनमें अश्लील मूर्तियों का चित्रण है।

इस मंदिर में कृष्ण, बलराम एवं सुभद्रा की प्रतिमाएँ अधिष्ठित हैं। अन्य मंदिर की देव मूर्तियों की भाँति ये प्रस्तर-निर्मित नहीं, वरन् काष्ठ - निर्मित हैं, जो कतिपय शिल्पविशारदों के अनुसार, प्रतिवर्ष सागर में प्रवाहित कर दी जाती हैं। ये बौद्धमत के त्रिरत्न के प्रतीक हैं. लेकिन वास्तव में यह एक वैष्णव मंदिर है। मंदिर की दीवारों में विष्णु के अन्य अवतारों को मूर्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

रथ यात्रा के दिन इसकी महिमा अधिक मानी गई है। हजारों-हजार मील से लाखों-लाख की संख्या में यात्री इस अवसर पर आकर इस उत्सव की शोभा बढ़ाते हैं। उनकी धारणा है कि इस रथ के नीचे दबकर मर जाने से स्वर्ग प्राप्त होता है। पुरी का जगन्नाथ मंदिर विशाल अवश्य है, पर लिंगराज मंदिर की भाँति गरिमामय नहीं है । कला की दृष्टि से अकिंचन होते हुए भी आजतक यह जीवित है। श्रद्धालु रक्त इसके दर्शन को सदैव लालायित रहते हैं।

2.7 खजुराहो के मंदिर

खजुराहो के मंदिरों की संख्या ३० है। ये मंदिर एक मील के क्षेत्र में ही सीमित हैं। इन मंदिरों का निर्माण सन् ९५० से १०५० ई० के बीच हुआ। यद्यपि इनका वास्तु - विन्यास उड़ीसा-शैली के सदृश है, तथापि इनकी कुछ निजी विशेषताएँ हैं, जो देश के अन्य भागों की स्थापत्य शैली से सर्वथा पृथक् है।

2.7.1 खजुराहो के मंदिरों की विशेषताएँ

खजुराहो की योजना सुव्यवस्थित है। ये सामान्य आकार के हैं। इन मंदिरों की अधिकतम ऊँचाई १०० फुट है। आकार में छोटे होने के कारण इनके सौंदर्य में कमी नहीं आई है। इनकी प्रसिद्धि विशालता के कारण नहीं, अपितु कला - सौष्ठव के कारण है। खजुराहो के मंदिरों की अपनी अलग श्रेणी एवं विलक्षण शोभा है।

ये मंदिर परकोटे अथवा चहारदीवारी से घिरे नहीं हैं, अतएव इनमें आँगन को भी योजना नहीं है। प्रत्येक मंदिर ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है। इस पर जाने के लिए सीढ़ियों की व्यवस्था है।

इन मंदिरों में तीन प्रमुख अंगों की योजना है : १. गर्भगृह २. मंडप तथा ३. अर्द्धमंडप। कलांतर में विकसित मंदिरों के गर्भगृह के समक्ष अंतराल तथ महामंडप भी बनाये गये तथा गर्भगृह के चतुर्दिक् प्रदक्षिणा - पथ का समावेश भी किया गया। अर्द्ध मंडप से गर्भगृह की ऊँचाई अधिक है। प्रत्येक मंडप २५ फुट वर्गाकार है।

खजुराहो के कुछ मंदिर पंचायतन-योजना में निर्मित हैं। ऐसे मंदिरों में मुख्य चबूतरे के चारों कोनों पर चार देवालय बने हैं, जिनमें मुख्य के उप-देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। कहीं-कहीं मंडप के मंदिर के देवता समक्ष देववाहन के लिए अन्य देवालय की योजना भी दीखती है।

खजुराहो मंदिरों के प्रत्येक कक्ष के ऊपर गोलाकार छत हैं, जो सर्वथा स्वतंत्र हैं। बरामदे की छत सबसे छोटी है। इसकी ऊँचाई भी उसी अनुपात में कम है। बड़े कक्षों की छतें ऊपर की ओर क्रमशः ऊँची होती चली गई हैं और अंत में शिखर का रूप ले लेती हैं। इनके शिखर अर्धवृत्ताकार हैं। इन मंदिरों की गुंबजनुमा छतें चारों ओर से आकार शीर्ष बिंदु पर मिल जाती हैं। किसी-किसी स्थान पर इन छतों के कुछ भाग एक ही स्थान पर इकट्ठे हो गये हैं।

इन मंदिरों के शिखर की योजना अति कलात्मक है। इन शिखरों का महत्त्व अंगशिखरों की रचना के कारण है। अंगशिखर वस्तुतया शिखर के प्रतिरूप हैं। इनको उरुशृंग भी कहते हैं। उरुशृंगों की बहुलता ही खजुराहो- शैली की प्रमुख विशेषता है। यह मुख्य कक्ष के निचले भाग से प्रारंभ होकर ऊपर उठता है और जहाँ यह समाप्त होता है, वहाँ से दूसरे उरुशृङ्ग का प्रारंभ होता है। इसी क्रम में नीचे से लगभग शीर्ष तक मुख्य शिखर के चतुर्दिक् उरुशृंगों की श्रृंखला है। सभी शिखर के शीर्ष आमलक, स्तूपिका एवं कलश से विभूषित हैं।

खजुराहो मंदिरों के कटि प्रदेश की रचना भी महत्त्वपूर्ण है। यह भीतरी कक्ष को घेरता है और योजना का केंद्रबिंदु प्रतीत होता है।

इन मंदिरों के भीतरी और बाहरी दोनों भाग अलंकृत हैं। इनकी बाह्य भित्तियों पर अनुप्रस्थ रूप में ताख बने हैं। इनमें अर्द्ध मानवाकृति की अनेक उभरी मूर्त्तियाँ हैं। मूर्त्तियाँ अत्यन्त सजीव हैं। इनमें कुछ मूर्त्तियां महापुरुषों की और कुछ देवी- देवताओं की हैं।

2.7.2 कंदरीय महादेव मंदिर

खजुराहो-शैली की सर्वोत्कृष्ट रचना कंदरीय महादेव मंदिर है। संभवतया यह १० वीं सदी में निर्मित हुआ है। बाहर से यह १०९ फुट लंबा और ६० फुट चौड़ा है। धरातल से इसकी ऊँचाई ११६ १/२ फुट है। कंदरीय महादेव मंदिर का वास्तु विन्यास विलक्षण है। यह गुणनाकृति-योजना में नियोजित है, जिसमें दोहरी भुजाएँ हैं। इस मंदिर में अर्द्ध मंडप, महा- मंडप, अंतराल, गर्भगृह तथा प्रदक्षिणा-पथ की योजना है। इन कक्षों की व्यवस्था इस प्रकार है कि अर्द्ध मंडप की स्थिति सबसे नीचे तल पर है। तत्पश्चात् मंडप, महामंडप तथा अंतराल क्रमशः ऊँचाई पर स्थित हैं। सबसे ऊँचा गर्भगृह है। इन कक्षों के शिखर आमलक से मंडित हैं तथा इनकी ऊँचाई भी स्थिति के अनुकूल क्रमशः अधिक होती गई है। सबसे ऊँचा गर्भगृह का शिखर है, जो भव्य और शालीन है। इसमें नीचे से ऊपर अनेक प्रक्षेपण बने है, जो अंगशिखरों अथवा उरुशृंगों से अलंकृत हैं। शिखरों की यह श्रृंखला सिंहद्वार के शिखर से प्रारंभ होती है और गर्भगृह के उच्चतम शिखर तक जाकर समाप्त हो जाती है।

2.8 सारांश

भारत की धार्मिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आदि शंकराचार्य ने भारत के चार तीर्थस्थानों पर चार मठों की स्थापना की। इनमें 'ज्योतिर्मठ' बदरिकाश्रम के पास उत्तर में, 'शारदा मठ' द्वारिकाधीश में, 'शृङ्गेरी मठ' कर्णाटक में और 'गोवर्धन मठ' जगन्नाथ पुरी में स्थित है। आदि शंकर ने गोवर्धन मठ का अध्यक्ष पद्मपाद को, श्रृंगेरी का सुरेश्वराचार्य को, शारदा मठ का 'हस्तामलक को तथा ज्योतिर्मठ का तोटक को अध्यक्ष नियुक्त किया। इन मठों और मठाध्यक्षों हेतु आचार्य ने 'मठाम्नाय महानुशासन' नामक संविधान भी लिखा जिसके अनुसार इन शंकराचार्यों का दैयित्व अपने-अपने क्षेत्र में सनातन धर्म का प्रचार, प्रसार एवं संरक्षण करने का दायित्व दिया गया जिसका वे अद्यावधि पालन कर रहे हैं।

शिल्पशास्त्र के अनुसार मन्दिरों के तीन प्रकार– नागर, द्राविड़ और बेसर हैं। नागर मन्दिर वर्गाकार होते हैं। वर्गाकार गर्भगृह की ऊपरी बनावट ऊँची मीनार जैसी होती है। इनके शिखर की रेखाएं तिरछी और चोटी की ओर झुकी होती हैं तथा शीर्ष आमलक से सुशोभित रहता है। हिमालय एवं विंध्य पर्वतमाला के मध्यस्थ क्षेत्र में नागर शैली के मन्दिर विस्तृत है। द्रविड़ शैली के मंदिर 'नागर' मंदिरों से सर्वथा भिन्न हैं। इस शैली के मंदिर का आधार-भाग वर्गाकार होता है। गर्भगृह के ऊपर का भाग सीधा पिरामिडनुमा बना रहता है, इसका शीर्षभाग गुंबदाकार, छह या आठ तल का होता है। नागर और द्रविड़ शैली के मिश्रित रूप को 'बेसर' की संज्ञा दी गई है। दो विभिन्न शैलियों के कारण उत्तर और दक्षिण के विस्तृत क्षेत्र के बीच स्वतः एक क्षेत्र बन गया जहाँ इनके मिश्रित रूप में बेसर - शैली प्रस्फुटित हुई। इस शैली के मंदिर विंध्य पर्वतमाला से कृष्णा नदी तक निर्मित हैं।

2.9 पारिभाषिक शब्दावली

1. अभ्यषिच्यत = अभिषेक किया
2. विन्दति = प्राप्त करता है
3. रूढपीठोऽपि = पद पर बैठा हुआ भी
4. निग्रहार्हो = त्याग करने योग्य

2.10 सन्दर्भग्रन्थ

1. शाङ्करदिग्विजयम्, विद्यारण्यविरचित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क २२, आनन्दाश्रम, पुणे
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी वी काणे, उ प्र हिन्दी संस्थान, लखनऊ
3. मन्दिर स्थापत्य का इतिहास, सान्वरिया लाल शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषत्, बिहार

2.11 बोधप्रश्न

1. मंदिर के प्रकारों का निरूपण कीजिए।
2. गुप्तकालीन मंदिरों का निरूपण कीजिए।
3. उड़ीसा के मंदिरों की विशेषताएं बताइए।

इकाई 3 कुम्भ मेला

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- कुम्भ पर्व के धार्मिक परिप्रेक्ष्य का वर्णन कर सकेंगे।
- कुम्भ के वैदिक और पौराणिक सन्दर्भ बता सकेंगे।
- कुम्भ पर्व के ज्योतिषीय-योगों एवं मुहूर्त का निरूपण कर सकेंगे।
- कुम्भ के माहात्म्य का निरूपण कर सकेंगे।
- कुम्भ-मेले के वैशिष्ट्य का निर्धारण कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

प्रिय अध्येता! पञ्चम पाठ्यक्रम के सप्तम खण्ड की तीसरी इकाई में आपका हार्दिक स्वागत है।

इस इकाई में आप कुम्भ महापर्व एवं इस पर्व पर आयोजित होने वाले मेले के विषय में विस्तार से अध्ययन करेंगे। जैसा कि आप जानते हैं हिन्दू संस्कृति के श्रेष्ठतम पर्वों में से एक कुम्भ है। हिन्दू संस्कृति में यह दृढ़ मान्यता है कि इस पर्व पर किया गया स्नान अमरत्व की प्राप्ति कराता है। न केवल इस पर्व का वैदिक, पौराणिक एवं वैज्ञानिक आधार है अपितु इसका ज्योतिषीय आधार भी है। कुम्भ की अवधारणा एवं उसका उल्लेख विश्व के आदितम एवं श्रेष्ठतम वाङ्मय वैदिक साहित्य में मिलता है। वेदों में कुंभ का वर्णन भारतीय जनमानस के लिये पूर्ण प्रामाणिक एवं हृदयंगमकारी है। इसलिए भारतीय संस्कृति में इसका आयोजन कितना पुराना है इस विषय में निश्चित तौर पर कुछ पाना यदि असंभव नहीं तो कम-से-कम सरल कतई नहीं है। इस कुंभ पर्व का और इस पर आयोजित होने वाले मेले का महत्व इसलिये भी अधिक है क्योंकि सम्पूर्ण भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त भारतीय संस्कृति के अनुयायी; चाहे वे भारतीय हों या वैदेशिक, इस पर्व पर स्नान करने के लिये इस मेले में आते हैं। इस तरह यह विश्व का सबसे बड़ा मेला कहा जाता है। तो क्या है इस पर्व का आधार? इसका इतना महत्त्व क्यूं है और मेले का आयोजन किस प्रकार व कहाँ-कहाँ होता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर आप इस इकाई के अध्ययन से प्राप्त करेंगे।

3.2 धार्मिक चेतना का प्रतिबिम्ब कुम्भ महापर्व

मित्र! जैसा कि आप जानते हैं सम्पूर्ण विश्व का आधार 'धर्म' है कहा भी है - 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'। धर्म के आधार पर ही समस्त मानव समाज प्रतिष्ठित है। जैसे-जैसे समाज में धर्म का पालन कम होने के साथ-साथ अधर्म बढ़ता जाता है वैसे-वैसे समाज का विघटन होने लगता है। धर्म ने ही मानव समाज को एक सूत्र में बाँध रखा है। कहा है –'**धर्मः धारयते प्रजाः**'।

जिस प्रकार सभी धर्मों में अपनी-अपनी विशेषता होती है और कुछ आदर्श भी होते हैं ठीक इसी प्रकार से हिन्दू- धर्म में भी कुछ विशेषताएँ और आदर्श हैं। इनमें सभ्यता- संस्कृति, रीति-रिवाज, नियम- नीति, वेश-भूषा, रहन- सहन, खान-पान, व्रत-पर्व तथा त्योहार आदि विशेष उल्लेख्य हैं। कुम्भमेला महापर्व इन पर्व-उत्सवों में अग्रगण्य है।

कुम्भपर्व एक महत्त्वपूर्ण और सार्वभौम महापर्व माना जाता है, जिसमें विराट मेले का आयोजन होता है। कुम्भमेला भारतवर्ष का ही नहीं, अपितु विश्व का सबसे बड़ा मेला है। 'कुम्भ' शब्दका अर्थ है घट या घड़ा है। और ब्रह्माण्ड-भाण्ड के रूप में भी इसकी कल्पना की गयी है। जहाँ पर विश्वभर के धर्म, जाति, भाषा तथा संस्कृति आदि का एकत्र समावेश हो वही कुम्भमेला है।

3.2.1 कुम्भ के वैदिक सन्दर्भ

भारत अपनी अति प्राचीन परम्पराओं को भी जीवन्त रूप इस कारण दे सका क्योंकि उसमें विश्वासनीयता है, वैज्ञानिकता है, वैदिक एवं पौराणिक कथाओं का व्यापक समर्थन एवं अनन्त फल ही प्राप्ति का सन्देश है। पूर्ण कुम्भ, अर्ध कुम्भ, महाकुम्भ इन शब्दों से भारतीय जनता वैदिक काल से ही अवगत रही है। कलश का ही पर्यायवाची शब्द कुम्भ है। ऋग्वेद तीर्थयात्रा के क्रम में कुम्भ की महत्ता का गुणगान करता है :-

जघान वृत्रं स्वधिति वनेव रूरोज पुरो अरन्दन्न सिन्धूनः।
विभेद गिरिं नवभिन्नकुम्भं भागा इन्द्रो अकृणुता स्वयुभिः ।। 10/89/07

अर्थात् तीर्थयात्रा के क्रम में कुम्भ स्नान पापों को नाश करने वाला कहा गया है। सत्कर्म, दान आदि कार्यों से पाप उसी तरह नष्ट हो जाते है, जैसे सिन्धु नदी अपने तटों को काटते हुए अपने जल में प्रवाहित कर लेती है उसी तरह मनुष्यों के कई जन्मार्जित पापों का कुम्भ स्नान प्रक्षलित कर देती है।

शुक्ल यजुर्वेद का कथन है कि कुम्भ पर्व लौकिक एवं परलौकिक सुखों को प्रदान करता है। जो सुख सत्कर्म, दान एवं यज्ञों में आहुति प्रदान करने से प्राप्त होते है वह कुम्भ स्नान एवं दान से प्राप्त हो जाते है। अथर्ववेद की घोषणा है कि -

पूर्णः कुम्भोऽधिकाल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः। अर्थव 19/53/3

अर्थात् पूर्ण कुम्भ समय - समय पर विभिन्न स्थानों में दिखाई देता है। अर्थात् 12 वर्षो के अन्तराल में हरिद्वार, प्रयाग, नासिक एवं अज्जैन में यह कुम्भ महापर्व सूर्य, वृहस्पति एवं चन्द्रमा के विभिन्न राशियों के योग से होता है।

इसी प्रकार अथर्ववेद का वचन मिलता है -

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा वदामि। अर्थव, 4/34/7

चारों कुम्भ पर्व चार जगहों पर पावन तीर्थ स्थल के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं।

3.2.2 कुम्भ पर्व के सम्बन्ध में पौराणिक मान्यताएँ

कुंभ पर्व के संदर्भ में पुराणों में तीन अलग-अलग कथायें मिलती हैं।

प्रथम कथा के अनुसार कश्यप ऋषि का विवाह दक्ष प्रजापति की पुत्रियों-दिति और अदिति के साथ हुआ था। अदिति से देवों की उत्पत्ति हुई तथा दिति से दैत्य पैदा हुए। एक ही पिता की सन्तान होने के कारण दोनों ने एक बार संकल्प लिया कि वे समुद्र में छिपी हुयी बहुत सी विभूतियों एवं संपत्ति को प्राप्त कर उसका उपभोग करें। इस प्रकार समुद्र मंथन एक मात्र उपाय था। जब देवों तथा दैत्यों ने मिलकर मन्दराचल पर्वतको मन्थन-दण्ड और वासुकि को नेती-मन्थन-रज्जु बनाकर समुद्र मन्थन किया तब समुद्र से चौदह रत्न निकले थे। जो इस प्रकार हैं -

(१) ऐरावत, (२) कल्पवृक्ष, (३) कौस्तुभमणि, (४) अश्व (उच्चैः श्रवा), (५) चन्द्रमा, (६) धनुष, (७) धेनु (कामधेनु), (८) रम्भा, (९) लक्ष्मी, (१०) वारुणी, (११) विष, (१२) शङ्ख, (१३) धन्वन्तरि और (१४) अमृत।

इस सम्बन्ध में स्कन्द पुराण के महेश्वर खंड को देखना चाहिए जो समुद्र मन्थन और उससे निर्गत रत्नों या पदार्थों का विस्तार से वर्णन किया गया है –

पुनः सर्वे सुसंरब्धा ममन्थुः क्षीरसागरम्।
मथ्यमानात्तदा तस्मादुदधेश्च तथाऽभवत्॥

कल्पवृक्षः परिजातश्चूतः सन्तानकस्तथा।
निर्मन्थमानादुदधेरभवत्सूर्यवर्चसम्॥

रत्नानामुत्तमं रत्नं कौस्तुभाख्यं महाप्रभम्।
स्वकीयेन प्रकाशेन भासयन्तं जगत्त्रयम्॥

चिन्तामणिं पुरस्कृत्य कौस्तुभं ददृशुर्हिते।
सर्वे सुरा ददुस्तं वै कौस्तुभं विष्णवे तदा॥

मथ्यमानात्ततस्तस्मादुच्चैः श्रवाः समुद्धतम्।
बभूव अश्वोरत्नानां पुनश्चैरावतो गजः॥

निर्मथ्यमानादुदधेस्तदासीत्सा दिव्यलक्ष्मीर्भुवनैकनाथा।
आन्वीक्षिकीं ब्रह्मविदो वदन्ति तथा चान्ये मूलविद्यां गृणन्ति॥

महर्षि लोमश जी ने कहा कि फिर सभी देव और दैत्यगण ने सुसंरब्ध होकर उस क्षीर सागर का मन्थन किया था। उस समय में मन्थन किये गये उस सागर से कल्पवृक्ष, पारिजात वृक्ष, सन्तानक, आम्रवृक्ष ये समुत्पन्न हुये थे। फिर देवगण ने बहुत ही शीघ्रताशाली होकर उग्रता से उस क्षीर सागर का मंथन किया था। उस निर्मथ्यमान सागर से सूर्यदेव के समान वर्चस वाला समस्त रत्नों में परम श्रेष्ठ रत्न महती प्रभा से समन्वित 'कौस्तुभ' नाम वाला समुत्पन्न हुआ था। अपने प्रकाश से तीनों भुवनों को भासित करते हुए चिन्तामणि रत्न को आगे करके उन्होंने कौस्तुभ को देखा था। सब सुरों ने उस कौस्तुभ मणि को उसी समय भगवान विष्णु को समर्पित कर दिया था। इसके उपरान्त मन्थन करने से 'उच्चैःश्रवा' नामक अश्व समुद्भुत हुआ। इसके पश्चात् 'ऐरावत' हाथी समुत्पन्न हुआ था।

उन सबको मध्य में करके फिर उन्होंने मन्थन किया था। इस तरह से निर्मथ्यमान सागर से बहुत से रत्न निकले थे। फिर वहाँ पर उन महान असुरेन्द्रों ने देवगणों के साथ मिलकर उस सागर का मन्थन किया था। उस समय में मन्थन किए गये सागर से वह दिव्य 'लक्ष्मी' प्रकट हुई थी जो भुवनों की एकमात्र स्वामिनी हैं। ब्रह्म वेत्ता इस देवी को 'आन्विक्षिकी' कहा करते हैं तथा अन्य लोग इसी देवी को 'मूलविद्या' इस नाम से ग्रहण किया करते हैं।

प्रणम्य परमात्मानं रमायुक्तजनार्दनम्।
अमृताथ ममन्थुस्ते सुरासुरगणाः पुनः॥

उदधेर्मथ्यमानाच्च निर्गतः सुमहायशाः।
धन्वन्तरिरिति ख्यातो युवा मृत्युञ्जयः परः॥

पाणिभ्यां पूर्णकलशं सुधायाः परिगृह्य वै।
यावत्सर्वे सुराः सर्वे निरीक्षन्ते मनोहरम्॥

तदा दैत्याः समं गत्वा हर्तुंकामा बलादिव।
सुधया पूर्णकलशं धन्वन्तरिकरे स्थितम्॥

यावत्तरङ्गमालाभिरावृतोऽभुद्भिषक्तमः।
शनैः शनैः समायातो दृष्टोऽसौ वृषपर्वणा॥

करस्थः कलशस्तस्य हृतस्तेन बलादिव।
असुराश्च ततः सर्वे जगर्जुरतिभीषणाम्॥

कलशं सुधया पूर्णं गृहीत्वा ते समुत्सुकाः।
दैत्याः पातालमाजग्मुस्तदादेवाश्रमान्विताः॥

अनुजग्मुः सुसंनद्धा योद्धुकामा च तैः सह।
तदा देवान्समालोक्य बलिरेवमभाषत॥

महर्षि प्रवर लोमश ने कहा- रमादेवी से समन्वित परमात्मा भगवान् जनार्दन को प्रणाम करके फिर उन सुर और असुरों के गण ने अमृत की प्राप्ति करने के लिए समुद्र का मन्थन करना आरम्भ कर दिया था। उस मथ्यमान उदधि से सुन्दर महान् यक्ष से सम्पन्न, युवा, मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले परम 'धन्वन्तरि' - इस नाम से विख्यात प्रकट हुए। उनके दोनों हाथों में सुधा = अमृत से परिपूर्ण कलश (कुम्भ) दिख रहा था उनको सभी सुरगण बहुत ही सुन्दर के साथ देख रहे थे। उसी समय में दैत्यगण एक साथ एकत्रित होकर बल पूर्वक उस अमृत के कलश को हरण करने की इच्छा वाले हो गये थे जो कि सुधा का कलश भगवात् धन्वन्तरि के कर में स्थित था तभी उस इन्द्र ने उन धन्वन्तरि के हाथ में स्थित उस सुधा के कलश को बल पूर्वक ग्रहण कर लिया था। इसके पश्चात् सब असुर गण अत्यन्त भीषणता के साथ गर्जना करने लगे थे। उस सुधा से परिपूर्ण कलश को असुरों ने ग्रहण कर लिया था और बहुत ही उत्सुक होते हुए दैत्यगण पाताल में आ गये थे। उस समय में समस्त देवता श्रम युक्त हो गये थे। वे सभी उन दैत्यों के पीछे ही चले गये और उन दैत्यों के साथ युद्ध करने की इच्छा करने लगे थे।

प्रिय अध्येता! जैसा कि आपने अभी तक पढ़ा कि जैसे ही धन्वन्तरि अमृतकुम्भ को लेकर निकले कि इस अमृतकलश को प्राप्त करने के लिये देवताओं और दैत्यों के बीच युद्ध छिड़ गया, क्योंकि उसे पीकर दोनों अमरत्व की प्राप्ति करना चाह रहे थे। स्थिति बिगड़ते देख देवराज इन्द्र ने अपने पुत्र जयन्त को संकेत किया और इन्द्र के पुत्र जयन्त अमृतकुम्भ को लेकर वहाँ से भाग निकले। दैत्यगुरु शुक्राचार्य के आदेशानुसार दैत्यों ने अमृतकलश छीनने के लिये जयन्त का पीछा किया। जयन्त और अमृतकलश की रक्षा के लिये देवगण भी दौड़ पड़े। आकाशमार्ग में ही दैत्यों ने जयन्त को जाकर घेर लिया। तब तक देवगण भी जयन्त की रक्षा के लिये वहाँ पहुँच चुके थे। फिर क्या था, देवों और दैत्यों में युद्ध ठन गया और बारह दिन तक युद्ध चलता रहा। उस समय सूर्य आदि देवता जयन्त तथा अमृतकलश की रक्षा के लिये सहायता कर रहे थे। संघर्ष के दौरान अमृत-कुंभ को सुरक्षित रखने में बृहस्पति सूर्य, और चन्द्रमा ने बड़ी भूमिका निभाई। सूर्य ने उस कुम्भ की फूटने से रक्षा की और चन्द्रमा ने अमृत छलकने नहीं दिया। फिर भी, संग्राम के दौरान मची उथल-पुथल से अमृतकुंभ से चार बूँदें छलक ही गयीं। ये चार स्थानों पर गिरीं। इनमें एक गंगा तट, हरिद्वार में दूसरी त्रिवेणी संगम, प्रयाग में तीसरी शिप्रा तट, उज्जैन में और चौथी गोदावरी तट नासिक में इस प्रकार इन चारों स्थानों पर अमृतप्राप्ति की कामना से कुंभ पर्व मनाया जाने लगा। देवों के बारह दिन मनुष्यों के लिये बारह वर्ष के बराबर होते हैं। इस कारण कुम्भमेला भी बारह वर्ष के बाद एक स्थान पर होता आया है, इसे पूर्णकुम्भ के नाम से कहते हैं। देवों तथा असुरों के कलह को शान्त करने के लिये भगवान् विष्णु मोहिनी रूप धारण कर प्रकट हुए तो युद्ध तत्काल थम गया और दोनों पक्षों ने यही निश्चय किया कि अमृत पिलाने का भार इन्हीं पर छोड़ दिया जाय। तब मोहिनीरूपधारी विष्णु ने दैत्यों को अमृत का भाग न देकर देवताओं को पिला दिया। इसलिये देवगण अमर हो

गये।

जिन चार स्थानों में अमृत की बूँदें गिर गयी थीं वे चार स्थान हैं - हरिद्वार, प्रयागराज, नासिक और उज्जैन। इसीलिये इन चार स्थानों में बारह वर्षों के बाद कुम्भमेला लगता है, जो लगभग ढाई महीने तक चलता है। इसे पूर्णकुम्भ के नाम से जाना जाता है।

दूसरी कथा के अनुसार अपने क्रोध के लिए विख्यात महर्षि दुर्वासा ने किसी बात पर प्रसन्न होकर देवराज इन्द्र को एक दिव्य माला प्रदान की, किन्तु अपने घमण्ड में चूर होकर इन्द्र ने उस माला को ऐरावत के मस्तक पर रख दिया। ऐरावत ने माला लेकर पैरों तले रौंद डाला। यह देखकर महर्षि दुर्वासा ने इसे अपना अपमान समझा और क्रोध में आकर इन्द्र को शाप दे दिया। दुर्वासा के शाप से सारे संसार में हाहाकार मच गया। रक्षा के लिए देवताओं और दैत्यों ने मिलकर समुद्र मंथन किया, जिसमें से अमृतकुंभ निकला, किन्तु यह नागलोक में था। अतः इसे लेने के लिये पक्षिराज गरुड़ को जाना पड़ा। नागलोक से अमृत घट लेकर गरुड़ को वापस आते समय इन चार स्थानों पर रखना पड़ा और ये चार स्थान हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन, और नासिक कुंभस्थल के नाम से विख्यात हो गये।

तीसरी कथा यह मिलती है कि एक बार प्रजापति कश्यप की दो पत्नियों-विनता और कद्रू के बीच इस बात पर विवाद हो गया कि सूर्य के रथ के अश्वों की पूंछ के बाल काले हैं या सफेद। विवाद बढ़ने पर दोनों के बीच शर्त यह तय हुई कि जो हार जायेगी वह दासी बनेगी। रानी कद्रू ने अपने पुत्र नागराज वासुकि की सहायता से अश्वों के श्वेत रंग की पूंछ को काला कर दिया, जिससे विनता की हार हुई। अंततः विनता ने कद्रू से प्रार्थना की कि वह उसे दासीत्व से मुक्त कर दें। कद्रू ने पुनः शर्त रखी कि यदि वह नागलोक में रखे अमृत घट को उसे लाकर दे दे तो दासीत्व से मुक्त हो सकती है। विनता ने अपने पुत्र गरुड़ को इस कार्य में लगा दिया। गरुड़ जब अमृत घट लेकर आ रहे थे तो रास्ते में इन्द्र ने उन पर आक्रमण कर दिया। संघर्ष के कारण घट से अमृत की कुछ बूँदें छलककर चार अलग-अलग स्थानों पर गिरीं और उन्हीं स्थानों पर कुंभ पर्व होने लगा।

3.2.3 कुम्भ पर्व के आयोजन में ज्योतिषीय परिप्रेक्ष्य

ज्योतिषीय-ग्रंथोक्त सिद्धान्तों के आलोक में हिन्दू संस्कृति के अनुसार चूंकि देवताओं का एक दिन, हमारे सौर-मान से एक वर्ष के तुल्य माना जाता है। सूर्य सिद्धान्त कहता है –

मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदह उच्यते।

बारह मासों के द्वारा देवताओं का एक दिन कहा जाता है।

इस प्रकार एक दिव्य दिवस एक सांसारिक वर्ष के बराबर होता है। इसीलिए बारह दिन तक चले युद्ध को बारह वर्ष माना जाता है। इस प्रकार प्रत्येक बारहवें वर्ष कुंभ की आवृत्ति होती है।

कहा है -

देवानां द्वादशभिर्मासैर्मर्त्यैः द्वादशवत्सरैः।
जायन्ते कुम्भपर्वाणि तथा द्वादश संख्यया॥

अर्थात् मर्त्यैः द्वादशवत्सरैः = मनुष्यों के बारह वर्षों के द्वारा, देवताओं के बारह १२ दिन सम्पन्न होते हैं इसलिए १२-१२ वर्षों के अन्तराल पर कुम्भ पर्व होते हैं। इसी पद्य का एक

दूसरा भाव यह भी है कि कुम्भ पर्वों की १२ संख्या हो जाने पर, जो कि १४४ वर्षों में होती है १२ कुम्भों का एक चक्र सम्पन्न होता है जिस अवसर पर विशेष महाकुम्भ योग भी बनता है।

जिस दिन अमृत-कुंभ गिरने वाली राशि पर सूर्य चन्द्रमा और बृहस्पति का संयोग हो, उस समय पृथ्वी पर कुंभ होता है।

तात्पर्य यह है कि राशि विशेष में सूर्य-चन्द्र के स्थित होने पर अमृतकुंभ रूपी चन्द्र उक्त चारों स्थानों पर अपने परम शुभ प्रभाव का अमृत बरसाता है और उसी की प्राप्ति हेतु कोटि-कोटि श्रद्धालुजन कल्पवास तथा स्नान करते हैं। इन चारों स्थानों पर राशि-ग्रहयोग अलग-अलग होते हैं।

3.2.4 प्रयाग में कुम्भ के ज्योतिषीय योग

प्रयाग में कुम्भ का विशेष महत्त्व है क्योंकि यह १२ वर्षों के बाद गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम पर आयोजित किया जाता है। प्रयाग को ब्रह्माण्ड का उद्गम और पृथिवी का केंद्र माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि स्वयं ब्रह्मा जी ने यहां अश्वमेध यज्ञ किया था।

मेषराशि गते जीवे मकरे चन्द्रभास्करौ।
अमायां स्यात् तदा योगः कुंभाख्यः तीर्थनायके॥

जब सूर्य और चन्द्रमा मकर राशि में हों और बृहस्पति मेष राशि में हो, तभी यह कुंभ-योग पड़ता है। यह स्थिति माघ महीने की अमावस्या को बनाती है। इस अवसर पर तीर्थनायके = तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ पर्व मनाया जाता है।

इसके अतिरिक्त वृष राशि में गुरु के होने पर भी प्रयाग में कुम्भ की बात अन्यत्र कही जाती है।

मकरे च दिवानाथे नृपगे च बृहस्पतौ।
कुम्भयोगो भवेत्तत्र प्रयागे ह्यतिदुर्लभः॥

अर्थात् वृष राशि में बृहस्पति हों और जिस दिन सूर्यनारायण मकर राशि में प्रवेश करते हों, उस योग को कुम्भयोग कहते हैं। ऐसा योग प्रयाग के लिये अतिदुर्लभ होता है। अन्यत्र भी कहा है-

माघे वृषगते जीवे मकरे चन्द्रभास्करौ।
अमायां च ततो योगः कुम्भाख्यस्तीर्थनायके॥

उस माघमास में अमावास्या के दिन बृहस्पति वृषराशि में हों, सूर्य तथा चन्द्र मकरराशि में हों,तब कुम्भयोग समस्त तीर्थों के नायक राजा प्रयागराज में होता है।

3.2.5 नासिक में कुम्भ

द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक त्र्यम्बकेश्वर शिवलिंग नासिक से ३८ किलोमीटर दूर त्र्यम्बक नामक स्थान में स्थापित है। यहां कुम्भ-मेले का ज्योतिषीय-योग इस प्रकार है-

सिंहराशिगते सूर्ये सिंहे चन्द्रबृहस्पतौ
गोदावर्यां भवेत्कुंभः पुनरावृत्तिवर्जनम्॥

जब सूर्य सिंह राशि में स्थित हो, चन्द्रमा और बृहस्पति भी सिंह राशि में हों अर्थात् तीनों के तीनों ग्रह आकाश में एक ही स्थान = सिंह राशि में हों, तब गोदावरी तट पर नासिक में कुंभ

योग होता है। भाद्रपद (भादों) मास की अमावस्या को यह स्थिति आती है। यह कुम्भ पुनरावृत्ति अर्थात् जन्म-मृत्यु के क्रम का वर्जन = त्याग करता है अर्थात् कुम्भ में स्नान करने से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

वृश्चिक राशि पर बृहस्पति का योग होने पर नासिक में पूर्णकुम्भ का योग होता है जहाँ कुम्भ का मेला लगता है।

3.2.6 उज्जैन में कुम्भ

उज्जैन मध्यप्रदेश की पश्चिमी सीमा पर क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित है। यह हिन्दू-धर्म में प्रचलित सात मोक्ष-दायक पुरियों में से एक है। खगोलशास्त्रीय दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्त्व है क्योंकि यहां देशांतर शून्य अंश माना गया है।

मेषराशिगते सूर्ये सिंहराशौ बृहस्पतौ।
पौर्णिमायां भवेत्कुंभः उज्जयिन्यां सुखप्रदः ।।

अर्थात् मेष राशि में जब सूर्य हो और सिंह राशि में बृहस्पति हो तब उज्जैन में कुंभ-योग पड़ता है। यह स्थिति वैशाख मास की पूर्णिमा को होती है।

जिनका ज्योतिष-शास्त्र में प्रवेश प्राय: नहीं है उनके मन में यह जिज्ञासा उठ सकती है कि ऊपर कहे गए श्लोक में चंद्रमा की आकाशीय स्थिति का वर्णन नहीं किया गया है अर्थात् वह किस राशि में स्थित होगा इस बात को नहीं बताया गया है। वस्तुतः पूर्णिमा से अभिप्राय है जिस दिन सूर्य और चन्द्रमा एक-दूसरे के ठीक सामने अर्थात् १८० अंश के अंतर पर हों। अब चूंकि ३० अंश की १ राशि होती है। इसलिए १८० अंश = ६ राशि, आशय यह है कि पूर्णिमा के दिन सूर्य जिस राशि पर होगा उससे ६ राशि दूर चंद्रमा की स्थिति होगी। अब चूंकि प्रसंग में सूर्य की मेष राशि में स्थिति बताई गयी है इसलिए चन्द्रमा उससे ६ राशि दूर अर्थात् तुला राशि में स्थित होगा।

3.2.7 हरिद्वार में कुम्भ

हरिद्वार हिमालय पर्वत-श्रृंखला के शिवालिक पर्वत के नीचे स्थित है। हरिद्वार को 'तपोवन', 'मायापुरी', 'गंगाद्वार', 'मोक्षद्वार' आदि नामों से जाना जाता है। यहां मेले के आयोजन हेतु जो खगोलीय-स्थिति बनती है वह इस प्रकार है -

कुंभराशि गते जीवे द्विदने मेषगो रविः।
हरिद्वारे कृतं स्नानं पुनरावृत्ति वर्जनम् ।।

तात्पर्य यह है कि कुंभ राशि का बृहस्पति हो और मेष राशि में सूर्य संक्रांति हो, तब हरिद्वार में कुंभ होता है। यहाँ पर यह स्थिति मेष संक्रांति के समय अर्थात् चैत्र या वैशाख मास में होती है।

3.3 कुम्भ स्नान का मुहूर्त

संक्रांति के पूर्व और पश्चात की १६ घड़ियों में पुण्यकाल माना जाता है। मुहूर्तचिन्तामणिकार आचार्य राम दैवज्ञ कहते हैं –

सङ्क्रान्तिकालादुभयत्र नाडिका: पुण्या मता षोडश-षोडशोष्णगोः।

यदि आधी रात से पहले मुहूर्त तिथि हो तो पहले दिन तीसरे पहर का काल पुण्यकाल होता है और यदि मुहूर्त तिथि आधी रात के पहले हो तो पहले दिन तीसरे पहर में पुण्यकाल होगा। यदि मुहूर्त तिथि आधी रात के बाद हो तो दूसरे दिन प्रातः पुण्यकाल माना जाता है। इसके अतिरिक्त मकर की संक्रांति का पुण्यकाल ४० घड़ी, कर्क की संक्रांति का पुण्यकाल ३० घड़ी, तुला और मेष की संक्रांति का पुण्यकाल २०-२० घड़ी तथा शेष अन्य राशियों की संक्रांति का पुण्यकाल १६-१६ घड़ी पूर्व और पश्चात् माना जाता है।

प्रयाग में कुंभ और अर्धकुंभ का योग माघ मास में मकर संक्रांति से प्रारम्भ होता है और मास पर्यन्त रहता है। इस कुंभ-स्थल में अन्य सभी कुंभ-स्थलों की अपेक्षा बहुत अधिक जनसमुदाय उमड़ता है तथा यहाँ मेले का विस्तार क्षेत्र भी सर्वाधिक होता है।

3.4 अर्धकुम्भ एवं महाकुम्भ

कुंभ उक्त चारों स्थानों पर प्रत्येक बारह वर्ष में होता है, किन्तु अर्धकुंभ पर्व प्रत्येक छः वर्षों में केवल प्रयाग और हरिद्वार में मनाया जाता है। इसके बारे में पुष्ट प्रमाण बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा चीनी यात्री ह्वेनसांग के 'भारत वर्णन' में पाये जाते हैं। प्रमाणों के अनुसार महाराजा हर्षवर्धन पाँच वर्ष पूरे होने पर प्रत्येक छठें वर्ष में प्रयाग और हरिद्वार जाकर राजकार्यों से पाँच वर्षों का अर्जित संपूर्ण धन-धान्य दान कर देते थे तथा अपनी बहन से पुराना वस्त्र माँगकर पहनते थे और पुनः राजकार्य में लग जाते थे। उन्हीं के काल में अन्य सम्राट और संतजन भी अर्धकुंभ का पुण्य प्राप्त करने की लालसा से आते थे, जिनके मास पर्यन्त निवास और भोजन की व्यवस्था स्वयं सम्राट हर्ष करते थे। हरिद्वार तथा प्रयाग में छः साल के पश्चात् अर्धकुम्भ का मेला भी आयोजित होता है। हरिद्वार के अर्धकुम्भ के अवसर पर नासिक का कुम्भ मेला होता है और प्रयाग के अर्धकुम्भ के समय उज्जैन का कुम्भ होता है।

१२-१२ वर्षों के अनन्तर पर होने वाले कुम्भ पर्व जब १२ हो जाते हैं तब एक महाकुम्भ-पर्व लगता है, जो प्राय: १२×१२ = १४४ वर्षों में एक बार लगता है। यह महाकुम्भ तीर्थराज प्रयाग में लगता है। पिछली बार यह २००१ ई में लगा था।

3.5 कुम्भ महात्म्य

किसी पर्व की महत्ता ही उसके प्रति जनसमुदाय को आकर्षित करती है। ऐसा ही प्रभाव कुंभ का भी है। अथर्ववेद में एक मंत्र है, जिसके अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को सर्वसुख देने वाला कुंभ प्रदान किया था। यह कुंभ हरिद्वार, प्रयागादि स्थलों में तीन-तीन वर्षों के अन्तराल में प्रतिस्थापित किया गया। कुंभ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय का प्रदाता है।

सम्पूर्ण सृष्टि के कल्याण के लिये दुष्प्रवृत्तियों को दूर करने वाले पर्व को कुंभ कहा जाता है। सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने सुप्रभाव से प्रकाशित करने वाला पर्व कुंभ कहलाता है। कुम्भ पर्व के अवसर पर कुम्भ मेले में सम्मिलित होकर उन-उन स्थलों में प्रयाग आदि तीर्थों में स्नान के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहा गया है –

सहस्रं कार्तिके स्नानं माघे स्नानं शतानि च।
वैशाखे नर्मदा कोटिः कुम्भस्नानेन तत्फलम्॥

अर्थात् कार्तिक मास के एक हजार स्नान, माघ मास के सौ स्नान तथा नर्मदा के करोड़ों स्नानों

का फल कुंभ-स्नान के फल के बराबर होता है।

प्रयाग में कुम्भयोग काल में त्रिवेणी में स्नान का अत्यन्त महत्त्व है। त्रिवेणी-स्नान के महत्त्व को इस प्रकार बताया गया है -

प्रयागे माघमासे तु त्र्यहं स्नानस्य यद्भवेत्।
नाश्वमेधसहस्त्रेण तत्फलं लभते भुवि॥

अर्थात् प्रयागराज में माघमास में, त्र्यहं = त्रिकाल में (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) स्नान करने से जो फल मिलता है, वह फल पृथ्वी में हजार अश्वमेध यज्ञ करने पर भी नहीं प्राप्त होता है। कहीं-कहीं 'त्र्यहं' शब्द से 'तीन दिन' यह अर्थ भी ग्रहण किया जाता है। अर्थात् इस अवसर पर त्रिवेणी संगम में ३ दिन स्नान करने का फल एक हज़ार अश्वमेध यज्ञ के समान फलप्रद होता है।

कुम्भ-मेलों का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है कि इस अवसर पर आयोजित होने वाले मेले में सम्मिलित होकर नदी में स्नान अवश्य करना चाहिए। जिस प्रकार कुम्भ-मेले में स्नान का महत्त्व ऊपर बताया गया है उसी प्रकार अन्यत्र इसके महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है -

अश्वमेधसहस्त्राणि वाजपेयशतानि च।
लक्षं प्रदक्षिणा भूमेः कुम्भस्नानेन तत्फलम्॥

एक हजार अश्वमेध यज्ञ करने से, सैकड़ों वाजपेय यज्ञ करने से और लाख बार पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने से जो फल मिलता है, वही फल कुम्भ-पर्व पर स्नान करने मात्र से प्राप्त हो जाता है।

3.6 प्रयाग के घाट

कुम्भ अर्थात् घट जो इस जगत् का प्रतीक है और जिसमें घाट-घाट अर्थात् प्रकृति के विविध स्वरूपों का जल संचित है। प्रत्येक घाट की अलग-अलग महिमा गाई गयी है। कुम्भ पर्व के दौरान गंगा की पावन धारा में अमृत का सतत प्रवाह होता रहता है।

दशाश्वमेध घाट

दशाश्वमेध घाट गंगातट का एक प्रमुख घाट है। मत्स्य पुराण में वर्णित प्रसंग के अनुसार जब महर्षि मार्कण्डेय ने धर्मराज युधिष्ठिर को प्रयाग माहात्म्य बताया तो उससे प्रोत्साहित होकर युधिष्ठिर ने गंगा के इस पावन तट पर दस अश्वमेध यज्ञ किये और तभी से यह घाट दशाश्वमेध घाट के नाम से प्रसिद्ध है। इस घाट के ठीक सामने भूतभावन भगवान शिव का मंदिर है। गंगा स्नान करने के बाद श्रद्धालुजन शिवजी पर गंगाजल चढ़ाते हैं और तब जाकर इस घाट में स्नान की पूर्णता मानी जाती है। इस घाट पर स्नान का महत्व काशी के दशाश्वमेध घाट के समान कहा गया है। यद्यपि गंगा की विशेष स्थिति के कारण यहाँ अभी तक कोई पक्का घाट नहीं बनाया गया है, किन्तु यहाँ स्नान करने वालों की भीड़ उमड़ती रहती है। यह घाट दारागंज मुहल्ले से आगे जाने पर शास्त्री पुल के उत्तर में स्थित है।

राम घाट

अति प्राचीन नगरी प्रतिष्ठानपुरी (झूसी) के निकट गंगातट पर स्थित राम घाट कई प्रकार से महत्वपूर्ण है।

3.7 कुम्भ : एक आध्यात्मिक दृष्टि

कुम्भ मेला गृहस्थों और जन-सामान्य को पुण्य-अर्जित करने का अवसर प्रदान करने के साथ ही साथ सन्त-महात्माओं और आध्यात्मिक-चेतना से सम्पन्न व्यक्तियों और दार्शनिकों के लिए **'हंस: सोऽहं'** की प्रत्यभिज्ञा में अभिमुख होने व उसमें रत रहने का अद्भुत अवसर प्रदान करने का महापर्व है।

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह बात कह्यो है ज्ञानी॥

यह जल ही सृष्टि एवं लय इन दोनों का प्रतीक है और वही जीवन और मृत्यु इन दोनों ही अवस्थाओं का साक्षी होता है। जल से (वीर्य और रज) से आरब्ध जीवन पुन: मृत्यूपरांत उसी जल में अस्थि-विसर्जन के माध्यम से दैहिक-यात्रा की पूर्णता को प्राप्त होता है। और इस जीवन-मृत्यु के बीच भी जल ही है। जल के मध्य कुम्भरूपी जगत् (समष्टिरूप में) या जीव (व्यष्टि रूप में) स्थित है। कुम्भ के फूटते ही जीव या जगत उसी जल या आद्य-अवस्था को प्राप्त करके परब्रह्म कुम्भकार में समाहित हो जाता है। इसी जीवात्मा-परमात्मा रूपी दो सुपर्णों का एकत्व प्रदार्शित करने वाला यह महापर्व मुक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने में सहायक होता है। यह कुम्भ-पर्व इसी आध्यात्मिक-यात्रा का प्रतिरूप है। इस कुम्भ के फूटते = प्रकट होते ही सभी जीव जल में डुबकी लगाकर स्वयं को तदाकाराकारित्व की भावना से ओत-प्रोत करते हुए चरम-पुरुषार्थ की प्राप्ति हेतु स्वयं को सिद्ध करते हैं।

3.8 हिन्दू संस्कृति के वैशिष्ट्य अनेकता में एकता का प्रतिफलनः कुम्भ

हमारे प्राचीन काल के ऋषि-मुनि नितान्त ही दूरदर्शी तथा कुशाग्रबुद्धि थे। इसे चार स्थलों पर ३ वर्षो के अन्तराल पर पर्व के रूप में मनाने का अद्भुत प्रयास आदि शंकरचार्य ने ८वीं सदी में किया। उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन वैदिक सनातनधर्म, संस्कृति, सभ्यता, व्रत, पर्व, त्योहार तथा उपासना आदि की रक्षा के लिये एवं इस आर्यावर्त देश की एकता, अखण्डता और गौरव – गरिमा को बनाये रखने के लिये इनकी स्थापना की थी। जैसा कि पूर्व में भी इस बात का उल्लेख किया गया कि भारत के सम्राट् हर्षवर्द्धन अपने मन्त्रियों तथा अपने अधीन राजाओं के साथ तीर्थराज प्रयाग जाते थे। उनके साथ वलभी के राजा तथा कामरूप के राजकुमार आदि भी प्रयागराज के कुम्भ में जाते थे। इनके साथ सेना होती थी और सेनाओं की छावनी प्रयाग के चारों ओर डाली जाती थी। आज भी बड़े समारोह के साथ कुम्भ का पर्व मनाया जाता है, जो भारतवर्ष के उस प्राचीनतम महान् गौरव को उजागर करता है।

भारतीय तीर्थो एवं पर्वो के पीछे सांस्कृतिक एकता, सहिष्णुता, एवं सामाजिक समरसता का संदेश छिपा हुआ है। यह प्रत्यक्ष ही देखा जा सकता है कि उत्तर भारत के लोग दक्षिण भारत में तिरुपति, रामेश्वरम् तथा कन्याकुमारी आदि तीर्थस्थानों में जाकर अपने को कृतार्थ मानते हैं और दक्षिण भारत के लोग उत्तर भारत में स्थित प्रसिद्ध तीर्थ बद्रीनाथ, केदारनाथ, गङ्गोत्री, यमुनोत्री, जगन्नाथपुरी, काशी तथा प्रयाग आदि तीर्थस्थानों की यात्रा करके अपने को धन्य मानते हैं।

कुम्भपर्व में जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, राज्य, संस्कृति, साहित्य, दर्शन, वेशभूषा अर्थात्

पहनावा आदि सभी संदर्भों में अनेकता में एकता का दर्शन होता है। साधु- संत, धनी-मानी, विद्वान्, कर्मकाण्डी, योगी, ज्ञानी, कथावाचक, तत्त्वदर्शी, सिद्ध महापुरुष, सेठ - साहूकार, भिखारी, व्यापारी, गृहस्थ, संन्यासी, ब्रह्मचारी, कल्पवासी, अधिकारी, बूढ़े, जवान, सभी का इस कुम्भ में समागम होता है। विभिन्न धर्म, संस्कृति तथा सम्प्रदायों का संगम इन कुम्भ मेलों में होता है जो एक सहज आकर्षण है। यह मेला पन्थ, जाती, वर्ग और व्यक्ति के सापेक्ष नहीं है, अपितु यह सार्वभौमिक, सर्वजनहिताय की भावना का परम द्योतक है। जिस प्रकार सभी नदियां सागर में एकाकार हो जाती हैं ठीक उसी प्रकार समाज के सभी वर्ग, भाषा, प्रान्त, वेश-भूषा से पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखने वाले लोग अपने अपने स्वत्व को या कहें कि अहंता (वैशिष्ट्य) को कुम्भ-स्नान के माध्यम से मानों समाहित करके एकाकार हो जाते हैं। कुम्भ के अमृत-वितरण में बंधन नहीं सभी वर्ग-वर्ण आदि से परे अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ विविध रंगों वाले मोतियों के समान एक माला में इस मेला के द्वारा सहज ही पिरो दिए जाते हैं।

कुम्भ मेले में अखाड़ों की ओर से शाही-स्नान की अत्यन्त रोचक परम्परा भी है। प्रमुख स्नान के दिनों में जिसे 'शाही स्नान' भी कहा जाता है, अलग-अलग अखाड़ों से सम्बद्ध साधु-गण अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रों का प्रदर्शन करते हुए स्नान को एक साथ शोभायात्रा' निकालते हैं। कुम्भ में कुल १३ अखाड़े सम्मिलित होते हैं। प्रत्येक अखाड़े के अपने प्रतीक-चिह्न और ध्वज निश्चित हैं। कुम्भ के मेले में प्रत्येक अखाड़ा अपने ध्वज और प्रतीकों के साथ पूर्व से निर्धारित स्थानों पर अपने-अपने शिविर में रहता है। विभिन्न अखाड़ों के लिए इस शाही स्नान का क्रम भी पूर्व में ही सुनिश्चित रहता है। इस भव्य शोभायात्रा में अपने-अपने अखाड़ों के प्रमुख संतों की सवारी सजे-धजे हाथी, पालकी या भव्य रथ पर निकलती है। उनके आगे-पीछे सुसज्जित हाथी, ऊँट, घोड़े और बैण्ड भी होते हैं। विशेषकर नागा साधुओं की शोभायात्रा रोमांच और कुतूहल को उत्पन्न करने वाली होती है।

अतः श्रद्धा- विश्वास के साथ हमें इनका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि इसमें हमारा कल्याण है।

3.9 सारांश

जिस प्रकार सभी धर्मों में अपनी-अपनी विशेषता होती है और कुछ आदर्श भी होते हैं ठीक इसी प्रकार से हिन्दू- धर्म में भी कुछ विशेषताएँ और आदर्श हैं। इनमें सभ्यता- संस्कृति, रीति-रिवाज, नियम- नीति, वेश-भूषा, रहन- सहन, खान-पान, व्रत-पर्व तथा त्योहार आदि विशेष उल्लेख्य हैं। कुम्भमेला महापर्व इन पर्व-उत्सवों में अग्रगण्य है। कुंभ पर्व के संदर्भ में पुराणों में तीन अलग-अलग कथायें मिलती हैं। जब माघ महीने की अमावस्या को सूर्य और चन्द्रमा मकर राशि में हों और बृहस्पति मेष राशि में हो, तभी प्रयाग में कुंभ-योग पड़ता है। यह स्थिति बनती है। कार्तिक मास के एक हजार स्नान, माघ मास के सौ स्नान तथा नर्मदा के करोड़ों स्नानों का फल कुंभ-स्नान के फल के बराबर होता है।। कुम्भ मेले को चार स्थलों पर ३ वर्षो के अन्तराल पर पर्व के रूप में मनाने का अद्भुत प्रयास आदि शंकरचार्य ने ८वीं सदी में किया। और इस तरह उन्होंने भारतवर्ष के प्राचीन वैदिक सनातनधर्म, संस्कृति, सभ्यता, व्रत, पर्व, त्योहार तथा उपासना आदि की रक्षा के लिये एवं इस आर्यावर्त देश की एकता, अखण्डता और गौरव–गरिमा को बनाये रखने के लिये इनकी स्थापना की थी।

3.10 पारिभाषिक शब्दावली

ममन्थु: = मन्थन किए

आहित: = स्थापित किया गया

उदधे: = समुद्र से

महाप्रभम् = अत्यन्त कान्तिमान

आजग्मु: = आ गये

मर्त्यैः द्वादशवत्सरै: = मनुष्यों के बारह वर्षों के द्वारा

3.11 सन्दर्भग्रन्थ

१. हिन्दू संस्कृति अंक, कल्याण, गीता प्रेस।

२. हिन्दू धर्म-कोष, राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

३. पुराण-परिशीलन, म म गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार

3.12 बोधप्रश्न

१. कुम्भ-पर्व से सम्बन्धित पौराणिक कथा का उल्लेख कीजिए।

२. प्रयाग और नासिक में लगाने वाले कुम्भ मेले के ज्योतिषीय योग का वर्णन कीजिए।

३. हरिद्वार में लगाने वाले कुम्भ व अर्धकुम्भ का ज्योतिषीय योग बताइए।

४. भारतीय संस्कृति में कुम्भ के महत्त्व को रेखांकित कीजिए।

इकाई 4 शक्तिपीठ, ज्योतिर्लिंग एवं धाम

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप

- शक्तिपीठों से विचारणीय विषयों का निरूपण कर सकेंगे।
- प्रसिद्ध शक्तिपीठों के स्थलों का उल्लेख कर सकेंगे।
- द्वादश ज्योतिर्लिंगों के इतिहास व स्वरूप का वर्णन कर सकेंगे।
- ज्योतिर्लिंग-कथा-सम्बन्धी विविध स्रोतों का निरूपण कर सकेंगे।
- चारों धामों का निरूपण कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रिय अध्येता! अष्टम पाठ्यक्रम के चतुर्थ खण्ड की इस चतुर्थ इकाई में आपका स्वागत है। पिछली इकाई में आपने कुम्भ-मेला के सम्बन्ध में अध्ययन किया। इस इकाई में आप देवी पराम्बा के सती-स्वरूप सम्बन्धी विशिष्ट घटना से उत्पन्न ५१ शक्तिपीठों के साथ-साथ १२ ज्योतिर्लिंगों और ४ धामों के पौराणिक स्वरूप, कथाओं व वर्त्तमान में उनकी अवस्थिति का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

4.2 शक्तिपीठों की उत्पत्ति का कारण

दक्षयज्ञ के बाद विष्णु के चक्र से सती का अङ्ग-प्रत्यङ्ग जहाँ-जहाँ गिरा था, वे सब स्थान देवीपीठ के नाम से विख्यात हुए। 'तन्त्रचूडामणि' में पीठों की संख्या बावन दी है, 'शिवचरित्र' में इक्यावन और 'देवीभागवत' में एक सौ आठ। 'कालिकापुराण' में छब्बीस उपपीठों का वर्णन है। पर साधारणतया पीठों की संख्या इक्यावन मानी जाती है।

इन पीठों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकों पौराणिक सन्दर्भ वायुपुराण, शिवपुराण, स्कन्दपुराण, लिंग पुराण, कालिका पुराण, देवीभागवतपुराण आदि में मिलते हैं। इनमें से वायु पुराण के आधार पर उक्त प्रसंग का यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

सत्ययुग में एक समय दक्षप्रजापति ने शिवजी से अपमानित हो 'बृहस्पति' नामक एक यज्ञ का आरम्भ किया। प्रजापति दक्ष ने उस यज्ञ में शिवजी और अपनी कन्या सती को छोड़कर सभी देवी- देवताओं को निमन्त्रण दिया। पिता के घर में महासमारोह से यज्ञ हो रहा है, यह सुनकर सती ने निमन्त्रण नहीं पाने पर भी पितृगृह जा यज्ञ देखना चाहा और शिवजी के निकट अपना अभिप्राय प्रकट किया। शिवजी पहले अपनी असहमति प्रकट की किन्तु सती के विशेष आग्रह करने पर उन्हें जाने की अनुमति दे दी। सती अनुचरों के साथ पितृगृह पहुँचीं तो दक्ष ने किसी प्रकार उनका आदर न किया। केवल इतना ही नहीं, वे क्रोध से अधीर हो शिवजी की निन्दा करने लगे। सती को पिता के मुख से पति की इस प्रकार निन्दा सुनना असह्य हुआ। वे यज्ञकुण्डमें कूद पड़ीं। शिवजी यह वृत्तान्त सुनते ही उन्मत्त की तरह वहाँ पहुँच गये और वीरभद्रादि अनुचरों के साथ जाकर दक्ष को मार डाला और इनका यज्ञ विध्वंस कर दिया। शिवजी सती की मृत देह को कन्धे पर रख चारों ओर उद्भटभाव में नाचते हुए घूमने लगे। यह देखकर भगवान् विष्णु ने अपने चक्र से सती का अङ्ग-प्रत्यङ्ग काट डाला। अङ्ग-प्रत्यङ्ग इक्यावन खण्डों में विभक्त हो जिस-जिस स्थान पर गिरे थे, वहाँ एक-एक भैरव और एक-एक शक्ति नाना प्रकार की मूर्ति धारण कर अवस्थान करती हैं, उन्हीं सब स्थानों का नाम महापीठ पड़ा है।

4.3 शक्तिपीठों के स्थान, अंग, शक्ति व भैरव

तंत्र ग्रंथों में प्रत्येक शक्तिपीठ का एक नियत स्थान होने के साथ ही उनके अंग, शक्ति व भैरव पृथक्-पृथक् निर्धारित हैं। किस-किस स्थान पर कौन-कौन अङ्ग गिरा था तथा कौन-कौन भैरव और शक्ति वहाँ रहती हैं, तन्त्रचूडामणि में इस विषय में जो कुछ लिखा है, उसकी तालिका नीचे दी गयी है।

क्र.	स्थान	अङ्ग तथा अङ्गभूषण	शक्ति	भैरव
•	हिङ्गुला	ब्रह्मरन्ध्र	कोट्टवीशा	भैरव
•	शर्करार	तीन चक्षु	महिषमर्दिनी	क्रोधीश
•	सुगन्धा	नासिका	सुनन्दा	त्र्यम्बक
•	काश्मीर	कण्ठदेश	महामाया	त्रिसन्ध्येश्वर
•	ज्वालामुखी	महाजिह्वा	सिद्धिदा	उन्मत्त भैरव
•	जलन्धर	स्तन	त्रिपुरमालिनी	भीषण
•	वैद्यनाथ	हृदय	जयदुर्गा	वैद्यनाथ
•	नेपाल	जानु	महामाया	कपाली
•	मानस	दक्षिण हस्त	दाक्षायणी	अमर

•	उत्कल में विरजाक्षेत्र	नाभिदेश	विमला	जगन्नाथ
•	गण्डकी	गण्डस्थल	गण्डकी	चक्रपाणि
•	बहुला	वाम बाहु	बहुलादेवी	भीरुक
•	उज्जयिनी	कर्पूर	मङ्गलचण्डिका	कपिलाम्बर
•	त्रिपुरा	दक्षिणपाद	त्रिपुरसुन्दरी	त्रिपुरेश
•	चहल	दक्षिणबाहु	भवानी	चन्द्रशेखर
•	त्रिस्रोता	वामपाद	भ्रामरी	भैरवेश्वर
•	कामगिरि	योनिदेश	कामाख्या	उमानन्द
•	प्रयाग	हस्ताङ्गुलि	ललिता	भव
•	जयन्ती	वाम जङ्घा	जयन्ती	क्रमदीश्वर
•	युगाद्या	दक्षिणाङ्गुष्ठ	भूतधात्री	भीरखण्डक
•	कालीपीठ	दक्षिणपादाङ्गुलि	कालिका	नकुलीश
•	किरीट	किरीट	विमला	संवर्त
•	वाराणसी	कर्णकुण्डल	विशालाक्षी मणिकर्णी	कालभैरव
•	कन्याश्रम	पृष्ठ	सर्वाणी	निमिष
•	कुरुक्षेत्र	गुल्फ	सावित्री	स्थाणु
•	मणिबन्ध	दो मणिबन्ध	गायत्री	सर्वानन्द
•	श्रीशैल	ग्रीवा	महालक्ष्मी	शम्बरानन्द
•	काञ्ची	अस्थि	देवगर्भा	रुरु
•	कालमाधव	नितम्ब	काली	असिताङ्ग
•	शोणदेश	नितम्बक	नर्मदा	भद्रसेन
•	रामगिरि	अन्य स्तन	शिवानी	चण्डभैरव
•	वृन्दावन	केशपाश	उमा	भूतेश
•	शुचि	ऊर्ध्वदन्त	नारायणी	संहार
•	पञ्चसागर	अधोदन्त	बाराही	महारुद्र
•	करतोयातट	तल्प	अर्पणा	वामनभैरव
•	श्रीपर्वत	दक्षिण गुल्फ	श्रीसुन्दरी	सुन्दरानन्दभैरव
•	विभाष	वाम गुल्फ	कपालिनी	सर्वानन्द
•	प्रभास	उदर	चन्द्रभागा	वक्रतुण्ड

•	भैरवपर्वत	ऊर्ध्व ओष्ठ	अवन्ती	लम्बकर्ण
•	जनस्थल	दोनों चिबुक	भ्रामरी	विकृताक्ष
•	सर्वशैल	वामगण्ड	राकिनी	वत्सनाथ
•	गोदावरीतीर	गण्ड	विश्वेशी	दण्डपाणि
•	रत्नावली	दक्षिण स्कन्ध	कुमारी	शिव
•	मिथिला	वाम स्कन्ध	उमा	महोदर
•	नलहाटी	नला	कालिकादेवी	योगेश
•	कर्णाट	कर्ण	जयदुर्गा	अभीरु
•	वक्रेश्वर	मनः	महिषमर्दिनी	वक्रनाथ
•	यशोर	पाणिपद्म	यशोरेश्वरी	चण्ड
•	अट्टहास	ओष्ठ	फुल्लारा	विश्वेश
•	नन्दिपुर	कण्ठहार	नन्दिनी	नन्दिकेश्वर
•	लङ्का	नूपुर	इन्द्राक्षी	राक्षसेश्वर
	विराट		अम्बिका	अमृत
	मगध		सर्वानन्दकरी	व्योमकेश

4.4 प्रसिद्ध शक्तिपीठ

वर्तमान में ये पीठ जिन स्थानों पर हैं उनमें से कुछ का यहां दिङ्मात्र परिचय दिया जा रहा है।

1) **अल्मोड़ा –** जिस पहाड़ी पर यह नगर बसा हुआ है उस पर्वत का उल्लेख करते हुए स्कन्द पुराण इसे 'कौशिकी' (कोसी) और 'शाल्मली' (स्वाल) के मध्य 'काषाय पर्वत' कहता है। इस पर वर्तमान अल्मोड़ा नगर से आठ मील दूर कौशिकी देवी का स्थान है। भगवती कौशिकी की उत्पत्ति 'दुर्गासप्तशती' के पाँचवें अध्याय में दी हुई है।

2) **आबू -** यहाँ अर्बुदा देवी का मन्दिर ५१ प्रधान पीठों में है। यह मन्दिर नगर के वायव्य कोण में एक ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। मुख्य स्थान मन्दिर से लगी हुई एक गुफा में है। गुफा के भीतर निरन्तर दीपक जलता रहता है और इसी के प्रकाश से भगवती के दर्शन होते हैं। यहाँ चैत्री पूर्णिमा तथा विजयादशमी के अवसरों पर बड़े मेले लगते हैं।

3) **उज्जैन -** सम्राट् विक्रमादित्य की राजधानी उज्जैन में क्षिप्रा (शिप्रा) नदी के तट पर स्थित यह प्रधान शक्तिपीठों में अन्यतम है। यहाँ का महाकालेश्वर शिवलिङ्ग द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से है। इसी शिवमन्दिर के समीप रुद्रसागर के उस पार महाराज विक्रमादित्य की कुलदेवी हरसिद्धि माता का प्राचीन मन्दिर है।

4) **ओंकारेश्वर -** मन्दिर से लगभग ३ मील पूर्व नर्मदा के तट पर एक महत्त्वपूर्ण शक्तिपीठ है। यह स्थान 'सातमात्रा' के नाम से पुकारा जाता है। पर इसका शुद्ध नाम 'सप्तमातृका' है। सप्तमातृकाएँ ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री हैं। इस तीर्थ

में इन सात मातृकाओं के मन्दिर हैं।

5) **कलकत्ता -** हाबड़ा स्टेशन से पाँच मील दूर पर भागीरथी के आदि स्रोत पर कालीघाट नामक स्थान है। इसके ऊपर सुप्रसिद्ध कालीजी का मन्दिर है। यह स्थान भी प्रधान शक्तिपीठों में है। मन्दिर में त्रिनयना माता रक्ताम्बरा, मुण्डमालिनी तथा मुक्तकेशी विराजमान हैं।

6) **काठमाण्डू-** नैपालराज्य की अधिष्ठात्री भगवती गुह्येश्वरी का मन्दिर वागमती नदी के गुह्येश्वरीघाट पर श्रीपशुपतिनाथ के मन्दिर से दो फर्लांग की दूरी पर स्थित है। सम्पूर्ण नेपाल इन गुह्य कालिका की अनन्यभक्ति से वन्दना करता है।

7) **कालका –** दिल्ली-शिमला मार्ग पर 'कालका' नामक प्रसिद्ध स्थान पर भगवती कालिका का एक प्राचीन मन्दिर है। दुर्गासप्तशती के अनुसार विष्णुमाया की स्तुति में लगे हुए देवगणों से भगवती पार्वती के स्तुत्य-सम्बन्धी-प्रश्न करने पर, उनके ही शरीरकोश से प्रकट होने वाली शिवा माता 'कौशिकी' के अलग हो जाने पर श्यामवर्णा हो गयीं पार्वती ही 'कालिका' देवी हैं।

8) **काशी –** काशी में जो शक्ति- त्रकोण है उसके कोनों पर क्रमशः दुर्गाजी (महाकाली), महालक्ष्मी तथा वागीश्वरी (महासरस्वती) विराजमान हैं। लक्ष्मीकुण्ड पर महालक्ष्मीजी की जो मूर्ति है उसके साथ-साथ भी महाकाली तथा महासरस्वती की मूर्तियाँ हैं। वागीश्वरी की प्राचीन प्रतिमा मन्दिर के नीचे एक पक्की गुफा के भीतर है। इन तीन शक्तिपीठों के साथ एक-एक कुण्ड की स्थिति काशीखण्ड में उल्लिखित है। दुर्गाकुण्ड तथा लक्ष्मीकुण्ड तो अब तक विद्यमान हैं पर वागीश्वरीकुण्ड पचास-साठ वर्ष हुए पट गया।

   कूष्माण्डा तथा स्कन्दमाता उपर्युक्त दुर्गाजी तथा वागीश्वरी ही हैं और महागौरी काशी की अधिष्ठात्री केन्द्रस्थ भगवती अन्नपूर्णा हैं। यही इस महापीठ की देवी हैं।

9) **काँगड़ा —** यह स्थान प्रधान पीठों में है और यहाँ सती के मुण्ड का गिरना बतलाया जाता है। मूर्ति भी मुण्ड की ही है और उसके ऊपर सुवर्णछत्र शोभायमान है। देवीजी के मन्दिर के अहाते में एक कुण्ड भी है और उसके पास कई प्राचीन यूपस्तम्भ रखे हैं।

10) **गिरनार –**जूनागढ़ में गिरनार पर्वत पर देवी का सिद्धपीठ है। पर्वत के तीन शिखर हैं जिनपर क्रमशः अम्बादेवी, गोरक्षनाथ तथा दत्तात्रेय के स्थान मिलते हैं। अम्बादेवी की विशाल मूर्ति इस भयानक वन्य प्रदेश में बड़ी ही उग्र प्रतीत होती है। इसी पर्वत पर एक गुफा में कालीजी की मूर्ति भी है, जहाँ अनेक उपासक मिलते हैं।

11) **गौहाटी –** गौहाटी से दो मील पश्चिम नीलगिरि अथवा नीलकूट पर्वत पर प्रधान सिद्धपीठ है, जिसे भगवती 'कामाख्या' अथवा 'कामाक्षा' कहते हैं। 'कालिकापुराण' के अनुसार इस स्थान पर सती की योनि गिरी थी। अतः यहाँ का प्रधान तीर्थ एक अँधेरी गुफा के भीतर स्थिर योनिपीठ है। इस स्थल पर केवल कुण्ड है, जो पुष्पाच्छादित रहता है। पास ही में एक मन्दिर में भगवती की मूर्ति भी है। यह पीठ महाक्षेत्र कहा जाता है और इस महत्त्व के अन्य पीठ श्रीविन्ध्यवासिनी क्षेत्र तथा श्रीज्वालामुखी में ही हैं। इस पीठ के विषय में कहा गया है कि भगवती प्रतिमास रजस्वला होती हैं। उस समय पण्डे

लोग शुद्ध वस्त्र भगवती के योनिस्थ रज में रँग लेते हैं और उसे यात्रियों को प्रसाद रूप में देते हैं।

12) **चटगाँव** – बांग्लादेश के चटगाँव से चौबीस मील पर 'सीताकुण्ड' नामक तीर्थ है के समीप चन्द्रशेखर पर्वत के शिखर पर भगवती भवानी का मन्दिर है जो इक्यावन शक्तिपीठ में गिना जाता है।

13) **चित्तौड़ -** इस ऐतिहासिक दुर्ग के भीतर एक प्राचीन मन्दिर भगवती कालिका का है। इनको यदि श्मशानकाली कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि इस दुर्ग की रक्षा में न जाने कितनी राजपूत वीराङ्गनाओं ने अग्नि में अपनी आहुति दी और न जाने कितने रणबांकुरे वीरों ने केसरिया बाना पहनकर अपने प्राण रण में उत्सर्ग किये। इस मन्दिर में अखण्ड दीप जलता है और यहाँ के प्रत्येक स्तम्भ पर अगणित मूर्तियाँ तथा बेल-बूटे बने हैं। इस दुर्ग में तुलजा भवानी तथा अन्नपूर्णा के मन्दिर भी हैं।

14) **चिन्तपूर्णी** – जालन्धर से ज्वालामुखी जाते हुए होशियारपुर से तीस मील पर चिन्तपूर्णी का स्थान सघन पर्वतीय प्रदेश में स्थित है। सुप्रसिद्ध काँगड़े की घाटी में जो शक्तित्रिकोण है, उसके प्रत्येक सिरे पर क्रमशः चिन्तपूर्णी, ज्वालामुखी तथा काँगड़े की विद्येश्वरी विराजमान हैं। इन तीनों सिद्धपीठों में प्रतिवर्ष लाखों यात्री आते हैं।

15) **जबलपुर** – यहाँ से बारह मील पर सुप्रसिद्ध 'भेड़ाघाट' नामक नर्मदा का प्रपात है, जिसे देखने विदेशों से भी लोग आते हैं। नर्मदा के किनारे दोनों ओर लगभग मील भरतक बराबर ऊँची-ऊँची संगमर्मर की चट्टानें हैं। इन्हीं पर गौरीशङ्करजी के मन्दिर में चौंसठ योगिनियों के स्थान हैं। मूर्तियाँ मनुष्याकार हैं और तन्त्रोक्त विधि से बनी हैं।

16) **ज्वालामुखी** – यह धूमा देवी का स्थान बताया जता है। चिन्तपूर्णी देवी, नैना देवी, शाकम्भरी देवी, विन्ध्यवासिनी शक्तिपीठ और वैष्णो देवी की ही भांति यह एक सिद्ध स्थान है। यहाँ पर भगवती सती की जिह्वा सुदर्शन चक्र से कट कर गिरी थी। मंदिर में भगवती के दर्शन नौ ज्योति रूपों मे होते हैं जिनके नाम क्रमशः महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, हिंगलाज भवानी, विंध्यवासिनी, अन्नपूर्णा, चण्डी देवी, अंजना देवी और अम्बिका देवी है। उत्तर भारत की प्रसिद्ध नौ देवियों के दर्शन के दौरान चौथा दर्शन माँ ज्वाला देवी का ही होता है। इस स्थान पर अनादिकाल से पृथ्वी में से कई अग्निशिखाएँ निकल रही हैं।

17) **द्वारका-** इस धाम में श्रीरुक्मिणी देवी तथा श्रीसत्यभामाजी के प्रसिद्ध मन्दिर हैं। इन मन्दिरों के राजसी ठाट भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के समय की द्वारका के वैभव की याद दिलाते हैं।

18) **देहली** – भारत की इस प्राचीन तथा आधुनिक राजधानी में दो प्राचीन शक्तिपीठ विद्यमान हैं। कुतुबमीनार के पास योगमाया का मन्दिर है। कहते हैं कि भगवती योगमाया पृथिवीराज की इष्टदेवी थीं। मन्दिर के भीतर कोई मूर्ति नहीं है केवल, कामाक्षापीठ की तरह भगवती योनिरूपा विराजमान हैं। दूसरा स्थान यहाँ से लगभग छः - सात मील पर ओखला में कालिका मन्दिर है। इस प्रदेश में देवी को बड़े-बड़े पंखे चढ़ाने की प्रथा प्रचलित है।

19) **नागपुर -** मध्य-भारत के इस नगर में सहस्रचण्डी का तथा रुक्मिणीजी के दो प्रसिद्ध मन्दिर हैं, जिनके दर्शनों को इस प्रान्त के अनेकानेक यात्री आते हैं।

20) **नैनीताल –** कुमाऊँ नामक पर्वतीय क्षेत्र में भगवती नयना देवी का बड़ा मान है और इन्हीं के कारण इस स्थान को नैनीताल कहते हैं। नैनीताल में एक हद (बड़ा सरोवर) है जिसका प्राचीन नाम स्कन्दपुराण के अनुसार त्रिऋषिसरोवर है। ये तीन ऋषि अत्रि, पुलस्त्य तथा पुलह थे। इसके मल्लीताल वाले किनारे पर प्राचीन नयना देवी का मन्दिर है, जो शक्तिपीठों में गण्य है।

21) **पण्ढरपुर –** महाराष्ट्र प्रदेश यहाँ पर श्रीविठोबा के सुप्रसिद्ध मन्दिर में उनकी पटरानियाँ रुक्मिणी, सत्यभामा, महालक्ष्मी तथा राधिका पृथक्-पृथक् अपने मन्दिरों में विराजमान हैं।

22) **प्रयाग –** इलाहाबाद के जिले में कड़ा नामक स्थान पर कोई चार सौ वर्ष हुए बाबा मलूकदासजी हो गये हैं। ये बड़े ही प्रसिद्ध सन्त थे और इनके अनेकानेक पद तथा 'बानियाँ' अबतक प्रचलित हैं। यहीं पर प्रसिद्ध शक्तिपीठ है, जहां मान्यता है कि देवी का कड़ा गिरा था।

23) **पूर्णगिरि –** अल्मोड़े जिले में (पूर्णगिरि अथवा पुण्यागिरि) टनकपुर से आठ-नौ मील दूर शारदा नदी के किनारे नेपाल की सीमा पर स्थित पर्वत पर तीन हजार फीट ऊँचे शिखर पर भगवती कालिका का मुख्य स्थान है जो शक्तिपीठों में अन्यतम है। मान्यता है कि इस पर्वत पर रजस्वला स्त्री अथवा अपवित्र स्थिति वाला पुरुष नहीं चढ़ सकता है और यदि बलात् कोई चढ़ने लगे तो वह अंधा हो जाता है। यह स्थान प्रधान शक्तिपीठों में गिना जाता है।

24) **भुवनेश्वर –** इस स्थान का प्राचीन नाम एकाम्रकानन है। यह क्षेत्र भी इक्यावन शक्तिपीठों में है। यहाँ देवी पादहरा सरोवर के तट पर पृथक्-पृथक् एक सौ आठ योगिनियों के मन्दिर हैं।

25) **मथुरा -** इस स्थान के प्रधान शक्तिपीठ महाविद्या तथा बरसाने के मन्दिर हैं। महाविद्या का स्थान मथुरा ही में है। एक ऊँचे टीले पर प्राचीन मन्दिर बना हुआ है। भगवती की मूर्ति बड़ी विशाल है। नेत्र की ज्योति विशेषतया प्रभावशाली है। बरसाने में भी एक ऊँचे दुर्ग- सदृश मन्दिर पर श्रीराधिका रानी का प्राचीन पीठस्थल है। होली के अवसर पर यहाँ जो माधुर्य बरसता है उसकी उपमा त्रैलोक्य में नहीं।

26) **मदुरा –** यह स्थान शक्तिपीठों में अन्यतम है जहाँ ग्यारह तल का मीनाक्षी देवी का मन्दिर है। इस मन्दिर के द्वार पर अष्टलक्ष्मियों की मूर्तियाँ बनी हैं। प्रत्येक खम्भे पर एक मूर्ति है और इन्हीं खम्भों पर छत खड़ी है। उस छत पर माता पार्वती के जन्म, उनकी तपस्या, शिव - विवाह, कार्तिकेय-जन्मादि की कथाएँ अंकित एवं चित्रित हैं। इसी मन्दिर के भीतर जो 'पद्यम्' तडाग है उसके चारों ओर खम्भों पर भगवान् शङ्कर की लीलाएँ मूर्तिरूप में खुदी हैं।

27) **मुम्बई –** इस विख्यात नगरी में मुम्बादेवी, कालबादेवी और महालक्ष्मी के प्रधान शक्तिपीठ हैं। मुम्बादेवी की पूजा में जीवबलि नहीं दी जाती। कालबादेवी की मूर्ति

अत्यन्त प्राचीन है। महालक्ष्मी का मन्दिर समुद्रतट पर बड़े ही सुहावने स्थान पर बना है। मुम्बादेवी के समीप एक विशाल तालाब भी है।

28) **मैसूर** – इस राज्य की अधिष्ठात्री भगवती चामुण्डा हैं जिनका सुविशाल मन्दिर मैसूर से लगी हुई एक पहाड़ी पर है। रास्ते में पक्की सीढ़ियाँ बनी हैं। भगवती मन्दिर के समीप एक विशालकाय नन्दीमूर्ति बनी है जिसे देखकर दर्शकलोग आश्चर्यान्वित होते हैं। चामुण्डा को यहाँ भेरुण्डा भी कहते हैं और मैसूरराज्य का विख्यात गण्डभेरुण्डा 'चिह्न' चामुण्डा ही का द्योतक है।

29) **मैहर** – मैहर में एक पहाड़ी पर सुप्रसिद्ध वीर आल्हा की इष्टदेवी शारदा का मन्दिर है। यह स्थान बड़ा ही सिद्ध माना जाता है।

30) **विन्ध्याचल** – जो देवी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के स्थान पर वसुदेव द्वारा कारागार में लायी गयी थीं और जिन्होंने कंस के हाथ से छूटकर आकाशवाणी की थीं, वही श्रीविन्ध्यवासिनी हैं। यह तीर्थ महाप्रधान शक्तिपीठों में है। यहीं भगवती ने शुम्भ तथा निशुम्भ को मारा था। इस क्षेत्र में जो शक्तित्रिकोण है उसके कोनों पर क्रमशः विन्ध्यवासिनी (महालक्ष्मी), कालीखोहकी काली (महाकाली) तथा पर्वतपरकी अष्टभुजा (महासरस्वती) विराजमान हैं। इस तीर्थ के चमत्कारों तथा सौन्दर्य के विषय में यहाँ लिखने से लेख के विस्तार का भय है। उपर्युक्त त्रिकोण के अतिरिक्त मन्दिर के समीप ही दूसरा शक्ति - त्रिकोण है। बड़े त्रिकोण की यात्रा चार-पाँच मील लम्बी है।

31) **श्रीशैल-** आन्ध्रप्रदेश के कुर्नूल जिले के 'श्रीशैल' पर्वत पर ब्रह्मारांबा देवी का सुविख्यात शक्तिपीठ है। इन्ही के नाम पर इस पर्वत का नाम ब्रह्मगिरि पड़ा है। इस स्थान के प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा वर्णनातीत है यह क्षेत्र इक्यावन शक्तिपीठों में है।

32) **हरिद्वार** – इस पुण्यक्षेत्र में भी एक शक्ति-त्रिकोण है। इसके एक कोने पर नीलपर्वत पर स्थित भगवती चण्डीदेवी हैं। दूसरे पर दक्षेश्वर के स्थान वाली पार्वती हैं। (यहीं पर सती योगाग्नि द्वारा भस्म हुई थीं, जिससे प्रधान शक्तिपीठों की उत्पत्ति हुई) और तीसरे पर बिल्वपर्वतवासिनी मनसादेवी हैं।

4.5 द्वादश ज्योर्तिलिङ्ग

पौराणिक-प्रसंगों और मान्यताओं के आधार पर १२ दिव्य ज्योतिर्लिंग क्रमश: इस प्रकार हैं –

सौराष्ट्रे सोमनाथञ्च श्रीशैले मल्लिकार्जुनम्।
उज्जयिन्यां महाकालमोङ्कारममलेश्वरम्॥

परल्यां वैद्यनाथञ्च त्र्यम्बकं गौतमीतटे।
हिमालये तु केदारं घुश्मेशञ्च शिवालये॥

एतानि ज्योतिर्लिङ्गानि सायं प्रात: पठेन्नर:।
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति॥

आइए, एक-एक करके इनमें से प्रत्येक की कथा और महत्त्व को संक्षेप में जानने का प्रयास करें।

सोमनाथ

सौराष्ट्रदेशे विशदेऽतिरम्ये ज्योतिर्मयं चन्द्रकलावतंसम् ।
भक्तिप्रदानाय कृपावतीर्णं तं सोमनाथं शरणं प्रपद्ये ।।

स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड में इस शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा की कथा वर्णित है, जिसके अनुसार चन्द्रमा ने दक्ष की २७ पुत्रियों से विवाह किया था किन्तु एक मात्र रोहिणी पर उसकी आसक्ति और अनुराग अधिक होने के कारण अन्य पत्नियों ने उसकी इस उपेक्षा की उलाहना अपने पिता से की। चंद्रमा के श्वसुर दक्ष ने यद्यपि उसे समझाने का प्रयत्न किया तथापि चंद्रमा के द्वारा उनकी भी उपेक्षा किए जाने पर दक्ष ने उसे 'क्षयी' होने का श्राप दे दिया। अभिशप्त चन्द्रमा की व्यथा से व्यथित होकर जब देवताओं ने पितामह ब्रह्मा जी से निवेदन किया तब उन्होंने श्राप-निवारणार्थ चंद्रमा को प्रभास क्षेत्र में महामृत्युंजय मन्त्र से वृषभध्वज शंकर की उपासना करने का उपाय बताया। चंद्रमा के द्वारा ६ मास तक इस अनुष्ठान को करने पर प्रभु शंकर प्रसन्न होकर प्रकट हुए और उसे एक पक्ष में प्रतिदिन उसकी एक-एक कला नष्ट होने और दूसरे पक्ष में प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ने का वर दिया। इसके साथ ही देवताओं पर प्रसन्न होकर उस क्षेत्र की महिमा बढाने के लिए चंद्रमा (सोम) की यश की वृद्धि के लिए 'सोमेश्वर' नाम से शिवाजी वहां अवस्थित हो गए। देवताओं ने उस स्थान पर 'सोमेश्वर' कुण्ड की स्थापना भी की जिसमें स्नान करके व सोमेश्वर ज्योतिर्लिंग के दर्शन-पूजन से सब पापों से निस्तार होकर मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

चंद्रमा को इस स्थान पर उसका खोया हुआ तेज प्राप्त हुआ इसलिए इस क्षेत्र को 'प्रभास-पट्टण' के नाम से भी जाना जाता है।

समुद्र तट पर काठियावाड़-प्रदेश में प्रभास क्षेत्र में अनेक पौराणिक स्थल हैं। इनमें सूर्यमन्दिर, भद्रकालीमंदिर, भल्लान्तक (भालुका) तीर्थ आदि हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के बाएँ पैर के अंगूठे पर व्याध के बाण से जहां खून बहा वही स्थान भल्लान्तक तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है। यहां भगवान् की मूर्ति स्थापित है। यहीं पर अर्जुन को सुभद्रा की प्राप्ति हुई थी। कार्तिक पूर्णिमा को यहाँ बड़ा मेला लगता है। काठियावाड़ के 'कुशावर्त' मिओं ही भगवान् ने सोने की द्वारका नगरी का निर्माण कराया था। कुशावर्त क्षेत्र के ही कुश-दर्भों से बने मूसल से समस्त यादव-वंश का विनाश हुआ था। इसी क्षेत्र में एक सामुद्रिक गुफा में प्रवेश करके बलराम जी ने अपना देह-त्याग किया था। 'हिरण्या' नदी पर ही प्रभु के पार्थिव-शरीर का अग्निसंस्कार किया गया इस स्थान पर आज एक भव्य समारक एवं गीता-मंदिर के दर्शन होते हैं। इस प्रभास क्षेत्र में ही महर्षि अगस्त्य ने समुद्र-पान किया था।

मल्लिकार्जुन

श्रीशैलशृङ्गे विविधप्रसङ्गे शेषाद्रिश्रिङ्गेऽपि सदा वसन्तम् ।
तमर्जुनं मल्लिकपूर्वमेनं नमामि संसारसमुद्रसेतुम् ।।

आन्ध्रप्रदेश के कुर्नूल जिले के 'श्रीशैल' पर्वत पर स्थित 'पातालगंगा' परिसर में फैले केले और बेल के वृक्षों से युक्त घने जङ्गल में भगवान् शङ्कर अपने दिव्य ज्योतिर्लिङ्ग स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। यहां इसे कैलाश-निवास कहते हैं।

पौराणिक-प्रसंग के अनुसार, जब कुमार कार्तिकेय पृथ्वी की परिक्रमा करके कैलाश लौटे तो

नारद जी से गणेश जी के विवाह के वृत्तांत को सुनकर रुष्ट हो गये और माता-पिता के मना करने पर भी उन्हें प्रणाम कर क्रौंच पर्वत पर चले गए। यद्यपि शंकर जी ने देवर्षियों को उन्हें मनाने के लिए भेजा किन्तु वे भी निराश लौटे। इस पर पुत्र-वियोग से व्याकुल माता पार्वती के अनुरोध पर भगवान् शिव स्वयं पार्वती के साथ अपने पुत्र को मनाने गए किन्तु माता-पिटा के आगमन का समाचार सुनकर कार्तिकेय क्रौंच पर्वत को छोड़कर तीन योजन और दूर चले गये। किन्तु वहां पुत्र के न मिलने पर वात्सल्य से व्याकुल शिव-पार्वती ने उनकी खोज में अन्य पर्वतों पर जाने से पहले वहां अपनी ज्योति स्थापित कर दी। उसी दिन से यह ज्योतिर्लिंग 'मल्लिकार्जुन' कहलाया। 'मल्लिकार्जुन' इस नाम के पीछे यह कथा प्रसिद्ध है कि एक बार अर्जुन जब तीर्थयात्रा करते हुए इस कदली-वन में आए तो वहां उनकी धनुर्विद्या की परीक्षा लेने के लिए भगवान् शिव किरात वेष में प्रकट हुए और जंगली सूअर का शिकार करने के लिए उसके पीछे उसी समय दौड़ पड़े जब अर्जुन भी उसकी मृगया हेतु रत थे। किरात वेषधारी शिव और अर्जुन दोनों के ही बाण से विद्ध सूअर पर अधिकार हेतु दोनों में युद्ध हुआ जिसमें अर्जुन की धनुर्विद्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें दिव्यास्त्र वर-रूप में प्रदान किया। तबसे यह स्थान इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिस ज्योतिर्लिंग की स्वयं शिव-पार्वती ने स्थापना की थी उसके वर्तमान युग में प्रकट होने के पीछे यह कथा प्रचलित है कि एक बार चंद्रावती नामक एक राजकन्या जब इस कदली-वन में तप कर रही थी तब एक दिन उसने एक कपिला गाय को बिल्व-वृक्ष के नीचे खड़ी होकर अपने स्तनों से दुग्ध-धार को भूमि पर गिराते हुए देखा। ऐसे उस गाय के प्रतिदिन करने पर चन्द्रावती ने जब साश्चर्य उस स्थान पर खनन किया तो वहां से स्वयंभू शिवलिंग प्रकट हुए जिनकी अग्निज्वालाएं सूर्यप्रकाश के समान निकल रहीं थीं। चन्द्रावती ने उस दिव्य ज्योतिर्लिंग की आराधन करके वहां विशाल शिव मंदिर का निर्माण किया, जिससे फलस्वरूप उसे प्रभु की कृपा से शिव-सायुज्य की प्राप्ति हुई। मान्यता है कि यहाँ अमावास्या के दिन भगवान् शिव और पूर्णिमा के दिन देवी पार्वती आज भी आते हैं।

इस मंदिर में गोपुर, तडाग, मंडप, अन्नछत्र आदि का निर्माण विजयनगर साम्राज्य के राजाओं ने और फिर कालान्तर में शिवाजी ने करवाया।

इस पर्वत की तलहटी में 'कृष्णा' नदी ने 'पातालगंगा' का रूप लिया है, जिसमें डुबकी लगाकर लाखों श्रद्धालु ज्योतिर्लिंग के दर्शन हेतु जाते हैं। पुण्यश्लोका अहिल्याबाई होलकर ने यहाँ पर ८५२ सीढ़ियों के एक घाट का निर्माण करवाया।

महाकालेश्वर

मध्यप्रदेश में क्षिप्रा नदी के तट पर पौराणिक व ऐतिहासिक महत्त्व की नगरी उज्जैन स्थित है जिसका प्राचीन नाम 'अवन्तिका' है। मोक्षदायिका सप्त पुरियों में से एक इस अवन्तिका नगरी में ७ सागरतीर्थ, २८ तीर्थ, ८४ सिद्धलिंग, २५-३० शिवलिंग, अष्टभैरव, ११ रुद्रस्थान एवं सैकड़ों देवताओं के मंदिर हैं जिसके कारण ऐसा प्रतीत होर्ता है कि ३३ कोटि देवताओं का यही वासस्थान है अत: यह इस भूलोक में 'अमरावती' या 'इन्द्रपुरी' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

यहां पर प्रतिष्ठित द्वादश ज्योतिर्लिंगों में अन्यतम विश्व-प्रसिद्ध महाकालेश्वर के सम्बन्ध में प्रचलित कहता के अनुसार, अवन्तिका में ही निवास करने वाले एक ब्राह्मण के शिवोपासक ४ पुत्र थे। वहीं पर ब्रह्मा जी से वर-प्राप्त एक दुष्ट दैत्यराज दूषण रहता था जो उस वेदज्ञ ब्राह्मण को अत्यंत कष्ट दिया करता था। किन्तु उसके कष्ट से अविचलित एवं खिन्न हुए बिना वे ब्राह्मण शिवजी के ध्यान में रत हो तदनुरूप अनुष्ठान किया करते थे। इससे क्षुब्ध होकर उस दैत्यराज ने

सभी दैत्यों को नगर में हो रहे वैदिक धर्मानुष्ठान में विघ्न उत्पन्न करने का आदेश दिया। उसके आदेश पर उसके अनुचर ब्राह्मणों को भांति-भांति से कष्ट देने लगे। उस दौरान जैसे ही दूषण दैत्य पार्थिव शिव-विग्रह की पूजा में रत उस ब्राह्मण-प्रमुख पर झपटा त्योंही उस मूर्ति के स्थान पर ही भयानक शब्द के साथ ही धरती फटी और उससे उत्पन्न गर्त से स्वयं भगवान् शिव एक विराट रूपधारी महाकाल के रूप में प्रकट हुए। उन्होंने उस दुष्ट को ब्राह्मण के निकट न जाने को कहा किन्तु उनकी अवज्ञा करके जैसे ही वह दैत्य ब्राह्मण के वधार्थ उद्यत हुआ वैसे ही एक हुंकार मात्र से शिवजी ने उसे भस्म कर दिया। शिवजी को इस रूप में प्रकट हुआ देखकर ब्रह्मा, विष्णु आदि देवों ने आकर भगवान् शिव की स्तुति-वन्दना की जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने अपना दिव्य तेज वहां स्थापित किया जो महाकाल नाम से त्रिलोक में विख्यात है। महाकाल की महिमा के विषय में महाकाल-भक्त उज्जयिनी नरेश चन्द्रसेन की कथा भी अत्यंत प्रसिद्ध है जिसकी भक्ति के कारण उससे दुर्भावना रखने वाले भूपति भी मिलकर उसका अनिष्ट न कर सके और स्वयं भक्त-शिरोमणि भगवान् हनुमान जी ने उसको अपना स्नेह व आशीर्वाद देकर सभी प्रतिद्वन्द्वी राजाओं को उससे वैर न रखने का आदेश दिया।

यह नगरी शिव को अत्यंत प्रिय है। इस नगर का वैभव मौर्य एवं गुप्त वंश के राजाओं के द्वारा बढ़ाया गया। इतिहासपुरुष विक्रमादित्य की यह राजधानी थी। यही भगवान् श्रीकृष्ण के गुरु सान्दीपनि का आश्रम-स्थल रहा है। राजर्षि भर्तृहरि इसी जगह तप करके जीवन्मुक्त हुए। महाकालेश्वर का दर्शन जिस-जिस कामना से किया जाता है उन सभी की पूर्ति होती है।

महाकाल की महिमा का उल्लेख शिवमहिम्नस्तोत्र में करते हुए कहा गया है कि यद्यपि चिताभस्म को अशुद्ध माना गया है तथापि वह भस्म महाकाल के संस्पर्श से पवित्र हो जाती है।

ओंकारेश्वर

विंध्यपर्वत से निकालने वाली नर्मदा जो पश्चिम की ओर प्रवाहित हो रही है उसकी 'रेवा' संज्ञा पुराण-प्रसिद्ध है। नर्मदा की धार में चिकने गोल पत्थरों को 'बाणलिंग' या 'नर्मदेश्वर शिवलिंग' कहे जाने के कारण यह नदी ही 'शांकरी नदी' के नाम से भी विख्यात है। इसके किनारे 'ॐकार' आकृति में स्थित, अतिसुरम्य व प्राकृतिक-रूप से समृद्ध द्वीप पर 'ममलेश्वर' नामक ज्योतिर्लिंग प्रतिष्ठित है। इस 'ओंकारेश्वर' या 'अमरेश्वर' के विषय में प्रचलित कथा इस प्रकार है –

प्राचीन काल में दानवों के द्वारा अराजित देवताओं को पुन: बल प्रदान करने हेतु स्वयं महादेव पाताल से निकलकर नर्मदा तट पर ज्योतिर्मय लिंग के रूप में प्रकट हुए। उस लिंग की विधिवत् स्थापन व पूजन से देवताओं को पुन: बल की प्राप्ति ही जिससे उन्होंने दानवों को पराजित करके अपना खोया हुआ साम्राज्य प्राप्त किया। यहां पर ब्रहमा जी एवं विष्णु भगवान् ने भी निवास किया अत: यहां पर 'ब्रह्मपुरी', 'विष्णुपुरी' एवं 'रुद्रपुरी' इस नाम से त्रिपुर क्षेत्र है जिसमें रुद्रपुरी में ज्योतिर्लिंग प्रतिष्ठित है। स्वयं इस लिंग-विग्रह के आसपास जलहरी (अरघा) के गहरे स्थान से होकर नर्मदा का पानी सदैव बहता रहता है। इस क्षेत्र को शिव-भक्त राजा मान्धाता ने अपनी राजधानी बनायी थी। अत: इस स्थान को 'ओंकार मान्धाता' इस नाम से भी जाना जाता है। स्वयं शंकराचार्य इसकी महिमा इस प्रकार कहते हैं –

कावेरिकानर्मदयो: पवित्रे समागमे सज्जनतारणाय।
सदैव मान्धातृपुरे वसन्तम् ओङ्कारमीशं शिवमेकमीडे॥

कहा जाता है कि स्वयं विन्ध्य पर्वत ने ओंकारेश्वर की तपस्या करके उन्हें प्रसन्न कर लिया जिससे विन्ध्य का यह स्थान अत्यंत मनोरम बन गया।

यहाँ प्रचलित परम्परा के अनुसार ब्राह्मण हाथ में १३०० छिद्रयुक्त एक लकड़ी के तख़्त को लेकर उसके छिद्रों में पार्थिव शिवलिंग रखकर पूजते हैं और फिर उन शिवलिंगों को नर्मदा में प्रवाहित कर देते हैं। यह कार्य वर्ष-पर्यंत चलता है जिसे कोटि-लिंगार्चन' कहते हैं। १०६३ ई में परमार राजा उदयादित्य ने ममलेश्वर मंदिर में स्तोत्र शिलालेख के रूप में अंकित करवाए जिनमें पुष्पदन्तकृत 'शिवमहिम्न' स्तोत्र भी है।

वैद्यनाथ

'मेरु' अथवा 'नागनारायण' पर्वत की ढलान पर ब्रह्मा, वेणु और सरस्वती नदियों से घिरे 'परली' नामक ग्राम में 'वैद्यनाथ' नामक ज्योतिर्लिंग प्रतिष्ठित है। इस स्थान को 'कान्तीपुर', 'मध्यरेखा', 'वैजयन्ती' आदि नामों से भी जाना जाता है। यहां की मान्यता के अनुसार यह 'अनोखी काशी' है और इसकी यात्रा के बाद काशी की यात्रा की आवश्यकता नहीं रह जाती है। यहां भगवान् शिव माता पार्वती के साथ विराजते हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार देव-दानवों द्वारा किए गए समुद्र-मन्थन से निकले अमृत और धन्वन्तरि को श्रीविष्णु ने शंकर भगवान् की लिंग-मूर्ती में छिपा दिया था। जैसे ही दानवों ने इसे चूने का प्रयत्न किया उस विग्रह से अग्निज्वालाएं निकालने लगीं किन्तु शिवभक्तों के द्वारा स्पर्श करने पर उसमें से अमृतधाराएं निकालने लगीं। आज भी इस ज्योतिर्लिंग को स्पर्श करके दर्शन करने की परम्परा है। लिंगविग्रह में अमृत और धन्वन्तरी के वास के कारण इसे 'अमृतेश्वर' एवं 'धन्वन्तरी' अथवा 'वैद्यनाथ' भी कहते हैं। प्रसिद्ध है –

वैद्याभ्यां पूजितं सत्यं लिङ्गमेतत् पुरातनम्।
वैद्यनाथमिति ख्यातं सर्वकामप्रदायकम्॥

भगवान् विष्णु के द्वारा यहाँ देवगणों को अमृतविजय प्राप्त कराया गया इसलिए इस स्थान की 'वैजयन्ती' संज्ञा है। इस शिवलिंग के विषय में यह भी कथा प्रचलित है कि कैलाश-पर्वत पर रावण की तपस्या से प्रसन्न शिवजी ने उसे शिवलिंग लंका में प्रतिष्ठित करने की आज्ञा इस हिदायत के साथ दी कि वह स्वयं इस लिंग को अपने हाथों से ले जाकर लंका में स्थापित करेगा और यदि प्रमादवश उसने इसे मार्ग में कहीं भी रख दिया तो यह वहीं स्थापित हो जाएगा। कैलाश से शिवलिंग हाथ में लेकर चले रावण के द्वारा उसे लघुशंका-निवृत्ति हेतु, यहीं परली में, एक गोप के हाथों में सौंपा गया जो उस गोप के द्वारा, भारवहन न कर सकने के कारण, भूमि पर रख देने के कारण यहीं स्थापित हो गया। इसी परली नामक स्थान में मार्कंडेय जी को शिवकृपा से जीवदान मिला था। सत्यवान-सावित्री की कथा की पुण्यभूमि भी यही है। सावित्री की कथा का वटवृक्ष आज भी यहाँ नारायण पहाड़ी पर स्थित है।

यहाँ स्थित प्रस्तरमय मंदिर अत्यंत विशाल बरामदे और आँगन से युक्त है। मंदिर के बाहर एक ऊंचा प्रकाशस्तम्भ है। महाद्वार के पास एक मीनार है, जिसे दिक्साधन के द्वारा ऐसा बनाया गया है कि इसके गवाक्ष से चैत्र और आश्विन मास में सूर्य-किरणों सीधे शिवलिंग पर गिरती हैं। यह लिंगविग्रह शालिग्राम-शिला से निर्मित है। इस मंदिर के अहाते में एकादश रुद्र-मंदिर भी हैं। यहीं 'मार्कंडेय' तालाब भी है। बिना सूंढ़ के गणेश जी जो यहां वीरमुद्रा में विराजमान हैं के दर्शन के बाद ही वैद्यनाथ के दर्शन की परम्परा है। यहाँ स्थित 'हरिहर' तीर्थ के जल से प्रतिदिन

वैद्यनाथ का अभिषेक होता है। चैत्र-प्रतिपदा, विजयादशमी, त्रिपुरी पूर्णिमा, महाशिवरात्रि और वैकुण्ठ चतुर्दशी को यहाँ बड़े उत्सव आयोजित किए जाते हैं। इन उत्सवों में बेल और तुलसी में कोई भेद नहीं रहता है। इन उत्सवों में महादेव को तुलसी और विष्णु को बेल अर्पित करने की अनोखी परम्परा मात्र वैद्यनाथ धाम में ही दिखाई देती है। 'वीरशैव लिंगायत' लोगों का यह श्रेष्ठ स्थान माना गया है।

भीमाशङ्कर

पुणे में सह्याद्रि पर्वत की भीमाशङ्कर नामक पहाड़ी पर यह ज्योतिर्लिंग प्रतिष्ठित है। पौराणिक मान्यता के अनुसार भगवान् शंकर ने तीनों लोकों में आतंक मचा रखने वाले त्रिपुरासुर का वध करने के बाद यहीं सह्याद्रि पर ही विश्राम किया उस समय अतिश्रम के कारण उनके शरीर से निकले पसीने से निर्मित कुंड या नदी-रूप ही, प्रभु के भीमकाय रूप के कारण 'भीमा' इस नाम से प्रसिद्ध हुई। भक्तगणों के द्वारा स्तुति और निवासार्थस्थायी-प्रार्थना किए जाने पर प्रभु यहाँ सदा के लिए ज्योतिर्लिंग के रूप में स्थापित हो गए। इस स्थान पर प्रकट हुई 'भीमा' नदी जो कि 'चन्द्रभागा' इस नाम से भी प्रसिद्ध है, के कारण ही यह ज्योतिर्लिंग 'भीमाशंकर' नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि स्वयंभू महादेव रथ आकार की इस पहाड़ी पर रहते हैं इसलिए इसे 'रथाचल' नाम से भी जाना जाता है। लोकश्रुति के अनुसार एक 'भातीराव' नामक लकड़हारे ने एक दिन जब एक पेड़ के जड़ पर कुल्हाड़ी से प्रहार किया तो धरती से खून के फव्वारे निकलने लगे। लोगों ने वहां एक गाय लाकर खड़ा किया तो उसके स्तन से स्वत: नि:सृत दुग्ध-धारा से खून का निकला बंद हुआ और खुदाई करने पर शिवलिंग का प्राकट्य हुआ, जिसकी प्राण-प्रतिष्ठा एक मंदिर का निर्माण करके विधिपूर्वक किया गया। मंदिर में दशावतार की मूर्तियाँ भी हैं। मंदिर के आस-पास कई दर्शनीय स्थल यथा – मोक्षकुण्ड, ज्ञानकुण्ड, गुप्तभीमेश्वर, सर्वतीर्थ, व्याघ्रपदतीर्थ हनुमत् तडाग आदि हैं। श्रीधरस्वामी, नाराहरिमालो, ज्ञानेश्वर आदि संत महात्माओं ने इस ज्योतिर्लिंग का गौरव-गान किया है।

रामेश्वर

सुताम्रपर्णीजलराशियोगे निबध्य सेतुं विशिखैरसंख्यैः।
श्रीरामचन्द्रेण समर्पितं तं रामेश्वराख्यम् नियतं नमामि॥

हिन्दू धर्म में यह मान्यता है कि काशी में 'बिन्दुमाधव' के पास गंगास्नान करके वहां से गंगाजल लेकर उसे रामेश्वर में अर्पित करना और रामेश्वर के धनुष्यकोटि सेतुमाधव में स्नान करके वहां की बालुका को प्रयाग में वेणीमाधव के पास त्रिवेणी में समर्पित करके फिर त्रिवेणी संगम का जल अपने घर लाया जाता है, जिससे चारों धामों की यात्रा सम्पूर्ण मानी जाती है। स्कन्द महापुराण और शिव पुराण में इसकी कथा वर्णित है जिसके अनुसार, वानर-सेना के साथ जब श्रीराम दक्षिण में समुद्र-तट पर पहुंचे तब उन्होंने वहां शिव-पूजनार्थ एक पार्थिव शिवलिंग बनाकर षोडशोपचार से विधिवत् शिवजी की आराधना की। शिव जी प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट हो गये और सप्रेम उनकी अर्चना-वन्दना करने पर श्रीराम से वर माँगने को कहा। इस पर श्रीराम ने 'संसार को पवित्र करने और दूसरों के उपकार के लिए आप यहां निवास करें' एस वर मांगा। प्रभु ने प्रसन्न होकर 'एवमस्तु' कहकर 'रामेश्वर' नाम से अपनी स्थिति की और शिवलिंग होकर रामेश्वर नाम से इस धरा पर विख्यात हुए। शिवजी की कृपा से ही रामजी रावण आदि दुर्धर्ष रावण आदि महासुरों को मारकर विजयी हुए।

जो व्यक्ति रामेश्वर महादेव के दर्शन करता है और उन पर गंगाजल चढ़ाता है वह जीवनमुक्त होकर अंत में मोक्ष प्राप्त करता है। तमिलनाडु के 'रामनाड' जिले में बालू के विअशाल द्वीप पर स्थित यह मंदिर अत्यंत दिव्य और दर्शनीय है। इसके प्रवेश द्वार पर दस तलों वाला 'गोपुर' है। संपूर्ण मंदिर अद्भुत शिल्प एवं तक्षण से परिपूर्ण है। मंदिर के चारों और पत्थरों से बनी भारी व मजबूत दीवार है जिसकी चौड़ाई ६५० फीट और ऊंचाई १२५ फीट है। एक सुवर्णमण्डित स्तम्भ के पास १३ फीट ऊंचा और ९ फीट चौड़ा एक अखण्ड पत्थर में निर्मित नंदी का विग्रह अत्यंत मनोरम है। इस द्वीप पर में 'संतान गणपति', 'वीरभद्र हनुमान', नवग्रह, अम्मनदेवी' आदि अनेक मंदिर हैं। प्रमुख मंदिर से प्राय: २ किमी के अंतर पर 'गन्धमादन' पर्वत-टीले पर एक किले के भग्नावशेष के अतिरिक्त नन्दनवन में 'रामखाई', 'रामझरोखा', 'विभीषण-मंदिर' आदि दर्शनीय-स्थल हैं। यहां 'रामतीर्थ', 'सीताकुण्ड', 'जटातीर्थ', 'लक्ष्मणतीर्थ', 'कपितीर्थ', ब्रह्मकुण्ड'. 'गालवतीर्थ', 'कोदण्डरामतीर्थ', 'पाण्डवतीर्थ' आदि २४ तीर्थ हैं, जिनके मधुर और स्वादु जल में स्नान करने मनुष्य का तन-मन निर्मल हो जाता है। यहां महाशिवरात्रि उर आषाढ़ के महीने में १५ दिन का 'बडत्रा मेला' लगता है।

नागेश्वर

दक्ष-प्रजापति-कृत अपमान से देवी पार्वती के सती हो जाने के कारण दु:खी भगवान् शंकर ने विरक्त हो अपने शरीर को 'अमर्दक' नामक झील के समीप दग्ध कर डाला। द्वापर में वनवासी पांडवों के अमर्दक-प्रवास के दौरान एक दिन, गायों के द्वारा झील के मध्य स्वत: ही दुग्धस्राव से आश्चर्यचकित भीम के द्वारा उस स्थान पर गदा-प्रहार करने से रक्तधार के प्रस्फुटन के पश्चात् झील की तलहटी में दिव्य ज्योतिर्लिंग का साक्षात्कार हुआ। इस सम्बन्ध में प्राप्त एक और पौराणिक-प्रसंगानुसार, पश्चिमी समद्री तट पर 'दारुक' और 'दारुका' दैत्यों के उत्पातों से त्रस्त ऋषियों द्वारा प्रार्थना करने पर 'और्व' मुनि द्वारा अभिशप्त दैत्य भयाक्रान्त हो समुद्र के बीच मायाबल से निर्मित स्थान में रहने लगे और वहां पर भी निजस्वभाववश लोगों को बंदी बनाकर कष्ट देने लगे। एक बार उन्हीं बंदियों में परमशिवभक्त 'सुप्रिय' नामक वैश्य भी था जो बिना शिवार्चना के अन्न-जल भी ग्रहण न करता था जब इसकी सूचना कारागार-रक्षकों ने अपने स्वामी को दी तो उसने सुप्रिय की हत्या का आदेश दिया। इस पर सुप्रिय भगवान् शिव की आराधना करने लगा और जैसे ही उसकी हत्या हेतु राक्षस उद्यत हुए वैसे ही भगवान् शंकर ने कुटुम्बियों सहित राक्षसों का संहार कर डाला। किन्तु दारुका, जिसे देवी पार्वती ने वर दे रखा था के अनुरोध पर भगवान् शिव ने इस महायुग के अंत में राक्षसी-सृष्टि होने और दारुका को शासिक बनाने की बात स्वीकार कर ली। फिर सुप्रिय के निवेदन पर शिवजी और माता पार्वती वहां स्थिर हो गए और उनके ज्योतिर्लिंग का नाम 'नागेश्वर' पड़ा। यह 'नामदेव' जी और उनके गुरु 'विसोबा खेचर' का स्मृति-स्थान है।

नागेश-मंदिर का शिल्प-सौन्दर्य अतुल्य है। यहां सभामण्डप और गर्भगृह समान सतह पर हैं। नंदी का विग्रह लिंग के सामने न होकर मुख्य मंदिर के पीछे है। इस स्थान पर १०८ शिवालय और ६८ तीर्थ हैं। मंदिर के अन्तरंग भाग में एक 'ऋणमोचन तीर्थ' है। प्रत्येक बारह वर्ष में 'कपिलाषष्ठी' के समय काशी-गंगा का पदार्पण होता है। इस समय इस कुण्ड का जल अत्यन्त निर्मल दिखाई देता है।

विश्वनाथ

'वरुणा' और 'असी' नामक दो नदियों के संगम-स्थल पर स्थित 'वाराणसी' नामक दिव्य

पौराणिक मोक्षदायिनी नगरी काशी का विस्तार 'दिवोदास' नामक राजा ने किया था। मान्यता है कि शिव जी ने अपनी ही प्रेरणा से समस्त तेजसम्पन्न अत्यन्त शोभायमान पञ्चकोसी नगरी का निर्माण करके उसे, सम्पूर्ण लोकों से पृथक् अपने त्रिशूल पर स्थित किया और यहीं मुक्तिप्रद ज्योतिर्लिंग की स्वयं ही स्थापना की। इस नगरी को उन्होंने अपने त्रिशूल से उताकर मृत्युलोक में स्थापित किया जो कि कल्पांत में प्रलय होने पर पुन: उनके द्वारा अपने त्रिशूल पर धारण कर ली जाती है। निस्संदेह यह नगरी मोक्षदा एवं ज्ञानदा है। यहाँ मरने वाला प्रत्येक मोक्ष का भागी होता है। इस क्षेत्र में किया गया कर्म सहस्रों वर्षों तक भी क्षय को प्राप्त नहीं होता है। संरक्षक के रूप में 'दण्डपाणि' और 'कालभैरव' इसकी रक्षा करते हैं। यहां गंगाजी के तट पर ८४ घाट और कई तीर्थ कुण्ड हैं। यहाँ का गंगोदक भूलोक का अमृत है। हिन्दुओं की इस पवित्र नगरी का वैभव वैदिक-काल से ही चला आ रहा है जो यवन-आक्रमणकारियों के द्वारा कई बार नष्ट करने के बावजूद आज भी शिव की कृपा और उनके ओजस्वी भक्तों के कारण उसी गर्व और मस्ती से आज भी विद्यमान है। सम्प्रति काशीविश्वेश्वर का मंदिर देवी अहिल्याबाई होलकर ने १७७७ ई में पुन:निर्मित किया। १७५५ ई में औंध के पन्तप्रतिनिधि ने यहाँ के 'बिंदुमाधव'-मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। १८५२ ई में पेशवा बाजीराव ने 'कालभैरव' मंदिर बनवाया। महाराजा रणजीत सिंह ने काशीविश्वनाथ-मंदिर के शिखरों को सुवर्ण से मढ़वाया तो नेपाल-नरेश ने प्रचण्ड घंट का दान दिया। काशीस्थ देवताओं से सम्बन्धित स्तुति-परक श्लोक इस प्रकार है -

विश्वेशं माधवं ढुण्ढिं दण्डपाणिं च भैरवम्।
वन्दे काशीं गुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम्॥

श्रीत्र्यम्बकेश्वर

प्राकृतिक रूप से सुरम्य गौतमी-तट पर स्थित दिव्य ज्योतिर्लिंग 'त्रंबकेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। यहां शिवलिंग पर अरघा (जलहरी) नहीं है अपितु उस स्थान पर उखली जैसा गढ़ढा दिखाई पड़ता है जिसमें अंगूठे के आकार के ब्रह्मा, विष्णु और महेश जी के ३ लिंग यानी त्र्यम्बकेश्वर ही है। उन तीन में से महेशजी के लिंग पर से एक खोंडर का पानी हमेशा बहता रहता है। इस ज्योतिर्लिंग में से कभी-कभी सिंह की दहाड़ सुनाई देती है तो कभी-कभी आग की दिव्य ज्वालाएं भी निकलती हैं। ऐसे में शंकर जी के क्रोध से बचने के लिए भंगमिश्रितदुग्ध से उनका अभिषेक रुद्रमन्त्रों व जयघोष के साथ करके उन्हें शांत किया जाता है। इस लिंग के प्रकटन-सम्बन्धी कथा इस प्रकार है – एक बार अहिल्या के पति गौतम ऋषि जो कि उस ब्रह्म-पर्वत पर तपस्या करते थे वहां सौ वर्षों तक वृष्टि न होने से दुर्भिक्ष की स्थिति आ गयी। संकटापन्न इस स्थिति को देखकर गौतम ने ६ मास तक प्राणायाम द्वारा मांगलिक ताप किया जिससे प्रसन्न होकर प्रकट हुए वरुण देव से उन्होंने जल का वरदान मांगा। वरुणदेव के कहने पर ऋषि ने हाथ भर का एक गढ़ढा खोदा, जिसमें वरुण देव की शक्ति से जल भरा आया। वरुणदेव ने ऋषि से कहा कि तुम्हारे पुण्य-प्रताप से यह गढ़ढा अक्षय-जल वाला तीर्थ होगा जो कि तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होगा। कालान्तर में उस गौतमी तीर्थ से जल लेने के प्रसंग में गौतम-शिष्यों और अन्य ऋषि-पत्नियों में विवाद हो गया। विवाद-स्वरूप अपनी पत्नियों के भड़काए जाने पर ऋषियों ने गौतम से प्रतिशोध लेने के लिए तप करके गणेश जी को प्रसन्न किया। वर-स्वरूप ऋषियों ने गौतम को अपमानित करके वहां से निकालने की शक्ति मांगी जिसको अनिच्छित भाव से गणेश जी ने इस दुष्कृत्य हेतु दुष्परिणाम भुगतने की चेतावनी के साथ स्वीकार कर लिया। परिणामत: एक दिन गौतम ऋषि द्वारा अनजाने में विधिवशात् हुई गौहत्या पर उन्हें अपमानित

करके उस स्थान से ऋषियों द्वारा हटा दिया गया। गौहत्या से निवृत्ति हेतु गौतमजी ने अपने तपोबल से गंगा जी को लाकर उसमें स्नान करके कोटि संख्या में निर्मित पार्थिव शिवलिंग से भगवान् आशुतोष की पूजा-अर्चना की जिससे प्रसन्न होकर प्रकट हुए शिव जी से संसार के कल्याणार्थ गंगा जी को वररूप में मांगा। गंगा जी की प्रार्थना पर पार्वती देवी सहित शिव जी ने वहां निवास किया। यहां गंगा जी 'गौतमी' नाम से तथा लिंग 'त्र्यम्बक' नाम से विख्यात हुए। 'ब्रह्मगिरी' के जिस स्थान से गोदावरी निकलती है उसे 'गंगाद्वार' कहते हैं। गोदावरी यहां जिस तलहटी में बहती है वह 'कुशावर्त' कहलाता है। यहां मंदिर के परिक्रमा-मार्ग में रामतीर्थ, प्रयागतीर्थ, नृसिंहतीर्थ आदि रमणीय स्थान हैं। त्र्यम्बकेश्वर के पास गौतमी गोदावरी में अहिल्या नामक छोटी नदी मिलती है। इस संगम-स्थल पर 'नाग-नारायणबलि' नामक अनुष्ठान का आयोजन भी किया जाता है।

केदारेश्वर

हिमालय की देवभूमि में स्थित इस दिव्य ज्योतिर्लिंग के दर्शन वैशाख से आश्विन् तक ६ महीने होते हैं। कार्तिक महीने में बर्फबारी के समय मंदिर में नंदादीप जलाकर भोगसिंहासन बाहर लाया जाता है। कार्तिक से चैत्र तक केदारेश्वर जी का निवास नीचे 'उरवी मठ' में रहता है। वैशाख में बर्फ के पिघलने पर केदारधाम के खुलने पर कार्तिक महीने में जलाया हुआ दीया ज्यों का त्यों जलता हुआ अन्दर लाया जाता है। तीर्थयात्री अपने यात्रा के दौरान गणेश जी के जन्मस्थान 'गौरीकुण्ड' के गरम जल में स्नान करते हैं और मस्तकहीन गणेश जी के दर्शन करते हैं। गौरीकुण्ड से प्राय: ४ कोस की दूरी पर मंदाकिनी नदी की घाटी में भगवान् शंकर का दिव्य ज्योतिर्लिंग केदारनाथ के दर्शन होते हैं। यही कैलाश है जो भगवान् शंकर का आद्य निवास-स्थान है। लेकिन वहां शंकरजी की मूर्ती या लिंग नहीं है। केवल एक त्रिकोणाकार उच्चस्थान है। इस ज्योतिर्लिंग की कथा इस प्रकार है –

महाभारत-युद्ध के बाद पांडव जब भगवान् शिव के दर्शनार्थ कैलाश पहुंचे तो भगवान् के दर्शन तो हुए किन्तु उसके बाद वो लुप्त हो गये। जिस स्थान पर वे गुप्त हो गए उस स्थान को 'गुप्तकाशी' कहा जाने लगा। वहां से आगे बढ़कर गौरीकुण्ड में नकुल-सहदेव को एक भैंसा दिखाई दिया। उस भैसे को भीम ने गदा-प्रहार करके घायल किया। फिर वह एक दर्रे के पास जमीन में मुंह दबाकर बैठ गया। भीम ने उसकी पूँछ पकड़कर खींचा। इस खिंचाव से भैस का मुख सीधे नेपाल में जा पहुंचा और पार्श्वभाग केदार धाम में ही रहा। नेपाल में वह 'पशुपतिनाथ' के नाम से तथा यहां 'केदारनाथ' नाम से जाना जाने लगा। भैंस-रूप में ये वस्तुत: भगवान् शिव ही थे, जिनके पार्श्वभाग से दिव्य ज्योति प्रकट हुई। यहाँ भगवान् के दर्शन से पांडवों के युद्ध-विषयक पापकर्म धुल गये। धर्मराज जब स्वर्ग सिधार रहे थे तब उनका एक अंगूठा निकलकर जमीन पर पड़ा था। उस स्थान पर धर्मराज ने अंगुष्ठमात्र शिवलिंग की स्थापना की। भीम को वास्तविकता का पता चलते ही अत्यंत दुःख पहुंचा और वे महेश के शरीर पर घी मलने लगे, जिसके बाद यहाँ केदारेश्वर को घी मलने की परम्परा है। नर-नारायण को भी केदारेश्वर के दर्शन हुए। इस मंदिर के पीछे आद्य शंकराचार्य की समाधि है। मंदिर के आठों दिशाओं में 'अष्टतीर्थ' हैं।

घृष्णेश्वर

महाराष्ट्र के औरङ्गाबाद से ३० किमी दूर 'वेरूळ' गांव के समीप 'शिवालय' नामक तीर्थस्थल पर यह दिव्य ज्योतिर्लिङ्ग है, जो द्वादश ज्योतिर्लिंगों में अन्तिम है। इस प्रदेश पर

कभी 'एल' नामक राजा का शासन था जिसकी राजधानी 'येलगंगा' नदी-तट पर स्थित 'येरूल', 'येलापुर' या 'वेरूल' था। एक बार आखेट करते हुए राजा एल के द्वारा आश्रम-जन्तुओं के शिकार से क्रुद्ध ऋषियों द्वारा अभिशप्त होने पर वह सर्वांगकीटयुक्त हो गया। एक दिन प्यास से व्याकुल राजा ने गाय के खुर से निर्मित गड्ढे में एकत्रित जल से जैसे ही अपनी प्यास बुझाई उसके शरीर निरोग और स्वस्थ हो गया। इस पर उसने वहीं कठिन तप किया जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा जी ने उसके अनुरोध पर अष्टतीर्थों के साथ एक पवित्र और विशाल सरोवर भी स्थापित किया। इस ब्रह्म-सरोवर का नाम ही 'शिवालय' पड़ा। इस शिवालय की भी एक कथा है जिसके अनुसार, एक बार चतुरंग-क्रीडा में पार्वती माता से परास्त होकर रुष्ट शंकर जी दक्षिण की ओर चले गये और वहां एक पठार में स्थित 'काम्यक वन' में बस गये जिसका नाम 'महेशमौली' पड़ा। उनकी खोज में पार्वती माता भी वहां आकर भिल्लनी वेश में उनका मन मोहकर उस काम्यक वन में रहने लगीं। एक दिन माता पार्वती की पिपासा को शांत करने के लिए भगवान् शंकर त्रिशूल घोंपकर पाताल से 'भोगावती' का पानी ऊपर ले आए। तभी से उसे 'शिवालय तीर्थ' कहा जाता है। इस काम्य-वन में एक दिन कुंकुम और केसर लेकर मांग भरने का उपक्रम करने हेतु जैसे ही पार्वतीमाता ने शिवालयतीर्थ का जल मिलाया और दाहिने हाथ की उंगली से उसे मलने लगीं तभी वह कुंकुम शिवलिंग बन गया जिसमें से दिव्य ज्योति प्रकट हुई। उन्होंने उस दिव्यज्योति को पत्थर के लिंग पर रखा और लिंगमूर्ति की प्रतिष्ठा की। घर्षण के द्वारा निर्मित होने के कारण इसका नाम 'घृष्णेश्वर' पड़ा। यहां २१ गणेश-पीठों में से एक 'लक्षविनायक' पीठ है।

4.6 चार धाम

भारतवर्ष में शंकराचार्य जी के द्वारा ४ दिशाओं में जो ४ मठ स्थापित किए गए, जिनकी चर्चा पूर्व की इकाइयों में की जा चुकी है, उन्हीं स्थलों पर क्रमशः उत्तर में केदारनाथ-बद्रीनाथ, पूर्व में जगन्नाथपुरी, दक्षिण में रामेश्वरम् और पश्चिम में द्वारिका ये चार स्थान चार धाम के रूप में हिन्दू संस्कृति में प्रसिद्ध हैं। स्कन्दपुराण का तीर्थ-प्रकरण इन धामों की यात्रा का अत्यंत महत्त्व वर्णित करता है। इन धामों के साथ अनेकों पौराणिक कथाएं एवं परम्पराएं जुड़ी हैं जिनका प्रत्यक्ष अध्यात्मिक-अनुभव इनकी यात्रा से ही संभव है। राष्ट्र प्रेम की भावना भी जाग्रत होती है ,राष्ट्र की सीमाओं का ज्ञान होता है ,एकता की भावना जाग्रत होती है।

इसी माध्यम से हम पूर्व से लेकर पश्चिम तथा उत्तर से लेकर दक्षिण तक भांति भांति लोगों के संपर्क मे आते है और उनकी भाषा ,रीति रिवाज व्यवहार , संस्कृति को निकट से देखने समझने का मौका मिलता है।

बद्रीनाथ धाम

यह तीर्थ बद्रीनाथ के रूप में भगवान विष्णु को समर्पित है। ये अलकनंदा नदी के किनारे बसा है। माना जाता है इसकी स्थापना मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने की थी। इस मन्दिर में नर-नारायण की पूजा होती है और अखण्ड दीप जलता है। यहां पर श्रद्धालु तप्तकुण्ड में स्नान करते हैं। यहां पर वनतुलसी की माला, चने की कच्ची दाल, गिरी का गोला और मिश्री आदि का प्रसाद चढ़ाया जाता है। बद्रीनाथ मंदिर के कपाट अप्रैल के आखिरी या मई के शुरुआती दिनों में दर्शन के लिए खोल दिए जाते हैं। लगभग 6 महीने तक पूजा के बाद नवंबर के दूसरे सप्ताह में मंदिर के पट फिर से बंद कर दिए जाते हैं।

रामेश्वर धाम

इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

पुरी धाम

यह वैष्णव सम्प्रदाय का मंदिर है, जो भगवान विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण को समर्पित है। इस मंदिर में तीन मुख्य देवता, भगवान जगन्नाथ, उनके बड़े भाई बलभद्र और बहन सुभद्रा है। ये ७ पवित्र पुरियों में एक है। यहां हर साल रथ यात्रा का आयोजन किया जाता है। इस आयोजन में दुनियाभर से भगवान श्रीकृष्ण के भक्त आते हैं। यहां मुख्य रूप से भात का प्रसाद चढ़ाया जाता है।

द्वारिका धाम

गुजरात के पश्चिमी सिरे पर समुद्र के किनारे बसी द्वारिका पुरी को चार धामों में से एक माना गया है। ये भगवान श्रीकृष्ण को समर्पित तीर्थ है। ये तीर्थ पुराणों में बताई गई मोक्ष देने वाली सात पुरियों में से एक है। माना जाता है कि इसे श्रीकृष्ण ने बसाया था।

इसके अतिरिक्त भारत के उत्तराखण्ड राज्य के गढ़वाल मण्डल में उत्तरकाशी, रुद्रप्रयाग और चमोली जिलों में स्थित बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री और यमुनोत्री को भी 'लघु चार धाम' के रूप में जाना जाता है। उसमे बद्रीनाथ धाम हमारे भारत के चार धामों का सबसे उत्तरी धाम माना जाता है। इस यात्रा में पहला पड़ाव यमुनोत्री, दूसरा गंगोत्री तीसरा पड़ाव केदारनाथ और अन्तिम पड़ाव बद्रीनाथधाम है। सभी का अपना-अपना वैशिष्ट्य एवं महत्त्व है।

4.7 सारांश

अपने पिता के द्वारा पति के प्रति बोले गए अपमानजनक वचनों से क्षुब्ध सती के अग्निकुंड में आत्माहुति से विषण्ण एवं क्रुद्ध शिव के द्वारा वहन किए जा रहे सती-शव का भगवान् विष्णु के द्वारा सुदर्शन-चक्र से अंग-भंग करने पर विछिन्न अंग यत्र-तत्र पृथिवी पर जहाँ पड़े वे स्थान 'शक्ति पीठ' के नाम से विख्यात हुए जिनकी संख्या ५१ है। ये सभी स्थान हिन्दू-संस्कृति के गौरवभूत हैं। इसके अतिरिक्त १२ ज्योतिर्लिंग एवं ४ धामों का भी उल्लेख इस अध्याय में आपने पढ़ा।

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

कृपावतीर्ण – कृपा से अवतरित

निबध्य – बांधकर

विशिखैः - तीक्ष्ण बाणों के द्वारा

4.9 सन्दर्भग्रन्थ

१. स्कन्दपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर

२. शिव पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर

३. देवीभागवत महापुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर

४. कल्याण, हिन्दू संस्कृति परिशिष्टांक, गीता प्रेस, गोरखपुर

4.10 बोधप्रश्न

1. उत्तरभारत के किन्हीं तीन शक्तिपीठों का अंग, शक्ति व भैरव सहित वर्णन कीजिए।
2. पूर्वी भारत के किन्हीं तीन शक्तिपीठों का अंग, शक्ति व भैरव सहित वर्णन कीजिए।
3. सोमनाथ ज्योतिर्लिंग का परिचय दीजिए।
4. विश्वनाथ ज्योतिर्लिंग का परिचय दीजिए।
5. चार-धामों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

इकाई 5 पवित्र संकुल की अवधारणा (एल0पी0 विद्यार्थी, वैद्यनाथ सरस्वती, माखन झा)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

- पवित्र संकुल की अवधारणा को जान पायेंगे।
- माखन झा, वैद्यनाथ सरस्वती तथा एल0पी0 विद्यार्थी का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- पवित्र संकुल के रूप में गया और वाराणसी नगर का अध्ययन कर सकेंगे।
- गया और वाराणसी नगर से जुड़े सांस्कृतिक तत्वों से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

पवित्र संकुल की अवधारणा, एन्थ्रोपॉलाजिस्टों द्वारा किया गया एक आधुनिक अवधारणा है जिसमें धार्मिक नगरी का अध्ययन किया जाता है। भारत में इस अवधारणा पर कार्य करने वाले विद्वानों में माखन झा, वैद्यनाथ सरस्वती तथा एल0पी0 विद्यार्थी का नाम महत्वपूर्ण है। पुराणों में जिन पवित्र नगरों की महिमा पौराणिक दृष्टि से की गयी है, उनमें से काशी और गया अत्यन्त महत्वपूर्ण नगर है। प्रस्तुत इकाई में गया और वाराणसी को प्रतिदर्श नगर के रूप में अध्ययन किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप पवित्र संकुल की अवधारणा से परिचित होने वाले हैं।

5.2 लेखक का परिचय

प्रो0 एल0पी0 विद्यार्थी (1931–1985) एक प्रख्यात मानवता स्त्री थे। वे राँची विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र विभाग के संस्थापक सदस्य थे एवं उसी विभाग में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष थे। लगभग तीन दशक तक इसी विश्वविद्यालय में कार्यरत थे। शिकागों विश्वविद्यालय से आपने पी0एच0डी0 की उपाधि प्राप्त की है एवं इस

विश्वविद्यालय के आप फेलो भी रह चुके हैं। राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बारह पुरस्कारों से सम्मानित प्रोफेसर एस0पी0 विद्यार्थी भारत में मानवशास्त्र की स्थापना में अप्रतीत योगदान है। पवित्र–संकूल की अवधारणा के आप प्रवर्त्तक रहे हैं। उनकी प्रकाशित कृतियों में 53 से अधिक पुस्तकें शामिल हैं जिसमें उल्लेखनीय है : "Sacred Complex in Hindu Gaya, The Sacred complex of Kashi, Culture contours of Tribal Bihar, Tribal culture of India, South Asian Culture, Harijan Today, Trends in World Anthropology, Rural Development in South Asia, Rise of World Anthropology : As Reflected Through the International Conference : As Reflected through the International conference." सम्पादित संस्करणों में : Indian Anthropology in Action, American Society and Culture, Leadership in India, Applied Anthropology in India, Scheduled Castes in India, Essays in Indian Folklore, Aspect of Social Anthropology in India. Tribal Developments and its Administration. तथा राँची विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र विभाग द्वारा राँची मानवशास्त्र श्रृंखला के अंतर्गत नौ पुस्तकें शामिल हैं।

प्रोफेसर वैद्यनाथ सरस्वती (1931–2013) एक प्रख्यात मानवशास्त्रस्त्री थे। वे इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली में संस्कृति और विकास में यूनेस्कों प्रोफेसर थे। इसके पूर्व वे नार्थ ईस्टर्न हिल युनिवर्सिटी (शिलाँग) में वैरियर एल्विन चेयर प्रोफेसर, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवान्स स्टडीज (शिमला) में फेलो एवं विश्वभारती तथा राँची विश्वविद्यालयों में विजिटिंग प्रोफेसर भी रह चुके थे। प्रोफेसर सरस्वती ने पारंपरिक विचार एवं आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति और समाज को समझने में चार दशकों से भी अधिक समय बिताया। उनकी प्रकाशित कृतियों में 25 से अधिक पुस्तकें शामिल हैं, जिसमें उल्लेखनीय है : Pottery Making Culture and Indian Civilization : Brahmaric Ritual Traditions in the crecible of Time; Kashi : Myth and Reality : Sacred Science of Man : Spectrum of the sacred : The Eternal Hinduism : Culture and Cosmos संपादित संस्करणों में Tribal thought and culture : Prakriti Primal Elements the oral Traditions, The nature of man and culture : Alternative Paradigms in Anthropology : Voice of Death : Pilgrimage : Sacred Landscapes and Self – organized complexity तथा इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित Culture and Development श्रृंखला की आठ पुस्तकें शामिल हैं। प्रोफेसर सरस्वती को प्रतिष्ठित एशियाटिक सोसाइटी पुरस्कार तथा भारतीय समाज–विज्ञान परिषद् के लाइफटाइम अचीवमेंट अवार्ड से सम्मानित किया गया था।

प्रो0 माखन झा (1941–) एक प्रख्यात मानवशास्त्री थे वे राँची विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र विभाग में लगभग तीन दशक तक अध्यापन का कार्य किया है। वे प्रो0 एल0पी0 विद्यार्थी के स्वनामधन्य शिष्य रहे हैं। भारतीय मानवशास्त्र के उन्नयन एवं संवर्द्धन में उनका अप्रतिम योगदान है। पवित्र संकुल की अवधारणा को प्रयोग करते हुए उन्होंने अनेक तीर्थनगर का अध्ययन किया है। काशी, पुरी, जनकपुर, कमाख्या इत्यादि तीर्थस्थल के पवित्र संकुल के अध्ययन करके उन्होंने एस0पी0 विद्यार्थी की परम्परा को अग्रसारित किया है। उनकी प्रकाशित पुस्तकों में 30 से अधिक पुस्तकें शामिल हैं जिसमें उल्लेखनीय हैं :

The sacred complex in Janakpur, the Sacred Complex of Kashi, Dimensions of Pilgrimage, Complex Societies and Other Anthropological essays,

Civilizational Regions of Mithila and Mahakosal, Civilization and complex Societies of South Asia, Rising India : An Urban Anthropological Approach to Puri, Aspects of a Great Traditional City in Nepal, An Introduction to Anthropological thought सम्पादित संस्करणों में Social Anthropology of Pilgrimage, Dimensions of Pilgrimage, Aspect of a Great Traditional City in Nepal इत्यादि।

5.3 पवित्र संकुल गया

गया हिन्दू धर्म का एक विशिष्ट तीर्थ स्थल है। यह भगवान श्री विष्णु की नगरी है। यह नारायण की नगरी है। यह गयासुर की नगरी भी मानी जाती है। गया पितृकर्म अर्थात् श्राद्ध कर्म के लिये सबसे प्रमुख तीर्थ स्थल के रूप मे अनादि काल से जाना जाता है। पितर को मोक्ष की प्राप्ति हो इस कामना से सम्पूर्ण विश्व से आस्थावान हिन्दू यहां पधारते हैं। गया का वर्णन अनेक हिन्दू धर्मग्रन्थ में प्राप्त होता है। ऐसी शास्त्रीय मान्यता है कि श्राद्ध कर्ता जैसे ही अपने गृह से गया श्राद्ध कर्म करने के लिये प्रस्थान करते हैं, वैसे ही उनके पितरों के लिये स्वर्ग की सीढ़ी का सृजन प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये यह मोक्षदायनी नगरी के रूप में जानी जाती है। सम्पूर्ण भारत के श्राद्ध कर्म के महत्त्वपूर्ण नगरों में गया का स्थान सर्वोच्च माना जाता है।

1. पवित्र भूगोल : गया बिहार का एक प्राचीन पवित्र नगर एवं प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। गया का शाब्दिक अर्थ है ''चलो किसी अन्य स्थान पर चलते हैं'' यह परलोक के साथ संपर्क को संदर्भित करता है। यह इहलोक और परलोक को जोड़ने वाले एक गंतव्य का प्रतीक है। तीर्थयात्रा और पवित्र स्थानों पर सबसे अधिकारिक पुस्तक त्रिशलिसेतु है, जिसकी रचना 16वीं शताब्दी में की गयी उसमें गया तीर्थ का विशेष वर्णन प्राप्त होता हैं। त्रिशालिसेतु का अर्थ है तीन पवित्र नगरों के लिये सेतु (पुल) आत्मा का ईश्वर में लय होने का नगर। यह तीन पवित्र नगर हैं– गया, काशी एवं प्रयागराज। गया फाल्गु नदी के पवित्र तट पर बसा हैं। काशी गंगा नदी के पावन तट पर बसा है, तथा प्रयागराज गंगा, यमुना एवं अदृश्य नदी सरस्वती के परमपावन तट पर बसा है। यह तीनों नगर देवता के साथ–साथ पितृ–पूजा के लिये भी अतिविशिष्ट है। उसमें पितृ–कर्म के लिये गया तीर्थ का सर्वोच्च स्थान है। एक पवित्र स्थान के रूप में गया का प्रथम स्पष्ट संकेत ऋग्वेद (1.22.17) में प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। अर्थवेद (1.14.1) में गया तीर्थ का उल्लेख एक रहस्यवादी और एक अद्भूत नगर रूप में किया गया है। रामायण, महाभारत, निरूक्त, विष्णुधर्मसूत्र, वायुपुराण, बौद्ध ग्रंथों में गया तीर्थ को एक पवित्र तीर्थ स्थल के रूप में वर्णन किया गया है। पितर को मोक्ष की प्राप्ति हो इसलिए संपूर्ण विश्व से हिन्दू गया, श्रद्धा करने आते है। बोध गया वह पवित्रतम स्थान हैं जहाँ भगवान बुद्ध को प्रज्ञाबोध अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। यह स्थान गया नगर के समीप है एवं बौद्ध धर्म के चार परमपवित्र स्थल यथा सारनाथ, कपिलवस्तु, कुशीनगर एवं गया में एक है, इसलिए गया का भूगोल को पवित्र माना जाता है।

महाभारत (3.87.10.12) में गया तीर्थ की महिमा को स्वीकार किया गया है। श्राद्ध कर्म के लिए इस तीर्थ का वर्णन महाभारत में विशेष रूप से संदर्भित है। महाभारत (3.87. 10.12) के अनुसार मनुष्य को अनेक पुत्र की कामना करनी चाहिए; इसका अभिप्रायः यह है कि कोई–न–कोई पुत्र पितर को मुक्त करने के लिए, पिण्डदान करने गया तीर्थ तो अवश्य आयेगा। चीनी यात्री ह्वेनसांग (सातवीं शताब्दी) ने भी गया का

उल्लेख एक पवित्र तीर्थ स्थान के रूप में किया है। उसने यह बताया कि हिन्दुओं का दृढ़विश्वास है कि गया तीर्थ में पाप धोने की शक्ति है ऐसा गया लोग स्नान एवं पिण्डदान करने के लिये अनादिकाल से आते रहे हैं। ऐसा वर्णन संस्कृति धर्मशास्त्र के ग्रंथों में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

वायुपुराण के अनुसार गया तीर्थ का नाम एक राक्षस राजा गयासुर पर रखा गया है। गयासुर ने अपनी कठीन तपस्या से देवताओं को प्रसन्न किया और आर्शिवाद प्राप्त किया कि सभी देवताओं की आत्मा उसके शरीर में निवास करेंगी। यही वह क्षेत्र है जिसे गया तीर्थ के नाम से जाना जाता है। गयासुर के महान तपस्या की शक्ति से दिव्य आत्मा पृथ्वी की आत्मा से मिली। जिसके परिणामस्वरूप एक बहुत शक्तिशाली पवित्र स्थान का निर्माण हुआ। राक्षस गयासुर की महिमा और आध्यात्मिक शक्ति की स्मृति में उसके नगर को गया तीर्थ कहा जाता है।
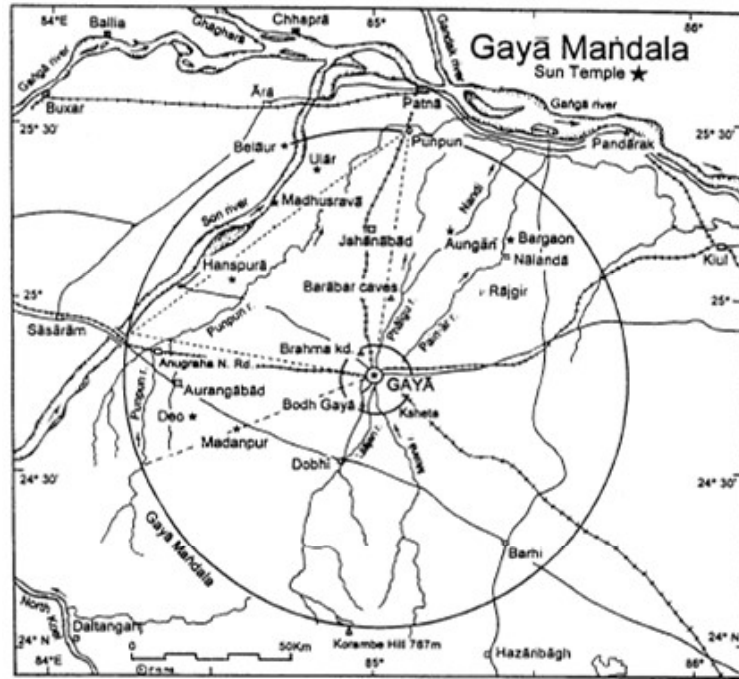
पवित्र स्थलाकृति :

गया सामान्यतः एक मैदानी क्षेत्र है, जिसकी औसत ऊँचाई 100 मीटर दर्ज की गयी है। यद्यपि पाँच पवित्र पहाड़ियाँ हैं जिस पर अनेक पवित्र स्थान स्थित हैं। ये पहाड़ियाँ पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य आपस में जुड़ी हुई सीढ़ियों का प्रतीक हैं जिसके माध्यम से आत्मा अंतिम मुक्ति के लिये मार्ग का अनुसरण कर सकती हैं। पौराणिक साहित्य में दिवंगत आत्माओं को देवता के सान्निध्य में निवास करने में गया तीर्थ का उल्लेख प्राप्त होता है। फाल्गु नदी, अक्षयवट, प्रेतशीला ये तीन प्रमुख पवित्र केन्द्र का प्रतीकात्मक वर्णन प्राप्त होता है। फल्गु नदी बहता जल का प्रतीक है। जिसमें जीवन, शक्ति और आनन्द समाहित है। जल वास्तव में उपचारक है। अक्षयवट ब्रह्माण्ड की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में प्राकृतिक तत्वों के विकास और विस्तार का प्रतिनिधित्व करता है। प्रेतशीला, पहाड़ियाँ और चोटियाँ एक और ब्रह्माण्डीय प्रतिनिधित्व है जो पृथ्वी और आकाश को जोड़ने वाली सीढ़ी का प्रतीक है। तैत्तिरीय संहिता (6.6.4.2) का कहना है कि अनुष्ठानों के लिये पहाड़ियों पर चढ़ना दिव्य जगत तक पहुँचने के लिये एक सेतु से गुजरने वाली सीढ़ी का अनुसरण करने जैसा है। वैदिक काल में

वर्णित गया तीर्थ के तीन सबसे महत्त्वपूर्ण पवित्र स्थानों में से एक समारोहण है। जिसका शाब्दिक अर्थ है, दिव्य जगत की ओर वापसी। यह स्पष्ट रूप से प्रेतशिला की पहाड़ी को संदर्भित करता है। गया तीर्थ के पवित्र भूगोल को निर्धारित करने वाली पाँच पहाड़ियाँ है– 1. प्रेतशिला, 2. रामशिला, 3. प्रभास, 4. ब्रह्मयोनि, 5. ग्रिधरकुटा।

गया तीर्थ के पवित्र धार्मिक केन्द्र या स्थल निम्नलिखित है–

अक्षयवट (बरगद का पेड़) :

पौराणिक कथाओं में बताया गया है कि प्रलय के समय जब सम्पूर्ण पृथ्वी समुद्र में समाहित थी उस समय सृष्टि के संरक्षक एवं पालन करने वाले देवता, भगवान विष्णु ने शिशु का रूप धारण करके बरगद के पेड़ की शाखा पर गहरे नींद में चले गये थे। उसी बरगद के पेड़ का पौराणिक प्रतीक अक्षय वट है। पौराणिक साहित्य इस प्रसंग को पृथक–पृथक रूप में वर्णन करता हैं तथापि वे सभी गया तीर्थ में इसके स्थान का संकेत देते हैं।

सनातन हिन्दू धर्म ग्रंथों में विश्व भर में चार ऐसे वट वृक्षों का उल्लेख मिलता है, जो विशेष महत्त्व का है। इन वट वृक्षों को अक्षय माना गया है। यह चार वट वृक्ष हैं– प्रयागराज का अक्षयवट, वृंदावन का वंशीवाद, उज्जैन का सिद्‌वट और गया का अक्षयवट जिसे गयावट भी कहा जाता है। गया का अक्षयवट नगर के प्रसिद्ध मंगला गौरी मंदिर के समीप स्थित है। अक्षय का अर्थ होता है जिसका कभी नाश नहीं, जो अजर, अमर और अविनाशी हो। गया में अक्षयवट पिण्डदान स्थल में एक प्रमुख स्थल है। ऐसा माना जाता है कि इस वटवृक्ष का रोपण स्वयं ब्रह्माजी ने किया था और तब से अक्षय वट ज्यों का त्यों है।

एक अन्य मान्यता के अनुसार इस वटवृक्ष को भगवान राम एवं माता जानकी ने यह आर्शिवाद दिया था कि तू अक्षय रहेगा। ऐसा माना जाता है कि वन गमन के क्रम में भगवान राम माता जानकी एवं लक्ष्मण जी यहाँ पिण्डदान के लिये पधारे थे, जब उन्हें दशरथ जी के निधन की सूचना प्राप्त हुई।

अक्षयवट :

भगवान श्रीराम और भ्राता लक्ष्मण जी पिण्डदान हेतु आवश्यक सामग्री लाने चले गये। इसी बीच पिण्डदान का मुहूर्त बीता जा रहा था। इस कारण से इसी स्थान पर माता जानकी के बालू का पिण्ड बनाकर अपने हाथों दशरथ जी का पिण्डदान सम्पन्न किया ताकि दशरथ जी को मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

पिण्डदान के लिये सीता माता ने फल्गु नदी, गाय, वटवृक्ष, ब्रह्मयोनि पर्वत और केतकी के फूल को साक्षी बनाया था। जब भगवान राम लौटकर आये और माता जानकी ने उन्हें बताया की उन्होंने पिण्डदान सम्पन्न कर दिया है तब भगवान राम आश्चर्यचकित हो गये और उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि बिना सामग्री के पिण्डदान कैसे हुआ।

पिण्डदान को प्रमाणित करने के लिय माता जानकी ने फल्गु, गाय, वटवृक्ष, ब्रह्मयोनि पर्वत और केतकी के फूल को भगवान के सम्मुख किया। भगवान के भय से सभी मुकर गये केवल वटवृक्ष ने पिण्डदान को प्रमाणित किया।

इससे कुपित होकर माता जानकी ने फल्गु को बिना जल की नदी गाय के गोबर को शुद्ध, ब्रह्मयोनि पर्वत को बिना वृक्ष का पर्वत और केतकी के फूल को शुभ कार्यों से

वंचित रहने का श्राप दे दिया वही वटवृक्ष को अक्षय होने का आर्शिवाद दिया। तब से अक्षयवट पर पितरों को किये गये तर्पण का पुण्य कभी समाप्त नहीं होता है।

फल्गुनदी :

पौराणिक साहित्य के अनुसार फल्गु नाम फला (योग्यता) और गो (वरदान देने वाली गाय) के युग्म से सृजित है। जिसका तात्पर्य है फल्गु नदी पवित्रता और योग्यता की सर्वोच्च शक्ति को प्रकट करती है। फल्गु नदी गंगा जी से भी श्रेष्ठ है क्योंकि फाल्गु विष्णु का तरल रूप माना गया है जबकि गंगा जी का प्रादुर्भाव विष्णु के चरण से हुआ है। पौराणिक साहित्य में फल्गु नदी, महानदी के रूप में वर्णित है। पितृ कर्म के स्थलों में फल्गु नदी के तट को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वर्तमान में फल्गु नदी के तट पर ग्यारह घाट हैं, जिनका उपयोग पवित्र अनुष्ठानों, पवित्र स्नान और पितृ कर्म (श्राद्ध) के लिये किया जाता है। फल्गु नदी के तट पर नगर के दक्षिण दिशा में अंतिम संस्कार किया जाता है। गदाधर और संगत घाट के बीच का क्षेत्र विभिन्न प्रकार के पवित्र अनुष्ठानों एवं कर्मकाण्डों, उत्सवों और श्राद्धकर्म के लिये सबसे अधिक उपयोग किया जाता है। फल्गु के दाहिने तट पर विष्णुपद के पश्चिम की ओर सीताकुंड स्थित है। फल्गु नदी में स्नान करने के लिये श्रद्धालु विशेष रूप से कार्तिक पूर्णिमा, पितृपक्ष, सूर्य एवं चन्द्र ग्रहण के दिन विशेष रूप से आते हैं एवं दर्शन, पूजन, श्राद्ध, दान इत्यादि करते हैं।

विष्णुपद (विष्णु के पद चिन्ह) :

पौराणिक कथा के अनुसार गयासुर नाम का एक राक्षस था जिसने अपने घनघोर कठिन तपस्या करके देवताओं को प्रसन्न किया। उसने यह वरदान मांगा कि जो उसे देखे उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जायें। इसलिये लोगों ने आसानी से गयासुर का दर्शन करके मोक्ष की प्राप्ति करने लगे। मोक्ष की प्राप्ति एक दुष्कर धार्मिक पथ पर चलकर प्राप्त की जाती है। भगवान विष्णु इस बात से नाराज हो गये की सभी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए उन्होंने गयासुर को पृथ्वी के नीचे जाने को कहा और अपना दाहिना पैर गयासुर के सिर पर रखकर ऐसा किया। गयासुर को धरती की सतह से नीचे धकेलने के बाद भगवान विष्णु के पद चिन्ह सतह पर रह गये जिसे हम विष्णुपद कहते हैं। गयासुर को भगवान विष्णु ने वरदान दिया कि गया तीर्थ आने

वाला कोई–न–कोई व्यक्ति तुम्हें भोजन अर्पित करेगा। जो व्यक्ति ऐसा करेगा उसे मोक्ष की प्राप्ति होगी।

विष्णुपद मंदिर फाल्गु नदी के पवित्र तट पर स्थित हैं। गया श्राद्ध का यह परमपावन स्थल है। मंदिर निर्माण का इतिहास काल से परे है। पौराणिक कथा के अनुसार भगवान श्रीराम माता जानकी एवं लक्ष्मण जी अपने पिता दशरथ जी का श्राद्ध करने यहाँ पधारे थे। रानी अहिल्या बाई होल्कर ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार 1787 में कराया था। गया तीर्थ के संरक्षक देवता विष्णु है। पितृ कर्म के लिये यह नगर हिन्दूओं के लिये परमपावन माना गया है।

प्रेतशिला :

प्रेतशिला पहाड़ी जो विष्णुपद से 8 किलोमीटर उत्तर–पूर्व की दूरी पर स्थित है। शायद मूल रूप में लोकधर्म की आत्मा की स्थल है। जो समय के साथ पैतृक पूजा के स्थल के रूप में बदल गया। बाद में प्रेत भैरवी और विष्णुमंदिर जोड़ा गया। महाभारत के अनुसार इस स्थल पर अनुष्ठान करने से ब्रह्म हत्या के पाप से भी मुक्ति मिल सकती है। वायुपुराण (108.5) के अनुसार इस पहाड़ी को पहाड़ियों की श्रृंखला के एक तट पर अनुष्ठान पूरा करने के बाद, दोपहर में कर्त्ता को प्रेतशिला का दर्शन करना चाहिये। वायुपुराण (110.10.12) में यह भी उल्लेख किया गया है कि– किसी को इसके शिखर पर पूर्वजों को पिण्डदान करना होता है और तलहटी में ब्रह्मकुंड में पवित्र स्नान करना होता है, साथ ही ऊपर के जलकुंड से देवताओं को जल अर्पित करना होता है। इस कुण्ड के समीप ब्रह्मा जी ने अश्वमेघ यज्ञ किया था।

रामशीला : रामशीला पहाड़ी गया का एक पवित्र धर्मस्थल है। जो धर्म एवं सांस्कृतिक विरासत की दृष्टिकोण से काफी महत्व का है। रामशीला पहाड़ी विष्णुपद मंदिर से आठ किलोमीटर उत्तर में फल्गु नदी के पवित्र तट पर स्थित है।

रामशिला पहाड़ी का नामकरण भगवान श्रीराम से जुड़ा है। ऐसा लोकविश्वास है कि रामायण काल में अपने वन प्रवास के दौरान भगवान श्रीराम ने रामकुण्ड में स्नान करने के पश्चात् इसी पहाड़ी पर अपने पिता दशरथ जी का पिण्डदान किया था।

गया तीर्थ में पिण्डदान की कुल 54 स्थल हैं राम शिला भी उनमें से एक महत्त्वपूर्ण स्थल है। ऐसी मान्यता है कि इस पवित्र स्थल पर पिण्डदान करने से पितर को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। गया तीर्थ के ही रामकुण्ड स्थित पिण्डदान स्थल पर पिण्डदान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रामशीला पहाड़ी के नीचे रामकुण्ड नामक सरोवर है। जिसके समीप ही एक प्राचीन शिव मंदिर स्थित है। जिसकी विशेषता एक विशाल स्फटिक का शिवलिंग है। पहाड़ी पर कुछ ऊपर प्राचीन राम मंदिर भी स्थित है। जहाँ भगवान श्रीराम के चरण–चिन्ह बने हुए हैं। पहाड़ी की चोटी का एक प्राचीन रामेश्वर मंदिर स्थित है। ऐसा लोक विश्वास है कि भगवान श्रीराम, माता जानकी एवं लक्ष्मण जी ने यहीं विश्राम किया था।

सीताकुण्ड और रामगया :

प्रभास पहाड़ी विष्णुपाद से लगभग 800 मीटर पूर्व फल्गु नदी के पवित्र तट पर स्थित है। पवित्र स्नान के लिये पहाड़ी भाग और तट का संगम स्थल अधिक पवित्र माना जाता है। यहाँ पर शिव एवं राम की पूजा एवं पिण्डदान अर्पित करके की जाती है। इस क्षेत्र को रामतीर्थ कहा जाता है। सीताकुण्ड विष्णुपद मंदिर के ठीक विपरीत दिशा

में स्थित एक अत्यन्त प्राचीन मंदिर है जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अमूल्य धरोहर है। सीताकुण्ड रामायण काल का है जहाँ माता जानकी ने अपने ससुर दशरथ जी का पिण्डदान अर्पित किया था। सिताकुण्ड एक छोटा सा मंदिर है जो विष्णुपद मंदिर के ठीक विपरीत दिशा में फल्गु नदी के दूसरे तट पर स्थित है।

उत्तरमानस :

उत्तरमानस का पवित्र सरोवर एक प्राचीन सरोवर है। 11वीं शताब्दी के मध्य में राजा विश्वरूप के पुत्र यक्षपाल द्वारा इस सरोवर का जीर्णोद्धार कराया गया था। गया तीर्थ का यह एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक स्थल है।

महाबोधितरू (वृक्ष) :

महाबोधिवृक्ष को पौराणिक कथाओं में पहले ही पूजा एवं पितृकर्म के लिये परमपावन स्थान के रूप में वर्णित किया गया है। इस पवित्र बोधिवृक्ष का बौद्ध धर्म के साथ गहरा संबंध है। भगवान बुद्ध को इसी वृक्ष के नीचे पवित्र प्रज्ञा की प्राप्ति हुई थी। यह बौद्ध धर्म का पवित्रतम स्थल है। सप्त दिवसीय पितृकर्म की अवधि में चौथे दिन यहाँ आते हैं।

गया तीर्थ के धार्मिक केन्द्र :

क्र.सं.	धार्मिक स्थल समूह	धार्मिक स्थल
1.	विष्णुपद	विष्णुपद, गयाकूप, गयाशीर्ष, श्मशानघाट, गदाधर, गयाश्वरी, नरसिम्हा, साक्षीशिव, कृष्णद्वारका, पार्वती, आदिगदाधर, सूर्यकुण्ड और मंदिर
2.	डत्तरमानस	उत्तरमानस (गंगातीर्थ शीतला) पितामहेश्वर, सूर्य (ब्राह्मणीघाट) फल्विश्वर, गयादित्यसूर्य, महावीर, पार्वती, गायत्रीघाट (कालेश्वर, कालभैरव)
3.	सीताकुण्ड	सीताकुण्ड, रामगया, रामेश्वर, भरत आश्रम और जगन्नाथ ब्रह्माकापैर, हंसतीर्थ, नागकुट पर्वत, अमरकंटक, प्रभास पहाड़ी, फाल्गु का तट
4.	रामशीला	रामशिला (राम शिव यम की छवियां) रामकुंड, तलहटी में पवित्र बरगद, काकवली (और यमबली, स्वानाबली); बागेश्वरी बगलामुखी के मंदिर
5.	प्रेतशिला	प्रेतशिला, प्रेत भौरवी, ब्रह्मकुण्ड, ब्रह्मेश्वर शिव
6.	गृद्ध्रकूट	गृद्ध्रेश्वर, गृद्ध्र घाट, आकाशगंगा राधाकुण्ड, पाताल कुण्ड, वैतरिणी, गोदावरी कुण्ड, महाकाशी
7.	अक्षयव्अ	अक्षयवट (पवित्र बरगद) मंगलागौरी, अगस्तेश्वर, गोभ्रचार, पंडरीकाक्ष, जनार्दन, गदालोल, प्रपितामहेश्वर, ब्रह्मसार, कपिलधारा ब्रह्मयोनि, सावित्री, रूक्मिणी कुण्ड, पुष्करिणी
8.	बोधगया	महाबोधि तरू (वृक्ष) मुचकन्दकुण्ड
9.	पुनपुन	पुनपुन नदी के तट (अ) उत्तर और (ब) पश्चिम में,

		मधुश्रवा (च्यवन्याश्रम); देव, देवकुण्ड (हंसपुर) सूर्यतीर्थ (बेलोर और उलार में सूर्य मंदिर हो सकते हैं) कोठागिरी 51 किलोमीटर दक्षिण पश्चिम (संभवतः मदनपुर में सूर्य मंदिर हो सकते हैं।

धार्मिक कृत्य गया श्राद्ध:

गया हिन्दुओ का एक पवित्र तीर्थ है। गया में सबसे महत्वपूर्ण पवित्र धार्मिक कृत्य श्राद्ध कर्म है है जो प्रत्येक वर्ष संपूर्ण भारत के विभिन्न भागों से आनेवाले हिन्दुओं द्वारा किया जाता है। । गया में श्राद्ध अनिवार्य रूप से मृत माता -पिताओं और अन्य पूर्वजों के सम्मान में किया जाता है और यह बारहवें दिन के श्राद्ध कर्म, वार्षिक श्राद्ध या पितृपक्ष में किये गए श्राद्ध कर्म से पृथक है। गया तीर्थ श्राद्ध से हमारा तात्पर्य उस श्राद्ध कर्म से है जो पूर्वजों के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति तथा उनके मोक्ष के प्राप्ति की कामना के लिए किए जाता है। पितरों की पूजा अर्थात श्राद्ध-कर्म के लिए संपूर्ण भारत से आस्थावन सनातनी यहां अपने पितरों की मोक्ष प्राप्ति की कामना से अवश्य पधारते हैं। गया श्राद्ध एक तीर्थ श्राद्ध है। इस श्राद्ध का उल्लेख विष्णुसूत्र,मनुस्मृति व वायुपुराणआदि ग्रंथों में विस्तार से किया गया है। इन धार्मिक ग्रंथो में गया श्राद्ध से संबंधित नियमों के पालन का विस्तार से वर्णन किया गया है। गया श्राद्ध में जो पुरोहित कर्म-कांड कराते हैं वह गयावाल ब्राह्मण होते हैं। गया श्राद्ध-कर्म का कर्मकांड एक दिन, तीन दिन, सात दिन, पंद्रह दिन, या तीस दिन में पूर्ण किया जा सकता है। श्राद्धकर्ता उपरोक्त अवधि में से अपनी सुविधानुसार किसी एक अवधि का चयन कर सकता है। मुख्य रूप से गया में चार स्थलों पर श्राद्ध-कर्म का विशेष महत्व है। यह पवित्र स्थल क्रमशःप्रेतशिला, फल्गु नदी, विष्णु मंदिरऔर अक्षयवट हैं। गया में ही श्राद्धकर्ता एक पिंड विष्णु के हाथ में इस आशय से समर्पित करता है कि यदि किसी कारणवश उसका स्वयं का श्राद्ध ना हो पाए तो उस समय यह पिंड उसे भगवान श्री विष्णु की ओर से उसे वापस मिल जाए। गया में किसी भी दिन श्राद्ध कर्म किया जा सकता है परंतु पितृपक्ष के 15 दिन, अश्विन कृष्ण पक्ष,अमावस्या, दीपावली के दिन,मकर संक्रांति,वैशाखी , किसी भी माह के अमावस्या तिथि, किसी भी माह के कृष्ण पक्ष अथवा श्राद्धकर्ता अपने सुविधा अनुसार श्राद्ध कर्म के दिवस का चयन कर सकता है।

काशी से गया श्राद्ध के लिए जाने वाले श्राद्धकर्ता काशी के पिशाच मोचन कुंड में संकल्प लेके प्रस्थान करते हैं। बिहार के निवासी गया श्राद्ध का प्रारंभ पुनपुन नदी के तट पर संकल्प लेकर करते हैं। दक्षिण भारत एवं महाराष्ट्र के श्रद्धालु त्रिगयी अर्थात गया के तीन स्थलों (फल्गुनदी, विष्णुपद एवं अक्षय वट) में संकल्प लेकर करते हैं। बंगाल एवं उड़ीसा के श्रद्धालु त्रिगयी अर्थात पितृ गया (बिहार), यक्ष गया, देवगया (बद्रीनाथ-ब्रह्मकपाल) में संकल्प लेकर गया श्राद्ध का प्रारंभ करते हैं। मिथिला में तीन बार गया जाने एवं श्राद्ध कर्म करने का विधान है जिसका प्रारंभ अपने निवास स्थान में श्राद्ध कर्म करने से होता है। जब कोई कर्ता अपने निवास स्थान से गया तीर्थ के लिए प्रस्थान करता है तो एक तपस्वी की भांतिअपना आचरण एवं पवित्रता का पालन तब तक करता है जब तक कि वह अपने पूर्वजों का श्राद्ध कर्म करके निवृत्त ना हो जाए। इस अवधि में वह अनेक नियमों का पालन करता है। यथा सादा भोजन ग्रहण करता है,तामसिक भोजन निषेध है,काम क्रियाओं से विरत रहता है,अपने पितरों के स्मृति में अश्रुपात ना करना, क्रोध ना करना, मन को शांत एवं स्थिर रखना चाहिए, कर्ता गया श्राद्ध आरंभ करने से पूर्व एक दिन पूर्व क्षवरकर्म कराता है एवं एक बार सात्विक भोजन ग्रहण करता

है। क्षवरकर्म फल्गु नदी के तट पर किया जाता है एवं इस पवित्र नदी में स्नान किया जाता है। गया श्राद्ध के लिए नूतन वस्त्र धारण किया जाता है,रंगीन वस्त्र धारण करना निषेध है।

फल्गु स्नान -: हिंदू तीर्थ क्षेत्र में किसी भी कर्मकांड, अनुष्ठान, पूजा या श्राद्ध को प्रारम्भ करने से पूर्व स्नान करने का महात्म्य है। इसके अतिरिक्त कुछ पवित्र नदियों में यथा गंगा स्नान, यमुना स्नान, फल्गु स्नान, नर्मदा स्नान आदि स्वयं में धार्मिक कृत्य माने जाते हैं। गया में फल्गु स्नान का विशेष महत्व है जिसमें स्नान करना एक धार्मिक कृत्य है। संपूर्ण हिंदू संसार से श्रद्धालु विशेषरूप से कार्तिक पूर्णिमा, पितृपक्ष, सूर्य एवं चंद्र ग्रहण के दिन गया में पधारते हैं एवं फल्गु नदी में स्नान करते हैं और पुण्य की प्राप्ति करते हैं। हिंदू वाङ्गमय के अनुसार फल्गु नाम फला अर्थात योग्यता और गो (वरदान देने वाली गाय)के युग्म से सृजित है। जिसका तात्पर्य है फल्गु नदी पवित्रता और योग्यता की सर्वोच्च शक्ति को प्रकट करती है। फल्गु नदी गंगा जी से भी श्रेष्ठ हैं क्योंकि फाल्गु विष्णु का तरल स्वरूप माना गया है जबकि गंगा जी का प्रादुर्भाव विष्णु के चरण से हुआ है। पौराणिक साहित्य में फल्गु नदी महानदी के रूप में वर्णित है। श्राद्ध कर्म के स्थलों के रूप में फल्गु नदी के तट को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वर्तमान में फल्गु नदी के तट पर 11 घाट हैं, जिसका उपयोग पवित्र अनुष्ठानों, पवित्र स्नान और पितृ कर्म (श्राद्ध) के लिए गया में किया जाता है।

तर्पण -: गया श्राद्ध में तर्पण का विशेष महत्व है। तर्पण एक प्रकार का पितृ सम्मान है। तर्पण ऋषि एवं पितरों को पवित्र जल अर्पित करने की प्रक्रिया है। तर्पण एक विशिष्ट सत्कार है जिसमें जल, तिल,कुश को हाथ में रख के मंत्र उच्चारण के साथ देवताओं, ऋषियों, एवं पितरों को जल समर्पित किया जाता है। आश्विन माह में पंद्रह दिन पितृ पक्ष होता है, उसमें प्रत्येक ज्येष्ठ-पुत्र जिनके माता-पिता पितृ-लोक चले गए हैं, उन्हें विशेष रूप से तर्पण करना चाहिए। तर्पण का प्रारंभ अगस्त्य ऋषि को पवित्र जलअर्पित करके होता है, तत्पश्चात लोग अपने पितरों को पवित्र जल अर्पित करते हैं। तीर्थ स्थान में पवित्र नदी के तट पर स्नान करते समय जल में प्रवेश करके पितरों को जल अर्पित करते हैं और विशेष करके अपने मुख को दक्षिण की ओर रखते हैं। गया में फल्गु नदी के तट पर श्राद्ध कर्म से पूर्व तर्पण का विशेष माहात्म्य है।

पिंड दान

पिंड दान श्राद्ध कर्म का सबसे महत्वपूर्ण कर्मकांड है। हिंदू धर्म में मान्यता है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी परिजनों द्वारा पिंडदान करने से मृतक की आत्मा को पितृ लोक तक पहुंचने में कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता है। ऐसी मान्यता है कि यदि इस अनुष्ठान को किया जाए तो मरने वाले व्यक्ति की आत्मा को नरक की यात्राओं का सामना नहीं करना पड़ता और इस अनुष्ठान से दिवंगत आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है। वही एक मान्यता यह भी है कि पिंडदान से मृत्यु व्यक्ति की आत्मा को मुक्ति मिल जाती है वरना वह मोह माया के बंधनों में उलझ कर भटकती रहती है।

गरुड़ पुराण के अनुसार व्यक्ति करने के बाद एक लंबी यात्रा करता है और पिंडदान से उसको आगे बढ़ाने की शक्ति मिलती है । देश में पिंडदान के लिए काशी, प्रयागराज, हरिद्वार, गंगासागर, जगन्नाथपुरी, कुरुक्षेत्र, चित्रकूट, पुष्कर, बद्रीनाथ सहित पचपन स्थानों को महत्वपूर्ण माना गया है। विभिन्न शास्त्रों और पुराणों के अनुसार पिंड दान करने के लिए इनमे से तीन स्थानों को सबसे विशेष माना गया है। ये पवित्र स्थान है बद्रीनाथ के पास स्थित ब्रह्म कपाल, हरिद्वार में नारायणी शिला और बिहार की राजधानी पटना से सौ किलोमीटर दूर स्थित

गया।ऐसी मान्यता है कि अगर बिहार के गया में पूर्वजों का पिंडदान किया जाए तो उन्हें सीधा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसीलिए गया में पिंडदान को एक विशेष महत्व दिया गया है। कहते हैं कि जिस व्यक्ति का पिंडदान यहां हो जाता है उसकी आत्मा को बहुत ही सरलता से शांति मिल जाती है। गया में पिंडदान इस कारण भी किया जाता है क्योंकि गया को भगवान विष्णु का नगर माना जाता है और इस स्थान को मोक्ष की भूमि भी कहा जाता है। विष्णु पुराण के अनुसार जिन लोगों का श्राद्ध यहां सच्चे ह्रदय से किया जाता है वो मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं ऐसा इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि यहाँ पितृ देवता के रूप में स्वयं भगवन विष्णु विराजमान रहते हैं। इसीलिए गया में पिंडदान हो जाने से पितरों को इस संसार से मुक्ति मिल जाती है। गरुड़ पुराण के अनुसार गया जी जाने के लिए परिजनों द्वारा घर से गया जी की और चलने का प्रारम्भ होते ही पितरों के लिए स्वर्ग की ओर जाने की सीढ़ी बनना भी प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी मान्यता है कि त्रेता युग में भगवान राम लक्ष्मण और सीता राजा दशरथ के पिंडदान के लिए गया आए थे इस कारण से भी पिंडदान के लिए गया को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है और इसीलिए आज सम्पूर्ण विश्व के हिन्दू लोग अपने पूर्वजों के मोक्ष के लिए यहां निरंतर आकर पिंडदान करते रहते हैं।

दर्शन -: देवी देवताओं को परम् श्रद्धा भाव से अवलोकित करने की क्रिया को दर्शन कहा जाता है। दर्शन में धार्मिक कृत्य के लिए किसी भी प्रकार के विधि-विधान या शास्त्रीय कृत्यों की आवश्यकता नहीं होती है। दर्शन से पुण्य की प्राप्ति होती है। तीर्थ में विशेष कर मंदिर के गर्भगृह में प्रवेश पर रोक लगने के कारण आज प्राय: मंदिरों में दर्शन की परंपरा को बढ़ावा मिला है। गया तीर्थ में दर्शन के लिएअनेक तीर्थ स्थल एवं मंदिर विद्यमान है जिस में विष्णुपद, उत्तर-मानस, सीता कुंड रामशिला, प्रेत शिला ,अक्षय वट- पुनपुन नदी, फल्गु नदी, बोध गया इत्यादि का विशिष्ट महात्म्य है।

पूजन -: गया तीर्थ में पितृ पूजन का विशिष्ट महत्व है। पूजन के साथ-साथ गया में पितृ पूजन का महत्व अप्रतिम है। शास्त्रीय दृष्टि से विधि-विधान पूर्वक देवी देवताओं को स्नान कराना, उनका श्रृंगार करना,प्रसाद अर्पित करना, उनकी प्रार्थना, स्तुति करना, जाप करना इत्यादि संपूर्ण व्यवस्था को पूजन के अंतर्गत रखा जाता है। पूजन का अर्थ सत्कार से होता है। भगवान का सत्कार करना पूजन है, पितृ का सत्कार करना पूजन है। पूजन सामान्यतः दो प्रकार का होता है शास्त्रीय दृष्टि से और लौकिक दृष्टि से। लौकिक दृष्टि से पूजन वीर एवं सती का होता है। शास्त्रीय दृष्टि से पूजन मंदिरों में देवी देवताओं का एवं पितृ का पूजन श्राद्ध कर्म के रूप में विभिन्न तीर्थ स्थलों में दृष्टिगोचर होता है।

गया तीर्थ के प्रमुख पूजन केंद्र - गया तीर्थ में पूजन के विशिष्ट स्थल में विष्णुपद, उत्तर मानस, सीता कुंड, रामशिला, प्रेतशिला, अक्षयवट, बोधगया, पुनपुन नदी, फल्गु नदी इत्यादि का विशिष्ट माहात्म्य है।

आरती -: ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार के अनुष्ठान, विधि विधान किए जाते हैं। उसमें से एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण कृत्य आरती है। एक प्रकार से कपूर को प्रज्वलित करके ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनके सम्मान में उस अग्नि से आरती उतारी जाती है। प्रायः सभी व्यवस्थित मंदिर में प्रतिदिन एक या अनेक कृतियां की जाती हैं। ऐसा लोक विश्वास है कि सर्वप्रथम रामायण काल में वनवास से वापस लौट के बाद भगवान श्री राम की आरती उतारी गई थी। उस काल खंड से यह प्रथा चली आ रही है। सामान्यतः पुजनोपरांत देवी देवताओं की

आरती उतारी जाती है। मंदिरों में मुख्य रूप से चार प्रकार की आरती होती है - मंगला-आरती, भोग-आरती, श्रृंगार-आरती, शयन-आरती। देवताओं ही नहीं बल्कि पितृ-पूजा में भी आरती का एक विशेष महात्म्य है। दीपक को प्रज्वलित करके पितरों को प्रसन्न करने के लिए श्राद्धकर्म में भी इस प्रक्रिया को अपनाया जाता है। गया श्राद्ध में भी पितरों को प्रसन्न करने के लिए आरती का प्रावधान दृष्टिगोचर होता है।

दान -: हिंदू संस्कृति वाङ्गमय में दान के विशेष महत्व का वर्णन में किया गया है। श्राद्ध कर्म में दान का अति विशिष्ट महत्व है। श्राद्धकर्ता अपने पितरों के सम्मान में अनेक वस्तुओं का दान करता है। ऐसा दृढ़ विश्वास कर्ता के मन में होता है कि जो कुछ भी महा-ब्राह्मण को दान में दिया जाता है वह उनके पितर को पितृ लोक में प्राप्त होगा। पंच महादान का गया तीर्थ में विशिष्ट महात्म्य है।

जबकि पूर्वजों की पूजा के चार रूपों में कई सामान्य तत्व हैं, तथ्य यह है कि गया श्राद्ध घरेलू और स्थानीय पवित्र केंद्र के बजाय सार्वजनिक पवित्र भूमि (क्षेत्र) में मनाया जाता है और इसकी सफलता से पूर्वजों को अंतिम मुक्ति और खुशी मिलती है। बचे हुए लोगों के लिए यह अपने संस्कार को हर संभव विस्तार, गंभीरता और पवित्रता देता है। यह तब एक बलि यज्ञ है, जिसे एक नाम दिया गया है, पुष्कर, (विष्णु सूत्र n.d.: अध्याय LXXXV, श्लोक.I)।इसे मृत्यु संस्कार (मृत्यु संस्कार), वर्षगांठ पूर्वज पूजा (वार्षिक श्राद्ध) और वार्षिक कैलेंडर पूर्वज पूजा, जिसे विभिन्न नामों (महालय, जितिया, कनागत, आदि) से जाना जाता है, से अलग और तुलना की जानी चाहिए। फिर, जो व्यक्ति अपने पिता और अन्य रिश्तेदारों का गया श्राद्ध करता है, वह यज्ञकर्ता है, न कि मुख्य शोककर्ता (कर्ता), जैसा कि मृत्यु संस्कार के मामले में होता है, या श्राद्ध उपासक (श्राद्ध पूजक) होता है जैसा कि सालगिरह या वार्षिक कैलेंडर श्राद्ध पूजा के मामले में होता है।

गया श्राद्ध के उत्सव का उल्लेख सबसे पहले विष्णु सूत्र (n.d.: अध्याय I.XXXV.vss.4,22,40) और फिर वायु पुराण (n.d.: अध्याय. 105-12) पुस्तकों में मिलता है, जो ईसाई युग की शुरुआत से माना जाता है। मनु स्मृति (n.d.: vss अध्याय III, श्लोक 122-253) में भी विभिन्न प्रकार के श्राद्धों के पालन में अपनाए जाने वाले नियमों का विस्तृत उल्लेख किया गया है, लेकिन श्राद्ध पालन के लिए किसी विशेष स्थान का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है। पवित्र विशेषज्ञ अर्थात् गयावाल पुजारी और कर्मकांडी जो गया श्राद्ध के पालन का मार्गदर्शन और संचालन करते हैं, कई प्रकार की सस्ती पुस्तकों का पालन करते हैं, जो आंशिक रूप से उपर्युक्त ग्रंथों से अनुकूलित हैं और आंशिक रूप से, स्थानीय पुजारियों द्वारा व्यावहारिक पुनर्निर्माण हैं।

अवलोकन के स्तर पर, मैंने पाया कि क्षेत्रीय प्रथा के साथ-साथ श्राद्ध यज्ञकर्ता करने वालों की आर्थिक स्थिति को समायोजित करने के लिए श्राद्ध अनुष्ठान को संशोधित किया जा रहा है। इस तरह के अनुष्ठान को बनाने के उद्देश्यों और अपेक्षाओं के विश्लेषण के स्तर पर मैंने अत्यधिक विविधताएँ नोट कीं। इस तरह की विविधताओं का अधिक संदर्भ न देते हुए, लेकिन उनके प्रति सचेत रहते हुए, मैं सबसे पहले गया श्राद्ध की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन करने का प्रयास करूंगा।

जिस दिन एक श्राद्ध यज्ञकर्ता गया तीर्थयात्रा पर निकलता है, तो वह तपस्या, आत्म-पीड़न, प्रतिबंधों और नुस्खे की अवधि शुरू करता है, जो तब तक जारी रहता है जब तक कि श्राद्ध

सफलतापूर्वक पूरा नहीं हो जाता। वह कुछ ऐसे खाद्य पदार्थों से परहेज करता है जो उसे प्रदूषित कर सकते हैं; वह यौन क्रियाओं से विरत रहता है; और उसे जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए और न ही आंसू बहाना चाहिए। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह क्रोध से बचकर और बुरे तथा अशुद्ध विचारों को दूर करके स्वयं को शुद्ध करे। जब वह तीर्थस्थल पर पहुंचता है तो शुद्धिकरण की प्रक्रिया और तेज हो जाती है, और अनुष्ठानों का वास्तविक प्रदर्शन शुरू करने से पहले वह एक दिन के लिए उपवास करता है, मुंडन कराता है और फल्गु नदी में स्नान करता है, और फिर श्राद्धकर्ता की रस्म निभाता है। इसके लिए वस्त्र. उनके अनुष्ठानिक परिधानों में एक नया सफेद कंधे का कपड़ा और एक कमर का कपड़ा शामिल होता है। अब वह अपने पूर्वजों के प्रतिनिधि के रूप में अपने पुजारी का आह्वान करते हैं, फूल और उपहार चढ़ाकर उनके चरणों की पूजा करते हैं और श्राद्ध के सफल समापन के लिए उनका आशीर्वाद मांगते हैं।

चरण पूजा (चरण पूजा) की रस्म पूरी करने के बाद वह देवताओं (देवता, शैतान), प्राचीन ऋषियों (ऋषियों), मृतकों के राजा यम और पितरों को समर्पित जल अर्पण (तर्पण) की लंबी श्रृंखला शुरू करते हैं। (पितृ). तर्पण अनुष्ठान हमेशा फल्गु नदी पर किया जाता है और आमतौर पर ब्राह्मण कर्मकांडियों (आचार्य) द्वारा निर्देशित होता है जो गयावाल के निर्देशन में एक माध्यमिक पुजारी के रूप में कार्य करता है। आचार्य अनुष्ठान पुस्तक, गया श्राद्ध पद्धति से मंत्रों) का पाठ करते हैं जो श्राद्ध यज्ञ के विभिन्न चरणों के लिए उपयुक्त हैं और श्राद्ध यज्ञकर्ता को उचित प्रसाद और प्रार्थना करने का निर्देश देते हैं।

तर्पण अनुष्ठान लगभग पांच घंटे तक चलता है और इसमें चार मुख्य चरण होते हैं। पहले चरण में, जिसे देव-तर्पण (देवताओं को तर्पण) कहा जाता है, जल को दाहिने हाथ में लिया जाता है और सीधी उंगलियों पर डाला जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और फिर ब्रह्मांड के देवता (विश्व देव) के लिए विशेष भजन गाए जाते हैं और जल चढ़ाया जाता है। दूसरे चरण में दस प्राचीन पवित्र ऋषियों, मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलत्स्य, रतु, पुलह, गौतम, कश्यप, वशिष्ठ और विश्वामित्र को तर्पण दिया जाता है। जाहिर तौर पर अंतिम तीन ऋषियों के नाम बाद के उपांग हैं क्योंकि वे सात सितारों द्वारा दर्शाए गए सात ऋषियों के पारंपरिक समूह का हिस्सा नहीं हैं। ऋषि-तर्पण में बलिदानकर्ता का मुख पूर्व की ओर होता है, जैसा कि देव-तर्पण में होता है, लेकिन जल केवल तर्जनी से ही डाला जाता है।

तीसरे चरण में यम और उनके लेखाकार चित्रगुप्त को तर्पण दिया जाता है। यम स्वर्ग और नर्क के संरक्षक हैं और चित्रगुप्त प्राणियों की गतिविधियों का लेखा-जोखा रखते हैं जिसके अनुसार उनकी मृत्यु के बाद उन्हें उचित परिस्थितियों में रखा जाता है। पितरों का ध्यान रखने के लिए यम और चित्रगुप्त को विशेष प्रसाद अर्पित किया जाता है। अंत में सभी पितरों को तर्पण दिया जाता है। यम-तर्पण और पितृ तर्पण के दोनों चरणों में बलिदानकर्ता दक्षिण की ओर मुंह करता है और पानी में तिल के बीज और कुशा घास (वानस्पतिक रूप से पाओ सिनो-सूरोइड्स) डालता है जिसे अंगूठे की जड़ के विपरीत हथेली के किनारे पर डाला जाता है।

पितृ-तर्पण के संबंध में, सबसे पहले, निकटतम पैतृक पूर्वजों- पिता, दादा, परदादा और अन्य पूर्वजों का एक-एक करके आह्वान किया जाता है। इसके बाद, पैतृक वंश की महिला रिश्तेदारों और फिर मातृ पक्ष के निकटतम रिश्तेदारों का आह्वान किया जाता है। उन रिश्तेदारों को विशेष तर्पण दिया जाता है जिनकी किसी दुर्घटना में मृत्यु हो गई हो या अकाल मृत्यु हो गई हो। कई मामलों में तर्पण ऐसे पड़ोसियों या दूर के रिश्तेदारों को भी दिया जाता है जिनकी आत्माएं तर्पण

करने वाले के लिए हानिकारक हो सकती हैं। ऐसा माना जाता है कि जल चढ़ाने से उनकी प्यास बुझ जाएगी, वे तरोताजा हो जाएंगे और इस तरह उन्हें शांति मिलेगी।

दूसरे प्रकार का अनुष्ठान जिसे पिंड अर्पण के रूप में जाना जाता है, अगले दिन होता है। पिंडा एक छोटी गेंद होती है जिसे आमतौर पर चावल के आटे से तैयार किया जाता है और ब्रिटिश लेखकों ने इसका अनुवाद चावल के केक के रूप में किया है। पेंदा अर्पण (पिंडदान) के संस्करण में, कुछ पवित्र केंद्रों पर पितरों को पके हुए चावल भी चढ़ाए जाते हैं। पिंड अर्पण एक विस्तृत अनुष्ठान है जो कई श्राद्ध स्थलों पर अनुष्ठानकर्ता के मार्गदर्शन में एक बलिदानकर्ता द्वारा किया जाता है। पहला और सबसे विस्तृत पिंडदान आमतौर पर विष्णुपद मंदिर के पड़ोस में किया जाता है। इसमें पूजा के कई चरण शामिल हैं: समर्पण (संकल्प), वैदिक पाठ (गायत्री मंत्र), देवताओं और पितरों का प्रतीक (स्थापितकरण), देवताओं और पितरों का जुड़ना (सपिंडीकरण), और अंत में, पिंड पूजा (पिंडपूजन)।

संकल्प के वैदिक अभ्यास के माध्यम से श्राद्ध यज्ञकर्ता अपने पितरों को उनके नाम और गोत्र से बुलाता है, अपनी पहचान प्रकट करता है, और अनुष्ठान के उद्देश्य को परिभाषित करता है। कर्मकांडी के साथ, वेद के कुछ भजन (मंत्र), जिन्हें गायत्री के नाम से जाना जाता है, को श्राद्ध कर्ता द्वारा दोहराया जाता है। इसके बाद विश्व देव (देवताओं) और पितृ के प्रतीक या प्रतिष्ठापन का चरण आता है। पहले चरण को एक पान के पत्ते द्वारा दर्शाया जाता है, जिस पर कर्मकांडी के मार्गदर्शन में एक के बाद एक मेवे, फूल, फल और सिक्के चढ़ाए जाते हैं। .जौ, घी, शहद, तुलसी के पत्ते आदि के प्रसाद के साथ एक मिट्टी का बर्तन भी ब्रह्मांड के देवताओं का प्रतिनिधित्व करने के लिए स्थापित किया जाता है।फिर चावल के गोले को पितृ और मातृ पूर्वजों का प्रतिनिधित्व करने के लिए स्थापित किया जाता है। पितरों का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक और मिट्टी का बर्तन (चुक्का) स्थापित किया जाता है।बर्तन में जौ, तिल, शहद, तुलसी के पत्ते और घी का प्रसाद भी डाला जाता है।इस प्रकार, श्राद्ध कर्ता ने एक तरफ विश्व देव को और दूसरी तरफ पितृ को प्रतिष्ठित किया है। इस तरह के संस्कार को हमेशा कर्मकांडियों द्वारा निर्देशित और उनके द्वारा पाठ के साथ किया जाता है।

इसके बाद, पितरों का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रत्येक पिंड का व्यक्तिगत रूप से आह्वान किया जाता है; तिल, कुशा घास, शहद और सफेद फूल की पेशकश की जाती है, और उस पर पितृ या पितरों की पोशाक का प्रतीक धागे का एक टुकड़ा रखा जाता है। प्रत्येक पिंड के लिए मंत्रोच्चार के साथ इस तरह का अनुष्ठान जारी रहता है। प्रत्येक पितृ को व्यक्तिगत रूप से संतुष्ट किया जाता है और उन्हें भोजन और कपड़े खाने के लिए आमंत्रित किया जाता है।

अंतिम चरण, सपिंडीकरण, पितृ पात्र की सामग्री का भगवान के पात्र के साथ संयोजन है। ऐसा माना जाता है कि दो प्रतीकों को जोड़ने का अनुष्ठान पितृ को विश्व देव के साथ एकीकृत करता है। पूरा अनुष्ठान तब समाप्त होता है जब श्राद्धकर्ता एकीकृत प्रतीकों के सामने अपना सिर जमीन पर रखकर नमस्कार करता है। इसके बाद वह विष्णुपद मंदिर के देवता के पास जाते हैं और वहां वे नमस्कार करते हैं और सामान्य प्रसाद चढ़ाते हैं। बाद में चावल के गोलों को एक साथ इकट्ठा किया जाता है और कौवों को खाने के लिए छोड़ दिया जाता है। कभी-कभी इन्हें फल्गु में या किसी तालाब में विसर्जित करने के लिए निकाल लिया जाता है।

ये दो प्रकार की पूजाएँ - तर्पण और पिंडदान, श्राद्ध कर्म पर हावी हैं। जब कोई श्राद्ध यज्ञकर्ता किसी छवि या चट्टान या पेड़ द्वारा दर्शाए गए अन्य पवित्र केंद्रों (श्राद्ध अनुष्ठानों के लिए

प्रसिद्ध) में जाता है, तो कुछ प्रकार का पिंडदान किया जाता है; और जब वह जल स्रोत द्वारा दर्शाए गए अन्य गुप्त केंद्रों में जाता है, तो तर्पण पूजा का महत्वपूर्ण रूप बन जाता है। लेकिन कई अन्य स्थानों पर, पूजा के प्रतीक और स्वरूप काफी हद तक भूत-प्रेत, नर्क और स्वर्ग के संदर्भ में उन्मुख हो जाते हैं। रामशिला में न केवल यम की पूजा की जाती है, बल्कि उनके दो राक्षसी कुत्तों को भी पिंडदान किया जाता है, ताकि वे श्राद्धकर्ता के पूर्वजों पर न भौंकें और इस प्रकार उन्हें प्रताड़ित न करें (वायु पुराण नं. अध्याय 108 श्लोक.29-30)।

प्रेतशिला में प्राथमिक भेंट भगवान और भूतों की देवी (प्रेतशिला और प्रेतभवानी) को दी जाती है। चावल के गोले के अलावा, पके हुए चावल भी चढ़ाए जा सकते हैं।

एक अन्य पवित्र केंद्र, काक बलि (कौए का बलिदान) में, नरक के कौवों की पूजा की जाती है। पिंड अर्पण के अलावा, पिसा हुआ जौ (सत्तू) और तिल हवा में फेंके जाते हैं ताकि आत्माएं उन्हें ग्रहण कर सकें।वायु पुराण (एन.डी.: अध्याय 108, श्लोक 61-2) में भी गिद्ध की पूजा के आह्वान का उल्लेख है।गिद्धकुट (गिद्ध के घर) के पवित्र केंद्र में पहले पिंडदान किया जाता था, लेकिन इन दिनों यह मंदिर पूरी तरह से खाली है

एक श्राद्ध यज्ञकर्ता तर्पण करने के लिए कई तालाबों में भी जाता है; उनमें से, वैतरणी का यहां विशेष उल्लेख आवश्यक है। जल स्रोत वैतरणी पौराणिक रूप से पृथ्वी और स्वर्ग के बीच बहने वाली भयानक नदी का प्रतिनिधित्व करता है। वैतरणी में किए गए स्नान और तर्पण से पूर्वजों को नरक की भयावहता से मुक्ति मिलती है, कुछ श्राद्ध यज्ञकर्ता अपने पूर्वजों के नाम पर गाय का दान करते हैं या बैल को मुक्त करते हैं, उनका मानना है कि इससे उन्हें वैतरणी नदी (हिंदुओं की स्टाइक्स) पार करने में मदद मिलेगी।

एक श्राद्ध यज्ञकर्ता राम गया और सीता कुंड के पवित्र केंद्रों का भी दौरा करता है, जहां कहा जाता है कि महाकाव्य नायक राम ने अपने पिता दशरथ को गया श्राद्ध अर्पित किया था। यहां सीता कुंड में तर्पण और राम मंदिर में पिंडदान किया जाता है। इसी तरह, तर्पण और पिंड का अनुष्ठान कई अन्य पवित्र केंद्रों पर किया जा सकता है, आदर्श रूप से पैंतालीस की गणना की जाती है।विभिन्न प्रकार की इच्छाओं को पूरा करने और कई प्रकार की खुशियाँ प्राप्त करने के लिए सप्ताह के प्रत्येक दिन और महीने के अंधेरे पक्ष की प्रत्येक तिथि पर अनुष्ठान जारी रखना चाहिए, जो कि प्रत्येक दिन और तिथि को प्रदान करने वाला माना जाता है (विष्णु सूत्र n.d.: अध्याय LXXVIII, श्लोक, 1-7,36-49)।सामान्य व्यवहार में, एक श्राद्ध यज्ञकर्ता तीन से दस पवित्र केंद्रों का दौरा करता है और तीन से सात दिनों में अपना चक्कर पूरा करता है। हालांकि, कुछ श्राद्ध यज्ञकर्ता हैं, जो अनुष्ठान को और अधिक विस्तृत बनाते हैं, इसे पंद्रह दिनों और सभी पवित्र केंद्रों में फैलाते हैं।

जब यात्रा के लिए चिह्नित पवित्र केंद्रों का दौर पूरा हो जाता है, तो अंतिम दो अनुष्ठान, साक्षी श्रवण (साक्षी का आह्वान) और सुफल (सफलता की घोषणा) मनाए जाते हैं। ये अनुष्ठान या तो अक्षयवट पर या गयावाल पुजारी के आवास पर मनाए जाते हैं। साक्षी श्रवण परपितामहेश्वर, गदाधर, राम आदि जैसे देवताओं को समर्पित है, जिन्हें गया श्राद्ध के प्रदर्शन के लिए गवाह के रूप में आमंत्रित किया जाता है। फिर, सुफल अनुष्ठान के अनुसार, गयावाल पुजारी को पूर्वजों के अवतार के रूप में पूजा की जाती है और उन्हें सभी प्रकार के उपहार इस विश्वास के साथ दिए जाते हैं कि वे अविनाशी होंगे और स्वर्ग में बलिदानकर्ता के पूर्वजों द्वारा उनका आनंद लिया जाएगा। इस अनुष्ठान को श्राद्ध यज्ञकर्ता और पुजारी के बीच एक पवित्र बातचीत द्वारा

चिह्नित किया जाता है। यज्ञकर्ता पूछता है: "क्या आप संतुष्ट हो सकते हैं"? पुजारी उत्तर देता है: "हम संतुष्ट हैं, देवता और पितर।" फिर बलिदानकर्ता परिवार के सदस्यों के साथ-साथ धन में वृद्धि के लिए आशीर्वाद मांगता है। पुजारी उत्तर देता है: "ऐसा ही होने दो।" इस तरह की बातचीत और "देवताओं और पितरों" के अवतार के रूप में पुजारी से आशीर्वाद की मांग ब्राह्मणवादी ग्रंथों मनु स्मृति (एन.डी.: अध्याय III, बनाम 251-9) और विष्णु सूत्र (एन.डी.: अध्याय LXXIII, श्लोक.25-32).) में भी निर्धारित है।

हालाँकि, इस अवसर पर अधिक से अधिक उपहार प्राप्त करने के प्रयास में पुजारी की सौदेबाजी से आमतौर पर अनुष्ठान की गंभीरता बाधित होती है और वास्तव में यह कार्य भी सुफल अनुष्ठान का हिस्सा बन गया है। जब गयावाल पुजारी उपहार के रूप में उसे जो कुछ दिया गया है उससे संतुष्ट हो जाता है और जब उसके द्वारा श्राद्ध की सफलकरता की गवाही देने वाला अंतिम आशीर्वाद दिया जाता है, तो श्राद्ध यज्ञ कर्म समाप्त हो जाता है। श्राद्ध यज्ञ कर्म करने वाला, पुजारी के पैर छूकर अंतिम अनुष्ठान करता है और बदले में पुजारी श्राद्ध यज्ञकर्ता को उसके श्राद्ध यज्ञकर्म कार्यो और भविष्य की खुशी के लिए आशीर्वाद के रूप में एक माला और मिठाई भेंट करता है।

सामान्य तौर पर, श्राद्ध विष्णु सूत्र (n.d.: अध्याय LXXVII, श्लोक.1-9; अध्याय LXXXVIII, श्लोक.1-53) में निर्धारित महीनों और दिनों के अनुसार कई अवसरों पर मनाया जा सकता है। वायु पुराण (n.d.: अध्याय 105, श्लोक 48-9) गया श्राद्ध के अनुष्ठान के लिए कई वैकल्पिक दिनों और अवधियों का भी वर्णन करता है। शायद इस व्यापक विकल्प के कारण, गया में छिटपुट श्राद्ध यज्ञ कर्म करने वालों का आना पूरे वर्ष जारी रहता है, लेकिन कुल श्राद्ध यज्ञ कर्म करने वालों में से लगभग साठ से सत्तर प्रतिशत लोग असिन महीने के कृष्ण पक्ष के दौरान गया श्राद्ध करना पसंद करते हैं। यह अवधि, जिसे पितृपक्ष (पितरों का पखवाड़ा) के रूप में जाना जाता है, गया में श्राद्ध यज्ञ कर्म के लिए सबसे प्रभावी अवधि के रूप में स्थापित हो गई है। बिहार और शायद भारत के कई अन्य हिस्सों में यह आम धारणा है कि असिन के महीने में भूत, चुड़ैलें और भिक्षुक (ओझा) बहुत सक्रिय और बेचैन हो जाते हैं। महिलाएं अपने बच्चों को बुरी आत्माओं से बचाने के लिए विशेष ध्यान रखती हैं, और जादूगर और चुड़ैलें पूर्णता प्राप्त करने के लिए अनुष्ठान और प्रतिज्ञा करती हैं। ओ'मैली 1901: 6-7) इसे हिंदूओं के लिए भूत-प्रेतों से हिसाब-किताब करने का महीना कहते हैं। गयावाल पुजारी इसे अपनी प्राथमिक "फसल" (फसल) की अवधि कहते हैं, क्योंकि उनके लिए "भूत और प्रेत ऐसे एजेंट हैं जिनके माध्यम से वे धन कमाते हैं"।

दो अन्य अवधि जब श्राद्ध यज्ञकर्ता गया श्राद्ध के लिए आना पसंद करते हैं, दो संक्रांति बिंदुओं की पूर्व संध्या पर होते हैं, यानी चैत (मार्च-अप्रैल) और पूस (दिसंबर-जनवरी) के महीनों में। विष्णु सूत्र (n.d.: अध्याय LXXVII, श्लोक 2) और वायु पुराण ((n.d. अध्याय 105, श्लोक 46-9) दोनों ग्रंथों में इन दो ऋतुओं को श्राद्ध बलि के लिए प्रभावशाली माना गया है। इसके अलावा, श्राद्ध यज्ञकर्ता दिसंबर में चावल की फसल के बाद बंगाल और उड़ीसा से और गेहूं (रबी) की फसल के बाद उत्तर प्रदेश और मध्य भारत से बलि देने वाले लोग इस समय गया तीर्थ पर आना आर्थिक रूप से सुविधाजनक पाते हैं।

गया श्राद्ध का महत्व यज्ञकर्ताओं के उद्देश्यों और प्रयोजनों के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। भारत के विभिन्न हिस्सों से साक्षात्कार के लिए चुने गए बलिदानियों ने गया श्राद्ध के आयोजन

के अपने उद्देश्यों के संबंध में बहुत ही भ्रमित करने वाले बयान दिए। ज्यादातर मामलों में, एक श्राद्ध यज्ञकर्ता के कई उद्देश्य होते थे। इसके पालन का सबसे आम उद्देश्य एक बेटे के अपने पिता और अन्य पैतृक पूर्वजों के प्रति धार्मिक और सामाजिक कर्तव्य को लागू करना था। उत्तर प्रदेश के सीतापुर के एक किसान का मानना था कि उसका सबसे पवित्र कर्तव्य गया श्राद्ध करके अपने पिता का ऋण चुकाना है। एक जमींदार ने उत्तर दिया कि जब उसके पिता की मृत्यु हो गई और वह कुछ संपत्ति छोड़ गया, तो उसने कहा कि इसमें से कुछ, उसके बाद के जीवन में उसकी शांति और कल्याण के लिए खर्च किया जाएगा। मद्रास के एक तमिल ब्राह्मण ने कहा कि वह अपने पिता की आत्मा की स्थिति नहीं जानता है और उसे अपने पिता की आत्मा की भलाई के लिए वह सब कुछ करना चाहिए जो संभव हो और जो ब्राह्मण शास्त्र में बताया गया हो। इन सभी भावनाओं को मोटे तौर पर पितृभक्ति, प्रेम और लगाव की भावनाओं और सबसे ऊपर, अपने पिता और अन्य पूर्वजों के प्रति सामाजिक और धार्मिक कर्तव्य की चेतना के संदर्भ में समझा जा सकता है।

The Sacred Specialists (Chapt.III) – Gayawal, Panda, Kathawachak, priests, Monks, barber, Flosrist, pilgrim hunter, Astrlogers, palmist, Sacred singers, reciters(keertaniya), musicians and composers.

Hindi book -

धार्मिक कृत्य विशेषज्ञ (Sacred Specialists)

हिंदू तीर्थ स्थान में धार्मिक कृत्य के संपादन के लिए विभिन्न प्रकाकृत्यर के विशेषज्ञ होते हैं एवं उनकेसहयोगी एवं कर्मचारी वृंद होते हैं जिन्हें सामूहिक रूप से धार्मिक कृत्य परिचालक की संज्ञा दी जाती है। गया में अनेक प्रकार के लोग इस कृत्य को अपनी आजीविका के साधन के रूप में अपनाते हैं। इन्हें निम्नांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है -:

1) गयावाल

गयावाल ब्राह्मण जिसे ब्रह्म कल्पित ब्राह्मण या गयावाल पंडों या गया के पंडों या गयावाल तीर्थ पुरोहित के रूप में जाना जाता है। मुख्य रूप से भारतीय राज्य बिहार से एक हिंदू ब्राह्मण उप जाति है। इनके सदस्य मधवाचार्य द्वारा प्रतिपादित द्वैत दर्शन का पालन करते हैं और उत्तराधि मठ के अनुयाई है। गयावाल के महान तीर्थ स्थल गया के मुख्यमंत्री के पुजारी हैं और श्राद्ध अनुष्ठानों के प्रदर्शन पर एक पारंपरिक एकाधिकार है इस जाती का ।गयावाल का पदानुक्रम सबसे ऊंची सीढ़ी पर फलते फूलते हैं और यहां तक की उच्चतम पद के ब्राह्मण भी अपने पिता और पूर्वजों के श्राद्ध समारोह में आने पर उनके चरणों की पूजा करते हैं। यह विशिष्ट ब्राह्मण समुदाय गया शहर में रहते हैं जो हिंदुओं के पवित्र स्थान में से एक है। गयावाल शब्द का अर्थ है गया के निवासी लेकिन इसका उपयोग केवल एक विशेष ब्राह्मण समुदाय को दर्शाने के लिए किया जाता है। यह बिहार के गया शहर में रहते हैं। यहां करीब 500 परिवार है और वह स्थाई रूप से गया में ही रहने वाले हैं वे सभी शहर के दक्षिणी हिस्से में एक पुराने और पुरातन इलाके में एक साथ रहते हैं। फिर भी अमीर गयावाल इस पुराने इलाके को नए और बेहतर घरों के लिए छोड़ने से इनकार कर देते हैं। गयावाल अंतर्विवाही हैं। अतः यह केवल गया वालों में ही विवाह करते हैं। इस ब्राह्मण उपजाति में भी बहुत सारे गोत्र होते हैं और यह गोत्र इन्हें

विरासत में नहीं मिलते हैं बल्कि दीक्षा समारोह के समय प्राप्त किए जाते हैं। वे अपने विवाह नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं। क्योंकि वे अपने समुदाय और पेशे की विशिष्टता को बनाए रखने के लिए उत्सुक होते हैं। ये सामुदायिक भोजन और पेय से संबंधित सबसे गंभीर ब्राह्मणवादी प्रतिबंधों का पालन करता है। एक गया वालों से केवल अपने समुदाय के सदस्यों के साथ भोजन करने की अपेक्षा की जाती है। हालांकि युवा पीढ़ी अन्य लोगों के साथ भोजन करती है, यदि भोजन पका है यानि तेल या घी के साथ पकाया जाता है। भोजन या तो समुदाय के किसी सदस्य द्वारा या दक्षिण के ब्राह्मण ज्यादातर एक महाराष्ट्रीयन ब्राह्मण द्वारा पकाया जाना चाहिए क्योंकि इन ब्राह्मणों को वैदिक रीति रिवाजों और परंपराओं को बनाए रखने में सबसे अधिक रूढ़िवादी माना जाता है। गयावालों को भोजन करने से पहले स्नान करना चाहिए और नहाने और खाने के बीच किसी जानवर कागज चमड़े या कपास को नहीं छूना चाहिए और इस वजह से वे खाने के लिए जाने पर रेशमी कपड़े पहनते हैं। कुछ छोटे गयावालों ने होटल और रेस्टोरेंट में भोजन लेना शुरू कर दिया है लेकिन वे इसे काफी गुप्त रूप से करते हैं और इनके लिए यह एक अनुभव है। इसके अलावा हालांकि गयावालों में मांस मछली या प्याज और लहसुन खाने की उम्मीद नहीं की जाती है उनमें से कुछ इन चीजों को खाते हैं लेकिन सार्वजनिक रूप से कभी नहीं खाते हैं। इनमें शराब पीना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

2) कर्मकांडी

धार्मिक कृत्य के क्षेत्र में विशुद्ध शास्त्रीय विधि से धार्मिक कृत्य संपादित करनेवाले विशेषज्ञ कर्मकांडी के नाम से जाने जाते हैं। साधारणतया कर्मकांडी शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है जो वैदिक धार्मिक कृत्य जैसे यज्ञ, अभिषेक, गृह-संस्कार, वेद पाठ अदि दूसरों के लिए विशेषकर अपने यजमानों के लिए पेशे के रूप में करता है। ये अपने को याज्ञिक कहलाना पसंद करते हैं। जो वैदिक कर्मकांड में उनकी विशेषता का द्योतक है और इन्हें उन धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों से भिन्न रखता है जिन्हें वैदिक कर्मकांड का ज्ञान नहीं है या पूर्ण ज्ञान नहीं है। कर्मकांडियों में महाराष्ट्र एवं दक्षिणी ब्राह्मणों की संख्या सर्वाधिक है और यह इस कार्य में अन्य की अपेक्षा अधिक दक्ष भी माने जाते हैं। इसके विपरीत बहुत से स्थानीय कर्मकांडी ऐसे हैं जिनकी वैदिक क्रिया का अत्यल्प ज्ञान है। यह स्थानीय भाषा का प्रयोग तथा संक्षिप्त रूप से कर्मकांड करते हैं। महाराष्ट्र और दक्षिण के उनके सहकर्मी संस्कृत भाषा का प्रयोग तथा विस्तार पूर्वक कर्मकांड करने में प्रसिद्ध हैं।

कर्मकांडियों कोअन्य धार्मिक विशेषज्ञों के वर्ग से पूर्ण रूप से पृथक नहीं रखा जा सकता, क्योंकि एक ही व्यक्ति कर्मकांडी, मंदिर का पुजारी, तीर्थ पुरोहित तथा अनुष्ठानी हो सकता है। कुछ कर्मकांडी मात्र वैदिक कर्मकांड यज्ञ करते हैं। जब भी कोई कर्मकांडी किसी अन्य धार्मिक कृत्य विशेषण जैसे पुजारी या अनुष्ठानी के कार्य को अपनाता है तो वह अस्थाई रूप से उसी नाम से पुकारा जाता है। कुछ कर्मकांडीयों का वंशानुगत यजमानी संबंधि तीर्थ यात्रियों के साथ भी है। तीर्थ यात्री इन्हीं के यहां ठहरते हैं तथा तीर्थ यात्रा में निर्देश एवं सहयोग प्राप्त करते हैं। ऐसे कर्मकांडी अपने आप को तीर्थपुरोहित भी कहते हैं।

3) पंडा

गया में पंडा शब्द सामान्य रूप से विभिन्न धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों एवं तीर्थ यात्रा प्रबंधकों के लिए बहु प्रचलित रूप में प्रयुक्त होता है। कभी-कभी घटिया को भी पंडाजी नाम से पुकारा जाता है।लेकिन मुख्य रूप से तीर्थ पुरोहित एवं कर्मकांडी ही पंडा जी नाम

से जाने जाते हैं। तीर्थयात्री, उन सभी धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों को जिनसे वे तीर्थ में ठहरने, घूमने एवं पूजा पाठ करने में सहयोग लेते हैं, 'पंडा' नाम से जानते हैं। कार्यात्मक दृष्टिकोण से पंडा' उस वर्ग को कहते हैं जो तीर्थयात्रियों, विशेष रूप से अपने यजमानों को तीर्थयात्रा कराता है। यह तीर्थ यात्रियों को गया में विभिन्न स्थलों पर पकड़ते हैं, उन्हें निजी घाट, धर्मशाला, होटल या अपने ही निवास स्थान पर ठहराते हैं, उन्हें घूमाने तथा पूजा पाठ कराने का प्रबंध करते हैं। इसके लिए ये एक विशेष प्रकार का खाता रखते हैं जिसमें यह गया आए हुए यजमान का पता एवं तारीख सुस्पष्टतः लिखे रहते हैं। ये तीर्थ यात्रियों के साथ हमेशा संबंध बनाने में प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार जहां धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों जैसे पुजारी, घाटिया या कर्मकांडी का तीर्थ यात्री के साथ संबंध क्षणिक एवं अनुबंधनात्मक होता है। एक पंडा का तीर्थ यात्री के साथ संबंध पैतृक एवं स्थाई होता है।

कई वर्षों से काशी में तीर्थ पुरोहित एवं कर्मकांडी पंडा का भी कार्य कर रहे हैं। यह विशेषकर दक्षिणी एवं महाराष्ट्रीय कर्मकांडी में देखा जाता है। जो दक्षिणी भाषा जानने के कारण दक्षिणी तीर्थ यात्रियों के साथ आसानी से संबंध बना लेते हैं। आज दक्षिण भारतीय तीर्थ पुरोहितों का एक संघ भी है, जो यात्रियों के लिए तीर्थ मार्गदर्शन (गाइड) के रूप में कार्यरत है । पंडा संस्था ने आज तीन विभिन्न संबंधित वर्ग को जन्म दिया है जो निम्नलिखित हैं - यात्रावाल, भट्टर एवं गुमश्ता। आज ये तीनों ही वर्ग यात्रियों को तीर्थ यात्रा करने का अधिकार रखते हैं और उनके साथ पंडा के समान परस्पर संबंध बनाए हुए हैं। इस प्रकार देवघर से भिन्न यहां का पंडा वर्ग काशी की तरह अनेक उप जातियों एवं विभिन्न भाषा क्षेत्र का है।

4) पुजारी

पुजारी शब्द साधारणतया उस व्यक्ति अथवा वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है जो मंदिरों या यजमान के घरों में आजीविका के लिए देवी देवताओं की पूजा (बहुधा परंपरागत) रूप से करता है। प्रमुख कोटि के प्रायः सभी व्यवस्थित तीर्थों में पुजारी मंदिर व्यवस्था द्वारा नियुक्त हैं, लेकिन अधिकतर मंदिरों में यह स्वयं नियुक्त हैं। चार-पांच पीढ़ियों से पुजारी के काम करने वाले कम देखे जाते हैं। वस्तुतः पुजारी का पेशा आज ना तो पूर्ण रूप से सगोत्रीय है और ना तो पैतृक ही। बहुत से साधारण मंदिरों में व्यवस्थापक महंत भी स्वयं पुजारी होते हैं।

पुजारी के पेशे को परंपरागत रूप से ब्राह्मणों ने तो अपनाया ही है साथ ही अन्य जाति के लोग तथा संन्यासियों ने भी इस पेशे को अपना लिया है।

कुछ मंदिरों में ब्राह्मण पुजारीनें भी देखी गई हैं। ये अपने पुजारी पति के मरने तक घर में कोई अन्य उपयुक्त पुरुष के अभाव में इस धंधे में लगी हैं। ऐसे मंदिरों की आय भी उतनी नहीं है कि किसी अन्य व्यक्ति को यहां पुजारी के रूप में नियुक्त किया जाए।

पुजारीयों में, बहुतों का लोगों के साथ यजमानी संबंध है। जब कभी किसी के यहां कोई पूजा-पाठ या संस्कार कार्य होता है तो पुजारी को पौरोहित्य कर्म के लिए बुलाया जाता है। यजमान उन्हें पुरोहित जी कहते हैं। यजमान और पुरोहित का संबंध आत्मीय होता है। पुरोहित सदा कृपा का पात्र होता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, गया में ब्राह्मणिक एवं अब्राह्मणिक दोनों ही तरह के धर्म स्थल विद्यमान है। इन धर्म स्थलों में संपादित धार्मिक कृतियों का स्तर पुजारी के शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर भिन्न होता है धार्मिक

कृति संपादन के स्तर के आधार पर इनका निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है।

पुजारी को मुख्य दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग उन सभी पुजारी को सम्मिलित करता है जो ब्राह्मणिक मंदिरों से संबंधित है दूसरा वर्ग अब्राह्मणिक मंदिरों जैसे सती स्थान और वीर स्थान आदि से संबंधित पुजारीयों का है। प्रथम वर्ग का पुजारी शास्त्रीय आधार पर ही धार्मिक कृत्य को करता है, भले ही इनमें शास्त्रीय ज्ञान के स्तर में भिन्नता हो। इनमें से कुछ जो कर्मकांड का ज्ञान रखते हैं और पूर्ण वैदिक रीति से धार्मिक कृत्य करते हैं,प्रथम कोटि में रखे जा सकते हैं। दूसरी कोटि के पुजारीयों को पूर्ण वैदिक ज्ञान नहीं होता और ना ही धार्मिक कृत्य को वे पूर्ण शास्त्रीय रूप दे पाते हैं। अब्राह्मणिक मंदिरों में पुजारी ब्राह्मणिक मंदिरों में संपादित भी हो रहे धार्मिक कृत्यों का अनुसरण तो करते हैं लेकिन वह इसके लिए बाध्य नहीं है। इन्हें तीसरी कोटि में रख सकते हैं। इनके पूजा पाठ से अधिकतर जादू टोना का अंश है और वह चढ़ावा में मांस मदिरा भी प्रायः चढ़ाते हैं। वह धर्मशास्त्र के आधार पर धार्मिक कृत्य नहीं करते बल्कि लौकिक विधि से करते हैं।

5) कथावाचक

पौराणिक कथाओं को व्यावसायिक रूप से दूसरों को सुनाने वाले व्यक्ति को कथावाचक कहते हैं। वह व्यास जी के नाम से जाने जाते हैं। यह जाति के ब्राह्मण होते हैं। कथा वाचन गया में विभिन्न मंदिरों एवं घाटों पर विशेष कर किसी खास पर्व- त्यौहार के अवसर पर आयोजित किया जाता है। घटिया अपने घाट पर कथा प्रवचन होने देने के बदले कथावाचक से कोई अनुदान नहीं लेता क्योंकि कथा सुनने के लिए उसे घाट पर लोग अधिक संख्या में एकत्रित हो जाते हैं जिससे घटिया की आय स्वतः बढ़ जाती है। मंदिर में कथा प्रवचन मंदिर व्यवस्थापक की ओर से या उनके साथ कथावाचक में अनुबंध के आधार पर किया जाता है। कभी-कभी जब किसी विख्यात कथावाचक की कथा आयोजित की जाती है तो कथा प्रसंग पूर्व घोषित कर दी जाती है, जिससे लोग अत्यधिक संख्या में उपस्थित होकर कथा का लाभ उठा सकें। कई बार कई यात्री समूह बना कर भागवत या अन्य शास्त्रों में उद्धरित कथाओं को सुनने के लिए किसी कथा वाचक की नियुक्ति करते हैं कथा प्रवचन के बदले कथावाचक दान दक्षिणा पाता है।

6) कीर्तनिया

उस वर्ग को कीर्तनिया नाम से जाना जाता है जो देवी देवता से संबंधित भजन सामूहिक रूप से गाते हैं। सामूहिक रूप से भजन गाने की क्रिया को ही कीर्तन कहते हैं कुछ कीर्तनीया जो कीर्तन अनियमित रूप से अपने मनोरंजन या शौक के लिए करते हैं को छोड़कर बाकी सभी कीर्तनिया कीर्तन पेशे के रूप में करते हैं। कीर्तन प्रायः मंदिर में या घाट पर आयोजित किए जाते हैं। जिसका पारिश्रमिक आयोजक एवं कीर्तनिया के बीच पूर्व से ही तय रहता है कभी-कभी कीर्तनिया घाट पर स्वयं भी इसका आयोजन कर सकता है। ऐसी स्थिति में घाटिया इससे घाट का कोई किराया नहीं लेता क्योंकि इससे उसकी आय घाट पर अधिक भीड़ होने से स्वतः बढ़ जाती है। मंदिर में कीर्तन उसे मंदिर में आने-जाने वाले भक्तों द्वारा उसकी मनौती के आधार पर ही कराया जाता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की यह मनौती थी कि अगर उसे पुत्र की प्राप्ति होगी तो यह संकट मोचन मंदिर में कीर्तन कराएगा फिर जब उसकी मनौती पूर्ण हुई उसने संकट मोचन मंदिर में कीर्तन का आयोजन किया। कीर्तनिया प्राय; ब्राह्मण जाति के होते हैं फिर भी इनमें कुछ

लोग अन्य जाति के (मध्यम वर्ग) के भी प्रवेश कर गए हैं। इनकी संख्या अन्य धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों की तुलना में सीमित है।

7) तीर्थयात्रा प्रबंधक

तीर्थ यात्रियों को गया श्राद्ध में सहयोग करने, मंदिरों में दर्शन कराने तथा गया तीर्थ के विभिन्न स्थलों के दर्शन में तथा उनके निवास और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति सम्बन्धी प्रबंधन में तीर्थयात्रा प्रबंधक का अप्रतिम योगदान होता है। अनेक जातियों के लोग गया में इस क्रियाकलाप में संलग्न है, जो श्राद्ध करने वाले लोगों के अनुष्ठानों धार्मिक कृत्यों में अपना सहयोग देते हैं और इसके बदले में पारितोषिक प्राप्त करते हैं।

8) धामी

धामी एक ऐसा कर्मकांडी वर्ग है जो गया श्राद्ध के कर्मकांडों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह एक ऐसा समूह है जो गैर ब्राह्मण जाति के रूप में जाना जाते हैं, परंतु श्राद्ध के कर्मकांड में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह गयावल ब्राह्मण के साथ मिलकर उनके अनुशांगिक सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं। इन्हें गया में प्रेतीय ब्राह्मण के नाम से भी निरूपित किया जाता है। जातीय संरचना में उनकी स्थिति सुस्पष्ट नहीं है। कुछ लोग इन्हें गैर ब्राह्मण मानते हैं जबकि बहुत से लोग इन्हें श्राद्ध कर्म करने वाले ब्राह्मण के रूप में भी मानते हैं।

9) धार्मिक कृत्य सहचरी

धार्मिक कृत्य एवं धार्मिक अनुष्ठान के संपादन में हिंदू जाति के कुछ विशिष्ट जातियां शास्त्रीय आधार पर ना तो धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों के समान कोई भूमिका का निर्वहन करता है और ना ही धार्मिक विशेषज्ञ कहा जाता है। तथापि ये जातियां धार्मिक कृत्य एवं धार्मिक अनुष्ठानों के क्रियाकलापों में सहायक के रूप में कार्य करते हैं। ऐसी जातियों को धार्मिक सहचरी की संज्ञा दी गई है। यथा नाई, माली, कुम्भकार, मल्लाह इत्यादि जिनके कार्यों का वर्णन अधोलिखित है। नाई जाति के लोग गया श्राद्धकर्म के संपादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वह श्राद्धकर्ता के क्ष्वर कर्म को संपादित करता है एवं श्राद्ध कर्म में सहयोग करता है। उसे कर्मकांड सहयोगी के रूप में भी जाना जाता है। माली जाति भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण जाती है जो गया श्राद्ध एवं पूजा पाठ में पुष्प,बेलपत्र, दुर्वादल एवं तुलसी पत्र उपलब्ध कराता है। कुंभकार भी एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण हिंदू जाति है जो मिट्टी के बर्तन श्राद्धकर्म में उपलब्ध कराता है। मिट्टी का पात्र श्राद्ध कर्म के लिए उत्तम माना जाता है जिसमें पिंड को तैयार किया जाता है औरपितृ को समर्पित किया जाता है।

5.4 पवित्र संकुल काशी

एल0पी0 विद्यार्थी ने पवित्र नगर गया का व्यापक अध्ययन किया और पवित्र संकुल की अवधारणा को प्रतिपादन किया है। उन्होंने अपनी कालजयी रचना Sacred Complex in Hindu Gaya (1965) में सर्वप्रथम पवित्र संकुल की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। एल0पी0 विद्यार्थी राबर्ट रेडफिल्ड से अत्यधिक प्रभावित थे। जिन्होंने भारत में अध्ययन करके लघु एक वृहद परम्परा की अवधारणा को विकसित किया है। पवित्र संकुल के सृजन में तीन मूल घटक हैं पवित्र भूगोल पवित्र कर्मकाण्ड (धार्मिक कृत्य) एवं पवित्र धार्मिक विशेषज्ञ ये तीनों सामूहिक रूप से मिलकर पवित्र संकुल का निर्माण करते हैं–
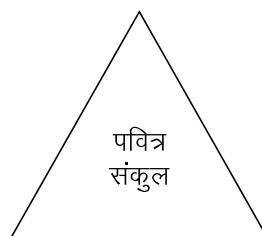
1. पवित्र भूगोल : काशी उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में तथा बिहार की पश्चिमी सीमा के निकट गंगा के पश्चिमी तट पर अक्षान्तर $25^{0}18$ उत्तर और देशान्तर $83^{0}1$ पूर्व में अर्धचन्द्राकार रूप में, एक ऊँची कंकरीले टीले पर बसी हुई है। गंगा के पश्चिमी किनारे में इसका तीन मील तक विस्तार है। नगर की रचना इस प्रकार की है कि इसे बाढ़ से साधारणतया खतरा नहीं रहता है। एक ओर वरूणा और दुसरी ओर गंगा, नगर की प्राकृतिक खाई का काम करती है। उत्तर – पश्चिमी की ओर काशी के मार्ग में ऐसा कोई नैसर्गिक साधन जैसे– पहाड़ियाँ, झील, दुर्लंघ्य नदी आदि नहीं, जिससे नगर का बचाव हो सके, लेकिन आस–पास के घनघोर जंगल जिसका उल्लेख जातकों में आया है, काशी के बचाव में काफी महत्त्वपूर्ण रहा होगा। आधुनिक मिर्जापुर जिले की विध्यांचल की पहाड़ियाँ भी इसके बचाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। – मोतीचन्द्र 1962

पौराणिक काशीा के भौगोलिक स्वरूप का उल्लेख कई पुराणों में आता है। स्कन्द पुराण के अनुसार ''काशी सतयुग में त्रिशुलाकार, त्रेता में वृताकार या चक्राकार, द्वापर में रथाकार थी और कलियुग में शंखाकार है। पद्मपुराण के अनुसार मध्यमेश्वर शिवलिंग (जो मैदागिन के पास मध्यमेश्वर मुहल्ले में है) काशी क्षेत्र का मध्य बिन्दु है। अगर यहाँ से देहली विनायक (पंचकोशी यात्रा के रास्ते में रामेश्वर मंदिर के पास) तक एक सूत्र खींचा जाये और उसे मध्यमेश्वर महादेव की ओर के किनारे को स्थिर रखते हुए देहली विनायक के किनारे को वृताकार रूप में घुमाया जाये, तो जो वृत बनता है वही काशी क्षेत्र है। इसमें गंगा का पूर्व भाग भी सम्मिलित है जिसे व्यास काशी नाम से भी जानते हैं ऐसा कहा जाता हैं कि एक बार भगवान शंकर ने व्यास जी को काशी से निकाल दिया था जिसके पश्चात् वे गंगा के पूर्व भाग में रहने लगे थे। इसलिये गंगा का पूर्व भाग व्यास काशी के नाम से प्रचलित है। इस संदर्भ में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि त्रेता युग में काशी का आकार वृत्ताकार था और व्यास जी की कथा भी त्रेता युग की है।

काशी की सीमा वाराणसी से भिन्न है। वाराणसी क्षेत्र गंगा के पूर्व भाग को सम्मिलित नहीं करता। पद्मपुराण में वाराणसी की सीमा में नदी वरूणा, दक्षिण में नदी अस्सि, पूर्व में नदी गंगा और पश्चिम में पशपणि विनायक हैं। वरुणा और अस्सि नदियों के बीच बसी होने के कारण इसे वाराणसी कहते हैं। कलियुग में वाराणसी को ही काशी कहते हैं।

काशी क्षेत्र के तीन खण्ड :

पद्मपुराण के अनुसार वाराणसी को तीन खण्डों में विभक्त किया गया है– 1. ओंकार खण्ड, 2. विशेश्वर खण्ड और 3. केदार खण्ड। प्राचीन काल में तीनों खण्डों की

परिक्रमा अलग–अलग होती थी लेकिन वर्तमान समय में विशेश्वर खण्ड (जो दोनों खण्डों के मध्य है) की परिक्रमा मुख्य रूप से प्रचलित है। इसे विशेश्वर अन्तर्गृही परिक्रमा कहते हैं। विशेश्वर खण्ड अविमुक्त खण्ड के नाम से भी जाना जाता है।

पौराणिक तीर्थ स्थल :

काशी के तीर्थ स्थलों का वर्णन स्कन्द पुराण के काशी खण्ड में उद्धृत है। वैसे तो यहाँ 33 कोटी देवी–देवता, चारों धाम, सप्तपुरियाँ तथा भारत के सभी तीर्थ स्थापित हैं किन्तु स्कन्द पुराण में शिवलिंग 151, गौरी 45 लक्ष्मी सरस्वती 4 वैष्णव देवता 72 भैरव 13 विनायक 32 आदित्य 13 कुल देवी–देवताओं की संख्या 330 बतायी गयी है।

वर्तमान काशी तीर्थ का भौगोलिक स्वरूप :

अन्य नगरों के समान ही काशी के भौगोलिक क्षेत्र का विस्तार हो रहा है एवं जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। पहले की तुलना इसके क्षेत्र का उत्तर और दक्षिण में क्रमशः वरूण और अस्सि नदी की ओर विस्तार हो रहा है इसके पश्चिम भाग में आज आधुनिक ढ़ंग के मकान तीव्र गति से बन रहे हैं।

साधारण रूप से काशी को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग को पक्का महाल कहा जाता है जो काशी का पूर्वी भाग है और गंगा के पश्चिमी तट पर बसा है। यह काशी का प्राचीन हिस्सा है जिसमें पत्थर के पक्के मकान और उसके बीच आने जाने के लिये पत्थर से ही बंधी गलियाँ हैं। दुसरा महाल कच्चा महाल कहलाता है जो कालान्तर में पक्का महाल के पश्चिमी भाग में विकसित हुआ है। इसकी गलियाँ पत्थर से बंधी नहीं है।

सन् 1951 में काशी नगर 10 वार्डो में विभक्त था आज काशी में कुल 100 वार्डो की संख्या है। वाराणसी की जनसंख्या लगभग 36 लाख है। यह भारत का 23वाँ सबसे बड़ा नगर है।

काशी में प्राचीन काल से तीर्थ स्थापित होते रहे हैं। पौराणिक काल में इसकी संख्या काफी बढ़ी थी। प्रायः काशी की महत्ता बढ़ाने तथा यात्रियों को दूर अगम्य तीर्थों में जाने से बचाने की दृष्टिकोण से यहाँ भारत के सभी तीर्थों को स्थापित किया गया हैं आज यहाँ भारत के सभी तीर्थ मिलते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जीवन में एक बार भी अगर कोई काशी तीर्थ यात्रा कर लेता है, तो उसके सभी पापों का नाश हो जाता है फिर उसे किसी तीर्थ में जाने की आवश्यकता नहीं रहती। पुराणों में तीर्थ सैकड़ों की संख्या में वर्णित है। जिन पुराणों में काशी के तीर्थ का वर्णन विस्तार या संक्षेप में आया है उसमें अग्निपुराण (112) पद्मपुराण (121–191) कूर्मपुराण (1,31,35), मत्स्य पुराण (191) लिंग पुराण (92) स्कन्दपुराण (4) आदि महत्वपूर्ण हैं। लक्ष्मीघर ने लिंगपुराण के आधार पर काशी के 340 तीर्थ बताये हैं।

स्कन्द पुराण के काशी खण्ड में काशी के तत्कालीन 450 तीर्थों का वर्णन है। इसमें वर्तमान में 370 पौराणिक तीर्थ ही यथा स्थान हैं। बाकी तीर्थ अपने स्थान पर उपलब्ध नहीं हैं। संभवतः कालचक्र में काशी नगरी के उतार–चढ़ाव में वे सब लुप्त हो चुके हैं। इन पौराणिक तीर्थों के अतिरिक्त काशी में सैकड़ों की संख्या में अन्य छोटे–बड़े धर्म स्थल हैं जो बाद में बने हैं। 1885 में सर विलियम हन्टर के एक सुव्यवस्थित सर्वेक्षण के अनुसार काशी में 1,499 हिन्दू मंदिर थे। काशी में घाटों की संख्या 84 है। इसमें पाँच घाट अस्सि, संगम, दशाश्वमेघ, मणिकर्णिका, पंचगंगा एवं वरूणा संगम तीर्थ

घाट हैं। धर्म स्थलों की संख्या में समय–समय पर उतार–चढ़ाव होते रहते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक मुस्लिम आक्रांतताओं ने सैकड़ों की संख्या में मंदिरों को तोड़ा। बहुत से धर्म स्थल समय–समय पर व्यक्तिगत लाभ के लिये स्वयं काशीवासियों द्वारा निवास स्थान या दुकान में परिवर्तित कर लिये गये हैं। कई धर्म स्थल उचित व्यवस्था के अभाव में लुप्त हो गये।

तीर्थों का वर्गीकरण :

1. **मंदिर** : काशी में मंदिर दो तरह के हैं भूतल पर बने मंदिर और भूमिगत मंदिर 282 मंदिर भूतल पर हैं जबकि 8 मंदिर भूमिगत है। काशी के कुछ प्रमुख मंदिर इस प्रकार है– स्वर्ण मंदिर काशी विश्वनाथ मंदिर, अन्नपूर्णा मंदिर, काशी करवट, कालभैरव, दुर्गा मंदिर, संकटमोचन इत्यादि।
2. **कुण्ड** : कुण्ड कच्चे अर्थात् मिट्टी से बंधे या पक्के अर्थात् पत्थर के टुकड़ों से बंधे तालाब का स्वरूप में है। लक्ष्मीकुण्ड, दुर्गाकुण्ड एवं मणिकर्णिका कुण्ड पक्के हैं। कच्चे कुण्ड को पोखरा भी कहते हैं। हरतीरथ पोखरा है। कुण्डों की कुल संख्या 29 है।
3. **कूप** : कुप (कुआँ) काफी गहरे एवं पत्थरों से बंधे होते हैं जिसमें साल भर पर्याप्त जल रहता है। ऐसा लोक विश्वास है कि वृद्ध–कलकूप एवं ज्ञानवापी कूप नीचे–नीचे गंगा से मिले हैं। ज्ञानवापी कूप के बारे में यह भी कहा जाता है कि इसका एक अन्तराल–मार्ग बद्रीनाथ एवं दूसरा बाबा विश्वनाथ से मिला है कूपों की संख्या अनेक हैं।
4. **तीर्थ घाट** : काशी की उत्तरवाहिनी मां गंगा एक पवित्र तीर्थ है। तथापि इस पर बने घाटों का पृथक–पृथक महातम्य माना गया है काशी में 84 घाट हैं जिसमें अस्सि संगम, दशाश्वमेघ, मणिकर्णिका, पंचगंगा, वरूणा संगम तीर्थ घाट हैं।
5. **पवित्र वृक्ष** : कुछ तीर्थों के निटक प्राचीन वट अथवा पीपल के वृक्ष पूजित हैं। सुवर्ण मंडित विश्वनाथ मंदिर के वटवृक्ष की प्रतिदिन पर्याप्त संख्या में लोग पूजा करते हैं।
6. **अनिर्दिष्ट आकार का खुला धर्म स्थल** : कुछ देवी–देवता बिल्कुल खुले स्थान में पूजे जाते हैं। इसे स्थापित करने के निमित मंदिर जैसा कोई ढ़ाँचा खड़ा नहीं है। गंगा घाट के ऊपर वट वृक्ष, से खुले धर्म–स्थलों की संख्या अनगिनत हैं। पीपल के नीचे इनकी स्थापना की जाती है। इनकी असंख्य संख्या काशी में दृष्टिगोचर होता है।

धामिक कृत्य परिचायक (Sacared Specialist)

किसी तीर्थ स्थान में धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिये विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञ होते हैं एवं अन्य कर्मचारी होते हैं जिन्हें सामूहिक रूप से धार्मिक कृत्य परिचालक की संज्ञा दी गई है। काशी में अनेक प्रकार के लोग इस कृत्य को अपनी जीविका का साधन के रूप में अपनाते हैं। इन्हें इस चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं – 1. धर्मशास्त्र विशेषज्ञ, 2. धार्मिक कृत्य विशेषज्ञ, 3. तीर्थ यात्रा प्रबंधक और 4. धार्मिक कृत्य सहचारी। इन चारों वर्ग का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1. **धर्मशास्त्र विशेषज्ञ** : यह हिन्दू धर्मशास्त्र के पंडित एवं धर्मक्षेत्र के सर्वोच्च अधिकारी होते हैं। सामाजिक आचारों एवं धर्म संबंधी नियमों की व्याख्या करना

तथा इसमें उत्पन्न विवादों पर अंतिम निर्णय देने का अधिकार धर्मशास्त्र विशेषज्ञ को है।

2. **धार्मिक कृत्य विशेषज्ञ** : धार्मिक कृत्यों को आजीविका के रूप में अपनाने वाले धार्मिक कृत्य विशेषज्ञ होते हैं। इन्हें विभिन्न प्रकार के धार्मिक कृत्यों को सम्पादित करने में विशेषज्ञता प्राप्त होती है। विशेषज्ञता के आधार पर इनके कई उपवर्ग हैं यथा– कर्मकाण्डी, पुजारी, घाटिया, अनुष्ठानी, कथावाचक, कीर्तनियाँ, महापात्र इत्यादि।

3. **तीर्थयात्रा प्रबन्धक** : तीर्थ यात्रियों को मंदिरों में दर्शन कराने एवं घुमाने तथा उनके निवास और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति संबंधी प्रबन्ध करने के लिये कई प्रकार के वर्ग हैं। जिन्हें तीर्थ पुरोहित, पण्डा, यात्रावाल, भदद्र और गुमाश्ता की संज्ञा दी जाती है। इसमें से कुछ लोग धार्मिक कृत्य भी करते हैं, किन्तु इनका मुख्य कार्य तीर्थ यात्रा के प्रबंध से संबंधित है। अतः इन्हें अलग–अलग कोटी में रखा गया है।

धार्मिक कृत्य सहचरी : धार्मिक कृत्य के सम्पादन में एक विशेष वर्ग है जो शास्त्रीय आधार पर न तो धार्मिक कृत्य विशेषज्ञों के समानान्तर न तो कोई भूमिका का निर्वहन करता है और ना ही धार्मिक विशेषज्ञ कहा जा सकता है। फिर भी ये लोग धार्मिक कृत्य के सहायक के रूप में कार्य करते हैं। ऐसे वर्ग को धार्मिक वर्ग सहचरी की संज्ञा दी गयी है। उदाहरण के लिये मुण्डन, यज्ञोपवित एवं श्राद्धकर्म में नाई क्षौर कर्म करता है, मल्लाह गंगा पुजैया में माँ गंगा के आर–पार फूलों की माला टांगता है, माली पूजापाठ के लिय तुलसी, बेलपत्र, दुवादल, पुष्प आदि जुटाता है, ये सभी धार्मिक कृत्य सहचारी कहे गये हैं।

धार्मिक कृत्य सहचारी दो प्रकार के होते हैं। एक धार्मिक कृत्य पूर्ण करने। प्रत्यक्ष रूप से सहयोग करता है जैसे मुण्डन, यज्ञोपवित, श्राद्ध कर्म में नाई एवं अन्त्येष्टि में पवित्र अग्नि देने वाला काशी का राजा डोम। दूसरा वर्ग अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिक कृत्य पूर्ण करने में सहयोग करता है जैसे माली जो धार्मिक कृत्य के लिये पुष्प–बेलपत्र, तुलसी दुवादल को जुटाता है लेकिन वह धार्मिक कृत्य में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेता है।

धार्मिक कृत्य :

जिस तीर्थ नगरी के साथ असंख्य धार्मिक किंवदन्तियाँ जुड़ी हो, वहाँ धार्मिक कृत्य कितने प्रकार से होते होंगे इसकी कल्पना सहसा की जा सकती है। रात्रि के दो तीन घंटों को छोड़कर काशी के मुहल्लों, गंगा घाटों और मंदिरों में अखण्ड पूजा–पाठ का वातावरण बना ही रहता है। वस्तुतः विविध धार्मिक कृत्यों को सविस्तार एवं सहज रूप से समझने के लिये इन्हें मुख्यतः दो वर्गों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग में ऐसे धार्मिक कृत्य सम्मलित हैं, जो तीर्थ व्यवस्थापक की ओर से सम्पादित होते हैं, और दूसरे वर्ग में ऐसे धार्मिक कृत्य हैं, जो तीर्थ यात्रियों या स्थानीय भक्तों द्वारा सम्पादित होते हैं।

तीर्थ व्यवस्थापकों द्वारा सम्पादित धार्मिक कृत्य :

प्रायः सभी व्यवस्थित मंदिर में, नित्य एक या अनेक आरतियाँ होती हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सर्वप्रथम रामायण काल में बनबास से वापस लौटने पर भगवद श्रीराम की आरती उतारी गयी थी। तब से यह प्रथा चली आ रही है। सामान्यतः

पूजनोपरांत देवता की आरती उतारी जाती है। मंदिरों में मुख्य रूप से चार प्रकार की आरती होती है– 1. मंगला आरती, 2. भोग आरती, 3. श्रृंगार आरती, 4. शयन आती।

1. मंगला आरती : यह आरती दिन की सबसे पहली आरती है, जो ब्रह्म मुहूर्त्त (लगभग 4 बजे प्रातः) में देवता के प्रति गहरी आस्था, श्रद्धा, सम्मान एवं शुभकामना प्रकट करते हुए, उन्हें जगाने की दृष्टिकोण से की जाती है। शिव मंदिर में आरती के अंत में डमरू बनाया जाता है। इस आरती के पूर्व पुजारी को स्नान एवं गायत्री मंत्र के जाप द्वारा आत्मशुद्धि एवं संध्या वंदना करना आवश्यक हैं।

2. भोग आरती : भोजननो पर्यन्तत विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ के साथ देवताओं की जो आरती उतारी जाती है, भोग आरती कहलाती है। सर्वप्रथम देवता के मुख में गंगाजल का स्पर्श कराकर मुखशुद्धि की जाती है। तत्पश्चात् उनके समक्ष भोजन चक्र प्रसाद की थालिया। जिस पर एक–दो तुलसी की पत्तियाँ रखी जाती हैं और मंत्रोच्चारण के साथ आरती उतारी जाती है। शिव को तुलसी नहीं चढ़ाई जाती हैं। इस आरती के पश्चात् गर्भगृह में कोई नहीं रहता और कुछ क्षण के लिए उसका कपाट बंद कर दिया जाता है। तत्पश्चात् करतल ध्वनि से कपाट खोल दिया जाता है फिर प्रसाद उठाया एवं विरतण किया जाता है।

3. श्रृंगार आरती : इस आरती में देवी–देवताओं का विशेष श्रृंगार किया जाता है और आरती उतारी जाती है। यह प्रायः रात्रि के प्रथम बेला में होती है। बाबा विश्वनाथ मंदिर की यह आरती मानसिक शान्ति एवं आनन्द देने वाली तथा कला, संगीत और भक्ति से परिपूर्ण होती है। यह आरती मंदिर एवं बाहर के ग्यारह पुजारियों के सहयोग से की जाती है। इनमें उल्लिखित मंदिरन का गद्दीधारी मुख्य पुजारी के रूप में कार्य करता है। सर्वप्रथम शिवलिंग को पंतामृत से स्नान कराकर, फूल, बेलपत्र, माला, इत्र चाँदी के शेषनाग आदि से अच्छी तरह सजाया जाता है तत्पश्चात् सामूहिक वेदपाठ (छापथ) उमरू एवं घड़ी–घण्ट की मधुर ध्वनि के साथ उनकी आरती उतारी जाती है। पूरी आरती में लगभग डेढ़ घण्टे लगते हैं।

4. शयन आरती : रात्रि में देवी–देवताओं के सोने के समय उतारी जानी वाली आरती को शयन आरती कहा जाता है। तत्पश्चात् मंदिर का कपाट बंद कर दिया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि शयन आरती के पश्चात् देवी–देवता सो जाते हैं। इसलिये शयन आरती के समय प्रायः देवी–देवता के सोने के लिये आवश्यक चीजें जैसे– खाट, विस्तर, मसहरी आदि लगाई जाती है।

पूजा : आरती के अतिरिक्त मंदिर प्रशासन की ओर से नित्य देवी–देवता की पूजा भी दो प्रकार से होती हैः– 1. षोड़शोपचार एवं 2. पंचोपचार। षोड़सापचार पूजा में शास्त्र में बताये गये सोलह प्रकार की पूजन सामग्री की आवश्यकता पड़ती है, जिन्हें वैदिक मंत्र के एक–एक करके चढ़ाया जाता है। काशी में इस पद्धति से पूजा मात्र स्वर्ण मंडित विश्वनाथ मंदिर, नया विश्वनाथ मंदिर, अन्नपूर्णा मंदिर, संकटमोचन हनुमान मंदिर में होती है। पंचोपचार पूजा, षोडशोपचार पूजा का संक्षिप्त रूप है। इस पूजा में मात्र पाँच पूजन सामग्रियों (गंध, पुष्प, धूप, दीप एवं ताम्बुल) की आवश्यकता होती है। पंचोपचार पूजा पद्धति में वेद पाठ–आवश्यक नहीं होता है। उल्लेखित चार मंदिरों को छोड़कर अन्य मंदिरों में पंचापेचार पूजा की जाती है।

तीर्थयात्रियों एवं स्थानीय भक्तों द्वारा सम्पादित धार्मिक कृत्य :

तीर्थयात्रियों एवं स्थानीय भक्तों द्वारा सम्पादित धार्मिक कृत्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– 1. स्नान, 2. दर्शन, 3. पूजन।

1. **स्नान** : शास्त्रीय दृष्टि से किसी भी पूजा–पाठ से पूर्व स्नान करना अनिवार्य होता है। इसके अतिरिक्त कुछ पवित नदियों में स्नान यथा, गंगा स्नान, यमुना स्नान, नर्मदा स्नान आदि स्वयं में धार्मिक कृत्य माना जाता है। काशी में गंगा स्नान का विशेष महत्त्व है। काशी में गंगा अर्धचन्द्राकार एवं उत्तरवाहिनी हैं जिसमें स्नान करना एक धार्मिक कृत्य है। काशी में पंचतीर्थ घाट (अस्सि संगम, दशाश्वमेघ, पंचगंगा, मर्णिकर्णिका, वरूणा संगम) पर स्नान पर विशेष धार्मिक महत्व है।

2. **दर्शन** : नेत्र द्वारा देवी–देवता को श्रद्धा भाव से अवलोकन करने की क्रिया को दर्शन कहा जाता है। दर्शन में धार्मिक कृत्य के लिये किसी शास्त्रीय विधि–विधान की आवश्कता नहीं होती है। दर्शन से पुण्य की प्राप्ति होती है। अधिकतर व्यवस्थित मंदिरों के गर्भ–गृह में प्रवेश पर रोक लगने के कारण आज प्रायः मंदिरों में दर्शन की प्रथा को बढ़ावा मिला है। ऐसे मंदिरों में नया काशी विश्वनाथ मंदिर, अन्नपूर्णा मंदिर, काल भैरव मंदिर, संकटमोचन हनुमान मंदिर को ले सकते हैं।
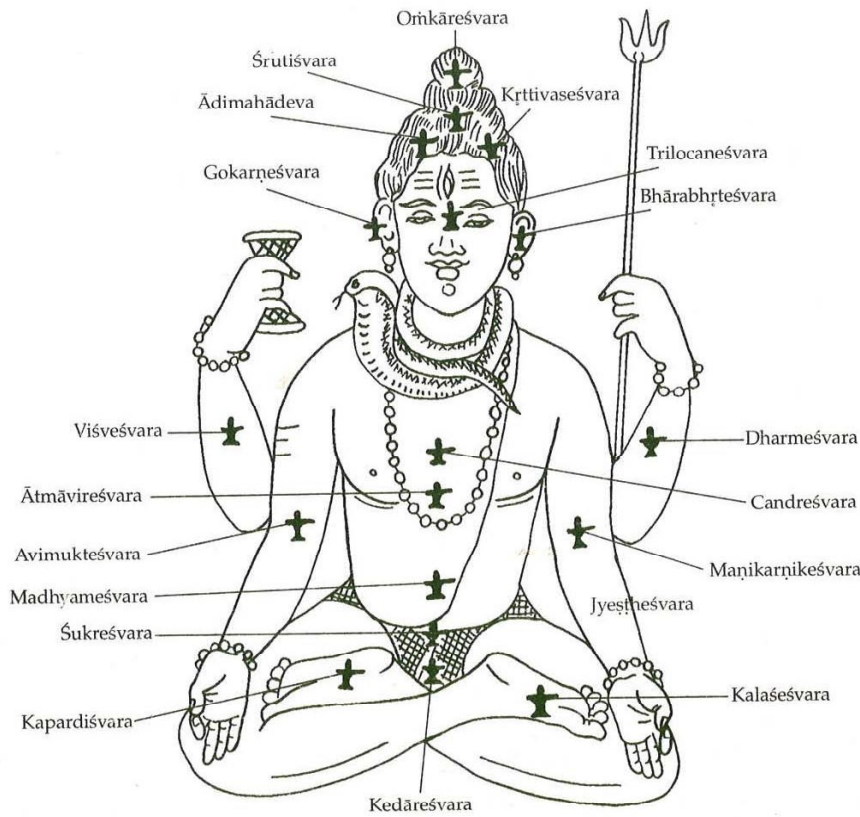
fig. 1.2: Body of Shiva as the sacred Kashi.

3. **पूजन** : विधि–विधान पूर्वक देवी–देवता को स्नान कराना, उनका श्रृंगार करना, प्रसाद चढ़ाना एवं उनकी स्तुति करना या नाम जपना पूजा कही जाती है। पूजा के लिये व्यक्ति की स्नान द्वारा पवित्र होना आवश्यक है। शास्त्रों में पूजन विधि निर्धारित हैं। लेकिन बहुत से धर्म स्थलों जैसे वीर–स्थान, सती स्थान आदि में

लौकिक पूजन विधि निर्धारित है। शास्त्रानुषार किसी भी देवी–देवताओं की पूजा षोड्षोपचार या पंचोपचार विधि के अनुसार की जाती है। रूद्राभिषेक (रूद्र–शिव, अभि–अत्यधिक ..... सम्मान) शब्द से ही स्पष्ट है कि शिव की विशेष पूजा है। यह रूद्री–पाठ करने वाले पुजारियों की संख्या के आधार पर निम्नलिखित प्रकार की होत है– 1. लघुरूद्राभिषेक, 2. महारूद्राभिषेक, 3. अतिरूद्राभिषेक एवं 4. एकादश रूद्राभिषेक। लघुरूद्राभिषेक में बारह पुजारियों की आवश्यकता होती है। एकदशा रूद्राभिषेक में ग्यारह पुजारियों की आवश्यकता होती है एवं अतिरूद्राभिषेक में 1331 पुजारियों की आवश्यकता होती है एवं अतिरूद्राभिषेक में 1463 पुजारियों की आवश्यकता होती है। ये रूद्राभिषेक पंचोपचार या षोड्शोपचार विधि से किये जाते हैं। काशी के प्रायः लघुरूद्राभिषेक एवं एकादशा रूद्राभिषेक तीर्थयात्रीयों एवं स्थानीय भक्तों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। विशेष रूप से शिवरात्री, सावन के महीने में एवं जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवित संस्कार या व्यापार आरंभ करने से पूर्व यह धार्मिक कृत्य किया जाता है।

मनोकामना या मनौती से संबंधित धार्मिक कृत्य

धार्मिक कृत्यों के पीछे चक्रों की काई न कोई मनोकामना अवश्य होती है जो उसे उस धार्मिक कृत्य को सम्पादित करने के लिए प्रेरित करती है। मनोकामनाओं को मुख्य रूप तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है 1. अर्थ 2. काम और 3. मोक्ष से संबंधित। इनमें से अर्थ और कामना सांसारिक कामनाओं से संबंधित है और मोक्ष आलौकिक कामना से संबंधित है। विभिन्न देवी–देवता चक्रों के विभिन्न मनोकामनाओं को पूर्ण करने से संबंधित है। भक्तों का देवी–देवताओं में गहरी आस्था एवं विश्वास होता है। बाबा विश्वनाथ में लौकिक एवं आलौकिक की कामनाओं को पूर्ण करने की शक्ति है। काशी में शीतला माता चेचक से छूटकारा दिलाने में, खोखी देवी सर्दी खासी से छुटकारा दिलाने में, मृत्युंजय महादेव व्यक्ति को दीर्घायु प्रदान करने में बुखार से तुरंत छूटकारा दिलाने में छटपटी माता से काशी के लोग मनौती माँगते है। काशी में सम्पादित हो रहे अधिकतर धार्मिक कृत्य मनोकामना से प्रेरित होती है। मनोकामना से संबंधित विभिन्न धार्मिक कृत्य को काशी में सम्पादित यिका जाता है वे अधोलिखित है :

1. **पुत्र कामना एवं मुण्डन** : सम्पूर्ण भारत में बहुत से दम्पति यह मनौती माँगती माँगते है कि यदि उन्हें पुत्र की प्राप्ति होगी तो बाबा विश्वनाथ मंदिर या किसी निश्चित मंदिर या गंगा घाट पर संबंधित पुत्र का मुण्डन संस्कार करायेगे।

2. **आर–पार** : पूजा–पाठ के साथ गंगा के पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक एक रस्सी जिसकी पूरी लम्बाई में आम के पल्लव पत्ते बंधे होते हैं। टाँगने की धार्मिक प्रक्रिया को आर–पार कहते हैं। यह मनौती भी पुत्र या संन्तान प्राप्ति या सुखी दाम्पत्य जीवन आदि के लिये मानी जाती है।

3. **चुनरी चढ़ाना** : यह धार्मिक कृत्य की माँ–गंगा में सम्पादित किया जाता है। यह धार्मिक कृत्य आर–पार के समान ही है इसमें आम के पत्ते के स्थान पर रस्सी में चुनरी बाँधा जाता है और गंगा जी के पश्चिमें तट से पूर्वी तट तक टाँगने की क्रिया को सम्पादित किया जाता है।

4. **जान के बदले जान** : यदि किसी दम्पत्ति का संतति जन्म के पश्चात् जीवित नहीं रहता है तो वह माँगंगा से यह मनौती माँगता है की अगर उसका संतान जीवित बच गया तो वह उन्हें अर्पित कर देगा। यदि किसी दम्पत्ति की यह मनोकामना

पूर्ण होती है तो वह संबंधियों एवं बन्धु–बान्धव के साथ पुत्र को गंगा घाट पर लाया जाता है। यहाँ से एक नाव किराये पर लेकर नाविकों द्वारा बच्चे को बीच गंगा की धारा में फेंक दिया जाता है। जिसे वही तटपर तैरते अन्य नाविकों द्वारा लोक या उठा लिया जाता है और गंगा घाट पर लाया जाता है। अब यह पुत्र नाविकों का हो जाता है जिसे उसके वास्तविक माता–पिता नाविकों को दान–दक्षिणा से संतुष्ट कर वापस प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार काशी में माँ गंगा के वरदान से जो जान (सन्तान) प्राप्त होता है, उसे माँ गंगा को ही अर्पित कर दिया जाता है स्थानिय लोग इसे लोक भाषा में जान के बदले जान की संज्ञा देते हैं।

5. **अंग के बदले अंग** : काशी के कुछ मंदिरों में शरीर के किसी रोग ग्रस्त अंग की आरोग्यता के लिये सोना चाँदी या मिट्टी का बना वही प्रतिकात्मक अंग अर्पित कर दिया जाता है। मनोकामना पूर्ण होने पर भक्तगण ऐसा धार्मिक कृत्य करते हैं इसे अंग के बदले अंग चढ़ाना यहाँ के स्थानिय भाषा में कहा जाता है।

6. **भैरव पूजा** : ऐसा लोक आस्था एवं दृढ़ विश्वास है कि बाबा भैरव नाथ भूत–पिशाच पर नियंत्रण रखते हैं। इसलिए काशी के लोग यह मनौती मानते हैं कि यदि उनकी संतति निश्चित आयु तक जादू–टोना, भूत–प्रेत इत्यादि के प्रभाव से बची रहती है तो वह बाबा भैरवनाथ की पूजा करते है बाबा भैरव नाथ की काशी का कोतबाल कहा जाता है।

7. **दूध या जल चढ़ैया** : काशीवासी एवं तीर्थयात्री यह मनौती रखते हैं कि यदि उनकी मनोकामना संतति एवं पुत्र प्राप्ती या रोग से मुक्ति सम्बन्धित मनोकामना पूर्ण होती है तो वे बाबा विश्वनाथ पर दूधया गंगा जल अर्पित करते हैं।

8. **गजेन्द्र मोक्ष पाठ** : देवी कोप के शमन के लिये गजेन्द्र मोक्ष पाठ किया जाता है। सन् 1978 सितम्बर महिने में काशी में जब अभूतपूर्व बाढ़ के कोप से त्रस्त हो रही थी, तो काशी पण्डित साभा के अध्यक्ष पण्डित श्री गोपाल शास्त्री श्दर्शन केसरीश ने देवी कोप के शमन के लिए लोगों से गजेन्द्र मोक्ष पाठ करने का आह्वान किया।

9. **तुला–दान** : अपने शरीर के वजन के बराबर स्वर्ण या रजत या दोनों देवी–देवता के अर्पित करने की क्रिया को तुला दान कहते हैं। इसमें तुला दान करने वाला व्यक्ति मंदिर प्रांगण में एक बड़े से तुला (तराजू) के एक पसड़े पर बैठता है और उसके दूसरे पलड़े पर सोना या चाँदी उसके भार के बराबर रखी जाती है। अब तुला हुआ स्वार्ण या रजत पदार्थ विधि पूर्वक देवी–देवता को अर्पित किया जाता है।

10. **कबूतर उड़ाना** : पशुपतिनाथ नेपाली मंदिर की यह विशेषता है कि यहाँ मनैती के संबंध में कबूतर उड़ाया जाता है। ऐसा लोविश्वास है कि कबूतर उड़ाकर उसकी जान बचायी जाती है, इससे शिव प्रसन्न होते हैं तथा उस धार्मिक कृत्य करने वाले को मनोकामना की प्राप्ति होती है। यहाँ विधिपूर्वक पशुपतिनाथ महादेव की पूजा एवं मंदिर की परिक्रमा कर कबूतर को आकाश में उड़ा दिया जाता है। इस धार्मिक कृत्य के शुभ अवसर पर कोई मंत्र उच्चारित किया जाता है। कबूतर मनोकामना पूर्ण होन से पूर्व या पश्चात या दोनों बार उड़ाया जा सकता है।

11. **जाप या अनुष्ठान** : ऐसा विश्वास किया जाता है कि जाप या अनुष्ठान में भी

मनोकामना पूर्ण करने की शक्ति होती है। इसके अन्तर्गत निश्चित देवी–देवता से संबंधित मंत्र का निश्चित संख्या में जप अनुष्ठानी द्वारा करवाया जाता है, जो इसे शास्त्रीय विधि द्वारा सम्पादित करते है। उदाहरण के लिये शारीरिक कष्ट निवारण के लिये महामृत्युंजय जाप किया जाता है। अनुष्ठान मंदिर या गंगाघाट पर सम्पादित किया जाता है।

12. **शीतला पूजा** : शीतला प्रकोप (चेचक) से बचने के लिये काशीवासी प्रायः शीतलामाता की पूजा का मनौती करते हैं और मनोकामना पूर्ण होने पर शीतलामाता की पूजा की जाती है।

    इसके अतिरिक्त जब काशी में चेचक महामारी फैलती है तो काशीवासी इसे शीतलामाता का प्रकोप मंदिर, गृह मुहल्ले की गली, चौक आदि स्थानों में शीतला हवन अत्यधिक संख्या में करने लगते हैं।

13. **पिशाच मोचन** : पिशाच मोचन नामक तीर्थकुण्ड भूत–प्रेत जादू–टोना के प्रमाद से छुटकारा दिलाने की विशेषता रखता है। यहाँ प्रायः निम्न जाति के लोग पूजा–पाठ या टोटका आदि लौकिक परम्परा के आधार पर करते देखे जाते हैं। यहाँ इनका पुजारी भी कोई निम्न जाति का ही होता है।

पर्व – त्यौहार :

काशी में एक कहावत अत्यंत प्रसिद्ध है– सात वार नौ त्यौहार जिसमें कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण पूर्व–त्यौहार इस प्रकार हैं– 1. रामनवमी 2. गंगा दशहरा 3. रंगभरी एकादशी 4. होली 5. शिवरात्री 6. नागपंचमी 7. कृष्णाष्टमी 8. गणेश चौथ 9. लोलार्क छठ 10. दुर्गा पूजा 13. अन्कूठ 14. सूर्य छठ व्रत 15. वैकुण्ठ चतुदर्शी 16. कार्तिक पूर्णिमा 17. देवदीपावली 17. दीपावली 18. अन्नंत चतुदर्शी 18. मौनी अमावश्या

लीला :

काशी में अनेक लीला हो हैं, जिसमें कुछ प्रमुख लीला इस प्रकार हैं– 1. रामलीला 2. नागनथैया 3. चेतगंज नाक कटैया 4. भरत मिलाप 5. नरसिंह लीला 6. कृष्णलीला इत्यादि।

मेला :

मेला काशी की संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। काशी के कुछ प्रसिद्ध मेले निम्नलिखित हैं– 1. रथयात्रा मेला 2. सोरहिया मेला 3. सोटा–भण्टा मेला 4. कटहरिया मेला 5. सारनाथ मेला 6. सावन का मेला।

परिक्रमा और यात्रा :

किसी भी धर्मस्थल या स्थान के इष्टदेव को अपने से दाई ओर रखते हुए, धार्मिक भावना के साथ उसकी प्रदक्षिणा करने की क्रियाकलाप को परिक्रमा कहते हैं। धर्म शास्त्रों में परिक्रमा को जीवनकाल में हुए पापों से मुक्ति का एक सफल उपाय बताया गया है। काशी में नित्य ही कोई–न–काई परिक्रमा होती रहती है। पं0 मऊ शास्त्री बझे के अनुसार काशी में 17 यात्रायें या परिक्रमा प्रचलित है। इनमें पंचक्रोशी, अन्तर्गृही, नव दूर्गा, नव गौरी, नित्य परिक्रमा एवं अनुक्रम परिक्रमा भक्तों की संख्या के आधार पर क्रमानुसार महत्वपूर्ण कही जा सकती है।

नित्य परिक्रमा : काशी खण्ड (स्कन्द पुराण) के सौवें अध्याय में नित्य परिक्रमा का उल्लेख आया है। इसके अनुसार काशीवासीयों को नित्य इस यात्रा के अंतर्गत आने वाले देवताओं का दर्शन पूजन करना चाहिए।

इसमें श्रद्धालू गंगा स्नान कर द्रोपदादित्य, विष्णु दण्डपाणि (गणेश), ढढ़ीराज (गणेश) ज्ञानवापी (कुण्ड) नन्दिकेश्वर (महादेव) तारकेश्वर (महादेव) महाकालेश्वर (महादेव) आदि तीर्थों का दर्शन पूजन करते हैं। वर्तमान में यह परिक्रमा बहुत कम लोगों द्वारा ही की जाती है। जिसमें वृद्ध महिलायें एवं ब्राह्मण विशेषकर है। पूजा प्रायः गंगाजल, अक्षत एवं धूप–दीप चढ़ा कर करते है। नित्य परिक्रमा में विस्तृत पूजा की आवश्यकता नहीं होती।

अनुक्रम परिक्रमा : यह परिक्रमा चैत्र में किसी – पर्व त्यौहार के दिन ही किया जाता है। इसमें लोगों गंगा स्नान कर बाबा विश्वनाथ, बिन्दु माधव, ढुंटीराज, दण्डपाण्णि, भैरव, काशी देवी, भवानी (अन्नपूर्णा) एवं मणिकर्णिका में शिव की पूजा करते है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसको करने से विशेष पुण्य की प्राप्ति होती है।

नौ गौरी एवं नौ दुर्गा–यात्रा : नौ गौरी यात्रा चैत्र महिने में सुदी परिवा से नवमी तक की जाती है। इसमें गौरी के नौ अवतारों का दर्शन पूजन उपर्युक्त नौ दिन में किया जाता है। नौ दुर्गा यात्रा सुदी परिवा आश्विन से नवमी तक की जाती है।

अन्तर्गृही परिक्रमा : काशी का धार्मिक क्षेत्र तीन खण्डों में विभाजित है यथा केदार खण्ड, विशेश्वर खण्ड एवं केदार खण्ड। इन तीनों खण्डों में निश्चित धार्मिक क्षेत्र एवं उसमें स्थापित विभिन्न निश्चित देवी–देवता हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है केदार खण्ड में मुख्य देवता केदारेश्वर महादेव हैं, विशेश्वर खण्ड में मुख्य देवता महादेव (बाबा विश्वनाथ) एवं ओंकार खण्ड में मुख्य देवता ओंकारेश्वर महादेव हैं। इन खण्डों की परिक्रमा क्रमशः केदार अंतर्गृही परिक्रमा विशेश्वर अंतर्गृही परिक्रमा एवं ओकार अंतर्गृही परिक्रमा के नाम से जाना जाता है। प्राचीन काल में तीनों खण्डों की परिक्रमा होती थी परन्तु वर्तमान काल में केवल विशेश्वर खण्ड की अंतर्गृही परिक्रमा होती है।

पंचक्रोशी परिक्रमा : पंचकोशी या पंचक्रोशी काशी की सम्पूर्ण धार्मिक क्षेत्र की परिक्रमा है, जिसके अंतर्गत भारत के सभी प्रमुख तीर्थ एवं विभिन्न देवी–देवता स्थापित हैं यह परिक्रमा एक दिन, पाँच दिन या पूरे अधिमास माह में पूर्ण की जाती है। पहली (एक दिन) किसी पर्व–त्योहार के दिन यथा शिवरात्री, दशहरा आदि और दुसरी (पाँच दिन) जब भगवान सूर्य उत्तरायण या दक्षिणायन होते हैं इस अवसर पर पंचकोशी परिक्रमा की जाती है।

पंचकोशी परिक्रमा के विशेष नियम इस प्रकार है–

1. परिक्रमा काशी पवित्र क्षेत्र में बाँई ओर से दाँई और की जाती है।
2. परिक्रमा–मार्ग के दाँई ओर चूँकि काशी का धार्मिक क्षेत्र पड़ता है इसलिये परिक्रमा–अन्तर्गत दायी ओर थूकना, मलमूत्र त्यागना वर्जित है।
3. परिक्रमा के दौरान संभोग वर्जित है।
4. कोई भी श्रद्धालू साथ में पका हुआ भोजन नहीं ले जा सकता है।
5. परिक्रमा के समय धर्मिक चर्चा करनी चाहिए और हर–हर महादेव, शम्भू काशी विश्वनाथ की जय जैसे जयकारे लगाने चाहिए।

पंचकोशी परिक्रमा श्रद्धलु द्वारा अकेले, संबंधियों या मंडली में की जाती है। काशी में एक पंचक्रोशी यात्रा मंडली है जो स्थानिय आस–पास के गाँवों एवं दूर से आने वाले यात्रियों को सम्मलित कर यह परिक्रमा करती है। पंचक्रोशी यात्रा मंडली की यह विशेषता है कि इसमें गुरू–शिष्य परम्परा अब भी देखने को मिलती है मंडली पर एक गुरू होता है जिसकी पूजा पंचक्रोशी के प्रत्येक चट्टी पर करने के बाद ही वहाँ उपिस्थत देवी–देवता की पूजा की जाती है। पांच दिन की पंचक्रोशी परिक्रमा में पाँच निम्नलिखित कर्दमेश्वर, भीमण्डी, रामेश्वर, शिवपुर, एवं कपिलधारा ठहराव या चट्टियाँ होती है। गुरु चट्टी पर धार्मिक प्रवचन करता है। परिक्रमा में उसका निर्देश समी मानते है।

पंचमकोशी परिक्रमा करने से एक दिन पहले श्रद्धालू गंगा समान तथा ढुंड़िराज गणेश एवं बाबा विश्वनाथ का दर्शन–पूजन करते हैं। यात्रा, गंगा स्नान (विशेषकर मणिकर्णिका घाटपर) ज्ञानवापी में संकल्प एवं विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के दर्शन–पूजन कर मणिकर्णिका से प्रारम्भ की जाती है। गंगा स्नान से यात्रा प्रारम्भ करने तक मौनव्रत रखा जाता है संकल्प कृत्य कराने के समय छोड़कर इस यात्रा का अन्न ज्ञानवापी में कुछ धार्मिक–कृत्यों के साथ होता है।

यहाँ यह बतलाना रूचिकर होगा कि कपिलधारा से मणिकर्णिका की ओर वापस लौटते समय, सर्वविनायक से सप्तवर्ग विनायक तक यात्री रास्ते भर जौ ही छींटते हैं और उसे उपर्युक्त दोनों मंदिरों में विशेषकर जौ चढ़ाते हैं ऐसा विश्वास किया जाता है कि पंचकोशी यात्रा करने वाले श्रद्धालू के लिये धरती से स्वर्ग तक पहुँचने की एक सीढ़ी बन जाती है, जिसके द्वारा वह मरणोपरांत स्वर्ग पहुँच जाता है। जो व्यक्ति पाँच बार इस यात्रा को करने के पश्चात् इसे और नहीं करना चाहता उपर्युक्त मंदिरों में सोने का जौ और हसुवा चढ़ाकर इसका समापन करता है।
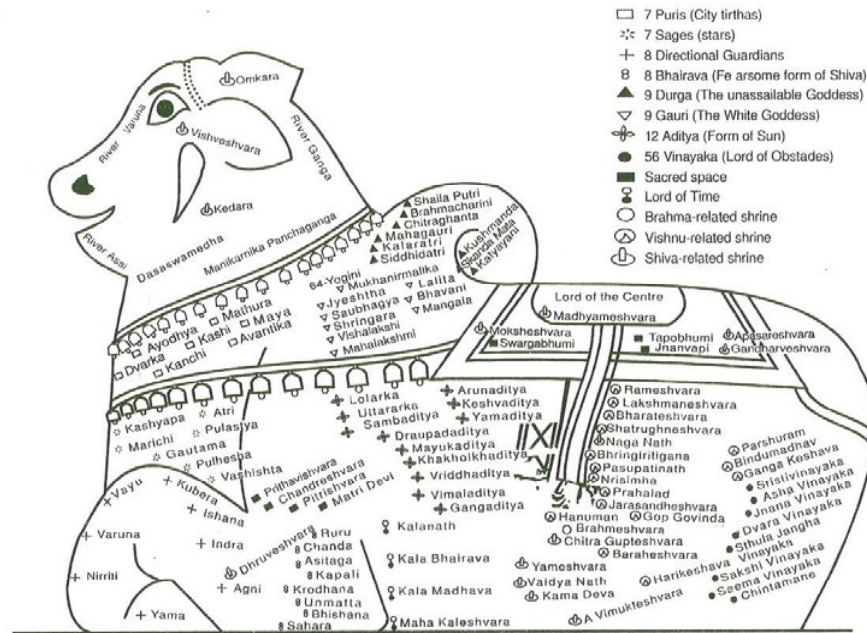
fig. 1.3a: Body of Nandi (Shiva's bull) as the sacred Kashi.

5.5 सारांश

भारत के महान मानवशास्त्री एल0पी0 विद्यार्थी ने अपनी कालजयी कृति ''सैक्रेड कॉम्प्लेक्स इन हिन्दू गया (1961)'' में पवित्र संकुल की अवधारणा को प्रस्तुत किया है। पवित्र संकुल को उन्होंने तीन विश्लेषणात्मक अवधारणाओं पवित्र भूगोल, पवित्र धार्मिक कर्मकाण्ड एवं पवित्र धार्मिक अनुष्ठान विशेषज्ञ के आधार पर वर्णन करने का प्रयास किया है। पवित्र भूगोल, पवित्र धार्मिक कर्मकाण्ड तथा पवित्र धार्मिक अनुष्ठान विशेषज्ञ मिलकर पवित्र संकुल का सृजन करते हैं। उन्होंने अपनी कृति में प्राचीन धार्मिक नगर गया के सन्दर्भ में भारतीय सभ्यता का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने इस अध्ययन में राबर्ट रेडफिल्ड द्वारा सम्पादित एवं प्रतिपादित लघु परम्परा एवं वृहद परम्परा तथा लोक–नगरीय सातत्य की अवधारणा का परीक्षण भी किया है। उन्होंने मिलटन सिंगर द्वारा विकसित सांस्कृतिक केन्द्र, सांस्कृतिक अनुष्ठान, सांस्कृतिक विशेषज्ञ तथा सांस्कृतिक माध्यम की अवधारणा की भी जाँच भी की है। इस अध्ययन में एल0पी0 विद्यार्थी ने यह परीक्षण करने का प्रयास किया है कि पवित्र संकुल, पवित्र भूगोल, पवित्र अनुष्ठान तथा पवित्र अनुष्ठान विशेषज्ञ का सुखद संश्लेषण है। हिन्दू–तीर्थ स्थल का पवित्र संकुल लघु एवं वृहद् परम्पराओं के बीच निरंतरता, समझौते तथा सम्मिलन का स्तर प्रस्तुत करता है। तीर्थ स्थल के धार्मिक विशेषज्ञ अपनी विशिष्ट जीवनशैली द्वारा वृहद् परम्परा के तत्त्व का संप्रेशन ग्रामीण जनता तक करते हैं। पवित्र संकुल परिवर्तन की प्रक्रिया को भी प्रस्तुत करता है। उन्होंने भारतीय सभ्यता की जगह हिन्दू सभ्यता का प्रयोग किया है। गया के पवित्र संकुल का अध्ययन एल0पी0 विद्यार्थी ने सन् 1948 से 1956 के मध्य किया था। उन्होंने हिंदूवाद के विकास में सम्मिलन तथा समझौते की अनोखी प्रक्रिया की खोज की है। प्राचीन धार्मिक नगर गया का अध्ययन यह दर्शाता है कि प्राचीन काल से हिन्दू श्राद्ध कर्म एवं धार्मिक अनुष्ठान हेतु गया तीर्थ आते रहे हैं।

इस प्रकार भारतीय एकता धार्मिक अनुष्ठान तथा तीर्थ यात्रा के माध्यम से बनी रही है। गया नगर द्वितीयक नगरीकरण के अधीन भी रहा है। इस प्रकार इसमें परिवर्तन भी हुआ है। गया के पवित्र संकुल के गहन अध्ययन के अतिरिक्त विद्यार्थी ने अनेक धार्मिक स्थान एवं तीर्थस्थल यथा काशी, भुवनेश्वर, पुरी, देवघर, द्वारका, अयोध्या, जनकपुर, ऋषिकेश, बद्रीनाथ, केदारनाथ, रामेश्वरम् आदि स्थानों की यात्रा की थी तथा वहाँ के धार्मिक संकुल को समझने का प्रयास किया था। अनेक विद्यार्थियों ने उनके निर्देशन में अनेक प्राचीन नगर के धार्मिक संकुल का अध्ययन किया है। जिसमें सैक्रेड कॉम्प्लैक्स ऑफ काशी का अध्ययन विशिष्ट है। इस अध्ययन में एल0पी0 विद्यार्थी के दो स्वनामधन्य शिष्य वैद्यनाथ सरस्वती एवं माखन झा ने भी उनके साथ मिलकर अध्ययन किया है।

विश्वविख्यात मानवशास्त्री एल0पी0 विद्यार्थी, वैद्यनाथ सरस्वती एवं माखन झा ने अपनी कालजयी कृति सैक्रेड कम्पलैक्स ऑफ काशी में अपनी पवित्र संकुल की अवधारणा को स्थापित करने का प्रयास किया है। विद्यार्थी के द सैक्रेड कॉम्प्लैक्स ऑफ हिन्दू गया के अध्ययन का परीक्षण काशी के पवित्र संकूल के अध्ययन में किया गया है। काशी के पवित्र भूगोल, पवित्र धार्मिक कर्मकाण्ड एवं पवित्र धार्मिक अनुष्ठान विशेषज्ञ त्रैय के जोड़ से काशी के पवित्र संकुल का सृजन होता है। काशी की पवित्र भूगोल की अवधारणा को संस्कृत वाङ्मय के विविध धार्मिक ग्रंथों के संदर्भ में लेते हुए इसका वर्णन किया गया है। काशी में हिन्दू के सभी देवी–देवताओं के मंदिर हैं। बाबा विश्वनाथ और माँ गंगा केन्द्र में हैं। इन सभी देवी–देवताओं एवं लौकिक धार्मिक

कर्मकाण्ड का वर्णन पवित्र संकुल की अवधारणा में किया गया है।

5.6 पारिभाषिक शब्दावली

पवित्र संकुल : पवित्र भूगोल, पवित्र अनुष्ठान, पवित्र अनुष्ठान विशेषज्ञ का युग्म।

पवित्र भूगोल : तीर्थ का भू–खण्ड।

पवित्र अनुष्ठान : देवता या पितर को प्रसन्न करने के लिये किया गया कर्मकाण्ड।

पवित्र अनुष्ठान विशेषज्ञ : कर्मकाण्ड को सम्पादित करने वाला।

घाट : पवित्र नदी का तट।

मंदिर : देवी–देवताओं का निवास स्थान।

कुण्ड : पवित्र जल का तालाब।

कूप : पवित्र जल का कुँआ।

पवित्र वृक्ष : श्रद्धेय एवं पूजनीय वृक्ष यथा पीपल, बरगद।

धर्मशास्त्र विशेषज्ञ : धर्म ग्रंथ के अनुसार कर्मकाण्ड सम्पादित करने वाला।

धार्मिक कृत्य विशेषज्ञ : पण्डित, पण्डा, पूजारी, महापात्र इत्यादि।

तीर्थ यात्र प्रबन्धक : तीर्थ यात्रा में सहयोग करने वाले प्रबन्धक।

धार्मिक कृत्य सहचरी : कर्मकाण्ड में सहयोग करने वाले अन्य जातियाँ।

आरती : देवी–देवताओं का कपूर–अग्नि से किया जाने वाला सत्कार।

मंगल आरती : सुबह की आरती।

भोग आरती : दोपहर की आरती।

शयन आरती : रात्रि के समय सोने से पूर्व देवताओं को दी जाने वाली आरती।

पूजा : भगवान का सत्कार।

पवित्र स्नान : पूजा से पूर्व स्नान।

दर्शन : देवताओं का दर्शन करना।

अभिषेक : देवी–देवताओं का विशेष स्नान

गयावाल : गया के पुरोहित।

5.7 सन्दर्भग्रन्थ

- Vidyarthi, L.P. The Sacred Comple in Hindu Gaya, Asian Publishing House, Bombay, 1961.
- Vidyarthi L.P, Saraswati B.N., Jha Makhan. The Sacred Complex of Kashi : A Microcsm of Indian Civilizatioin. Concept Publishing Company, Delhi, 1979.
- Jha Makhan, The Sacred Complex in Janakpur, The United Publishers, Allahabad, 1971.
- Samanta, D.K, The Sacred Complex of Ujjain, D.K. Printworld Pvt. Ltd. New Delhi, 1997.

- Saraswati, B.N. Kashi Myth and Reality of a Classical Cultural Tradition; Indian Institute of Advanced Study, Simla, 1975.
- Jha, Makhan, Social Anthropology of Pilgrimage Inter-Indian Publications. New Delhi, 1990.
- Jindel, Rajendra, Culture of Sacred Town : A Sociological Study of Nathdwara; Popular Prakashan, Bombay, 1976.

5.8 बोधप्रश्न

1. पवित्र संकुल से आप क्या समझते हैं?
2. पवित्र भूगोल की अवधारणा को स्पष्ट करें?
3. पवित्र विशेषज्ञ की विवेचना करें।
4. काशी के पवित्र संकुल से आप क्या समझते हैं?
5. गया के पवित्र संकुल की अवधारणा को स्पष्ट करें।
6. गया के प्रमुख तीर्थ स्थलों का वर्णन करें?
7. पितृ कर्म से आप क्या समझते हैं।
8. पवित्र अनुष्ठान का वर्णन करें।
9. काशी के तीर्थ स्थलों का वर्णन करें।
10. गयावास से आप क्या समझते हैं?
11. पंचक्रोश परिक्रमा से आप क्या समझते हैं?
12. पण्डा का तीर्थ प्रबंधन में क्या योगदान है।
13. काशी के तीन प्रमुख खण्डों का वर्णन करें।
14. तर्पण से आप क्या समझते हैं?
15. पूजा और श्राद्ध में क्या अन्तर है?
16. काशी और गया मोक्ष नगरी है? विवेचना करें।
17. एस0पी0 विद्यार्थी के गया के पवित्र संकुल की अवधारणा किस पुस्तक में प्रस्तुत किया हैं?
18. गया एवं काशी तीर्थ का तुलनात्मक पवित्र संकुल का विवरण प्रस्तुत करें?